प्रकाशक :
आनन्द मित्तल
आदर्श प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-3
फोन : 61771

सातवां संस्करण :

मूल्य : रु. 35·00

मुद्रक :
मनोहर आर्ट प्रिन्टर्स, जयपुर
ओम प्रिन्टर्स, जयपुर

सातवें संस्करण की भूमिका

पुस्तक के सातवें संस्करण को अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए लेखक अपार हर्ष का अनुभव कर रहा है। यह संस्करण पूर्णतः संशोधित है।

यह संस्करण नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार रचा गया है। इसमें कुछ नये अध्यायों को जोड़ा गया है, कुछ में यथा-स्थान नयी सामग्री को जोड़ा गया है और कुछ को निकाल दिया गया है। राजनीति शास्त्र के विषय में जो विकास हो रहा है और उसमें जिन नवीन प्रवृत्तियों ने प्रवेश किया है उन्हें यथा-स्थान उदाहरणों सहित समझाने का प्रयास किया गया है। पुस्तक की भाषा को सरल बना दिया गया है तथा यथा-स्थान नये शीर्षक जोड़े गये हैं। लेखक को आशा है कि यह संस्करण विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

लेखक उन सभी अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के प्रति आभारी है जिन्होंने पुस्तक को हृदय से अपनाया है और इसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए समय-समय पर सुझाव दिये हैं।

—पी. के. चड्ढा

प्रथम संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक को सामान्य जनता एवं महाविद्यालय के राजनीति शास्त्र विषय का अध्ययन करने वाले प्रथम वर्ष टी. डी. सी. के छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक का विषय-क्षेत्र राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष टी. डी. सी. के पाठ्यक्रम तक सीमित रखा गया है परन्तु पुस्तक में इतनी सामग्री अवश्य संकलित कर दी गई है कि यह अन्य विश्वविद्यालयों के राजनीति शास्त्र के प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों एवं प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिए भी पर्याप्त है। प्रत्येक अध्याय में उन प्रश्नों को विस्तारपूर्वक हल किया गया है जिन्हें लेखक ने अपने अध्यापन काल में विद्यार्थियों के लिए हल करना कठिन पाया है। इसी कारण आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक प्रश्नों को सम्बन्धित अध्यायों के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक हल किया गया है। विद्यार्थियों की सुविधा हेतु प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्रश्नों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत दिया गया है। "प्रश्न बैंक' शीर्षक के अन्तर्गत वे प्रश्न हैं जो राजस्थान विश्वविद्यालय ने प्रश्न बैंक में निर्धारित किये हैं। अतः इन्हें उसी बैंक से उद्धृत किया गया है। "समीक्षा प्रश्न" शीर्षक के अन्तर्गत जो प्रश्न दिये गये हैं उन्हें 'अभ्यासार्थ' दिया गया है। ये वे प्रश्न हैं जिन्हें भारत के भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों की वार्षिक परीक्षाओं में समय-समय पर पूछा गया है।

पुस्तक की भाषा को बहुत ही सरल बनाने का प्रयास किया गया है ताकि साधारण से साधारण विद्यार्थी भी विषय को भली-भाँति समझ सके। परन्तु कहीं पर भी विषय की कीमत पर भाषा को सरल बनाने का प्रयास नहीं किया गया है। पुस्तक में विषय सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री है जो सर्वोत्तम एवं साधारण दोनों प्रकार के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

पुस्तक को 5 इकाइयों में बाँटा गया है। प्रत्येक इकाई अध्यायों में विभक्त है जो स्वयं में पूर्ण है।

लेखक राजनीति शास्त्र के उन उच्च कोटि के विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता है जिनसे उसे प्रस्तुत पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मिली तथा जिनके ज्ञान भण्डार को उसने पाठ्यक्रम की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए संकलित करने का प्रयास किया है। लेखक उन ग्रन्थकारों के प्रति भी आभारी है जिनके ज्ञान से उसने लाभ उठाया है तथा पुस्तक में उनके विचारों को उद्धृत किया है।

लेखक को विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी। यदि पाठकगण पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए इसमें सुधार की गुंजाइश समझते हैं तो उनके सुझावों को आभार सहित सहर्ष स्वीकार किया जाएगा और अगले संस्करणों में उन्हें यथा-सम्भव समाविष्ट कर दिया जायेगा।

भरतपुर (राजस्थान)
अगस्त, 1977

—पी. के. चड्ढा

Syllabus

PRINCIPLES OF POLITICAL SCIENCE

Section "A"

Political Science—Definition, Nature and Scope; Approaches to the study of Political Seience—Normative, Historical and Behavioural approaches; Relationship with other Social Sciences.

State, Society, Nation, Nature of State; Idealistic and Organic theories.

Section "B"

Origin of State : Contractual and Historical Theories, Sphere of State activity : Laissez Faire and Welfare Theories;

Sovereignty : Moni tic and Pluralistic theories. Concepts : Law, Liberty, Equality, Justice, Power, Authority and their relationship.

Section "C"

Forms of Political System : Democracy and Dictatorship, Parliamentary and Presidential, Unitary and Federal

Organisation of Government : Theory of Separation of Powers; Legislature, Executive and Judiciary—Patt·rn. Functions and relationships; Party System and Pressure Groups; Public Opinion and Local Self Government; Theories of Representation.

विषय-सूची

1

राजनीति शास्त्र की परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र

(Definition, Nature and Scope of Political Science)

शब्दावली—राजनीति, राजनीति शास्त्र एवं राजनीतिक दर्शन—समाज-शास्त्रों में राजनीति शास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जिसकी कोई निश्चित एवं स्पष्ट शब्दावली नहीं है। उदाहरणतः जो विषय व्यक्ति, राज्य और सरकार से सम्बन्धित है उसे राजनीति, राजनीति शास्त्र एवं राजनीतिक दर्शन के विविध नामों से पुकारा जाता है। अरस्तू, जेलिनेक, ट्रीश्चे, सिजविक, फ्रेडरिक पॉलक, पॉल जैने जैसे लेखकों ने इसके लिए **'राजनीति'** शब्द का प्रयोग किया है। लार्ड ब्राइस, सीले, वर्गेस, विलोबी, गेटेल, जकारिया जैसे लेखकों ने इसके लिए **'राजनीति शास्त्र'** शब्द का प्रयोग किया है। प्लेटो से लेकर मार्क्स तक जितने भी दार्शनिक हुए हैं उन्होंने इसके लिए **'राजनीतिक दर्शन'** शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने इसे सिद्धान्त माना है तथा इसकी विवेचना की है।

राजनीति शास्त्र की शब्दावली अनिश्चित एवं अस्पष्ट होने से इसके विषय को समझने में गलतफहमियाँ उत्पन्न हुई हैं। जैसाकि जेलिनेक ने कहा है कि **"ऐसा कोई शास्त्र नहीं जिसे एक अच्छी शब्दावली की इतनी आवश्यकता हो जितनी कि इसकी राजनीति शास्त्र को आवश्यकता है।"** लोवेल का मत है कि **"राजनीति शास्त्र के अध्ययन में आधुनिक विज्ञान की प्रथम आवश्यकता की कमी है। इसकी शब्दावली ऐसी है जो शिक्षित व्यक्तियों की भी समझ में नहीं आती।"**

'राजनीति' एवं 'राजनीति शास्त्र'—"व्यक्ति, राज्य एवं सरकार" का अध्ययन करने वाले विषय के लिए अरस्तू, जेलिनेक, ट्रीश्चे, सिजविक, फ्रेडरिक, पोलक, पॉल जेने आदि लेखकों ने राजनीति शब्द का प्रयोग किया है। अरस्तू की रचना का नाम "पॉलिटिक्स" है। लास्की की प्रमुख रचना का नाम "राजनीति का व्याकरण" (A Grammar of Politics) है। शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से भी राजनीति शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'राजनीति' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द

'पोलिस' (Polis) से हुई है जिसका अर्थ है 'नगर राज्य'। इस तरह राजनीति शब्द से जिस अर्थ का ज्ञान होता है वह नगर, राज्य तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं, क्रियाओं, व्यवहारों एवं समस्याओं का अध्ययन है। अरस्तू ने "राजनीति" शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया है। आधुनिक अर्थों में "राजनीति" शब्द को इन व्यापक अर्थों में प्रयोग नहीं किया जाता। इसका प्रयोग सीमित अर्थों में किया जाता है।

आधुनिक समय में "राजनीति" शब्द का प्रयोग मुख्यत: निम्न अर्थों में किया जाता है—

1. सरकार की दैनिक समस्याओं से सम्बन्धित—राजनीति शब्द को 'वर्तमान राजनीति' (Current Politics) अर्थात् सरकार की दैनिक समस्याओं के सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है इसे एक कला के रूप में प्रयोग किया जाता है। जैसाकि ब्लंशली ने अपनी रचना 'राज्य के सिद्धान्त' में कहा है कि 'राजनीति' विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है। इसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्य संचालन से है, परन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के आधार, उसकी सारभूत प्रकृति, उसके रूप एवं विकास से है।" गार्नर ने कहा है कि "राजनीति' शब्द का प्रयोग सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति आदि कार्यों के लिए या विस्तृत अर्थ में सार्वजनिक विषयों के वास्तविक प्रशासन से सम्बन्धित सभी कार्यों के लिए प्रयोग किया जाता है जबकि "शास्त्र" शब्द का प्रयोग राज्य सम्बन्धी 'ज्ञान-भण्डार' के लिए किया जाता है।"

2 राजनीति से राजनीतिज्ञ का ज्ञान होता है, राजनीति शास्त्री का नहीं—राजनीति शब्द से 'राजनीतिज्ञ' (Politician) का ज्ञान होता है, राजनीति शास्त्री (Political Scientist) का नहीं। जो व्यक्ति वर्तमान राजनीति में हिस्सा लेता है और राजनीतिक विषयों एवं आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेता है, उसे राजनीतिज्ञ कहते हैं। राजनीतिज्ञ किसी राजनीतिक दल का सदस्य हो सकता है या निर्दलीय हो सकता है। राजनीतिज्ञ का ध्यान सामाजिक कानून, श्रमिक कानून, आयात-निर्यात के प्रश्न, हड़तालें, अल्पसंख्यकों की समस्यायें, करारोपण, भूमि सम्बन्धी समस्यायें तथा अन्य समस्याओं की ओर जाता है और वह इनमें सक्रिय भाग लेता है। एक राजनीतिज्ञ के लिए राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों को जानना आवश्यक नहीं। दूसरी ओर, राजनीति शास्त्री एक विशेषज्ञ होता है जो राजनीतिक सिद्धान्तों एवं सरकारी संगठन के सिद्धान्त से सम्बन्धित होता है, उसे इनका ज्ञान होता है। वह इनका निर्माण करता है। उदाहरणत: महात्मा गांधी, कामराज आदि नेता राजनीतिज्ञ थे जबकि हॉब्स, लॉक, रूसो, हीगल आदि लेखक राजनीति शास्त्री थे।

3. सीमित अर्थों में प्रयोग—'राजनीति' शब्द को सीमित अर्थों में प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग एक व्यक्ति, एक समूह या एक राजनीतिक संस्था के लिए किया जाता है, जैसे **'गृह राजनीति', 'समूह राजनीति'**। इसका प्रयोग ग्राम, नगर, प्रान्त, राज्य या विश्व के लिए किया जाता है, जैसे **'ग्रामीण राजनीति', 'नगर-पालिका की राजनीति', 'छात्र राजनीति', 'भारतीय राजनीति', 'रूसी राजनीति',**

आदि । इन शब्दों में सीमित राजनीति, अर्थात् ग्रामीण, नगरपालिका, छात्र, भारत या रूसी राज्य की राजनीति का ज्ञान होता है । 'विश्व राजनीति' शब्द भी सीमित अर्थों को प्रकट करता है, क्योंकि अन्तिम अर्थ में यह शब्द भी राष्ट्रों की राजनीति को प्रकट करता है ।

4. नैतिक मूल्यों के ह्रास की अभिव्यक्ति—'राजनीति' शब्द से कुछ ऐसे अर्थों की झलक मिलती है जो उसके नैतिक मूल्यों का ह्रास करते हैं । इससे छल, कपट, धूर्तता, चालबाजी, स्वार्थ, झूठ आदि अर्थों की झलक मिलती है । किसी लेखक ने ठीक कहा है कि **राजनीति "अशान्ति (परेशानी) का आह्वान करने, उन्हें खोज निकालने, उनका गलत विवेचन करने एवं उनका गलत प्रयोग करने की कला है ।" किसी अन्य लेखक ने इसे "बदमाशों का अन्तिम सहारा" कहा है ।**

"राजनीति" शब्द के उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट है कि यह एक सीमित, संकुचित, संकीर्ण एवं अनैतिक शब्द है । अच्छी से अच्छी स्थिति में इससे राज्य के व्यावहारिक पहलू का ज्ञान होता है, इसके सैद्धान्तिक पहलू का नहीं । राजनीति शास्त्र एक व्यापक शब्द है । इससे पूर्ण का ज्ञान होता है । इससे राज्य के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पहलुओं का ज्ञान होता है । राजनीति शास्त्र "राज्य का विज्ञान" है । यह राज्य सम्बन्धी ज्ञान भण्डार है । यह राज्य के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक एवं दार्शनिक अध्ययन करता है । यह इस बात का अध्ययन करता है कि राज्य कैसा था, राज्य कैसा है, राज्य कैसा होना चाहिये अर्थात् यह राज्य के आदर्श स्वरूप की व्याख्या करता है । इसमें राज्य के व्यावहारिक पहलू अर्थात् संविधान, सरकार के संगठन एवं उसकी कार्य प्रणाली अर्थात् प्रशासन, विधि निर्माण एवं न्याय-व्यवस्था तथा उसके व्यक्ति समूहों एवं अन्य सरकारों के साथ सम्बन्धों जैसे नागरिक अधिकारों, कूटनीति, युद्ध, शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों आदि की व्याख्या की जाती है ।

फ्रेडरिक पोलक ने 'राजनीति' शब्द को दो अर्थों में प्रकट किया है :—
(i) सैद्धान्तिक राजनीति और (ii) व्यावहारिक राजनीति ।

(i) सैद्धान्तिक राजनीति को पोलक ने पुनः चार भागों में बाँटा है **(a) राज्य के सिद्धान्त** : इसमें राजनीतिक संगठन के ऐतिहासिक उद्भव एवं तार्किक पक्षों के साथ-साथ संविधानों के वर्गीकरण एवं सम्प्रभुता को शामिल किया गया है । **(b) सरकार के सिद्धान्त** : इसमें संस्थाओं के प्रकार, शासन-व्यवस्था एवं कानून को शामिल किया गया है । **(c) विधि निर्माण** : इसमें विधि के उद्देश्य, सामान्य स्वरूप आदि को शामिल किया गया है । **(d) राज्य के अमूर्त सिद्धान्त** : इसमें राज्य के अन्य राज्यों एवं व्यक्ति तथा व्यक्ति समूहों के सम्बन्धों आदि को शामिल किया गया है ।

(ii) व्यावहारिक राजनीति को पोलक ने चार भागों में बाँटा है **(a) राज्य** अर्थात् जिसमें सरकार के वर्तमान स्वरूप की व्याख्या हो । **(b) सरकार** अर्थात्

जिसमें विधि एवं उसका प्रयोग, प्रशासनिक प्रक्रिया जैसे प्रतिरक्षा व्यवस्था, व्यापार, बजट आदि क्रियायें शामिल हों। (c) विधि निर्माण, न्याय व्यवस्था एवं न्यायालय (d) राज्य का व्यावहारिक एवं मूर्त स्वरूप जैसे शान्ति, युद्ध तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति शब्द को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक राजनीति में बाँट कर इसे व्यापक अर्थों में प्रकट करने का प्रयास किया है परन्तु आधुनिक समय में "राजनीति" शब्द को सीमित अर्थों ही प्रयुक्त किया जाता है। अतः व्यक्ति, राज्य और सरकार का अध्ययन करने वाले विषय के लिए यह शब्द उपयुक्त नहीं है। इसके लिए राजनीति शास्त्र शब्द ही उपयुक्त है।

राजनीतिक दर्शन एवं राजनीति शास्त्र—'व्यक्ति राज्य और सरकार' का अध्ययन करने वाले विषय के लिए कुछ लेखकों ने राजनीतिक दर्शन शब्द का प्रयोग किया है। प्लेटो से लेकर मार्क्स तक जितने भी राजनीतिक दार्शनिक हुए हैं, जैसे हॉब्स, लॉक, रूसो, हीगल, काण्ट, बेन्थम, जे. एस. मिल आदि, सबने राजनीतिक दर्शन शब्द का प्रयोग किया है। इनका मत है कि किसी विषय का अध्ययन सैद्धान्तिक होना चाहिये वास्तविक या व्यावहारिक नहीं। इनके अनुसार अध्ययन में सिद्धान्त, गहन चिन्तन, तात्विक विश्लेषण, आदर्शवादी दृष्टिकोण आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध, जैसाकि गार्नर ने कहा है, **'राजनीति शास्त्र की सामग्री के मूल सिद्धान्तों एवं उनकी आधारभूत विशिष्टताओं के सैद्धान्तिक विचार से है। यह राजनीतिक विकास तथा राजनीतिक सत्ता के आधारों का शोध करता है। यह राज्य की प्रमुख विशिष्टताओं का विश्लेषण एवं वर्गीकरण करके उनके सम्बन्ध में निश्चित निर्णय पर पहुँचता है और इस प्रकार सच्चे राजनीति शास्त्र की ओर अग्रसर करता है। राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध सामान्य एवं व्यापक बातों से है, विशिष्ट वस्तुओं से नहीं, यह राज्य के आधारभूत गुणों पर जोर देता है, अनावश्यक विशिष्टताओं पर नहीं।"**

गिलक्राइस्ट ने राजनीतिक दर्शन को राजनीति शास्त्र का आधार माना है। उन्होंने कहा है कि "एक दृष्टि में राजनीतिक दर्शन राजनीति शास्त्र का पूर्वगामी है, क्योंकि राजनीतिक दर्शन की बुनियादी मान्यतायें राजनीति शास्त्र का आधार होती हैं। साथ ही साथ राजनीतिक दर्शन को भी उस सामग्री का अधिकाधिक प्रयोग करना पड़ता है जो राजनीति शास्त्र से उपलब्ध होती है।"

राजनीतिक दर्शन शब्द का प्रयोग करने वाले लेखकों का मत है कि राजनीतिक दर्शन किसी एक राजनीतिक संस्था का अध्ययन नहीं करता बल्कि एक काल्पनिक राज्य का अध्ययन करता है जिसमें सभी यथार्थ या वास्तविक राज्यों का प्रतिनिधित्व हो जाता है। उदाहरणतः प्लेटो ने रिपब्लिक में एक आदर्श राज्य की कल्पना करके वास्तविक राज्यों को उसकी कसौटी पर कसने का प्रयास किया था।

राजनीतिक दर्शन राजनीति शास्त्र को अनिवार्य विषय-वस्तु प्रदान करता है। इस पर भी यह शब्द एक सीमित शब्द है। यह व्यापक शब्द नहीं। यह राज्य तथा राजनीति के सैद्धान्तिक पहलू से सम्बन्धित है, इनके व्यावहारिक पहलू से नहीं। जैसाकि हेलोवेल ने कहा है कि **"राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं से उतना नहीं है जितना कि उन विचारों एवं आकांक्षाओं से है जो उन संस्थाओं में पाये जाते हैं।"** राजनीतिक दर्शन में जिन सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है वे प्रायः काल्पनिक होते हैं। उदाहरणतः प्लेटो के आदर्श राज्य और "दार्शनिक राजा" का सिद्धान्त इस पृथ्वी पर विद्यमान नहीं। रूसो की "सामान्य इच्छा" भी एक कल्पना है, यह व्यावहारिक नहीं।

"व्यक्ति, राज्य और सरकार" का अध्ययन करने वाले विषय के लिए "राजनीति" शब्द उपयुक्त नहीं। इसके लिए "राजनीतिक दर्शन" शब्द भी उपयुक्त नहीं है। इसके लिए केवल **राजनीति शास्त्र शब्द ही उपयुक्त है जो सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी, व्यापक भी है और उचित भी। डॉ. सत्यनारायण दुबे ने** लिखा है कि "इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति शास्त्र मूलतः एक दर्शन है और इसमें वैज्ञानिकता कम है....हमें एक ऐसे शब्द की आवश्यकता है जो इस विद्या की दार्शनिकता और वैज्ञानिकता दोनों का ज्ञान करा सके और साथ में इसके व्यावहारिक पक्ष को भी प्रकट कर सके। "राजनीति शास्त्र" शब्द इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यूरोपीय भाषाओं में "शास्त्र" शब्द की व्यापकता रखने वाला शायद कोई शब्द नहीं।"

राजनीति शास्त्र का परम्परागत दृष्टिकोण : परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र

परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति शास्त्र की परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र निम्न प्रकार से है—

A. परिभाषा (Definition)

'राजनीति' शब्द की उत्पत्ति, जो अंग्रेजी शब्द 'पॉलिटिक्स' का पर्यायवाची है, **ग्रीक शब्द पोलिस** (Polis) से हुई है जिसका अर्थ है 'नगर राज्य'। इस तरह राजनीति शब्द से जिस अर्थ का ज्ञान होता है वह नगर राज्य तथा उससे सम्बन्धित जीवन, घटनाओं, क्रियाओं, व्यवहारों एवं समस्याओं का अध्ययन है। जिस तरह कालान्तर में नगर राज्यों का विकास विशाल राज्यों तथा साम्राज्यों में हुआ, उसी प्रकार राजनीतिक विषय के अध्ययन में भी विकास हुआ। **आधुनिक समय में इस विषय का सम्बन्ध राज्य, सरकार, प्रशासन, व्यक्ति तथा समाज के विविध सम्बन्धों के व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन से है।**

परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति शास्त्र को अग्र **तीन अर्थों** में परिभाषित किया जाता है—

(a) राज्य के अध्ययन के रूप में—ब्लंशली, लार्ड एक्टन, गार्नर, गेटेल, गेरिस, कौटिल्य, जकारिया आदि लेखकों ने राजनीति शास्त्र को इसी अर्थ में परिभाषित किया है। इनकी परिभाषायें निम्न हैं—

1. ब्लंशली के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र वह शास्त्र है जिसका सम्बन्ध राज्य से है, जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति तथा विविध स्वरूपो एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है।"[1]

2. गैरिस के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र राज्य को एक शक्ति संस्था के रूप में मानता है जो राज्य के समस्त सम्बन्धों, उसकी उत्पत्ति, उसके स्थान, उसके उद्देश्य, उसके नैतिक महत्त्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके जीवन की अवस्थाओं, उसके वित्तीय पहलू, उसके उद्देश्य आदि का विवेचन करता है।"

3. गार्नर के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र का आरम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है।"

4. कौटिल्य के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र वह शास्त्र है जो एक सुव्यवस्थित समाज या राज्य सम्बन्धी विविध विषयों का अध्ययन करता है।"

5. गेटेल के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र राज्य का विज्ञान है।"[2]

(b) सरकार के अध्ययन के रूप में—पॉल जेने, सीले और लीकॉक ने राजनीति शास्त्र को इसी अर्थ में परिभाषित किया है। इनकी परिभाषायें निम्न हैं—

1. पॉल जेने के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र सामाजिक शास्त्र का वह भाग है जिसमें राज्य के आधार तथा शासन के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।"

2. लीकॉक के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र सरकार से सम्बद्ध अध्ययन है।"

3. सीले के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र शासन के तत्त्वों का उसी प्रकार पता लगाता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र धन का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंकों का तथा ज्यामिति स्थान एवं दूरी का।"[3]

4. गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र राज्य तथा सरकार का अध्ययन है।"

(c) राज्य, सरकार और व्यक्ति के अध्ययन के रूप में—"व्यक्ति राजनीति शास्त्र का ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय है कि उसके अध्ययन के बिना राजनीति शास्त्र

---

1. Political Science is "That science which is concerned with the state, which endeavours to understand and comprehend the state in its fundamental conditions, in its essential nature, its various forms of manifestations, its development." —Bluntschli : Theory of the State.
2. "Political Science is the science of the state." --Gettell, Raymond G. : Political Science, P. 3.
3. "Political Science investigates the phenomena of Government as Political Economy deals with wealth, Biology with life, Algebra with numbers and Geometry with space and magnitude." —Seeley

का कोई भी अध्ययन अपूर्ण है। राजनीतिक संस्थायें शून्य में कार्य नहीं करतीं। ये व्यक्तिगत सम्बन्धों के सन्दर्भ में कार्य करती हैं। यदि राजनीतिक संस्थायें व्यक्ति के जीवन, विचारों एवं लक्ष्यों को प्रभावित करती हैं तो व्यक्ति की भावनायें, प्रेरणायें तथा समाज के रीति-रिवाज एवं परम्परायें भी राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती हैं। अतः राजनीति शास्त्र की परिभाषाओं में व्यक्ति का उतना ही महत्त्व है जितना कि संस्थाओं का। **लास्की, हरमन हैलर** आदि लेखकों की परिभाषाओं में इसी पहलू पर बल दिया गया है। इनकी परिभाषायें निम्न हैं—

1. लास्की के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध संगठित राज्यों से सम्बद्ध व्यक्तियों के जीवन से है।"

2. हरमन हैलर के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण व्यक्ति सम्बन्धी मूलभूत पूर्व मान्यताओं द्वारा होता है।"

B. प्रकृति एवं क्षेत्र (Nature and Scope)

जिस प्रकार राजनीति शास्त्र की शब्दावली एवं परिभाषा के बारे में लेखकों में एकमत नहीं पाया जाता उसी प्रकार राजनीति शास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र के बारे में भी उनमें एकमत नहीं पाया जाता। ग्रीक लेखकों के लिए सम्पूर्ण नागरिक जीवन ही राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में आता है। परम्परागत दृष्टिकोण का समर्थन करने वाले ब्लंशली, गेरिस, गार्नर, एक्टन आदि लेखक इसके क्षेत्र में केवल राज्य का अध्ययन शामिल करते हैं; लीकॉक, सीले आदि लेखक इसमें केवल सरकार के अध्ययन को शामिल करते हैं; पॉल, जेने, गिलक्राइस्ट आदि लेखकों ने इसमें राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन को शामिल किया है। लास्की, हरमन हैलर आदि लेखकों ने इसके क्षेत्र में राज्य, सरकार और मानव के अध्ययन को शामिल किया है। सन् 1948 में यूनेस्को (UNESCO) के तत्त्वावधान में हुए राजनीतिशास्त्रियों के सम्मेलन ने राजनीति शास्त्र के विषय को निम्नांकित चार क्षेत्रों तक सीमित किया है—

(i) **राजनीतिक सिद्धान्त** अर्थात् राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास एवं राजनीतिक विचार का अध्ययन।

(ii) **राजनीतिक संस्थायें** अर्थात् संविधान, राष्ट्रीय सरकार, क्षेत्रीय और स्थानीय सरकार, लोक प्रशासन, सरकार के आर्थिक और सामाजिक कार्य एवं तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन।

(iii) **राजनीतिक दल** अर्थात् राजनीतिक दलों, समूहों और समुदायों, सरकार और प्रशासन में नागरिकों की साझेदारी और जनमत का अध्ययन।

(iv) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं प्रशासन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन।

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को मुख्यतः निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है—

1. मानव का अध्ययन—राजनीति शास्त्र के विषय में व्यक्ति की स्थिति केन्द्रीय है। यदि राजनीति शास्त्र में व्यक्ति का अध्ययन नहीं किया जाय तो उसका अध्ययन नीरस हो जायेगा। सभी राजनीतिक संस्थायें व्यक्ति द्वारा संचालित होती हैं। इनका अस्तित्व व्यक्ति की सुरक्षा, विकास एवं वृद्धि के लिए विद्यमान है। यदि ये व्यक्ति और समाज के हितों की पूर्ति नहीं करतीं तो ये अर्थशून्य हो जायेंगी और इनकी उपयोगिता नष्ट हो जायेगी। इनका औचित्य इसी में है कि ये व्यक्ति एवं समाज के मूल्यों को प्राप्त करें और उन्हें सुखी बनायें।

2. राज्य का अध्ययन—राज्य राजनीति शास्त्र का मुख्य विषय है। राज्य का पूर्ण अध्ययन राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में आता है। यह राज्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य का अध्ययन करता है। यह इस बात का अध्ययन करता है कि राज्य कैसा रहा है, कैसा है और इसे कैसे होना चाहिए। राज्य के अतीत के अध्ययन द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के प्रारम्भिक स्वरूपों तथा उनके विकास के भिन्न-भिन्न चरणों को समझा जा सकता है। राज्य के वर्तमान के अध्ययन द्वारा उन प्रक्रियाओं को समझने में सहायता मिलती है जो व्यक्ति और समाज के मूल्यों, जैसाकि शान्ति-व्यवस्था, सुरक्षा, सुख आदि के मार्ग में बाधायें डालती हैं। इनके ज्ञान से वर्तमान चुनौतियों को समझा जा सकता है तथा समस्याओं का हल निकाला जा सकता है। राज्य के भविष्य के अध्ययन से तात्पर्य यह है कि भूत और वर्तमान के अनुभव के आधार पर भविष्य की राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप एवं संगठन को इस प्रकार निर्धारित किया जाये कि वे व्यक्ति और समाज के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें।

3. सरकार का अध्ययन—राज्य एक अमूर्त संस्था है। इसका मूर्त रूप सरकार है। राज्य सरकार के माध्यम से कार्य करता है। सरकार राज्य की इच्छा को प्रकट करती है, इसे कार्यान्वित करती है तथा इसकी सिद्धि के लिए प्रयास करती है। अतः राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में सरकार का अध्ययन अनिवार्य है।

राजनीति शास्त्र सरकार के ऐतिहासिक विकास, इसके भिन्न स्वरूपों (प्रकारों), इसके भिन्न-भिन्न अंगों (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका) तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों, प्रशासन (नौकरशाही), राजनीतिक प्रक्रियाओं जैसे निर्वाचन, प्रतिनिधित्व, राजनीतिक दल, दबाव समूहों, जनमत आदि का अध्ययन करता है।

4. राजनैतिक दर्शन का अध्ययन—राजनीतिक दर्शन राजनीति शास्त्र का विषय है। यह इसका आधार है। गिलक्राइस्ट ने राजनीतिक दर्शन को राजनीति शास्त्र का पूर्वगामी माना है। राजनीतिक दर्शन में उन राजनीतिक सिद्धान्तों—राज्य के स्वरूप एवं उद्देश्य, राज्य-व्यक्ति एवं सरकार-व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों

आदि—की विवेचना की जाती है जिन पर राजनीति शास्त्र आधारित है। प्लेटो से लेकर मार्क्स तक जितने भी राजनीतिक दार्शनिक हुए हैं उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्तों को निर्धारित करने का प्रयास किया है। अतः राजनीति शास्त्र के लिये राजनीतिक दर्शन का अध्ययन अनिवार्य है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन—राजनीति शास्त्र किसी एक राज्य का अध्ययन नहीं करता। राज्य अकेले या शून्यता में कार्य नहीं करता। उसे दूसरे राज्यों के सन्दर्भ में कार्य करना पड़ता है। उसे दूसरे राज्यों के साथ अनेक प्रकार के समझौते एवं सन्धियाँ करनी पड़ती हैं। राज्यों के इन पारस्परिक सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की संज्ञा दी जाती है। कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि इसका प्रभाव राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य नीतियों तथा नागरिकों के सामान्य जीवन पर पड़ता है। अतः राजनीति शास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन करना पड़ता है।

6. राजनय—राजनीति शास्त्र राजनय का अध्ययन करता है। इसका मूल कारण यह है कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध मूलतः राज्यों की विदेश नीति और राजनय की कुशलता पर निर्भर करते हैं।

7. अन्तर्राष्ट्रीय विधि—अन्तर्राष्ट्रीय विधि राजनीति शास्त्र का विषय है। प्रत्येक राज्य सार्वभौम होता है और उसकी सीमायें निर्धारित होती हैं। फिर भी युद्ध और शान्ति के प्रश्न, युद्धवन्दियों का प्रश्न, समुद्री तट, खुला समुद्र, प्रत्यर्पण (Extradition), जैसे अनेक विषय हैं, जिन्हें राज्य स्वयं निश्चित नहीं करता। इन विषयों को अन्य राज्यों के सन्दर्भ में ही निश्चित किया जाता है। इन्हें जो विधि निर्धारित करती है उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहते हैं।

संक्षेप में राजनीति शास्त्र का विषय विस्तृत एवं व्यापक है। इसके क्षेत्र में राज्य एवं सरकार के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का अध्ययन किया जाता है, इसमें राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक विचारधाराओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं, राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों, अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, राजनय आदि का भी अध्ययन किया जाता है। मानव एक गतिशील एवं परिवर्तनशील प्राणी है। अतः राजनीति शास्त्र को समयानुकूल वनने के लिए परिवर्तनों, चुनौतियों एवं समस्याओं का अध्ययन भी करना पड़ता है। आधुनिक समय में राज्य के स्वरूप में एक महान् क्रान्ति आई है। आज राज्य का स्वरूप "पुलिस राज्य" तक सीमित नहीं, आज उसका स्वरूप "लोक कल्याणकारी" होने से वह "झूले से कब्र तक" व्यक्ति का साथ देता है। पहले राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर वल दिया जाता था, आज राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के साथ राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर भी वल दिया जाता है। व्यवहारवादी उपागम ने राजनीति शास्त्र में एक क्रान्ति ला दी है। इसने राजनीति शास्त्र के नये क्षेत्र खोल दिये हैं तथा उसे नई पद्धतियाँ एवं नई शैलियाँ प्रदान की हैं।

राजनीति शास्त्र का आधुनिक दृष्टिकोण : परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र

(A) आधुनिक दृष्टिकोण की प्रकृति अथवा परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों में भिन्नतायें—राजनीति शास्त्र का आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति शास्त्र में व्यवहारवादी क्रान्ति से शुरू हुआ है। डेविड ईस्टन, राबर्ट ए. डाहल, डेविड वी ट्रू मैन, जी. ई. जी. केटलिन, लासवैल आदि लेखक इसके मूल समर्थक हैं।

आधुनिक दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण से निम्न प्रकार से भिन्न है—

1. राजनीतिक संस्थाओं एवं मानव-व्यवहार के अध्ययन में भेद—जहां परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं अर्थात् राज्य और सरकार के अध्ययन पर बल देता है वहाँ आधुनिक दृष्टिकोण मानव के राजनीतिक व्यवहार पर बल देता है। आधुनिक दृष्टिकोण शक्ति या शक्ति और प्रभाव का अध्ययन है। आधुनिक दृष्टिकोण साधनों एवं राजनैतिक प्रक्रियाओं पर बल देता है। यह मानव भावनाओं, प्रेरणाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं आदि का अध्ययन करता है। आधुनिक दृष्टिकोण का मत है कि राजनीतिक संस्थायें व्यक्तियों द्वारा संचालित होती हैं। अतः ये व्यक्ति के व्यवहारों से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकतीं। अतः व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करना आवश्यक है।

2. एक और अनेक विषयों के अध्ययन का भेद—परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति शास्त्र का अध्ययन दूसरे विषयों से अलग होकर करता है। यह अपने आपको राजनीतिक क्रियाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन तक सीमित रखना चाहता है। आधुनिक दृष्टिकोण अध्ययन की पूर्णता पर बल देता है। आधुनिक दृष्टिकोण राजनीतिक घटनाओं, क्रियाओं या व्यवहारों का अध्ययन अकेले में नहीं करता वल्कि दूसरे समाज शास्त्रों विशेपकर मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानव शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के सन्दर्भ में करना चाहता है।

3. आदर्श एवं यथार्थ पहलुओं के अध्ययन का भेद—परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति शास्त्र के आदर्शात्मक पहलू पर अधिक वल दिया जाता है। यह इस वात पर वल देता है कि "क्या हो" या "कैसा होना चाहिये" ? यह राजनीतिक संस्थाओं को नीतिशास्त्र एवं दर्शन शास्त्र के निकट ले आता है। दूसरी ओर, आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति शास्त्र के यथार्थ पहलू पर वल देता है। यह इस वात पर वल देता है कि "क्या है" ? "कैसा होना चाहिये" से इसका कोई सम्वन्ध नहीं। यह राजनीति शास्त्र को विज्ञान के निकट लाने का प्रयास करता है।

4. मूल्य एवं मूल्य निरपेक्षता का भेद—परम्परागत दृष्टिकोण मूल्यों से युक्त है। यह व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) दृष्टिकोणों से प्रभावित है। दूसरी ओर, आधुनिक दृष्टिकोण मूल्य निरपेक्षता पर वल देता है। यह अध्ययन के वस्तुनिष्ठ (Objective) पहलू पर वल देता है।

5. ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक पद्धतियों के प्रयोग का भेद—परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि पद्धतियों का प्रयोग करता है। आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति शास्त्र को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक तथा पर्यवेक्षक, परीक्षण आदि पद्धतियों का प्रयोग करता है। अध्ययन एवं शोध को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए यह सांख्यिकी, नमूना, सर्वेक्षण, गणितीय नमूनों, रूपों (Simulations) जैसी कृत्रिम तकनीकों का प्रयोग करता है।

6. प्रामाणिकता एवं निश्चितता का भेद—परम्परागत दृष्टिकोण अनुमान, कल्पना एवं सम्भावना पर आधारित है। इसके निष्कर्षों और पूर्व घोषणाओं में प्रामाणिकता और निश्चितता का अभाव है। दूसरी ओर, आधुनिक दृष्टिकोण तथ्यों एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित है। यह निष्कर्षों की प्रामाणिकता और पूर्व घोषणाओं की निश्चितता की खोज में है। यह सामान्य सिद्धान्त की खोज में है।

7. तथ्यों की प्रामाणिकता का भेद—परम्परागत दृष्टिकोण में तथ्यों को एकत्र तो किया जाता है, परन्तु उन्हें प्रमाणित नहीं किया जाता जबकि आधुनिक दृष्टिकोण में तथ्यों को एकत्रित किया जाता है और उनकी सत्यता, क्रमबद्धता और प्रामाणिकता पर बल दिया जाता है।

8. औपचारिक एवं अनौपचारिक अध्ययन में भेद—परम्परागत दृष्टिकोण संस्थाओं के औपचारिक अध्ययन तक सीमित है। इनका अध्ययन प्रायः निर्जीव रहा है। आधुनिक दृष्टिकोण संस्थाओं के अध्ययन के साथ उन प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल देता है जो उन्हें प्रभावित करती हैं। "परिवर्तन" के अध्ययन पर बल देने के कारण यह विकासशीलता का द्योतक बन गया है।

आधुनिक दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण का प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक है—भिन्नताओं के बावजूद आधुनिक दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण का प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी नहीं है। **व्यवहारवादी आन्दोलन को, जो आधुनिक दृष्टिकोण का प्रतीक है, 'क्रान्ति', "प्रतिरोध आन्दोलन" (A protest movement), "मनोदशा" (Mood) आदि की संज्ञा दी गई है, परन्तु यह परम्परागत दृष्टिकोण का स्थान नहीं लेता। यह उसका सुधार करता है, यह उसे नवीन दिशायें प्रदान करता है। यह उसे विश्लेषण की नवीन इकाइयाँ, नवीन अध्ययन सामग्री, नवीन शैलियाँ एवं नवीन पद्धतियाँ और नवीन तथ्य प्रदान करता है।** यह उसके अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करता है। इसने परम्परागत दृष्टिकोण को झकझोर दिया है, उसकी निर्जीवता एवं अकर्मण्यता को समाप्त कर दिया है, उसे गहरी निद्रा से जगाकर उसके विकास के लिए नये क्षेत्र प्रदान किये हैं। इस तरह आधुनिक दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण का पूरक है।

(B) आधुनिक परिभाषायें—राजनीति शास्त्र की परम्परागत परिभाषाओं और आधुनिक परिभाषाओं में मूल अन्तर यह है कि जहां परम्परागत परिभाषायें

'राज्य, सरकार' आदि संस्थाओं के अध्ययन पर आधारित हैं वहां **आधुनिक परिभाषायें समग्रता (पूर्णता) पर आधारित हैं। ये साधनों, प्रक्रियाओं और व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित हैं। इनमें "शक्ति" या "शक्ति और प्रभाव" या "प्रभुत्व और नियन्त्रण"** की केन्द्रीय स्थिति है। प्रमुख आधुनिक परिभाषायें निम्न हैं—

1. **केटलिन** के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र शक्ति का विज्ञान है।" एक अन्य स्थान पर **केटलिन** ने राजनीति शास्त्र की यह परिभाषा दी है—"राजनीति शास्त्र समाज में नियन्त्रण के कार्य से, नियन्त्रण के फलस्वरूप प्रक्रिया तथा उन संरचनाओं से सम्बद्ध है जो भावनाओं के नियन्त्रित सम्बन्धों के कारण प्रस्तुत हों।"

2. **कैप्लान** के शब्दों में, "एक अनुभवजन्य अध्ययन के रूप में राजनीति शास्त्र शक्ति के निर्माण तथा साझेदारी का विषय है।"

3. **लासवैल** के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र एक प्रश्न है—"कौन, क्या, कब और कैसे" ? इसमें लासवैल ने राजनीति शास्त्र को एक अनुभव-जन्य ज्ञान माना है जिसमें शक्ति के संग्रह और शक्ति की साझेदारी का अध्ययन किया जाता है।"

4. **रावर्ट डाहल** के शब्दों में, राजनीति शास्त्र "शक्ति, शासन और अधिकार" है।

5. **पिनॉक और स्मिथ** के शब्दों में, "राजनीति किसी भी समाज में उन सभी शक्तियों, संस्थाओं एवं संगठनात्मक ढाँचों से सम्बन्धित होती है जिन्हें उस समाज में व्यवस्था की स्थापना एवं पोषण हेतु तथा उनके मतभेदों को दूर करने हेतु कुल मिलाकर सबसे अधिक अन्तिम शक्ति माना जाता है।"[1] इस परिभाषा में परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोणों को मिलाने का प्रयास किया गया है।

(C) आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति शास्त्र का क्षेत्र—आधुनिक दृष्टिकोण ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को निम्न प्रकार से विस्तृत एवं व्यापक बनाया है—

1. यह संस्थाओं के औपचारिक अध्ययन के स्थान पर **राजनीतिक क्रियाकलापों का अध्ययन** करता है। यह व्यक्ति के **राजनीतिक व्यवहार पर बल** देता है।

2. यह राजनीति का अकेले में अध्ययन नहीं करता। यह **अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन पर बल** देता है। यह पूर्णता का अध्ययन है।

3. यह राजनीतिक व्यवहार के **क्रमबद्ध अध्ययन** पर बल देता है।

4. यह राजनीति शास्त्र के अध्ययन एवं शोध में **सांख्यिकी के प्रयोग पर बल** देता है ताकि राजनीति शास्त्र के तथ्यों का वर्गीकरण, पर्यवेक्षण एवं मापन निश्चित हो सके।

5. यह दार्शनिकता के स्थान पर **यथार्थता** पर बल देता है।

6. यह **व्यवस्थित सिद्धान्त** की रचना करना चाहता है।

---

1. Pennok & Smith : Political Science : An Introduction p. 9.

7. यह **विकासशील दृष्टिकोण** है। यह राजनीति शास्त्र को परिवर्तन के अनुकूल बनाना चाहता है।

8. यह विकासशील वस्तुनिष्ठ (Objective) अध्ययन पर बल देता है। यह अध्ययन को व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) प्रभावों से बचाना चाहता है। यह **मूल्य निरपेक्ष** (Value free) दृष्टिकोण है।

क्या राजनीति शास्त्र विज्ञान है ?

राजनीति शास्त्र के लेखकों में इस प्रश्न पर एकमत नहीं कि क्या राजनीति शास्त्र 'विज्ञान' है ? इस सम्बन्ध में दो मत पाये जाते हैं। एक विचार यह है कि राजनीति शास्त्र एक विज्ञान नहीं। इस विचार के समर्थकों का कहना है कि राजनीति शास्त्र में व्यक्ति, व्यक्ति-समूह एवं समाज का अध्ययन किया जाता है जो एक चेतनशील एवं मूल्यों से प्रभावित प्राणी है। अतः राजनीतिक घटनाओं, राजनीतिक क्रियाओं और राजनीतिक व्यवहारों में अनिश्चितता एवं विविधता पाई जाती है। इनका कहना है कि राजनीतिक घटनाओं एवं व्यवहारों के साथ कृत्रिम यन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, जैसाकि भौतिक विज्ञानों की घटनाओं के साथ किया जा सकता है। मानव-भावनाओं को तोला नहीं जा सकता, इन्हें मापा नहीं जा सकता। अतः इसमें पूर्ण घोषणायें नहीं की जा सकतीं।

बक्ल, अगस्टे काम्टे, एफ. डब्ल्यू. मेटलैंड, अर्नेस्ट बार्कर, जेम्स ब्राइस, चार्ल्स ए. बीयर्ड, जार्ज केटलिन, जेलिनेक, पॉल जेने, सिजविक आदि लेखक राजनीति शास्त्र को विज्ञान मानने से इनकार करते हैं। बक्ल ने कहा है कि "ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति को विज्ञान मानना तो दूर, यह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।" **एफ. डब्ल्यू. मेटलैंड** का मत है कि "जब मैं किसी प्रश्न-पत्र को देखता हूँ जिसका शीर्षक राजनीति विज्ञान होता है तो मुझे उन प्रश्नों पर कोई आपत्ति नहीं होती, परन्तु शीर्षक देखकर मुझे अत्यन्त खेद होता है।" **बर्क** का मत है कि "जिस प्रकार हम सौन्दर्य विज्ञान को विज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते उसी प्रकार राजनीति शास्त्र को विज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती।" **चार्ल्स ए. बीयर्ड** का मत है कि "राजनीति का विज्ञान असम्भव है या यदि सम्भव है तो अवांछनीय है।"

विपक्ष में तर्क—राजनीति शास्त्र को विज्ञान न मानने वाले लेखक अपने कथन के सन्दर्भ में मुख्यतः निम्न तर्क देते हैं—

1. **एक मत का अभाव**—राजनीति शास्त्र के लेखकों में राजनीति के सिद्धान्त, पद्धतियों एवं परिणामों के बारे में एकमत नहीं। ये इसकी परिभाषा, शीर्षक और शब्दावली पर सहमत नहीं। जब यहीं पर विवाद है तो सिद्धान्त का निर्माण कठिन है। लेखकों ने अपनी इच्छा एवं दृष्टि के अनुसार ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणात्मक या दार्शनिक पद्धतियों का इस्तेमाल किया है। प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता, राज्य, राष्ट्र आदि शब्दों पर लेखकों ने भिन्न-भिन्न एवं परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं।

2. अध्ययन सामग्री की परिवर्तनशीलता एवं अनिश्चितता—राजनीति शास्त्र का अध्ययन विषय व्यक्ति, समूह एवं समाज है जो परिवर्तनशील एवं अनिश्चित है। मानव की अपनी इच्छायें, आकांक्षायें एवं प्रेरणायें होती हैं जो राजनीतिक घटनाओं, क्रियाओं एवं व्यवहारों पर अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है।

3. वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा सकता—राजनीति शास्त्र के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के निम्न तत्त्व अनुपस्थित होते हैं :—

(i) मूल्य निरपेक्षता का अभाव—वैज्ञानिक पद्धति मूल्य निरपेक्षता की माँग करती है, परन्तु राजनीति या राजनीतिक संस्थायें मूल्य निरपेक्ष नहीं हो सकतीं।

(ii) कृत्रिम यन्त्रों का प्रयोग सम्भव नहीं—वैज्ञानिक पद्धति में कृत्रिम यन्त्रों का प्रयोग सम्भव होता है परन्तु राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन या शोध में इनका प्रयोग नहीं हो सकता।

(iii) राजनीतिक घटनाओं को तोला या मापा नहीं जा सकता—वैज्ञानिक पद्धति में तोल और माप सम्भव होते हैं, परन्तु राजनीति शास्त्र की घटनाओं को तोला या मापा नहीं जा सकता है। इन्हें 'कम' और 'अधिक', 'नम्र' या 'उग्र' विशेषण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। राजनीति शास्त्र यह कभी नहीं बता सकता कि भीड़ की उत्तेजना कितनी मात्रा में थी।

(iv) कार्य-कारण के सम्बन्धों को निश्चित करना कठिन—वैज्ञानिक पद्धति में कार्य-कारण के सम्बन्धों को निश्चित किया जा सकता है, परन्तु राजनीति शास्त्र की घटनाओं के लिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमुक घटना किस कारण से और क्यों हुई ? यह 'अनुमान' या 'सम्भावना' के आधार पर कार्य कर सकता है परन्तु निश्चित रूप से नहीं कह सकता।

(v) निश्चित भविष्यवाणी करना कठिन— वैज्ञानिक पद्धति में पूर्वानुमान, पूर्व घोषणायें या भविष्यवाणी सम्भव होती है, परन्तु राजनीति शास्त्र में निश्चित भविष्यवाणी करना असम्भव है। राजनीति शास्त्र के परिणाम प्रायः आश्चर्यचकित करने वाले होते हैं।

(vi) निरन्तरता एवं क्रमवद्धता का अभाव—वैज्ञानिक पद्धति में घटनाओं को पूर्व निश्चित उद्देश्यों के लिए उत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु राजनीति शास्त्र की घटनाओं, क्रियाओं एवं व्यवहारों को पूर्व निश्चित उद्देश्यों के लिए उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इतिहास अपने आपको नहीं दोहराता। राजनीतिक घटनायें सोच-समझ कर उत्पन्न नहीं होतीं। समय, परिस्थिति और आवश्यकता उन्हें प्रभावित करती है। इसी कारण राजनीति शास्त्र में निरन्तरता और क्रमवद्धता का अभाव होता है जबकि प्राकृतिक विज्ञानों में निरन्तरता और क्रमवद्धता होती है।

पक्ष में तर्क—दूसरा विचार इस बात को स्वीकार करता है कि राजनीति शास्त्र भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, यान्त्रिक विज्ञान जैसे प्राकृतिक विज्ञानों की

भाँति विज्ञान तो नहीं बन सकता, परन्तु यह जीव विज्ञान या ज्योतिष विज्ञान जैसे प्राकृतिक विज्ञानों के निकट अवश्य आ सकता है। इनका मत है कि "कोई भी विषय, प्राकृतिक या सामाजिक, केवल अपने नामकरण के कारण विज्ञान नहीं बन जाता। यदि विषय का ज्ञान भण्डार उपलब्ध है, यदि उस विषय का अध्ययन क्रमबद्ध है, यदि कार्य-कारण सम्बन्ध में नियमितता को निश्चित किया जा सकता है, यदि पूर्व धारणाओं का परीक्षण किया जा सकता है या सिद्धान्त निर्माण या उसका प्रयास किया जा सकता है तो उसे विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। **गार्नर** ने कहा है कि **"विज्ञान से हमारा अभिप्राय किसी विषय के सम्बन्ध में उस एकीकृत ज्ञान भण्डार से है जिसकी प्राप्ति विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिसके तथ्यों का परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।"**[1]

राजनीति शास्त्र भौतिक विज्ञान या रसायन विज्ञानों जैसे प्राकृतिक विज्ञानों का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि इसके नियमों एवं परिणामों को कभी निश्चित शब्दावली में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु प्राकृतिक विज्ञानों में भी ऋतु विज्ञान जैसे विज्ञान हैं जिनकी भविष्यवाणियाँ सदा सही नहीं होतीं। **गार्नर** ने ठीक कहा है कि "राजनीति शास्त्र एक तार्किक विज्ञान नहीं बल्कि एक प्रयोगात्मक विज्ञान है। यह प्रयोग या परीक्षण नहीं कर सकता परन्तु यह परीक्षणों का अध्ययन करके उनके परिणाम को निश्चित कर सकता है। यह एक प्रगतिशील विज्ञान भी है क्योंकि हर साल नये अनुभवों से हमारी विचार सामग्री में वृद्धि होती है और मानव समाज के ज्ञान में वृद्धि होती है।"

अधिकांश लेखकों का मत है कि राजनीति शास्त्र एक विज्ञान है। अरस्तू ने राजनीति शास्त्र को **पूर्ण या सर्वोच्च ज्ञान** (Master Science) की संज्ञा दी है। **बोदां, हॉब्स, माण्टेस्क्यू, जॉर्ज कॉर्नवाल, लेविस, सिजविक, ब्राइस, ब्लंशली, जेलिनेक, मेडिसन, थियोडोर डी. वुल्से, सर जॉन आर. सीले आदि लेखकों ने राजनीति शास्त्र को विज्ञान स्वीकार किया है। होल्ट्ज़नडार्फ** का मत है कि "ज्ञान भण्डार में जो वृद्धि हो चुकी है उसे देखते हुए यह अस्वीकार करना असम्भव है कि राज्य से सम्बद्ध समस्त अनुभवों, अवस्थाओं एवं ज्ञान को राज्य विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता है।" **मेडिसन** ने **"द फेडरेलिस्ट"** में 'राजनीति के विज्ञान' (Science of Politics) की बात कही है। **सीले** का मत है कि **"राजनीति विज्ञान उसी प्रकार से सरकार का अध्ययन करता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र धन का, जीव विज्ञान जीवन का और बीजगणित अंकों का और ज्यामिति स्थान और दूरी का।"** **फ्रेडरिक पॉलक** का मत है कि "जिस प्रकार नैतिकता का विज्ञान है उसी तरह राजनीति शास्त्र का विज्ञान है।" आधुनिक समय में व्यवहारवादी लेखकों ने जिन वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया है और राजनीति शास्त्र की घटनाओं, कार्यों

1. See Garner, J. W. : Political Science and Government : pp. 12-13.

एवं व्यवहारों के अध्ययन एवं शोध में नमूना सर्वेक्षणों, गणितीय नमूनों, अनुकरणों आदि का प्रयोग किया है, वे राजनीति शास्त्र को यदि भौतिक या रासायनिक विज्ञान के निकट नहीं लाते तो कम से कम जीव विज्ञान के निकट तो अवश्य ले आते हैं।

राजनीति शास्त्र को विज्ञान मानने वाले लेखक अपने विचार के समर्थन में मुख्यत: निम्न तर्क देते हैं—

(i) राजनीति शास्त्र का ज्ञान भण्डार है—आधुनिक समय में राजनीति शास्त्र का ज्ञान भण्डार उपलब्ध है। यह व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राज्य, सरकार तथा उसके स्वरूपों का अध्ययन और राजनीतिक विचारधारायें राजनीति शास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं।

(ii) व्यवहार की एकरूपता—यह सत्य है कि राजनीति शास्त्र के विषय में अर्थात् मानव व्यवहार में भिन्नता पाई जाती है और इसमें जड़ पदार्थों की एकरूपता का अभाव है, फिर भी कुछ सामाजिक नियम ऐसे हैं जिनमें एकरूपता पाई जाती है, इन्हें स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया जाता है।

(iii) कार्य-कारण का सम्बन्ध सम्भव है—राजनीति शास्त्र में कार्य-कारण के सम्बन्धों को सही ढंग से निश्चित तो नहीं किया जा सकता, परन्तु उनका अनुमान तो लगाया जा सकता है।

(iv) पर्यवेक्षण एवं परीक्षण सम्भव है—यद्यपि राजनीति शास्त्र के विषय के साथ प्रयोगशाला में उस भाँति परीक्षण नहीं किये जा सकते जिस प्रकार रसायन शास्त्री अपने विषय में करता है, परन्तु समाज में नित्य नये प्रयोग होते हैं। **सारा विश्व राजनीति की प्रयोगशाला है। प्रत्येक नया कानून, प्रत्येक नई नीति, प्रत्येक नवीन संस्था की स्थापना, सरकार के स्वरूप में किया गया प्रत्येक नवीन परिवर्तन स्वयं में एक प्रयोग है।**

राजनीति शास्त्र एक कला भी है—राजनीति शास्त्र एक विज्ञान ही नहीं, यह एक कला भी है। ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग को ही कला कहते हैं। कला का उद्देश्य मानव-जीवन को अच्छा, सुन्दर एवं सद्गुणी बनाना है। राजनीतिक संस्थाओं का मूल उद्देश्य मानव-जीवन को अच्छा, उच्च एवं श्रेष्ठ बनाना है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के नैतिक प्राणी बनने के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं उन्हें दूर करे। राज्य नैतिकता का विकास नहीं कर सकता, परन्तु वह निश्चित ही ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है जिनमें नैतिकता का विकास हो सकता है। राजनीति इस बात को निश्चित करती है कि राजनीतिक संस्थाओं का संचालन कैसा हो ?

समीक्षा प्रश्न

1. "राजनीति शास्त्र" की परिभाषा दीजिए और "राजनीति" तथा "राजनैतिक दर्शन" से इसका अन्तर स्पष्ट कीजिए।

(Raj. Suppl. 1985)

2. राजनीति, राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धान्त तथा राजनीतिक दर्शन का परीक्षण कीजिए। (Raj. 1986)
3. राजनीति विज्ञान क्या है ? इसके क्षेत्र के सम्बन्ध में केटलिन, एच. डी. लासवेल और डेविड ईस्टन के विचारों का विवेचन कीजिए। (Raj. 1983)
4. राजनीति विज्ञान की परिभाषा देते हुए इसके स्वरूप व क्षेत्र का वर्णन कीजिए। (Raj. 1981, 87)
5. राजनीति शास्त्र के अर्थ, स्वरूप तथा क्षेत्र के सन्दर्भ में परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों को स्पष्ट कीजिए। (Raj. Suppl. 1986, 83)
6. पारम्परिक तथा आधुनिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए राजनीति शास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र की व्याख्या कीजिए। (Raj. 1978, 82, 85)
7 "राजनीति शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों के वर्ग में नहीं है—यह एक सामाजिक विज्ञान है।" स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1980)
8. "क्या राजनीति शास्त्र एक विज्ञान है ?" इस कथन के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करें। (Raj. Suppl. 1984)
9. "राजनीति शास्त्र का आरम्भ और अन्त राज्य से होता है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए। (Raj. 1984)
10. इस विचार का परीक्षण कीजिए कि राजनीति शास्त्र कला तथा विज्ञान दोनों है। (Raj. Suppl. 1986)

2

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के उपागम

(Approaches to the Study of Political Science)

सीमायें एवं कठिनाइयाँ (Limitations and Difficulties)—राजनीति शास्त्र के अध्ययन के उपागमों का वर्णन करने से पूर्व इसके अध्ययन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को समझ लेना उपयोगी होगा। ये कठिनाइयाँ ही प्राकृतिक विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के उपागमों के मूल अन्तर को स्पष्ट करती हैं। ये कठिनाइयाँ मुख्यतः निम्न हैं—

1. अध्ययन सामग्री में अन्तर—सामाजिक शोधकर्त्ता को, जिसमें राजनीतिक शोधकर्त्ता शामिल है, जिस सामग्री के साथ अध्ययन एवं शोध करना पड़ता है, वह प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री से भिन्न है। प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री प्राकृतिक पदार्थ अर्थात् जड़ जगत है जबकि सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री व्यक्ति, व्यक्ति-समूह तथा समाज है जो चेतनशील हैं। व्यक्ति की अपनी इच्छायें, आकांक्षायें, भावनायें तथा प्रेरणायें होती हैं। वह स्वयं क्रियायें एवं प्रति-क्रियायें करता है।

2. कृत्रिम यन्त्रों का सीमित प्रयोग—सामाजिक शोधकर्त्ता कृत्रिम यन्त्रों द्वारा अपने शोध के क्षेत्र में वृद्धि नहीं कर सकता जैसाकि प्राकृतिक वैज्ञानिक अपने क्षेत्र की वृद्धि कर सकता है। इसका कारण यह है कि राजनीतिक घटनाओं के निर्धारण में आन्तरिक एवं वाह्य अर्थात् अदृश्य एवं दृश्य दोनों प्रकार के कारण शामिल होते हैं। कृत्रिम यन्त्र केवल वाह्य अर्थात् दृश्य कारणों का पता लगा सकते हैं, अदृश्य कारणों का नहीं। दूसरे, राजनीतिक घटनाओं या व्यवहारों में व्यक्ति की भावनायें एवं आकांक्षायें शामिल होती हैं और इन्हें कभी सही ढंग से मापा नहीं जा सकता। सामाजिक सम्बन्ध इतने सूक्ष्म एवं अस्थिर होते हैं कि उन्हें नियन्त्रित करना एक कठिन समस्या है।

3. अनिश्चितता एवं परिवर्तनशीलता—जिन घटनाओं, परिस्थितियों, क्रियाओं या व्यवहारों से राजनीतिक शोधकर्त्ता सम्बन्धित होता है वे अनिश्चित एवं परिवर्तनशील होती हैं। उनमें परिवर्तन नियमानुसार नहीं होते। घटनायें अनिश्चित एवं भिन्न परिस्थितियों में घटित होती हैं। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। ऐतिहासिक घटनाओं एवं सामाजिक तथ्यों को अपनी इच्छानुसार उत्पन्न नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, भौतिक विज्ञानों के नियम अटल एवं निश्चित होते हैं, उनमें परिवर्तन नियमानुसार होते हैं, उनकी घटनाओं को इच्छानुसार उत्पन्न किया जा सकता है।

4. मूल्यों का प्रभाव—राजनीति शास्त्र के अध्ययन एवं शोध में व्यक्ति, व्यक्ति समूह एवं समाज के मूल्यों का प्रभाव पड़ता है। भौतिक विज्ञानों का अध्ययन एवं शोध "मूल्य निरपेक्ष" भाव से सम्भव है परन्तु राजनीति शास्त्र के अध्ययन में मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते और न ही उनके महत्त्व को कम कर सकते हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही सामाजिक विज्ञानों को वैज्ञानिक पद्धति की अधिक आवश्यकता है। **एलवुड** ने कहा है कि "जिस प्रकार ज्योतिष विज्ञान के लिए दूरदर्शक यन्त्र और जीव विज्ञान के लिए सूक्ष्मदर्शी यन्त्र की आवश्यकता है उसी प्रकार सामाजिक विज्ञानों को वैज्ञानिक पद्धति की आवश्यकता है।"

अध्ययन उपागमों के लेखक (Writers on Methodology)—अगस्टे काम्टे, जॉन स्टुअर्ट मिल, अलेक्जेण्डर बेन, सर जार्ज कार्नवाल, लेविस, लार्ड ब्राइस, दसलेन्द्रे, ब्लंशली आदि लेखकों ने राजनीति शास्त्र के भिन्न-भिन्न उपागमों का वर्णन किया है। **काम्टे** ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए **तीन उपागमों** का उल्लेख किया है। ये हैं—(i) पर्यवेक्षणात्मक, (ii) प्रयोगात्मक और (iii) तुलनात्मक। **जे. एस. मिल** ने अध्ययन के **चार उपागमों** का उल्लेख किया है। ये हैं (i) रासायनिक या प्रयोगात्मक (ii) रेखागणित या अमूर्त (iii) भौतिक और निष्कर्षात्मक और (iv) ऐतिहासिक। **ब्लंशली** ने अध्ययन के केवल **दो उपागमों** का उल्लेख किया है। ये हैं—(i) दार्शनिक और (ii) ऐतिहासिक। **दसलेन्द्रे** ने अध्ययन के **छः उपागमों** का उल्लेख किया है। ये हैं—(i) समाजशास्त्रीय (ii) तुलनात्मक (iii) सैद्धान्तिक (iv) न्यायिक या वैधिक (v) सहज बुद्धि और (vi) ऐतिहासिक।

अध्ययन के उपागम
(Approaches of Study)

राजनीति शास्त्र के अध्ययन उपागमों को मुख्यत: निम्न दो भागों में बाँटा जाता है—

A. आगमनात्मक उपागम (Inductive Approach)

B. निगमनात्मक उपागम (Deductive Approach)

उक्त उपागमों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपागमों का उल्लेख भी किया जाता है। ये हैं—(i) सादृश्य उपागम, (ii) न्यायिक या वैधानिक उपागम, (iii) सांख्यिकीय

उपागम, (iv) जीवशास्त्रीय उपागम, (v) समाजशास्त्रीय उपागम, (vi) मनोवैज्ञानिक उपागम, (vii) ग्रानुभविक वैज्ञानिक उपागम एवं (viii) व्यवहारवादी उपागम ।

A. ग्रागमनात्मक उपागम
(Inductive Approach)

इन उपागमों के ग्रन्तर्गत ग्राने वाले मुख्य उपागम निम्न हैं—

1. पर्यवेक्षणात्मक उपागम (Observational Approach)—इस उपागम में शोधकर्त्ता राजनीतिक संस्थाग्रों एवं कार्यवाहियों का ग्रध्ययन स्वयं के ग्रनुभव, निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण के ग्राधार पर करता है। लार्ड ब्राइस ने ग्रपनी पुस्तक **ग्रमरीकी संघ** (American Commonwealth) ग्रौर "ग्राधुनिक प्रजातन्त्र" (Modern Democracies) में इस उपागम का प्रयोग किया है। **माण्टेस्क्यू** ने ब्रिटिश शासन व्यवस्था के पर्यवेक्षण से शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का निर्माण किया। **सिडनी ग्रौर वैट्रिस** वैव ने ग्रपनी पुस्तक **'सोवियत साम्यवाद'** की रचना इसी के ग्राधार पर की। ग्राधुनिक समय में व्यवहारवादी लेखकों ने इसी उपागम का प्रयोग किया है।

लार्ड ब्राइस का मत है कि राजनीतिक शोधकर्त्ता को ग्रपना निरीक्षण किसी एक देश की राजनीतिक संस्थाग्रों तक सीमित नहीं रखना चाहिए बल्कि उसे ग्रपने क्षेत्र को व्यापक बनाना चाहिए। उसका मत है कि मानव प्रकृति के मूल तत्त्व सभी स्थानों पर प्रायः समान होते हैं, केवल राजनीतिक परम्परायें, स्वभाव एवं विचार ही भिन्न-भिन्न होते हैं।

सीमायें एवं सावधानियाँ—पर्यवेक्षण उपागम की प्रमुख सीमायें निम्न हैं—

1. इसका प्रयोग सीमित रूप से किया जा सकता है। इसमें ग्रत्यधिक धन की ग्रावश्यकता होती है ग्रौर सभी शोधकर्त्ताग्रों को यह सुविधा उपलब्ध नहीं होती।

2. इसमें सही तथ्यों को एकत्र करना कठिन है। यदि तथ्य एकत्रित हो भी जायें तो उनकी सच्चाई के सम्बन्ध में निश्चित होना कठिन है, क्योंकि जिन तथ्यों को शोधकर्त्ता एकत्रित करता है, हो सकता है उन पर उसके स्वयं के रूझानों का प्रभाव हो।

3. इसमें उच्च स्तर की वस्तुनिष्ठता एवं निष्पक्षता की ग्रावश्यकता होती है जिसका प्रायः ग्रभाव होता है।

उपर्युक्त सीमाग्रों के कारण ही **लार्ड ब्राइस** ने कहा है कि तथ्यों को निश्चित एवं स्पष्ट करने की ग्रावश्यकता है, उनका ग्रन्य तथ्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की ग्रावश्यकता है, तभी कोई सुन्दर कण्ठहार बन सकता है। इसमें इस बात की सबसे ग्रधिक ग्रावश्यकता है कि शोध या ग्रध्ययन वास्तविक तथ्यों एवं घटनाग्रों पर ग्राधारित हो, ग्रनुमानों पर नहीं। ग्रध्ययन वास्तविक (निष्पक्ष) होना

चाहिये और उस पर काल्पनिक या निजी मूल्यों का प्रभाव नहीं होना चाहिये। इसमें घटनाओं या क्रियाओं का पूर्ण अध्ययन होना चाहिए अपूर्ण या क्षणिक नहीं।

2. ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach)—इस पद्धति का अत्यधिक महत्त्व है। इसके आधार पर राजनीतिक संस्थाओं के उदय, विकास और पतन का सही मूल्यांकन किया जा सकता है तथा भविष्य की संस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। उदाहरणतः भारत के वर्तमान संविधान का अध्ययन तभी पूर्ण माना जायेगा जब उसे 1909, 1919 और 1935 के अधिनियमों के संदर्भ में समझा जाय। यह उपागम निश्चित होने से राजनीति शास्त्र के लिए अत्यधिक लाभकारी है। **गार्नर** ने लिखा है कि "राजनीतिक संस्थाओं का सही ज्ञान उनके अतीत के इतिहास द्वारा ही सम्भव है। उनका विकास कैसे हुआ और उन्होंने अपना ऐसा विकास कैसे किया है और वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कहां तक सफल हुई है" आदि बातों का अध्ययन आवश्यक है। **गिलक्राइस्ट** ने कहा है कि "इतिहास न केवल संस्थाओं की व्याख्या करता है बल्कि यह भविष्य के पथ-प्रदर्शन हेतु निष्कर्ष प्राप्त करने में भी सहायक होता है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर राजनीतिक विज्ञान की आगमनात्मक एवं निगमनात्मक दोनों प्रक्रियायें कार्य करती हैं।" **लास्की** ने लिखा है कि सच्ची राजनीति इतिहास का दर्शन है।" **माण्टेस्क्यू, सेविगने, सर हेनरी मैन, अरस्तू, गिलक्राइस्ट, सीले, फ्रीमैन, लास्की, मैकियावली, हीगल, मार्क्स** आदि लेखकों ने इस उपागम का इस्तेमाल किया है।

सीमायें व सावधानियाँ—ऐतिहासिक उपागम की सीमाओं को अभिव्यक्त करते हुए **लार्ड ब्राइस** ने चेतावनी दी है कि "शोधकर्त्ता को घटनाओं या संस्थाओं की ब्राह्य समानताओं के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। यद्यपि ऐतिहासिक समानतायें मनोरंजक होती हैं, परन्तु वे भ्रमपूर्ण हो सकती हैं।"

दूसरे, इसमें यह भय रहता है कि शोधकर्त्ता कहीं भावनात्मक प्रभावों का शिकार न हो जाये। अतः उसे धार्मिक विचारों, राजनीतिक पक्षपात, जातीय रूझानों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रभावों से बचने का प्रयास करना चाहिये।

तीसरे, शोधकर्त्ता का दृष्टिकोण निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक होना चाहिए। उसे तर्क-वितर्क, व्याख्या एवं विश्लेषण करना चाहिए। **सीले** ने कहा है कि "हमें विचार करना चाहिए, तर्क करना चाहिए, सामान्य रूप देना चाहिए, परिभाषित करना चाहिए तथा भेद करना चाहिए, हमें तथ्यों का संग्रह करना चाहिये, उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में जाँच एवं परीक्षण करना चाहिये।"

चौथे, शोधकर्त्ता को इस बात की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि इतिहास की पूर्ण पुनरावृत्ति नहीं होती। समय, परिस्थिति एवं विकास की स्थितियाँ ऐतिहासिक घटनाओं में भिन्नतायें पैदा करती हैं।

3. तुलनात्मक उपागम (Comparative Approach)—यह उपागम पर्यवेक्षणात्मक एवं ऐतिहासिक उपागमों का पूरक है। इसमें शोध-कर्त्ता वर्तमान एवं

प्राचीन राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन कर एक सुनिश्चित विचार-सामग्री को इकट्ठा करता है और चयन, तुलना एवं विलोपन की प्रक्रिया द्वारा प्रगतिशील शक्तियों एवं आदर्शों को मालूम करता है। एम. सेलिलीज (M. Saleilles) ने कहा है कि "तुलनात्मक पद्धति उस सामान्य तरंग की खोज करती है जो समस्त शासन विधियों से होकर गुजरती है और जिस पर अनुभव ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी है। इसके द्वारा शोधकर्त्ता अपनी आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुकूल शासन प्रणालियों का चुनाव कर सकता है तथा उनमें आवश्यक सुधार कर सकता है। उदाहरणतः विश्व के अनेक देशों ने ब्रिटिश संसदात्मक प्रणाली का अनुसरण किया है; परन्तु उन्होंने इसे अपनी परिस्थितियों के अनुकूल ढाला है। इसी प्रकार अमरीकी संघीय व्यवस्था का अनुसरण करते हुए भी अनेक देशों ने इसमें आवश्यकतानुकूल परिवर्तन किये हैं।

राजनीति शास्त्र के लेखकों ने तुलनात्मक उपागम का प्रयोग प्रारम्भ से ही किया है। उदाहरणतः **अरस्तू** ने अपनी पुस्तक **"पॉलिटिक्स"** की रचना करते समय **158** संविधानों का अध्ययन किया था और तुलना के आधार पर आदर्श राज्य के गुणों तथा क्रान्तियों के कारणों का उल्लेख किया था। **बोदां, माण्टेस्क्यू, लार्ड ब्राइस, हरमन फाइनर, ऑग और जिक** आदि लेखकों ने इस उपागम का इस्तेमाल किया है।

सीमाएँ तथा सावधानियाँ—तुलनात्मक उपागम की अपनी सीमायें हैं। यदि इनका समाधान न किया जाये तो तुलना व्यर्थ एवं हानिकारक हो सकती है। इसकी प्रमुख सीमायें तथा उनके सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली सावधानियाँ निम्न हैं—

1. इसकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि शोध-कर्त्ता राजनीतिक संस्थाओं की बाह्य समानताओं के भ्रम में फँस सकता है। अतः यह आवश्यक है कि तुलना करते समय वह राजनीतिक संस्थाओं की बाह्य समानताओं से प्रभावित न हो, उसे उस सामाजिक और आर्थिक वातावरण का अध्ययन करना चाहिये जिसमें वे विद्यमान हैं। उसे लोगों की आदतों एवं स्वभावों, आर्थिक और सामाजिक स्थिति, नैतिक एवं वैधानिक स्तर, राजनीतिक स्थिति आदि का अध्ययन करना चाहिये।

2. राजनीतिक संस्थाओं की तुलना वैज्ञानिक आधार पर होनी चाहिये। उनकी तुलना ऐतिहासिक दृष्टि से की जानी चाहिये। तुलना करते समय केवल समानताओं को ही नहीं, असमानताओं को भी ध्यान में रखना चाहिए। जैसाकि जेलिनेक ने कहा है कि "उन राज्यों एवं राजनीतिक संस्थाओं का समुचित रूप में अध्ययन किया जा सकता है जो एक ही युग की हों, जिनका ऐतिहासिक आधार समान हो और जिनकी सामान्य ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यतायें एवं समस्यायें एक-सी हों।" उदाहरणतः पांचवीं शताब्दी की राजनीतिक

संस्थाओं की तुलना बीसवीं शताब्दी की राजनीतिक संस्थाओं से नहीं की जा सकती। इसमें समय, सभ्यता और संस्कृति का महान् अन्तर है।

4. प्रयोगात्मक उपागम (Experimental Approach)—राजनीति शास्त्र एक समाजशास्त्र है। यह एक मानवीय शास्त्र है। इसकी अध्ययन सामग्री (व्यक्ति) के साथ उस प्रकार के प्रयोग नहीं किये जा सकते जिस प्रकार के प्रयोग भौतिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री के साथ किये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति और समाज की प्रकृति ऐसी है कि उनके साथ कृत्रिम प्रयोग नहीं किये जा सकते। **सर जार्ज सी. लेविस और लार्ड ब्राइस इस उपागम के विरुद्ध थे। सर जार्ज सी. लेविस** ने कहा है कि "किसी अमूर्त सत्य का निश्चय करने के लिए समाज संगठन की परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में हम स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन नहीं ला सकते। एक रसायन शास्त्री प्रयोगशाला में जो प्रयोग कर सकता है, एक राजनीतिक वैज्ञानिक उन्हें नहीं कर सकता।" **लार्ड ब्राइस** ने भी कहा है कि "रसायन शास्त्र की वस्तुओं को तोला एवं मापा जा सकता है, परन्तु मानवीय घटनाओं को न तोला जा सकता है और न ही मापा जा सकता है।" मानवीय घटनाओं का अधिक से अधिक वर्णन किया जा सकता है। हम ताप, शीत एवं वायु प्रभाव को माप सकते हैं, परन्तु यह कभी नहीं माप सकते कि किसी जनसमूह के मनोभाव कितने उग्र थे। हम उन्हें अधिक या कम, उग्र या नम्र के विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। हम निश्चित रूप में नहीं बता सकते कि उस उग्रता की मात्रा कितनी थी।

राजनीतिक क्रियाओं, घटनाओं या व्यवहारों पर मानव के विचारों, प्रेरणाओं एवं मनोभावों का कितना प्रभाव पड़ता है, उन्हें निश्चित रूप से निर्धारित करना कठिन है। राजनीति शास्त्र में वांछित परिणामों को प्राप्त करना एक जटिल समस्या है। उदाहरणतः यदि राजनीतिक वैज्ञानिक प्रजातन्त्र के साथ प्रयोग करना चाहता है तो वह अपनी इच्छानुसार न तो किसी राज्य का चयन कर सकता है और न ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है कि उसके प्रयोग सफल हो सकें।

उपर्युक्त सीमाओं एवं कठिनाइयों के बाद भी राजनीति शास्त्र में जाने या अनजाने में कुछ प्रयोग होते रहते हैं। जैसाकि गार्नर ने कहा है कि **"प्रत्येक नये नियम का निर्माण, प्रत्येक नवीन संस्था की स्थापना, प्रत्येक नवीन नीति की घोषणा, ये सब एक अर्थ में प्रयोग ही हैं, क्योंकि ये उस समय तक अस्थायी रहते हैं जब तक इनके परिणामों से यह मालूम न हो जाये कि ये स्थायी बनाने योग्य हैं।"**

राजनीति शास्त्र में किये गये प्रयोगों की सफलता एवं असफलता किसी देश की परिस्थितियों पर निर्भर करती है। उदाहरणतः इंगलैण्ड में रेस्टोरेशन काल में गणराज्य शासन-व्यवस्था के साथ किया गया प्रयोग असफल रहा था क्योंकि अंग्रेज लोग स्वभाव से रूढ़िवादी हैं। वे राजतन्त्र को बनाये रखना चाहते हैं। दूसरी ओर इंगलैण्ड में सीमित राजतन्त्र के साथ किये गये प्रयोग सफल रहे हैं। ब्रिटेन की

संसदात्मक प्रणाली स्वयं विकास एवं प्रयोग का फल है। भारत में सन् 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध प्रणाली के साथ किया गया प्रयोग असफल रहा। नागौर जिले में पंचायत राज के सफल होने पर राजस्थान तथा फिर अन्य राज्यों में इस व्यवस्था को लागू कर दिया गया। आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाये गये भूदान आन्दोलन का उद्देश्य भारत के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे में हृदय परिवर्तन द्वारा परिवर्तन लाना है।

B. निगमनात्मक अथवा आदर्श उपागम
(Deductive or Normative Approach)

इस उपागम के अन्तर्गत केवल एक ही अध्ययन उपागम का प्रयोग किया जाता है जिसे दार्शनिक उपागम कहते हैं।

दार्शनिक उपागम (Philosophical Approach)–इस उपागम को **अनुभव निरपेक्ष** (A priori), **निगमनात्मक** (Deductive) एवं **परिकल्पनात्मक** उपागम भी कहते हैं। इसमें राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन नैतिक एवं दार्शनिक अवधारणाओं एवं परिकल्पनाओं के आधार पर किया जाता है। इसमें शोधकर्त्ता तर्क-वितर्क के आधार पर नियम निर्धारित नहीं करता वल्कि दार्शनिक आधार पर या वास्तविक अनुभवों के आधार पर किसी **आदर्श** को या **कल्पना** को निश्चित करता है और फिर वास्तविक राजनीतिक संस्थाओं को उस कसौटी पर कसने का प्रयास करता है। इस उपागम की सवसे वड़ी उपयोगिता यह है कि यह राजनीतिक संस्थाओं के नैतिक एवं दार्शनिक उद्देश्यों को निर्धारित करती है तथा उनके मानवीय पहलू पर वल देती है। यह उन्हें आँकने और सुधारने के मानदण्ड प्रस्तुत करती है।

राजनीति शास्त्र के अनेक लेखकों ने इस उपागम का प्रयोग किया है। **इस उपागम के प्रमुख समर्थक हैं–प्लेटो, टॉमस मूर, ब्लंशली, रूसो, काण्ट, बोसांके, मिल, सिजविक आदि। प्लेटो** की रचना "**रिपब्लिक**" में आदर्श राज्य और दार्शनिक शासक का विचार उसकी कल्पनाओं का ही परिणाम है। **टॉमस मूर** ने अपनी रचना "**यूटोपिया**" में इसी उपागम का अनुसरण किया है। पुनर्जागरण के विद्वानों ने विवेक के युग का जन्म होने के कारण, इस उपागम को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और पर्यवेक्षण एवं प्रयोगात्मक जैसे वैज्ञानिक उपागमों पर वल देना शुरू कर दिया।

सीमायें एवं सावधानियाँ–दार्शनिक उपागम की सवसे वड़ी सीमा यह है कि यह वास्तविकताओं की उपेक्षा करता है और कल्पनाओं का सहारा लेता है। अध्ययनकर्त्ता कल्पनाओं की उड़ान में इतना ऊँचा उड़ जाता है कि उसे इस वात का ध्यान नहीं रहता है कि जिन सिद्धान्तों और संस्थाओं का वह समर्थन कर रहा है, वे व्यावहारिक हैं या नहीं ? डनिंग ने **प्लेटो के आदर्श राज्य को 'कल्पना से रोमांस' की संज्ञा दी है।**

उपर्युक्त सीमा के वाद भी दार्शनिक उपागम को नकारा नहीं जा सकता, इसका अपना महत्त्व है। व्यक्ति और समाज के अपने मूल्य होते हैं। राजनीतिक

संस्थाओं का मूल उद्देश्य उन मूल्यों को सिद्ध करना होता है। यदि राजनीतिक संस्थायें उन मूल्यों की प्राप्ति में असफल रहती हैं तो वे नीरस और शुष्क बनकर रह जाती हैं। **आदर्श, जैसाकि जी. जी. सी. फील्ड** ने कहा है, **"एक प्रभावशाली क्रिया की आवश्यक शर्त है।"** आवश्यकता केवल इस बात की है कि दार्शनिक को "क्या होना चाहिए" और "क्या हो सकता है ?" इन दोनों को मिलाने का प्रयास करना चाहिए।

समीक्षा प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान के अध्ययन के विभिन्न उपागमों (पद्धतियों) का वर्णन कीजिये। (Raj. 1984, Suppl. 1979, 84; Ajmer 1988)

3
व्यवहारवादी उपागम
(Behavioural Approach)

परिचय—राजनीति शास्त्र के अध्ययन के जिन उपागमों का वर्णन अध्याय दो में किया गया है उन्हें परम्परागत अध्ययन उपागम कहते हैं। व्यवहारवादी उपागम को आधुनिक उपागम कहा जाता है। यह आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त का हृदय है।

उदय—व्यवहारवादी उपागम का उदय परम्परागत राजनीति शास्त्र की उपलब्धियों के प्रति असन्तोष का परिणाम है। जब राजनीति शास्त्र के अध्ययन में ऐतिहासिक, दार्शनिक, वर्णनात्मक, वैधानिक एवं संस्थागत उपागमों से निराशा हुई तो विश्लेषण के नये उपागमों को खोजने का प्रयास किया गया। व्यवहारवादी उपागम इसी खोज का परिणाम है।

व्यवहारवादी उपागम 20वीं शताब्दी का उपागम है। फिर भी इसके अंकुर सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, मैकियावली, हॉब्स, लाक आदि विचारकों के चिन्तन में देखे जा सकते हैं। मैकियावली, हॉब्स और लाक ने मानव-व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया है। हॉब्स का सारा चिन्तन मानव के "आत्म-सुरक्षा" और "भय" (अविश्वास) के मनोविज्ञान पर आधारित है। लाक अनुभववाद का संस्थापक है जिसमें व्यवहारवाद निहित है। अनुभववाद बहुलवाद में निहित है जिसका समर्थन मार्क्स, मैक्स वेबर, दुर्खीम आदि विचारकों ने किया है।

व्यवहारवादी उपागम के लेखक एवं रचनायें—बीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम 1908 में ग्राहम वालास ने अपनी पुस्तक "ह्यूमैन नेचर इन पॉलिटिक्स" (Human Nature in Politics) में यह विचार व्यक्त किया था कि राजनीति शास्त्र में संस्थाओं के अध्ययन और विश्लेषण पर तो जोर दिया जाता है, परन्तु मानव के अध्ययन एवं विश्लेषण पर ध्यान नहीं दिया जाता। सन् 1908 में ए. एफ. बेन्टले ने अपनी पुस्तक "दी प्रोसेस ऑफ गवर्नमेंट" (The Process of Government) में अपने असंतोष को "मृत राजनीतिक विज्ञान" कह कर व्यक्त किया था। बेन्टले ने सामाजिक समूहों की प्रतिक्रियाओं के अध्ययन पर जोर दिया था। ए. एफ. बेन्टले,

जार्ज कैटलिन, चार्ल्स बीयर्ड आदि विद्वानों ने संस्थाओं के अध्ययन के स्थान पर प्रक्रियाओं (Processes) के अध्ययन पर जोर दिया।

अमरीकी पत्रकार फ्रैंक केण्ट ने अपनी पुस्तक "दी पॉलीटिकल बिहेवियर" (The Political Behaviour) में पहली बार राजनीतिक व्यवहार और व्यवहार-वाद शब्दों का प्रयोग किया। हरबर्ट टिंगस्टन ने इन शब्दों को वास्तविक अर्थ प्रदान करने का प्रयास किया।

सन् 1925 में चार्ल्स ई. मैरियम की पुस्तक "न्यू आस्पेक्टस ऑफ पॉलिटिक्स" (New Aspects of Politics) प्रकाशित हुई। यह पुस्तक अनुभववादियों की "बाइबिल" है। इसमें मैरियम ने राजनीतिक विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि और तकनीकों के प्रयोग पर जोर दिया। मैरियम ने शिकागो विश्वविद्यालय को व्यवहारवाद के अध्ययन का केन्द्र बनाया। कुछ समय बाद मैरियम के सहयोगियों एवं शिष्यों का शिकागो सम्प्रदाय व्यवहारवाद एवं व्यवहारवादी उपागम का प्रमुख प्रवक्ता बन गया।

हैराल्ड लासवैल, डेविड ईस्टन, कैप्लान, जार्ज कैटलिन, गेब्रियल आमण्ड, डेविड ट्रूमैन, राबर्ट ए. डाहल, हरबर्ट साइमन, लुसियन पाई, पावैल, मलफर्डक्यू सिबली, किर्क पैट्रिक, हींज यूलाऊ, वी. ओ. की. जूनियर आदि लेखक व्यवहारवाद के प्रमुख वक्ता हैं। इन विद्वानों ने व्यवहारवाद एवं व्यवहारवादी उपागम के विविध पहलुओं की व्याख्या की है। कैटलिन की पुस्तक "ए स्टडी ऑफ दी प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिक्स" (A Study of the Principles of Politics), हरबर्ट साइमन की पुस्तक "एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर" (Administrative Behaviour), लासवैल और कैप्लान की पुस्तक "पॉवर एण्ड सोसायटी" (Power and Society), डेविड ईस्टन की पुस्तक "दी पॉलिटिकल सिस्टम" (The Political System) आदि इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं।

व्यवहारवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने में "अमरीकी पॉलिटिकल साइन्स एसोसियेशन" (American Political Science Association) और "सोशल साइन्स रिसर्च काउन्सिल" (Social Science Research Council) ने सहयोग दिया है।

व्यवहारवाद का अर्थ—व्यवहारवाद के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में एक-मत नहीं। जैसा कि बोने और रेनी ने कहा है कि "कुछ के लिए इसका अर्थ राज-नीतिक परिस्थितियों में मनुष्य का मनोविज्ञान है""कुछ के लिए इसका अर्थ राजनीति शास्त्र में विज्ञान पर जोर देना है और कुछ के लिए इसका अर्थ केवल मतदाताओं के व्यवहार से है। कुछ का मत है कि यह मनुष्य के समुचित राजनीतिक व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित करता है।" हींज यूलाऊ ने कहा है कि "राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद के अन्तर्गत प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष राजनीतिक कार्य आते हैं। इसमें

मनुष्य के व्यवहार में राजनीतिक विश्वास, मूल्य एवं उद्देश्य को प्रभावित करने वाले तत्त्व जैसे इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा, मनोवृत्ति आदि तत्त्व भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।"

डेविड ट्रूमैन ने व्यवहारवाद के दो अर्थ बताये हैं—(i) व्यवहारवादी प्रवृत्ति और (ii) वैज्ञानिक दृष्टि। दूसरे शब्दों में, व्यवहारवाद का अन्तिम उद्देश्य "राजनीतिक प्रक्रिया के विज्ञान का विकास करना है।" यह राजनीति शास्त्र के परम्परागत क्षेत्र का पुनर्निर्माण एवं विस्तार करना चाहता है।

डेविड ईस्टन का मत है कि व्यवहारवाद "अध्ययन उपागम की वैज्ञानिकता" और "अनुभवजन्य सिद्धान्त निर्माण" से सम्बन्धित है। यह "बौद्धिक मनोदशा" का प्रतिबिम्ब है।" यह "बौद्धिक प्रवृत्ति" है, यह "तथ्यात्मक शैक्षणिक आन्दोलन" है।

क्लेयर कोलासा का मत है कि व्यवहारवाद "राजनीतिक सन्दर्भ में व्यक्ति समूहों के व्यवहार का अध्ययन है।"

रॉबर्ट ए. डाहल का मत है कि "व्यवहारवाद राजनीति शास्त्र में एक विरोधी आन्दोलन है।" यह परम्परागत राजनीति शास्त्र की ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं वर्णनात्मक संस्थागत पद्धतियों की उपलब्धियों से असन्तुष्ट है। इसका विश्वास है कि अतिरिक्त पद्धतियाँ विद्यमान हैं या इनका विकास किया जा सकता है जो राजनीति शास्त्र को अनुभवात्मक प्रस्तावों एवं सिद्धान्तों को प्रदान करने में सहायक हो सकती है। यह एक ऐसा आन्दोलन है जो राजनीति शास्त्र के अध्ययन को आधुनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्र, मानव विज्ञान और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के साथ सम्बद्ध करना चाहता है। यह राजनीति शास्त्र के अनुभव करने योग्य अंशों को अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास है। यह सरकार की सभी घटनाओं को मानव-व्यवहार की शब्दावली में अभिव्यक्त करना चाहता है।

किर्क पैट्रिक के अनुसार व्यवहारवाद के निम्न चार अर्थ हैं—

(i) यह राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के स्थान पर राजनीतिक स्थिति में व्यक्ति के व्यवहार के विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित करता है। इसके लिए व्यक्ति का राजनीतिक व्यवहार विश्लेषण की मूल इकाई है।

(ii) यह राजनीति शास्त्र की अन्य समाजशास्त्रों के साथ एकता पर जोर देता है।

(iii) यह सांख्यिकी अर्थात् शुद्ध तकनीकों के प्रयोग द्वारा राजनीतिक व्यवहार के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण एवं मापन पर जोर देता है।

(vi) यह व्यवस्थाबद्ध एवं अनुभवजन्य सिद्धान्त निर्माण से सम्बद्ध है।

संक्षेप में, व्यवहारवाद सामाजिक शोध की ऐसी पद्धति है जो समाज में रहने वाले मनुष्यों का वैज्ञानिक अध्ययन करती है। यह वैज्ञानिक पद्धति का प्रतीक है। यह राजनीति शास्त्र का अन्य समाजशास्त्रों से सम्बन्ध बढ़ाना चाहती है। यह

राजनीतिक शोध के भविष्य को तय करना चाहती है । यह मानवीय व्यवहार के राजनीतिक पक्ष की स्थिर इकाइयों की सैद्धान्तिक खोज है ।

व्यवहारवाद की मूल धारणायें (Basic concepts of Behaviouralism)—व्यवहारवाद की मूल धारणायें निम्न हैं—

1 यह परम्परावादी पद्धतियों का स्थान नहीं लेता । यह उनका पूरक है । यह उनका पुनर्निर्माण एवं विस्तार चाहता है ।

2. यह व्यक्तियों और समूहों के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है । इसका मत है कि जिस राजनीतिक अध्ययन में मानव व्यवहार के अध्ययन को शामिल नहीं किया जाता, वह बंजर राजनीति है ।

3. यह अध्ययन की वैज्ञानिकता पर जोर देता है । यह परिमाणवादी एवं अनुभूतिमूलक पद्धति है । यह प्रत्यक्षवाद (Positivism) और आगमन (Induction) पर आधारित है । यह अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग, सन्दर्भ, ज्ञान एवं परिस्थिति विवेचन पर जोर देता है ।

4. यह मूल्य निरपेक्ष धारणा है । यह तथ्यों के अध्ययन और विश्लेषण पर जोर देता है । यह व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, निरपेक्ष (दार्शनिक) सिद्धान्तों या कल्पनाओं पर जोर नहीं देता ।

5. यह शुद्ध तकनीकों के प्रयोग पर जोर देता है । यह सांख्यिकी प्रधान है । यह सर्वेक्षण, नमूना, मतदान, साक्षात्कार, प्रश्नावली आदि के प्रयोग पर जोर देता है ।

6. वह ज्ञान की पूर्णता पर वल देता है । यह अन्तर अनुशासनात्मक (Interdisciplinary) अध्ययन पर जोर देता है ।

7. यह बड़ी इकाइयों (Macro) के अध्ययन के साथ छोटी इकाइयों (Micro) के अध्ययन पर जोर देता है । इसका मत है कि छोटे विषयों के गम्भीर अध्ययन एवं विश्लेषण से विषय का गहन अध्ययन हो सकता है । उदाहरणतः यह संसद के अध्ययन के साथ सांसदों के व्यवहार के अध्ययन पर जोर देता है; यह सर्वोच्च न्यायालय के अध्ययन के साथ न्यायाधीशों के अध्ययन पर जोर देता है ।

व्यवहारवाद के लक्षण (Characteristics of Behaviouralism)—**डेविड ईस्टन ने "व्यवहार के आधुनिक अर्थ"** नामक निवन्ध में व्यवहारवाद के **आठ लक्षणों** को गिनाया है । इन्हें व्यवहारवाद की **बौद्धिक आधारशिलायें** कहा गया है । ये निम्न हैं—

1. **नियमितता** (Regularity)—इससे भविष्यवाणी करने अर्थात् पूर्वानुमान लगाने में सहायता मिलती है । व्यवहारवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि राजनीतिक व्यवहार सदैव एक-सा नहीं रहता, फिर भी उसमें कुछ समानताओं अर्थात् नियमितताओं को इंगित किया जा सकता है । उदाहरणतः यदि निर्वाचनों में मतदाताओं ने वार-वार एक ही दल या व्यक्ति को मतदान किया हो तो उनके

इस मतदान व्यवहार के प्रेरकों में विचारधारा, सामाजिक स्तर, आर्थिक स्थिति, जाति-सम्बन्धों, क्षेत्रीय अथवा भाषायी आधारों की भूमिका को समझा जा सकता है। इस तरह व्यवहार की नियमितता के आधार पर राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है और पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

2. सत्यापन (Verification)—इससे सामान्यीकरण वैधता की जाँच करने में सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान का औचित्य तभी सम्भव है जब उसके प्रस्तावों एवं प्रमाणों को प्रयोग एवं परीक्षण पर आधारित किया गया हो तथा उन्हें सत्य सिद्ध किया गया हो।

3. तकनीकें (Techniques)—इनसे तथ्यों के चयन एवं संकलन में सहायता मिलती है तथा व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों को शोध से बाहर निकालने में सहायता मिलती है। व्यवहारवादी सांख्यिकी, गणित एवं भौतिक विज्ञान की तकनीकों के प्रयोग पर जोर देते हैं। शोध को आत्म-चेतन और आत्मालोचक (Self-Critical) बनाने के लिए वे बहु विश्लेषण नमूना, सर्वेक्षण, गणितीय नमूनों और रूपों (Simulations) पर जोर देते हैं।

4. परिमाणीकरण (Quantification)—इससे तथ्यों की पूर्णता एवं निष्कर्षों को दर्ज करने में सहायता मिलती है। यह "मापन" क्रिया है अर्थात् राजनीतिक व्यवहार का जितना अधिक पर्यवेक्षण, पुनः परीक्षण, पुनः कथन और पुनः निर्धारण किया जायेगा उतनी ही उसकी विश्वसनीयता और निश्चितता बढ़ती है।

5. मूल्य (Values)—यह शोध को वस्तुनिष्ठ बनाने हेतु मूल्य निरपेक्ष (Value-free) पर जोर देता है। व्यवहारवादी मूल्य और तथ्यों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। उनका नैतिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं। उनके लिए राजनीति शास्त्र अपने कार्यात्मक रूप में राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन है।

6. व्यवस्थापन (Systematization)—इससे सिद्धान्तों और शोध में सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता मिलती है। व्यवहारवादियों का मत है कि सिद्धान्त के बिना शोध महत्त्वहीन है और तथ्यों के बिना समर्थित सिद्धान्त फलहीन है। अतः व्यवहारवादी परम्परावादियों की तुलना में सिद्धान्त पर अधिक जोर देते हैं। **परम्परावादी मूल्य सिद्धान्त** (Value-theory) **पर जोर देते हैं, जबकि व्यवहारवादी कार्य-कारण सिद्धान्त** (Causal theory) **पर जोर देते हैं।** व्यवहारवादियों का कहना है कि सिद्धान्त केवल कल्पना और आत्म-विश्लेषण नहीं, यह विश्लेषण, व्याख्या और पूर्वानुमान से सम्बन्धित है। व्यवहारवादी अति व्यापी सामान्यीकरण (Overarching generalization) का विकास करना चाहते हैं।

7. शुद्ध विज्ञान (Pure Science)—यह सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए राजनीतिक व्यवहार और ज्ञान के प्रयोग पर जोर देता है।

8. एकीकरण (Integration)—यह राजनीति शास्त्र और अन्य समाज शास्त्रों के सम्बन्ध बढ़ाना चाहता है। यह अध्ययन को एकांकी नहीं बनाता, यह

उसे पूर्ण बनाता है। व्यवहारवादियों का कहना है कि यद्यपि मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं अन्य क्रियाओं में सीमा रेखायें खींची जा सकती हैं परन्तु किसी क्रिया को पूर्ण जीवन के सन्दर्भ में ही सही ढंग से समझा जा सकता है।

व्यवहारवाद की उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ
(Achievement and Limitations of Behaviouralism)

A. **उपलब्धियाँ**—व्यवहारवाद की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्न हैं—

1. **वैज्ञानिक अध्ययन**—व्यवहारवादियों ने राजनीति शास्त्र को अधिक व्यवस्थित बनाने हेतु उसका वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया है। इन्होंने कल्पनाओं को भी पर्यवेक्षण के अधीन रखा है। इन्होंने राजनीति शास्त्र को वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास किया है।

2. **मूल्यवान आधार सामग्री का एकत्रीकरण**—इन्होंने राजनीति शास्त्र के लिए मूल्यवान आधार सामग्री एकत्रित की है। इन्होंने इसे नवीन भाषा शैली, अध्ययन पद्धति, अवधारणायें एवं तकनीकें दी हैं। इन्होंने शोध द्वारा राजनीति शास्त्र को पुष्ट करने का प्रयास किया है। इनके परीक्षणों ने राजनीति शास्त्र को गतिशील बनाया है।

3. **वैकल्पिक धारणायें** (Conceptual alternatives)—व्यवहारवादियों ने राजनीतिक जीवन के अध्ययन के लिए अनेक विकल्प प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणतः **कैटलिन ने "विल" (इच्छा-शक्ति) को, हरबर्ट साइमन ने 'निर्णय देने' की रिचर्ड स्नाईडसे ने "गेम थ्योरी" को, लासवैल और कैप्लान ने "शक्ति" और "समूह" को, लेजर्सफेल्ड और बेरेलसन ने "मतदान व्यवहार" को, डेविड ईस्टन ने व्यवस्था को राजनीतिक अध्ययन एवं विश्लेषण की मुख्य इकाई बनाया है।**

B. **सीमायें अथवा आलोचना** (Limitations or Criticism)—व्यवहारवाद को "अन्तिम शब्द" स्वीकार नहीं किया जाता। परम्परावादियों ने इसे त्रुटिपूर्ण, अपर्याप्त एवं निरर्थक प्रयास की संज्ञा दी है। **लियो स्ट्रास** ने कहा है कि **राजनीति शास्त्र में केवल राजनीतिक तत्त्वों का ही अध्ययन नहीं करना होता अपितु इसमें "मानवीय", "सद" एवं "उचित तत्त्वों" को भी महत्त्व देना होता है। व्यवहारवाद की त्रुटि यह है कि इसमें "उच्च विचारों, मर्यादाओं और उद्देश्यों का अभाव है।" डेविड ईस्टन** ने, जो व्यवहारवाद का प्रमुख समर्थक माना जाता है, 1969 में व्यवहारवाद के नवीन आयामों को अभिव्यक्त करके उत्तर व्यवहारवाद को जन्म दे दिया है।

व्यवहारवाद की प्रमुख सीमायें अथवा त्रुटियाँ निम्न हैं—

1. **मानवीय व्यवहार के नियमों की घोषणा करना कठिन**—मानव-व्यवहार इतना अनिश्चित एवं परिवर्तनशील है कि उसका परीक्षण एवं निर्धारण कठिन है। यही कारण है कि राजनीति शास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों की निश्चितता प्राप्त करने

की क्षमता नहीं। दूसरे, मानव व्यवहार के आन्तरिक एवं वाह्य स्वरूपों में अन्तर होता है। यह निश्चित करना कठिन है कि मानव व्यवहार को किससे प्रेरणा मिली है। राजनीतिक क्रियाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कठिन है।

2. अपर्याप्त—व्यवहारवाद राजनीति के घटकों को समझने में तो सहायक हो सकता है परन्तु यह पूर्ण की वास्तविकताओं को समझने में अपर्याप्त है। एक राजनीति शास्त्री को एक व्यवहारवादी बनने के अतिरिक्त उसे एक इतिहासकार, एक वकील और एक आचारशास्त्री भी बनना पड़ता है। जैसाकि सिवली ने कहा है कि **"राजनीति को समझने के लिए एक वैज्ञानिक की निश्चतता के साथ एक कलाकार की अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है** अर्थात् घटकों के विश्लेषण के अतिरिक्त उनके पूर्ण के साथ अन्तर-सम्बन्धों को समझने की भी आवश्यकता है।"

3. राजनीति शास्त्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को खतरा—व्यवहारवाद की त्रुटि यह है कि व्यवहारवादी रूप में राजनीति को परिभाषित करना कठिन है। राजनीति को परिभाषित किये बिना या उसके क्षेत्र को निश्चित किये बिना या उसे गैर-राजनीतिक क्षेत्रों से पृथक् किये बिना उसमें समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की अवधारणाओं, पद्धतियों एवं तकनीकों का प्रयोग करना खतरे से खाली नहीं। इससे राजनीति शास्त्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो सकता है।

4. भविष्यवाणी करना कठिन—राजनीति शास्त्र में भविष्यवाणी करना कठिन है। यह कभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कुछ चीजें विशेष तरीके या ढंग से ही घटित होंगी। इसमें पूर्वानुमानों को "अगर..........तब" (If........then) के रूप में ही अभिव्यक्त किया जा सकता है जो सामान्यतःभविष्य-वाणी नहीं।

5. नीति निर्धारण में सहायता करने में असमर्थ—व्यवहारवाद का शुद्ध विज्ञान नीति निर्धारण में अपर्याप्त एवं बेकार है। नीति निर्धारण में नैतिक, व्यावहारिक, अनुभवात्मक एवं विधायी पहलुओं की आवश्यकता होती है परन्तु व्यवहारवादी पद्धति इनकी व्याख्या करने में असमर्थ है। नीतियों का विधायी पहलू व्यावहारिक विज्ञान और दर्शन पर आधारित है। नागरिकों की वास्तविक समस्याओं के सन्दर्भ से ही राजनीति शास्त्र के शोध का लाभ हो सकता है, वैज्ञानिकता के कृत्रिम वातावरण में इसका कोई लाभ नहीं।

6. विषय को हानि व्यवहारवादी पद्धति से राजनीति शास्त्र के विषय को हानि हुई है। व्यवहारवादियों ने पद्धतियों की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। इससे राजनीति शास्त्र का विषय पिछड़ गया है।

7. अध्ययन की अन्य पद्धतियाँ—राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए केवल व्यवहारवादी पद्धति ही नहीं। इसके लिए ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि पद्धतियाँ भी हैं। सिवली ने कहा है **"मात्र विज्ञान ही एकमात्र पद्धति नहीं है। नीति सम्बन्धी ज्ञान के लिए अन्य पद्धतियों एवं तकनीकों का सहारा लेना चाहिये।"**

8. काल्पनिक—राजनीति शास्त्र में सिद्धान्त निर्माण की अवधारणा कोरी कल्पना है। जब निम्न स्तरीय, मध्य स्तरीय अथवा सामान्य स्तरीय सिद्धान्त निर्माण सम्भव नहीं तो अति व्यापी सामान्यीकरण की अवधारणा कोरी कल्पना है।

9. वैज्ञानिक पद्धति की सीमायें—राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का लाभ सीमित है। **जे. आर. रॉयस,** ने कहा है कि "हम किसी या सभी समस्याओं पर वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने के लिए चाहे कितने ही इच्छुक क्यों न हों, जीवन के सभी खण्डों को एकत्रित करने का अन्तिम कार्य अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ एवं व्यक्तिगत कार्य होगा..........जिसका वैज्ञानिकीकरण नहीं किया जा सकता।"

उत्तर व्यवहारवाद

व्यवहारवाद की त्रुटियों ने बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में एक नवीन उपागम को जन्म दिया है जिसे उत्तर व्यवहारवाद कहा जाता है। उत्तर व्यवहारवाद परम्परावादियों की भांति, व्यवहारवाद का आलोचक रहा है। इस पर भी यह परम्परावादी नहीं। जहां परम्परावादी व्यवहारवादी उपागम के औचित्य को स्वीकार नहीं करते और राजनीति शास्त्र की संस्थापित परम्पराओं में अपने विश्वास को दोहराते हैं वहां उत्तर व्यवहारवादी व्यवहारवादी उपागम की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु वे राजनीति शास्त्र को आगे और नवीन दिशाओं में बढ़ाना चाहते हैं। डेविड ईस्टन ने कहा है कि "**उत्तर व्यवहारवाद भविष्यपरक है जो राजनीति शास्त्र को नवीन दिशाओं में बढ़ाना चाहता है। यह भूत की विरासत से इनकार नहीं करता बल्कि यह इसमें कुछ और जोड़ना चाहता है। यह एक यथार्थ क्रांति है, प्रतिक्रिया नहीं, यह औचित्यपूर्णता की स्थिति में है यथास्थिति में नहीं; यह सुधार है, प्रतिसुधार आन्दोलन नहीं।**"

उत्तर व्यवहारवाद आन्दोलन और बौद्धिक प्रवृत्ति दोनों है। इसका विकास इसलिए हुआ कि इसके समर्थक व्यवहारवादी उपागम की दिशा से असन्तुष्ट थे। इनका कहना है कि व्यवहारवादी उपागम तीव्र गति से परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों, समस्याओं, प्रश्नों, चुनौतियों आदि का निदान एवं विकल्प पेश करने में असमर्थ है। ये प्रश्न करते हैं कि जो शोध समकालीन समाज की गम्भीर समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता उसका क्या लाभ ? इनका कहना है कि जब अणुबम के भय, आन्तरिक फूट एवं संघर्ष और वियतनाम जैसे अघोषित युद्धों ने विश्व की नैतिकता को झकझोर दिया है तो उस शोध से क्या लाभ जो शुद्ध वैज्ञानिक स्थिरता की प्राप्ति में लगा हुआ है। **उत्तर व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र में पुनः आदर्शनिष्ठा की भावना जगाना चाहते हैं, उद्देश्यों के महत्त्व पर जोर देना चाहते हैं, मूल्यों एवं बुद्धिजीवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करना चाहते हैं। संक्षेप में, उत्तर व्यवहारवादी काम पर जोर देते हैं, ये ध्वंसात्मक की बजाय सृजनात्मक अधिक हैं।**

उत्तर व्यवहारवाद का प्रमुख समर्थक डेविड ईस्टन है। उसने इसके दो उत्तरदायित्व निश्चित किये हैं (*i*) "संगति" (Relevance) और (ii) "कर्म" (Action)

जिन्हें वह "संगति के धर्म" (Credo of Relevance) की संज्ञा देता है। डेविड ईस्टन ने संगति के धर्म की निम्न सात विशेषतायें बताई हैं—

1. तकनीक से पहले तथ्य आने चाहिए—ये शोध में कृत्रिम यन्त्रों के प्रयोग को अच्छा तो मानते हैं, परन्तु ये इस बात पर जोर देते हैं कि महत्त्वपूर्ण चीज वह उद्देश्य है जिन पर उन यन्त्रों का प्रयोग किया जा रहा है। इनका मत है कि जब तक समकालीन सामाजिक समस्याओं से शोध की उद्देश्यपूर्ण संगति नहीं बैठायी जाती तब तक वह आरम्भ करने योग्य नहीं। **इन्होंने व्यवहारवादियों के इस नारे के स्थान पर कि "अस्पष्ट होने से गलत होना अच्छा है," यह नारा दिया है कि "असम्बद्ध रूप से निश्चित होने के स्थान पर अस्पष्ट होना अच्छा है।"**

2. सामाजिक परिवर्तन पर जोर—ये राजनीति शास्त्र को सजीव विषय बनाना चाहते हैं। इनका मत है कि राजनीति शास्त्र को यथास्थिति का समर्थक नहीं होना चाहिए बल्कि इसे सामाजिक परिवर्तन को गति एवं दिशा देनी चाहिए।

3. समस्याओं के निदान पर जोर—ये समकालीन सामाजिक समस्याओं के निदान पर जोर देते हैं। ये समस्याओं से आंख मूँद लेना नहीं चाहते। इनका कहना है कि राजनीति शास्त्र की संगति तभी है जब वह मानव जाति की वास्तविक समस्याओं का समाधान करे एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

4. मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका—ये मूल्यों की निर्णायक भूमिका को स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि जब तक मूल्यों को ज्ञान की प्रेरक शक्ति नहीं समझा जाता तब तक यह भय बना रहता है कि कहीं ज्ञान का गलत उद्देश्यों के लिए प्रयोग तो नहीं किया जा रहा। ये इस बात पर जोर देते हैं कि यदि ज्ञान को सही उद्देश्य के लिए प्रयोग करना है तो मूल्यों को उनकी केन्द्रीय स्थिति देनी होगी।

5. बुद्धिजीवियों की भूमिका—ये समाज में बुद्धिजीवियों की भूमिका को स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि बुद्धिजीवियों को शुष्क वैज्ञानिक शोधकर्त्ता या तकनीशियन नहीं बने रहना चाहिए। इन्हें सभ्यता के उदार मूल्यों को सुरक्षित रखने में अपना योगदान देना चाहिए।

6. कर्म पर जोर—ये कर्म अर्थात् कार्य पर जोर देते हैं। इनका कहना है कि राजनीति शास्त्र को समाज के पुनर्निर्माण के कार्य में लगा रहना चाहिए। डेविड ईस्टन ने कहा है कि **"जानने का अर्थ है कार्य के उत्तरदायित्व को धारण करना और कार्य का अर्थ है समाज के पुनर्निर्माण में व्यस्त रहना।"**

7. व्यवसायों का राजनीतिकरण—ये व्यवसायों के राजनीतिकरण पर जोर देते हैं। ये राजनीतिशास्त्रियों, शिक्षा संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों का राजनीतिकरण चाहते हैं।

संक्षेप में, उत्तर व्यवहारवादी शोध से मूल्यों को पृथक नहीं करते। सामाजिक समस्याओं के साथ शोध की उद्देश्यपूर्ण संगति बिठाना चाहते हैं। वे शोध को सामाजिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने के लिए कहते हैं।"

समीक्षा प्रश्न

1. व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण कीजिए तथा उसकी सीमाओं को इंगित कीजिए।
   (Raj. 1978, 86, Suppl. 1979; Ajmer 1988)
2. व्यवहारवादी उपागम से आप क्या समझते हैं ? आपके विचार में व्यवहारवादी उपागम राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाने में कहां तक सहायक सिद्ध हुआ है ? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिये।
   (Raj. 1982)

4

अन्य समाज शास्त्रों से सम्बन्ध

(Relationship with Other Social Sciences)

परिचय (Introduction)—राजनीतिशास्त्र एकमात्र ऐसा समाज शास्त्र नहीं जो व्यवस्थित सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अध्ययन करता है। अन्य समाज शास्त्र भी व्यक्ति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं। उदाहरणतः समाजशास्त्र मानव के समाज, उसके रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि का अध्ययन करता है, अर्थशास्त्र धन या सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र मानव की नैतिकता, आचरण और व्यवहार के औचित्य-अनौचित्य का अध्ययन करता है; इतिहास भूतकालीन घटनाओं, सभ्यता और संस्कृति के विकास का अध्ययन करता है; मनोविज्ञान मानव के मनोवेगों, सहज प्रवृत्तियों और भावनाओं का अध्ययन करता है; राजनीति शास्त्र व्यक्ति की राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक व्यवस्थाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। अतः किसी एक समाजशास्त्र का अध्ययन दूसरे समाज शास्त्रों से पृथक रखकर नहीं किया जा सकता। उसका अध्ययन अन्य समाज शास्त्रों के सन्दर्भ में ही पूर्ण माना जा सकता है।

प्राचीन समय से ही लेखकों ने समाजशास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों पर बल दिया है। उदाहरणतः प्लेटो की रिपब्लिक राजनीति पर लिखी गई रचना ही नहीं बल्कि न्यायशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, शिक्षा, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर लिखी गई रचना भी है। अरस्तू ने अपनी रचना पॉलिटिक्स में राजनीतिक व्यवस्था में अर्थ (सम्पत्ति) के वितरण और सामाजिक स्तर को निर्णायक स्वीकार किया है। कौटल्य ने अपनी रचना अर्थशास्त्र में नीतियों की औचित्यपूर्णता, व्यवहार-कुशलता, न्याय व्यवस्था, कर व्यवस्था, राजनय और राजनीति आदि को राजनीतिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कार्ल मार्क्स के राजनीतिक चिन्तन में आर्थिक तत्त्वों की निर्णायक भूमिका है, आदि।

व्यवहारवादी आन्दोलन ने सामाजिक जीवन को सम्पूर्ण इकाई माना है। इन्होंने पूर्ण ज्ञान और विषयों की एक दूसरे को प्रभावित करने की क्रिया पर बल दिया है। गार्नर की धारणा है कि सभी समाजशास्त्र समान लक्ष्य की प्राप्ति में

"सहयोगी" हैं (Working partners....in a common task)। सिजविक ने लिखा है कि "यदि हमें किसी विषय का अन्वेषण करना है तो यह बहुत लाभदायक होगा कि उस विषय या विज्ञान का अन्य विषयों या विज्ञानों से सम्बन्ध मालूम करें और फिर यह जानने का प्रयास करें कि उक्त विषय या विज्ञान ने अन्य विषयों से क्या लिया है और उसने स्वयं अन्य विषयों या विज्ञानों को क्या दिया है ?

राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र का अर्थ—समाजशास्त्र एक आधारभूत समाजशास्त्र है। यह समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। यह सामाजिक जीवन से सम्बन्धित असंगठित एवं संगठित दोनों प्रकार के समूहों का अध्ययन करता है। यह परिवार, कुटुम्ब, कबीलों, सम्प्रदायों, बिरादरी, जाति, प्रजाति, धार्मिक समूहों, सांस्कृतिक समूहों तथा राज्य जैसे संगठनों का अध्ययन करता है। यह रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, परम्पराओं, लोकाचारों का अध्ययन करता है। समाज, जैसाकि मैकाइवर ने कहा है "सम्बन्धों का जाल" है। अतः समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है। गिडिंग्स का मत है कि "समाजशास्त्र पूर्ण रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन एवं व्याख्या है।"

सम्बन्ध—समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र में सम्बन्ध होने के मुख्य कारण निम्न हैं—

(i) व्यक्ति केवल राजनीतिक प्राणी नहीं, वह सामाजिक प्राणी भी है।

(ii) राजनीतिक संस्थायें अपनी प्रारम्भिक स्थिति में राजनीतिक होने के स्थान पर सामाजिक संस्थायें अधिक थीं। केटलिन ने समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र को अखण्ड माना है अर्थात् दोनों एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं।

(iii) राजनीतिक तथ्यों के आधार पर सामाजिक तथ्यों को समझा जा सकता है।

(iv) दोनों शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं, प्रतिद्वन्द्वी नहीं।

आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में धर्म, संस्कृति, जाति, सामाजिक प्रभावों एवं प्रवृत्तियों को जो महत्त्व दिया जाता है वह वस्तुतः समाजशास्त्रियों की राजनीति शास्त्र को देन है। राजनीति शास्त्र में व्यवहारवादी उपागम, डेविड ईस्टन का 'राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त' बेन्टले का समूह सिद्धान्त, लूसियन पाई की राजनीतिक विकार सम्बन्धी अवधारणा आदि समाजशास्त्रियों की देन है।

वर्तमान समय में राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में भिन्नतायें की जाती हैं परन्तु इनमें सुनिश्चित विभाजन रेखायें खींचना या सीमायें निर्धारित करना कठिन है। आधुनिक समय में भी अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्ययन एक पृथक अनुशासन के रूप में नहीं किया जाता बल्कि इसका अध्ययन राजनीति शास्त्र के एक हिस्से के रूप में किया जाता है।

दोनों शास्त्र एक-दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं। राजनीति शास्त्र यह मान-कर चलता है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, परन्तु वह यह वताने का प्रयास नहीं करता कि वह क्यों और कैसे एक राजनीतिक प्राणी वना। समाजशास्त्र ने राजनीति शास्त्र को यह वताया है कि वह एक राजनीतिक प्राणी कैसे वना। "यदि समाजशास्त्र राजनीति शास्त्र से राज्य के संगठन एवं कार्यों के सम्वन्ध में तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करता है तो राजनीति शास्त्र समाजशास्त्र से राजनीतिक सत्ता के उद्भव एवं सामाजिक नियन्त्रण के नियमों की उत्पत्ति के सम्वन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है।" प्रो. गिडिंग्स ने कहा है कि **"समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्ति को राजनीतिशास्त्र पढ़ाना वैसा ही है जैसाकि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति को खगोल विद्या, ऊष्णता तथा यन्त्र विद्या से सम्वन्धित शास्त्र की शिक्षा देना।"**

भेद—समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र में घनिष्ठ सम्वन्ध होते हुए भी दोनों में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. क्षेत्र सम्वन्धी भेद—समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति शास्त्र की तुलना में व्यापक है। एक सामान्य समाज शास्त्र होने से समाजशास्त्र व्यक्ति के सभी सामा-जिक पहलुओं एवं सम्वन्धों—आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि—का अध्ययन करता है, परन्तु राजनीति शास्त्र व्यक्ति के केवल राजनीति पहलू का अध्ययन करता है। गार्नर ने लिखा है कि **"समाजशास्त्र में अनुसन्धान की इकाई "सामाजिक जीव है अर्थात् समाजशास्त्र में हम व्यक्ति का केवल एक प्राणी या चेतन सत्ता की तरह अध्ययन नहीं करते वल्कि एक पड़ौसी, एक नागरिक, एक सह-कर्मी के रूप में भी अध्ययन करते हैं जवकि राजनीति शास्त्र में अध्ययन की इकाई राज्य है जो राष्ट्र, जाति, परिवार आदि से भिन्न है।"** दूसरे शब्दों में, "समाज-शास्त्र एक सामान्य शास्त्र है जब कि राजनीति शास्त्र एक विशेष शास्त्र है।"

2. अध्ययन सामग्री सम्वन्धी भेद—समाजशास्त्र में संगठित और असंगठित समुदायों का अध्ययन किया जाता है जवकि राजनीति शास्त्र केवल संगठित समु-दायों का अध्ययन करता है।

3. उद्देश्य सम्वन्धी भेद—समाजशास्त्र वर्णनात्मक है जवकि राजनीति शास्त्र आदर्शात्मक है। राजनीति शास्त्र भूत और वर्तमान के अध्ययन के साथ भविष्य की ओर भी देखता है और यह वताने का प्रयास करता है कि राज्य को कैसा होना चाहिये। राजनीति शास्त्र राज्य के आदर्श रूप की अभिव्यक्ति करता है।

4. प्राथमिकता सम्बन्धी भेद—मनुष्य का सामाजिक जीवन उसके जन्म-काल से ही प्रारम्भ हो जाता है जवकि उसका राजनीतिक जीवन वहुत वाद में शुरू होता है। अतः समाजशास्त्र को राजनीति शास्त्र से प्राथमिकता दी जाती है।

बार्कर के अनुसार "जहां समाजशास्त्र का अन्त होता है वहां राजनीति शास्त्र का आरम्भ होता है।"

राजनीति शास्त्र और इतिहास

इतिहास का अर्थ—इतिहास भूत की घटनाओं और आन्दोलनों, उनके कारणों और अन्तः क्रियाओं का रिकार्ड है। सभ्यता और संस्कृति की खोज में यह मानव की सफलताओं और असफलताओं की कहानी है। इसमें भूत की सभी क्रियाओं का वर्णन मिलता है। इतिहास जीवन की धारा है जिसमें घटनायें तैरती एवं उतरती हैं। गति और परिवर्तन का नाम इतिहास है। किसी लेखक ने कहा है कि **"सारी प्रकृति और उसके परिणाम इतिहास है।"**

A. **सम्बन्ध**—इतिहास और राजनीति शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के मुख्य कारण निम्न हैं—

(i) इतिहास मानव अनुभवों का एक दस्तावेज है जो एक सुधारक एवं संशोधनकर्त्ता के रूप में कार्य करता है।

(ii) आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं का सही अध्ययन उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। **स्टब** का मत है कि **"वर्तमान की जड़ें भूत में गहरी पैठी हुई हैं।"**

(iii) इतिहास का अध्ययन दृष्टि को व्यापक बनाता है। यह घटनाओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्माण करता है। कौटिल्य, अरस्तू, मैकियावली, माण्टेस्क्यू, हीगल, मार्क्स आदि लेखकों ने राजनीतिक संस्थाओं एवं शासन प्रणालियों के अध्ययन के लिए इसी का अनुसरण किया है।

एक दूसरे के सहायक एवं पूरक—इतिहास और राजनीति शास्त्र दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। दोनों एक-दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं। यदि दोनों को एक-दूसरे से पृथक कर दिया जाय तो वे पंगु हो जायेंगे। **बर्गेस** ने कहा कि **"यदि राजनीति शास्त्र और इतिहास को एक दूसरे से पृथक कर दिया जाय तो उनमें से एक मृत नहीं तो पंगु अवश्य हो जायेगा और दूसरा बालू का ढेर मात्र बनकर रह जावेगा।"** **सीले** ने कहा है कि **"राजनीति शास्त्र के बिना इतिहास का कोई फल नहीं और इतिहास के बिना राजनीति शास्त्र की कोई जड़ नहीं।"**

राजनीति शास्त्र की इतिहास पर निर्भरता—इतिहास राजनीति शास्त्र को बहुमूल्य सामग्री प्रदान करता है। यह उसे अध्ययन का आधार प्रदान करता है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर राजनीति शास्त्री राजनीतिक संस्थाओं एवं शासन प्रणालियों के उदय, विकास और पतन का अध्ययन करता है। इतिहास उसे ज्ञान एवं अनुभव का वह भण्डार देता है जिसके आधार पर वह वर्तमान संस्थाओं को सुधार सकता है तथा उन्हें स्थायी एवं कुशल बना सकता है। **इतिहास उसे 'तुलना और प्रेरणा' के लिए सामग्री देता है।"** तभी तो **विलोबी** ने **"इतिहास को राज-**

नीति शास्त्र की तीसरी सीमा कहा है।" लार्ड एक्टन का मत है कि "राजनीति इतिहास की धारा में उसी प्रकार संचित है जिस प्रकार नदी की रेत में सोने के करण।" संक्षेप में, इतिहास राजनीति शास्त्र का पथ-प्रदर्शक एवं प्रयोगशाला है।

इतिहास की राजनीति शास्त्र पर निर्भरता—राजनीति शास्त्र ही इतिहास का ऋणी नहीं बल्कि इतिहास भी राजनीति शास्त्र का ऋणी है। इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें राजनीतिक विचारों का परिणाम हैं। उदाहरणतः फ्रांस की क्रांति रूसो और माण्टेस्क्यू के विचारों से प्रभावित थी; रूस की 1917 की साम्यवादी क्रान्ति कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रभावित थी। सम्पूर्ण साम्यवादी आन्दोलन मार्क्स के विचारों से प्रभावित है। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन स्वामी दयानन्द, तिलक और गांधी के विचारों से प्रेरित था। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी, समाजवादी, साम्यवादी, पूँजीवादी, प्रजातन्त्रवादी, राष्ट्रवादी, फासीवादी, नाजीवादी आदि राजनीतिक विचारधाराओं के अध्ययन के बिना इन शताब्दियों के इतिहास का अध्ययन अधूरा रहेगा। भारतीय संविधान के इतिहास का अध्ययन तब तक अधूरा है जब तक 1909, 1919 और 1935 के अधिनियमों का अध्ययन न किया जाय। लीकॉक ने लिखा है कि "इतिहास का कुछ भाग राजनीति शास्त्र है उनके विषयों के क्षेत्र प्रत्येक के द्वारा घेरे हुए क्षेत्र में फैले हुए हैं।"

B. भेद—इतिहास और राजनीति शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. क्षेत्र सम्बन्धी भेद—इतिहास का क्षेत्र राजनीति शास्त्र की तुलना में अधिक व्यापक है। इतिहास वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति की कहानी है। यह सभी धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि घटनाओं का अध्ययन करता है जबकि राजनीति शास्त्र घटनाओं के केवल राजनीतिक पहलुओं से ही सम्बन्धित है। राजनीति शास्त्र घटनाओं के केवल उन पहलुओं का अध्ययन करता है जो राज्य, राजनीति संस्थाओं या शासन प्रणालियों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। राजनीति शास्त्र का क्षेत्र संकुचित है। फ्रीमैन का यह कथन सही नहीं कि "इतिहास अतीत की राजनीति है अथवा राजनीति वर्तमान इतिहास है।"

2. उद्देश्य सम्बन्धी भेद—इतिहास वर्णनात्मक है, राजनीति शास्त्र आदर्शात्मक है। इतिहास घटनाओं का वर्णन करता है, उन पर अपना निर्णय नहीं देता। इतिहास घटनाओं के उचित-अनुचित पर निर्णय नहीं देता। राजनीति शास्त्र काल्पनिक होने से नीति शास्त्र के अधिक निकट है। राजनीति शास्त्र यह बताने का प्रयास करता है कि राजनीतिक संस्थाओं को कैसा होना चाहिए। यह दार्शनिक अधिक है।

3. भविष्य सम्बन्धी भेद—इतिहास का भविष्य संदिग्ध है जबकि राजनीति शास्त्र का भविष्य उज्ज्वल एवं विकासोन्मुखी है। अनेक तथ्य जिन्हें कुछ समय पूर्व इतिहास में लिखा जाता था उन्हें अब इतिहास में नहीं लिखा जाता। उदाहरणतः

ऋतु विज्ञान, जीव विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, शल्य विज्ञान आदि के तथ्यों को अब वैज्ञानिक पुस्तकों में लिखा जाता है, इतिहास में नहीं। **गार्नर** का मत है कि "यदि यह क्रम चलता रहा तो अन्त में इतिहास के समस्त तथ्य विलीन हो जायेंगे।"

राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का अर्थ—अर्थशास्त्र ऐसा समाज शास्त्र है जो मानव के आर्थिक पहलुओं एवं आर्थिक सम्बन्धों से सम्बन्धित है। **यह 'धन' अर्थात् सम्पत्ति के उत्पादन, उपार्जन, उपयोग, विनिमय एवं वितरण से सम्बन्धित है। यह 'आय' और 'रोजगार' से सम्बन्धित है।** यह सरकार की आर्थिक नीतियों जैसे बजट-निर्माण, कर या राजस्व नीति, मुद्रा, व्यापार, बैंकिंग, आयात-निर्यात, उद्योग तथा औद्योगिक नियन्त्रण, नियमन एवं विकास आदि से सम्बन्धित है। **अर्थशास्त्र अर्थ के रूप में मानव का अध्ययन करता है। मार्शल** ने कहा है कि अर्थशास्त्र एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन करता है और दूसरी ओर, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक हिस्सा है।" दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र सम्पत्ति के अध्ययन के साथ-साथ मानव का भी अध्ययन करता है।

A. सम्बन्ध—अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के मुख्य कारण निम्न हैं:—

(i) दोनों समाजशास्त्र हैं।

(ii) दोनों के उद्देश्य समान हैं। दोनों मानव कल्याण से सम्बन्धित हैं। दोनों मानव के जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं।

(iii) दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। दोनों एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं रह सकते। अठारहवीं शताब्दी तक अर्थशास्त्र को राजनीति शास्त्र की एक शाखा समझा जाता था। दोनों एक विषय की अध्ययन वस्तु समझे जाते थे। **प्राचीन ग्रीक लेखक इन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्र कहते थे। अर्थशास्त्र को "राज्य की आय की व्याख्या करने वाली कला कहा जाता था।"** राजनीति या राजनीतिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित अनेक रचनायें ऐसी हैं जिनमें आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। उदाहरणतः **कौटल्य की रचना का नाम "अर्थशास्त्र" है, कार्ल मार्क्स की प्रमुख रचना का नाम "दास केपिटल" (पूँजी)** है।

आर्थिक क्रियाओं में अन्य क्रियाओं को प्रभावित करने की क्षमता—आर्थिक और राजनीतिक क्रियायें एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। कार्ल मार्क्स आर्थिक क्रियाओं को मानव की अन्य सभी क्रियाओं को निर्धारित करने वाली शक्ति मानता है। मार्क्स ने लिखा है कि **"सभी सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक सम्बन्ध, सभी धार्मिक तथा कानूनी पद्धतियां, सभी बौद्धिक दृष्टिकोण जो इतिहास के विकास क्रम में जन्म लेते हैं, वे सब जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं।" मार्क्स** की धारणा है कि "उत्पादन का स्वरूप तथा अवस्थायें समाज के ढांचे को निर्धारित

करती हैं" और "जैसे ही उत्पादन के ढंग में परिवर्तन होता है संस्थायें और विचार बदलते हैं।" मार्क्स ने लिखा है कि, "हस्त चक्की सामन्त आका के समाज को जन्म देती है और भाप चक्की औद्योगिक पूँजीपति के समाज को।" मार्क्स कहता है कि **"मानव चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, इसके विपरीत, उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निर्धारित करता है।"** **प्रो. सेत** का मत है कि "अर्थशास्त्र राजनीति शास्त्र से पहले आता है, उसका आकार निश्चित करता है तथा उसे नियन्त्रित करता है।"

राजनीतिक क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य आर्थिक क्रियाओं को नियन्त्रित करना है—राजनीतिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित जितने भी राजनीतिक विचार व्यक्त किये गये हैं उनका सम्बन्ध आर्थिक नियन्त्रण, नियमन या नियोजन से है। उदाहरणतः व्यक्तिवाद आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करता है, समष्टिवाद सम्पत्ति पर राज्य का नियमन चाहता है, मार्क्सवाद-साम्यवाद सम्पत्ति पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण चाहता है; गांधीवाद ट्रस्टीशिप में विश्वास करता है; लोक कल्याणकारी विचारधारा आर्थिक नियोजन में विश्वास करती है। आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में जहां राजनीतिक विकास, आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण एवं सामाजिक परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है वहां आर्थिक साधनों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः विकास और औद्योगीकरण राज्य के आर्थिक साधनों पर निर्भर करते हैं।

आर्थिक असन्तोष राजनीतिक आन्दोलनों की प्रेरणा—आर्थिक असन्तोष अनेक राजनीतिक आन्दोलनों, क्रान्तियों, उपद्रवों या असन्तोष का कारण होता है। आय या आर्थिक साधनों की गम्भीर विषमतायें आर्थिक असन्तोष को जन्म देती हैं। अरस्तु लिखता है कि "असमानता क्रान्तियों या राजद्रोहों का मूल कारण है।" हेकर ने लिखा है कि **"न्यून समान बनाने के लिए और समान श्रेष्ठ बनाने के लिए क्रान्तियाँ करते हैं।"** रोमन साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण मध्य वर्ग का विनाश था, जर्मनी में वीमर संविधान की अस्थिरता मध्यवर्ग की अस्थिरता थी। फ्रांसीसी, अमरीकी, रूसी, चीनी क्रान्तियों के पीछे आर्थिक तत्त्व ही महत्त्वपूर्ण थे। एशिया अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलनों के पीछे भी आर्थिक असन्तोष मूल कारण था। गुट निरपेक्ष देशों की "नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (New International Economic Order) की मांग के पीछे भी यह मूल धारणा है कि विश्व में प्रचलित आर्थिक ढांचा अन्तर्राष्ट्रीय असमानता और पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः इसके स्थान पर समानता और पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त का विकास होना चाहिए। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उद्देश्य आर्थिक सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है ताकि विकसित देश व्यापार, आर्थिक सहायता, बाजार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति के क्षेत्र में अविकसित राष्ट्रों की खुले दिल से मदद करे।

राजनीति आर्थिक तत्वों को प्रभावित करने में सक्षम—राज्य की नीतियां आर्थिक तत्वों को प्रभावित एवं नियन्त्रित करती हैं। धन का उत्पादन एवं वितरण शासन के स्वरूपों से निर्धारित होता है। कर एवं राजस्व नीति, उत्पादन, वितरण एवं उपभोग, आयात और निर्यात, मुद्रा, व्यापार और बैंकिंग व्यवस्था आदि सब शासन की नीतियों से प्रभावित एवं नियन्त्रित होते हैं। अरस्तू ने इसी सन्दर्भ में राजनीति शास्त्र को निर्माणात्मक शास्त्र (Architectonic Science) कहा है। गार्नर ने लिखा है कि, **"वास्तव में शासन प्रबन्ध का पूरा सिद्धान्त अधिकांश में आर्थिक है।"**

B. भेद (Differences)—अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. क्षेत्र सम्बन्धी भेद—अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में भिन्नता पाई जाती है। राजनीति शास्त्र का क्षेत्र व्यापक है जबकि अर्थशास्त्र का क्षेत्र संकुचित है। **"राजनीति शास्त्र घनिष्ठ रूप से मानव से सम्बन्धित है जबकि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वस्तुओं से है। एक का सम्बन्ध सजीव वस्तुओं से है, दूसरे का निर्जीव वस्तुओं से। आइवर ब्राउन** ने कहा है कि **"एक का सम्बन्ध मूल्यों से होता है, दूसरे का कीमतों से।"**

2. उद्देश्य सम्बन्धी भेद—अर्थशास्त्र एक वर्णनात्मक शास्त्र है जबकि राजनीति शास्त्र एक आदर्शात्मक शास्त्र है। अर्थशास्त्र राजनीति शास्त्र के आदर्शों को प्राप्त करने का साधन है। लोगों की आर्थिक दशा सुधार कर राज्य नागरिकों के नैतिक विकास के लिए अच्छी बाह्य परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता है।

राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र का अर्थ—नीतिशास्त्र मानव की नैतिकता से सम्बन्धित शास्त्र है। यह मानव आचरण के औचित्य-अनौचित्य की जाँच करता है। **यह इस बात को निर्धारित करता है कि आचरण में भला-बुरा, उचित-अनुचित, सत-असत, शुद्ध-अशुद्ध, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य क्या है ? मेकेंजी** ने लिखा है कि, **"नीतिशास्त्र मानव आचरण में निहित आदर्श का अध्ययन है।"** नीतिशास्त्र मानव के अन्तःकरण से सम्बन्धित है।

A. सम्बन्ध—नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक अच्छे एवं सद्गुणी मानव की रचना करता है, दूसरा अच्छे नागरिक की रचना करता है। एक अच्छा मानव ही एक अच्छा नागरिक हो सकता है। जिस मात्रा में राज्य के नागरिक अच्छे एवं सद्गुणी होंगे उसी मात्रा में राज्य अच्छा और सद्गुणी होगा।

नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र के सम्बन्धों के बारे में लेखकों में एकमत नहीं पाया जाता। प्लेटो, अरस्तू जैसे ग्रीक लेखक, हीगल और बोसांके जैसे आदर्श-वादी लेखक और गांधी जैसे राष्ट्रीय नेता नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र में

घनिष्ठ सम्बन्ध समझते हैं जबकि मैकियावली, हॉब्स और मार्क्स जैसे लेखक नीतिशास्त्र का राजनीति शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं समझते।

दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध—सुकरात और प्लेटो जैसे ग्रीक लेखक नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र में कोई भेद नहीं समझते थे। ये लेखक राज्य को "अच्छाई और सद्गुण" में साझेदार समझते थे। **प्लेटो** की **'रिपब्लिक'** राजनीति पर लिखा गया उतना ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जितना कि नीतिशास्त्र पर। प्लेटो किसी ऐसी व्यक्तिनिष्ठ "सुन्दर आत्मा" या "पवित्र आत्मा" की कल्पना नहीं करता जिसे वस्तुनिष्ठ रूप से समाज में न देखा जा सकता हो। प्लेटो लिखता है कि राज्य अपने स्वरूप को अपने सदस्यों को (नागरिकों) से प्राप्त करता है। यद्यपि अरस्तू नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र में भेद करता है, परन्तु उसने भी कहा है कि "राज्य का उद्भव जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ, परन्तु उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।" हीगल जैसे आदर्शवादी लेखकों ने राज्य को व्यक्ति की नैतिकता का सर्वोत्तम संरक्षक स्वीकार किया है। उसके लिए राज्य नैतिकता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। **बोसांके** ने "राज्य को नैतिक विचार का मूर्तरूप" स्वीकार किया है। **बोसांके** लिखता है कि "राज्य विश्व-व्यापी संगठन का एक अंग न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है।" **महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रीय नेता राजनीति शब्द में "नीति" अर्थात् "धर्म", "नैतिकता", "मानवता" को प्राथमिकता देते थे "राज" अर्थात् "सत्ता" को नहीं।** गांधीजी धर्म और राजनीति को एक ही सिक्के के दो पहलू समझते थे जिन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। वे "धर्म रहित राजनीति को शव के समान समझते थे जो दफनाने योग्य है।" **प्रो. आइवर ब्राउन** का मत है कि, "राजनीति शास्त्र व्यापक रूप में नीतिशास्त्र ही है।" नीतिशास्त्र के सिद्धान्त राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों के बिना अपूर्ण हैं। राजनीतिक सिद्धान्त नीतिशास्त्र के सिद्धान्त के बिना निरर्थक हैं।"

दोनों एक-दूसरे से पृथक—कुछ लेखक नीतिशास्त्र को राजनीति शास्त्र से पृथक् करते हैं। इनके लिए नीतिशास्त्र राजनीति शास्त्र के अधीन है। **मैकियावली** प्रथम राजनीतिक दार्शनिक है जिसने राजनीति को नैतिकता और धर्म से पृथक किया, "साध्य को साधनों का औचित्य" बताया तथा प्रिन्स को नैतिकता-अनैतिकता पर ध्यान दिये बिना शक्ति संचयन का परामर्श दिया। **हॉब्स** ने नीतिशास्त्र को राजनीति शास्त्र के अधीन कर दिया। हॉब्स सम्प्रभु पर किसी प्रकार की नैतिक, धार्मिक या प्राकृतिक सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। कार्ल मार्क्स और उस जैसी विचारधारा रखने वाले लोग धर्म को "अफीम की गोली" कहते हैं।

नीतिशास्त्र राजनीति शास्त्र का पथ प्रदर्शक—मैकियावली, हॉब्स और मार्क्स के विचारों के बाद भी "राजनीतिक आदर्श को नैतिक आदर्श से पृथक नहीं किया जा सकता। नैतिक सिद्धान्तों के अभाव में पूर्ण राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। नीति शास्त्र राजनीति शास्त्र से पूर्व है। यह सत्य है कि राज्य

प्रत्यक्षतः नैतिकता का विकास नहीं कर सकता, परन्तु यह निश्चित ही उन बाधाओं को दूर कर सकता है जो नैतिकता के विकास में रुकावट पैदा करती हैं।

B. भेद—नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. क्षेत्र सम्बन्धी भेद—नीतिशास्त्र का क्षेत्र राजनीति शास्त्र से व्यापक है। नीतिशास्त्र मानव के सम्पूर्ण आचरण का अध्ययन करता है जबकि राजनीति शास्त्र राज्य, राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक आचरण का अध्ययन करता है।

2. आदर्श और व्यवहार का भेद—नीतिशास्त्र मुख्यतः एक आदर्शात्मक एवं सैद्धान्तिक शास्त्र है जबकि राजनीति शास्त्र एक वर्णनात्मक एवं व्यावहारिक शास्त्र है।

3. अमूर्त और मूर्त का भेद—नीतिशास्त्र का सम्बन्ध अमूर्त एवं अप्रत्यक्ष वस्तुओं से है। यह अन्तःकरण का शास्त्र है। राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध सरकार, मूर्त और प्रत्यक्ष वस्तुओं से है। यह मानव का बाह्य आचरण का शास्त्र है।

4. पूर्ण शुद्धता और उपयोगिता का भेद—नीतिशास्त्र का सम्बन्ध पूर्ण शुद्धता से है जबकि राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध उपयोगिता से है।

राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का अर्थ— मनोविज्ञान 'मन की स्थिति' है अतः जो शास्त्र मानव के मन अर्थात् उसके मस्तिष्क, विचारों, अनुभवों, प्रवृत्तियों, भावनाओं, मनोवेगों, आदतों, इच्छाओं आदि का अध्ययन करता है उसे मनोविज्ञान कहते हैं। यह मानव की बुद्धि, स्मृति, ध्यान, कल्पना आदि का अध्ययन करता है। यह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों जैसे सुरक्षा, व्यवस्था, भय, भूख, आशा, क्रोध, लज्जा, लोलुपता, निराशा, स्पर्धा, आनन्द भ्रम, स्नेह, गतिशीलता, प्राकृतिक कामुकता, मत, शक्ति, यथार्थ धर्म, वैभव आदि का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान **"चेतना" का शास्त्र है जो मानव मस्तिष्क के विवेकशील एवं विवेकहीन पहलुओं का अध्ययन करता है।"** स्काउट ने लिखा है कि, "मनोविज्ञान मानव की उन आन्तरिक शक्तियों का अध्ययन करता है जो मानव को अपने जीवन में अनुभव करने, विचार करने तथा इच्छा करने की शक्ति प्रदान करती है।" वुडवर्थ का मत है कि, "मनोविज्ञान व्यक्ति के पर्यावरण से सम्बद्ध क्रियाओं का विज्ञान है।" मनोविज्ञान "मानव के व्यवहार का अध्ययन है जो **इस बात को स्पष्ट करता है कि वह क्या करता है?"** मनोविज्ञान मानव की सहज प्रवृत्तियों और मनोभावों से सम्बन्धित **'क्या', 'क्यों', और 'कैसे'** के प्रश्नों को समझाने का प्रयास करता है।

A. सम्बन्ध—मनोविज्ञान और राजनीति शास्त्र में सम्बन्ध के मुख्य कारण निम्न हैं—

(i) दोनों मानव का अध्ययन करते हैं।

(ii) सभी मानवीय संस्थायें मानव-मस्तिष्क की उपज हैं।

(iii) राजनीतिक संस्थाओं का स्थायित्व और सफलता मानव की मनः स्थिति पर निर्भर करती है।

(iv) कोई भी राजनीतिक शास्त्री, राजनीतिज्ञ, राजनेता तथा प्रशासक जनसमूह के मस्तिष्क का अध्ययन किये बिना अपने क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता।

(v) राजनीतिक हित, राजनीतिक दल, दबाव समूह आदि संगठन अपनी प्रकृति में अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक संगठन होते हैं।

(vi) जन समूह की परम्परायें, लोकाचार एवं आदर्श जिनका राजनीतिक जीवन में प्रबल प्रभाव होता है, मनोवैज्ञानिक प्रभाव की क्षमतायें रखते हैं। **लार्ड ब्राइस ने कहा है कि "राजनीति की जड़ें मनोविज्ञान में अर्थात् मानव जाति की मानसिक एवं ऐच्छिक प्रवृत्तियों के अध्ययन में निहित हैं।"**

राजनीति शास्त्र की मनोविज्ञान पर निर्भरता—राजनीति शास्त्र मनोविज्ञान पर मुख्यतः निम्न प्रकार से निर्भर करता है—

1. मानव क्रियाओं के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन लाभकारी—मानवीय क्रियाओं की पहेलियों को सुलझाने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन लाभकारी है। कॉम्टे, स्पेन्सर, बेजहॉट, दुर्खीम, ले बां, मैकडुगल, ग्राह्म वालास, बाल्डविन, एलवुड आदि लेखकों ने सामाजिक मनोविज्ञान के सन्दर्भ में ही राजनीति क्रियाओं एवं राजनीतिक संस्थाओं को समझने का प्रयास किया है। **बार्कर** का मत है कि, "यदि हमारे पूर्वज प्राणी विज्ञान की दृष्टि से चिन्तन करते थे तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन करते हैं।" **बेजहॉट** ने अपनी रचना **"भौतिक विज्ञान और राज्य विज्ञान"** में कहा है कि अंग्रेजी संविधान अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थित है। **हॉब्स** का सारा राजनीतिक चिन्तन मानव के मनोविज्ञान की दो आधारभूत प्रवृत्तियों-आत्म सुरक्षा और भय पर आधारित है। व्यवहारवादी लेखकों का सारा चिन्तन सामाजिक मनोविज्ञान से प्रभावित है।

2. राजनीतिक संस्थायें भौतिक होने के स्थान पर मनोवैज्ञानिक अधिक है—राज्य जैसी राजनीतिक संस्थायें भौतिक होने के स्थान पर मनोवैज्ञानिक अधिक हैं। ये वस्तुनिष्ठ होने के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठ अधिक होती हैं। सरकार रूपी जिस संस्था के माध्यम से राज्य अपने-आपको अभिव्यक्त करता है वह व्यक्तियों द्वारा संचालित होती है और व्यक्तियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। वे सरकारें अधिक स्थायी और स्थिर होती हैं जो अपने कार्यों, नीतियों और कानूनों में जन समूह के मानसिक विचारों एवं नैतिक भावनाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं।

3. सत्ता के प्रयोग में मनोविज्ञान की उपेक्षा क्रान्ति को जन्म दे सकती है—सत्ता और उसका प्रयोग, जैसा कि **ले बां** ने लिखा है "जाति की मानसिक प्रकृति" के अनुरूप होना चाहिए अन्यथा वह समाज में विद्रोह, अवज्ञा, तनाव एवं

असन्तोष को जन्म देगा । राजनीतिक विप्लवों, आकस्मिक शासन परिवर्तनों, क्रान्तियों, उपद्रवों एवं राजनीतिक सुधार आन्दोलनों, राष्ट्रीय आन्दोलनों आदि के पीछे समूह की मनोवृत्ति एक प्रवल शक्ति होती है । कुछ जातियों में केवल प्रजातान्त्रिक प्रणालियां सफल हो सकती हैं और कुछ में सर्वसत्तावादी एवं अधिनायकवादी । ग्राह्य वालास ने लिखा है कि, 'राजनीति अंशतः सचेत बौद्धिकता का परिणाम है और अधिकांशतः यह आदत और मूल प्रवृत्ति तथा सुझाव और नकल जैसी अर्द्धचेतन प्रक्रियाओं की उपज है ।"

4. सफलता के लिए लोगों की मनःस्थिति को समझना आवश्यक—राष्ट्रीय नेताओं, शासकों और प्रशासकों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वे लोगों की मनःस्थिति को समझने में कहां तक सफल होते हैं । यही कारण है कि कुछ नेता सफल और कुछ असफल होते हैं । उदाहरणतः जर्मनी में हिटलर की सफलता का रहस्य यह था कि उसने शक्ति अर्जित करने के लिए जर्मनवासियों के मनोभावों और पूर्वाग्रहों का पूर्ण शोषण किया था । महात्मा गांधी, मुहम्मद अली जिन्ना, मुस्तफा कमाल पाशा, मुसोलिनी, माओ आदि नेताओं की सफलता का रहस्य यह था कि वे अपने-अपने जन समूह की मनःस्थिति को समझते थे ।

5. मनोवैज्ञानिक तत्त्व जनमत को प्रभावित करने में सहायक—आधुनिक प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में, विशेष कर चुनाव प्रणाली, मतदान व्यवहार, चुनाव प्रचार आदि में, प्रचारक और जनोत्तेजक, लोगों की मनःस्थिति को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं । चुनाव चिन्ह, प्रचार, नारों, झण्डों आदि की यही भूमिका है । उदाहरणतः **भारत में आम चुनावों के समय गढ़े गये "गरीबी हटाओ" "दासता बनाम स्वतन्त्रता" और "चुनिये उन्हें जो सरकार चला सकें" जैसे नारों का व्यापक प्रभाव** रहा है । राष्ट्रीय एकीकरण, राजनीतिक उद्देश्य एवं आदर्श, कानूनों की अनुपालना, राष्ट्रीय अनुशासन आदि की राजनीतिक प्रक्रियायें जन-समूह की भावनाओं से प्रेरित एवं प्रभावित होती हैं ।

मनोविज्ञान की राजनीति शास्त्र पर निर्भरता—राजनीति शास्त्र मनोविज्ञान को प्रभावित करता है । **प्रथम**, राजनीति शास्त्र मनोविज्ञान को उसकी सामग्री प्रदान करता है जिसके आधार पर मनोविज्ञान राजनीतिक तथ्यों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है । **दूसरे**, शासन का ढांचा अर्थात् राजनीतिक संरचना लोगों के विचारों एवं व्यवहारों को प्रभावित करती है ।

B. भेद—राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में मुख्यतः निम्न भेद पाये जाते हैं—

1. क्षेत्र सम्बन्धी भेद—मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानव की समस्त मानसिक क्रियाओं से है चाहे उनका सम्बन्ध आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक या अन्य किसी क्षेत्र से हो । राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध मानव की केवल राजनीतिक क्रियाओं से है ।

2. यथार्थवादिता एवं आदर्शवादिता का भेद—मनोविज्ञान एक यथार्थवादी विज्ञान है आदर्शवादी नहीं। इसका सम्वन्ध तथ्यों से है "मूल्यों" से नहीं। इसका सम्वन्ध 'था' या 'है' से है 'चाहिए' से नहीं। मनोविज्ञान इस बात का अध्ययन करता है कि मानव का व्यवहार 'कैसा था या कैसा है'। इसका सम्वन्ध इस वात से नहीं होता कि उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए। दूसरी ओर राजनीति शास्त्र का सम्वन्ध केवल 'था' या 'है' से ही नहीं है। इसका सम्वन्ध 'चाहिए' से भी है। इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र एक आदर्शात्मक शास्त्र भी है।

3. आधारभूत दृष्टियों में भेद—मनोविज्ञान के अनुसार मानव 'भावनाओं' एवं 'मनोवेगों' का पुतला है। वह विवेक की तुलना में भावनाओं से अधिक प्रेरित होता है। दूसरी ओर, राजनीति शास्त्र मानव को बुद्धि-युक्त, सभ्य एवं विवेकशील प्राणी मानता है।

4. वाल्यावस्था एवं परिपक्व अवस्था का भेद—विकास की दृष्टि से मनोविज्ञान अपनी 'वाल्यावस्था' में है जबकि राजनीतिक शास्त्र प्राचीन होने से अपनी परिपक्व अवस्था में है।

राजनीति शास्त्र और भूगोल

भूगोल का अर्थ—भूगोल का सम्वन्ध पृथ्वी की सतह, स्वरूप, आकार और भौतिक विशेषताओं से होता है। इसका सम्वन्ध राजनीतिक सीमाओं, जलवायु, खनिज पदार्थों, उत्पादन और जनसंख्या से होता है।

A. सम्वन्ध—भूगोल और राजनीति का घनिष्ठ सम्वन्ध है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति के कार्यों, व्यवसायों, जीवन पद्धति के नियमों, लोगों की आदतों, मनोवृत्तियों, दृष्टिकोणों आदि पर भूगोल, विशेषकर जलवायु का प्रभाव पड़ता है। किसी देश की आर्थिक सम्पन्नता इस पर निर्भर करती है कि वहां खनीज पदार्थों का कितना भण्डार है। राजनीतिक संस्थाओं के उद्भव, विकास और स्वरूप का सम्वन्ध भी किसी देश की भौगोलिक स्थिति और जलवायु से होता है। भू-राजनीतिक अर्थात् व्यावहारिक राजनीतिक भूगोल ने राजनीतिक संस्थाओं के उद्भव और विकास में महत्वपूर्ण एवं लाभकारी सूचनाएँ प्रदान की हैं।

प्राचीन समय से ही राजनीति शास्त्र के लेखकों ने विशेषकर अरस्तू, वोदाँ. रूसो, माण्टेस्क्यू, वकल, व्लंश्ली, ट्रीश्चे आदि ने भूगोल के राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं, विदेश नीतियों एवं आदतों पर प्रभाव का उल्लेख किया है। उदाहरणतः अरस्तू का मत है कि "भौगोलिक ज्ञान के अभाव में राजनीति के ज्ञान में वृद्धि नहीं हो सकती।" **रूसो** का मत है कि **"उष्ण जलवायु निरंकुश शासन, शीत जलवायु असभ्यता तथा सम-शीतोष्ण जलवायु अच्छी राजनीति की उत्पत्ति के अनुकूल होती है।"** **माण्टेस्क्यू** का मत है कि, "पर्वतीय प्रदेश तथा शीत जलवायु दास्ता और निरंकुशता की उत्पत्ति के अनुकूल है।" **माण्टेस्क्यू** लिखता है कि, "ठण्डे प्रदेशों में राजनीतिक स्वतन्त्रता स्वाभाविक एवं गर्म प्रदेशों में परतन्त्रता अपेक्षित

है । पहाड़ी प्रदेशों में स्वतन्त्रता एवं उर्वर, उपजाऊ, मैदानों में दमन स्वाभाविक है । एशिया की भौगोलिक स्थिति में निरंकुशतन्त्र एवं यूरोप में छोटे देश होने के फलस्वरूप स्वतन्त्रता का विकास स्वाभाविक है । महाद्वीपों में द्वीपों की अपेक्षा, लोकतन्त्र शिथिल होता है ।" **बकल** का मत है कि "व्यक्तियों तथा समाजों की क्रियायें, भौतिक वातावरण विशेषतः जलवायु, भोजन, धरती और प्रकृति की सामान्य स्थितियों से प्रभावित होती हैं ।"

राजनीतिक संस्थाओं पर भूगोल के प्रभाव के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार अतिशयोक्तिपूर्ण हैं । फिर भी इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भौगोलिक स्थितियों ने राष्ट्रों की राष्ट्रीय नीतियों और कुछ सीमा तक राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित किया है । जैसाकि **लार्ड ब्राइस** ने लिखा है कि "किसी भी देश में भौगोलिक परिस्थिति एवं परम्परागत संस्थाओं का राष्ट्र के राजनीतिक विकास पर इतना प्रभाव पडता है कि उसकी सरकार का एक विशिष्ट स्वरूप बन जाता है ।" उदाहरणतः प्राचीन यूनान में भौगोलिक विविधता के कारण राजनीतिक एकता के विकास में रुकावट पड़ी, स्विट्जरलैण्ड पहाड़ों से घिरा होने के कारण उस देश की संस्थाओं और इतिहास पर प्रभाव पड़ा है; नदियों के मुहानों पर अधिकार के प्रश्न को लेकर अनेक देशों में पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव पैदा हुए हैं, इंगलैण्ड की द्वीपीय स्थिति ने उसे समुद्री शक्ति बनाया, जर्मनी की भौगोलिक स्थिति ने उसे सैनिक शक्ति बनने के लिए बाध्य किया । साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विकास का मूल कारण एशिया और अफ्रीका के राज्यों में पाये जाने वाले खनिज पदार्थ थे जिनका पश्चिमी शक्तियाँ शोषण करना चाहती थीं । रूस का टर्की और ईरान पर दबाव का मूल कारण रूस की भौगोलिक स्थिति है क्योंकि रूस को भूमध्यसागर में आने के लिए इनके जलमार्गों की आवश्यकता है । आधुनिक समय में महाशक्तियों का मध्य-पूर्व की राजनीति में हस्तक्षेप का मूल कारण इन देशों में उपलब्ध तेल का भण्डार है । यह क्षेत्र सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

B. भेद—भूगोल का व्यक्तियों और उसकी राजनीतिक संस्थाओं पर प्रभाव होते हुए भी व्यक्ति पर्यावरण का दास नहीं । वह अपने विवेक, बुद्धि और अनुभव से पर्यावरण में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है । **दूसरे**, भूगोल का विषय भौतिक है जबकि राजनीति शास्त्र का विषय मानव है । भूगोल एक विशुद्ध विज्ञान है जबकि राजनीति शास्त्र एक अनिश्चित विज्ञान है । **तीसरे**, भूगोल भौतिक जगत के यथार्थ तक सीमित है जबकि राजनीति शास्त्र आदर्श से भी सम्बन्धित है ।

समीक्षा प्रश्न

1. "राजनीति शास्त्र उन सभी शास्त्रों से सम्बन्धित है जो संगठित समाज में मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

(Ral. Suppl. 1975)

2. "राजनीति शास्त्र के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, इतिहास के बिना राजनीति शास्त्र की कोई जड़ नहीं।" (सीले) इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1977, 81)
3. "राजनीति विज्ञान सभी समाज-शास्त्रों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।" इतिहास और अर्थशास्त्र से उदाहरण लेते हुए इस कथन का विवेचन कीजिए। (Raj. 1979)
4. राजनीति शास्त्र का इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (Raj. Suppl. 1985)
5. राजनीति शास्त्र का अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1985)
6. एक सामाजिक विज्ञान के रूप में राजनीति विज्ञान इतिहास, नीतिशास्त्र एवं भूगोल से किस प्रकार सम्बन्धित है? (Raj. 1983)

5

राज्य, समाज और राष्ट्र
(State, Society and Nation)

परिचय (Introduction)—मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहना उसका स्वभाव है। उसकी अनेक आवश्यकतायें हैं। इनकी पूर्ति वह एक दूसरे के सहयोग द्वारा करता है। वह अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के संघों, समुदायों एवं संगठनों का निर्माण करता है। राज्य इन्हीं मानवीय संगठनों में सर्वोच्च एवं श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन है।

राज्य शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कुछ लेखक इसे समाज, समुदाय, राष्ट्र, सरकार, देश आदि शब्दों के लिए प्रयोग करते हैं; कुछ इसे संघ के एककों के लिए इस्तेमाल करते हैं और कुछ इसे संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे संगठनों के लिए इस्तेमाल करते हैं, परन्तु इन सब शब्दों के लिए राज्य शब्द का इस्तेमाल सन्देह पैदा करता है, क्योंकि इनसे सम्प्रभुता तत्त्व का ज्ञान नहीं होता जो राज्य का आवश्यक तत्त्व है।

राज्य शब्द के लिए अन्य अनेक शब्दों का भी प्रयोग किया जाता रहा है। उदाहरणतः ग्रीक इसके लिए **'पोलिस'** (Polis) शब्द का प्रयोग करते थे, जिसका अर्थ है **'नगर राज्य'**। उस समय राज्य 'नगर राज्य' थे। उस समय आधुनिक समय की भाँति क्षेत्रीय या प्रादेशिक राज्य नहीं होते थे। **सीले** का मत है कि "यूनानियों के लिए राज्य शास्त्र एक 'नगर विज्ञान' था।" रोम के लेखक राज्य के लिए **'सिविटास'** शब्द का प्रयोग करते थे जिसका अर्थ भी 'नगर राज्य' था। ट्यूटन लोग राज्य शब्द के लिए **'स्टेट्स'** शब्द का प्रयोग करते थे जिससे आधुनिक शब्द 'राज्य' की उत्पत्ति हुई है। जर्मन लेखक राज्य के लिए **'लैण्ड तग'**, **'लैण्डसजैंसेट्ज'** आदि शब्दों का प्रयोग करते थे जिससे आधुनिक क्षेत्रीय राज्यों का ज्ञान होता है। आधुनिक समय में राज्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम **मैकियावली ने अपनी रचना 'प्रिन्स'** में किया। उसने कहा है कि **"वे समस्त अधिकार एवं सत्ताएँ जिनका मनुष्य पर नियन्त्रण रहा है और होता है, 'स्टेट' कहलाती हैं।"**

परिभाषाएँ (Definitions)—राज्य की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं—

1. **अरस्तू** के अनुसार, **"राज्य परिवारों एवं ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण एवं आत्म-निर्भर जीवन की प्राप्ति है जिससे हमारा अभिप्राय सुखी एवं सम्माननीय जीवन है।"**

2. **हॉल** के शब्दों में, "एक स्वतन्त्र राज्य के लक्षण ये हैं कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए संगठित है, उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह वाह्य नियन्त्रण से मुक्त होता है।"

3. **बर्गेस** के शब्दों में, "एक संगठित इकाई के रूप में राज्य मानव जाति का एक विशिष्ट भाग है।"

4. **ब्लंशली** के शब्दों में, "एक निश्चित प्रदेश की राजनीतिक ढंग से संगठित जनता का नाम राज्य है।"

5. **वुडरो विल्सन** के शब्दों में, "एक निश्चित भू-भाग में कानून के लिए संगठित जन समुदाय को राज्य कहते हैं।"

6. **लास्की** के शब्दों में, "राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने नियत भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सभी व्यवस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"

7. **मैकाइवर** के शब्दों में, "राज्य एक संस्था है जो शक्तिशाली सरकार के द्वारा घोषित कानूनों के अनुसार कार्य करती है और जो एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले समुदाय में सामाजिक व्यवस्था बनाये रखती है।"

8. **गार्नर** के शब्दों में, "राज्य अल्पसंख्यक या वहुसंख्यक व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के निश्चित भू-भाग में स्थायी रूप से रहता हो, जो वाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र हो अथवा लगभग स्वतन्त्र हो, जिसकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसके आदेशों की पालना नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभाव से करता हो।

उपर्युक्त परिभाषाओं में सर्वश्रेष्ठ परिभाषा गार्नर की है। इसमें आधुनिक राज्य के वे सब तत्त्व—राजनीतिक, भौतिक और आध्यात्मिक—विद्यमान हैं जो एक राज्य में होने चाहिए। इसमें सामान्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए व्यक्तियों का एक समूह शामिल है। इसमें पृथ्वी के एक निश्चित प्रदेश की व्यवस्था है जिसे समुदाय अपना घर कह सकता है। इसमें विदेशी नियन्त्रण से स्वतन्त्रता की बात भी है जो राज्य की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है। इसमें सामान्य सर्वोच्च सत्ता की व्यवस्था है जिसके द्वारा जनता की सामूहिक इच्छा प्रकट होती है तथा उसकी सिद्धि होती है।

राज्य के लक्षण या विशेषतायें

राज्य के प्रमुख लक्षण अग्रलिखित हैं—

1. जनसंख्या (Population)—यह राज्य का वैयक्तिक आधार है। इसके अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके अभाव में न शासक हो सकते हैं और न शासित।

इसके सम्बन्ध में लेखकों में एकमत नहीं कि राज्य की जनसंख्या कितनी हो। **प्लेटो** राज्य के लिए 5,000 जनसंख्या पर्याप्त समझता है जबकि **रूसो** के लिए 10,000 जनसंख्या पर्याप्त है। दूसरी ओर, आधुनिक राज्यों में मोनाको और सेनमेरिनो जैसे ऐसे राज्य विद्यमान हैं जिनकी जनसंख्या कुछ हजारों में है जबकि चीन, भारत और सोवियत संघ जैसे राज्यों की जनसंख्या करोड़ों में है। भारत जैसे कुछ राज्यों में जनसंख्या की समस्या गम्भीर होने से परिवार नियोजन पर अधिक बल दिया जाता है जबकि **सोवियत संघ** जैसे राज्य में दस या इससे अधिक सन्तान पैदा करने वाली माता को **"वीर माता"** की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः राज्य की जनसंख्या इतनी होनी चाहिए कि उसका संगठन ठीक प्रकार से हो सके और उसकी सुरक्षा की जा सके। उसकी जनसंख्या इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि उसकी भूमि के समस्त साधनों से भी उसके पालन-पोषण की व्यवस्था न हो सके। **अरस्तू** ने कहा है कि 'जनसंख्या न तो बहुत अधिक होनी चाहिये और न बहुत कम। जनसंख्या इतनी अधिक होनी चाहिये कि वह स्वावलम्बी हो सके और इतनी कम हो कि उसे ठीक प्रकार से शासित किया जा सके।"

राज्य की जनसंख्या में प्रायः तीन प्रकार के लोग रहते हैं (i) नागरिक : ये राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेते हैं। इन्हें राज्य की सदस्यता के सभी अधिकार एवं कर्त्तव्य प्राप्त होते हैं। **(ii) प्रजा** : यह राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग नहीं लेती। इसे राज्य आदेश दे सकता है और उनकी अनुपालना करा सकता है। **(iii) विदेशी** : ये राज्य के नागरिक नहीं होते। इन्हें राज्य की सदस्यता के अधिकार एवं कर्त्तव्य प्राप्त नहीं होते। ये पर्यटक या अन्य किसी रूप में राज्य में रहते हैं। इन्हें सामाजिक अधिकार तो प्राप्त होते हैं, परन्तु राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते।

राज्य के नागरिक सचेत, जागरूक, शिक्षित एवं सक्रिय होने चाहिए। जैसाकि **अरस्तू** ने कहा कि **"एक अच्छा नागरिक एक अच्छे राज्य का निर्माण करता है, एक बुरा नागरिक एक बुरे राज्य का निर्माण करता है।"**

2. क्षेत्र या भू-भाग (Territory)—यह राज्य का भौतिक आधार है। जैसाकि **ब्लंशली** ने कहा है कि "जिस प्रकार राज्य का वैयक्तिक आधार जनसंख्या है उसी प्रकार राज्य का भौतिक आधार भू-भाग है। लोग तब तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकते जब तक उनका कोई अपना निश्चित भू-भाग न हो।" यह तत्त्व राज्य को अन्य समुदायों एवं संगठनों से भिन्न करता है। समुदाय क्षेत्र की सीमाओं के बिना रह सकते हैं, परन्तु राज्य की क्षेत्रीय सीमायें निश्चित होती हैं।

राज्य के आदेशों की पालना निश्चित क्षेत्र में होती है। एक क्षेत्र में एक राज्य विद्यमान हो सकता है जबकि एक क्षेत्र में अनेक समुदाय विद्यमान हो सकते हैं। इतिहास में एक क्षेत्र पर सह-राज्यों (Condominium) के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणतः सूडान पर इंगलैण्ड और मिस्र का और न्यू हेब्रेडीज द्वीप पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का सह-राज्य विद्यमान था, परन्तु सामान्य नियम यही है कि एक क्षेत्र में एक ही राज्य का प्रभुत्व होता है। संघ के एकक, अतिरिक्त देशीय क्षेत्राधिकार (Extra-territorial Jurisdiction) और सैनिक आक्रमण द्वारा किसी क्षेत्र पर अनाधिकार इस नियम के अपवाद हैं।

राज्य के लिए निश्चित भू-भाग एक आवश्यक तत्त्व है। इसके बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। एक घुमक्कड़ जाति, जिसका अपना कोई प्रदेश नहीं, राज्य नहीं बना सकती। उदाहरणतः फिलिस्तीन में स्थायी रूप से बसने से पूर्व यहूदियों का अपना कोई राज्य नहीं था। किसी निश्चित क्षेत्र में स्थायी रूप से बसने के बाद ही लोगों का कोई समूह राज्य का रूप ग्रहण करता है।

राज्य का क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से जितना मिला हुआ होगा उतना ही वह सुदृढ़, संगठित और सुरक्षित होगा।

राज्य के क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम लागू नहीं होते। आज विश्व में मोनाको और सेन मेरिनो जैसे ऐसे राज्य विद्यमान हैं जिनका क्षेत्रफल कुछ ही वर्गमील है जबकि चीन, सोवियत संघ, अमरीका और भारत जैसे राज्यों का क्षेत्रफल लाखों वर्गमील है। वस्तुतः क्षेत्र इतना बड़ा नहीं होना चाहिए कि उसका प्रबन्ध समुचित रूप से न हो सके और न ही इतना छोटा होना चाहिए कि वह अपनी सुरक्षा स्वयं न कर सके।

3. सरकार (Government)—सरकार राज्य का संगठनात्मक आधार है। यह राज्य का मूर्त रूप है। निश्चित भू-भाग पर स्थित कोई भी जन समुदाय तब तक राज्य का रूप ग्रहण नहीं कर सकता जब तक वह अपने आपको राजनीतिक रूप में संगठित न कर ले। उनके पास सरकार अवश्य होनी चाहिये ताकि सामूहिक इच्छा का निर्माण किया जा सके; उसे लागू किया जा सके तथा उसकी सिद्धि की जा सके। सरकार एक यन्त्र है जिसके द्वारा सामान्य नीतियों का निर्धारण एवं सामान्य हितों की वृद्धि और सामान्य कार्यों का नियमन एवं प्रबन्ध किया जाता है। सरकार के बिना कोई जन असंगठित तथा अराजक समूह होगा जो सामूहिक रूप में कोई कार्य नहीं कर सकता।

सरकार का स्वरूप कुछ भी हो सकता है। यह राजतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक हो सकता है। यह निरंकुशतन्त्र, अल्पतन्त्र और भीड़तन्त्र हो सकता है।

4. सम्प्रभुता (Sovereignty)—यह राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह राज्य का हृदय एवं प्राण है। यह इसकी सर्वोच्च शक्ति का आधार और

स्वतन्त्रता का प्रतीक है। इसके आधार पर राज्य अपने आदेशों की अनुपालना कराता है तथा अवज्ञा करने वालों को दण्डित करता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो राज्यों को समुदायों, संघों व अन्य प्रकार के विविध संगठनों से अलग करता है, सर्वोच्च बनाता है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी में समानता का दर्जा दिलाता है।

सम्प्रभुता का दोहरा स्वरूप है : (i) आन्तरिक और (ii) बाह्य। आन्तरिक *सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत उसकी सत्ता का कोई* दूसरा प्रतिद्वन्द्वी न हो। राज्य के अन्दर धर्म आदि की जितनी भी अन्य सत्तायें विद्यमान होती हैं वे उसकी आज्ञा से विद्यमान होती हैं। बाह्य सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य स्वयं अपनी विदेश नीति का निर्माता हो और कोई अन्य राज्य उसकी नीतियों पर नियन्त्रण नहीं रखे। इस तरह राज्य आन्तरिक और बाह्य क्षेत्र में अपनी नीतियों का स्वयं निर्माता होता है।

राज्य और सरकार

राजनीति शास्त्र में अनेक ऐसे लेखक हुए हैं जो राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं करते। वे दोनों शब्दों को समानार्थक शब्दों में प्रयोग करते हैं। उदाहरणतः अनुबन्धवादी लेखक हॉब्स ने राज्य और सरकार को समान अर्थों में प्रयोग किया है। फ्रांस का राजा लुई XIV अपने आपको राज्य कहता था। सर्व-सत्तावादी एवं अधिनायकवादी शासक भी अपने आपको राज्य के साथ जोड़ लेते हैं। 1975 के आपातकाल के दौरान डी. के. बरूआ ने "श्रीमती इन्दिरा गांधी को भारत और भारत को इन्दिरा गांधी" कहना शुरू कर दिया था।

'राज्य' और 'सरकार' शब्दों को अनेक बार एक दूसरे के अर्थों में प्रयोग किया जाता है। उदाहरणतः जब हम 'राज्य आदेश' या 'राज्य नियमन' की बात करते हैं तो इसका वास्तविक अर्थ सरकार का आदेश और सरकारी नियमन होता है। परन्तु **राज्य और सरकार दोनों समानार्थक या पर्यायवाची शब्द नहीं।** जैसाकि **गार्नर** ने कहा है कि "**सरकार वह संगठन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा प्रकट होती है और जिसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करता है।** सरकार राज्य का एक विशेष गुण है परन्तु इसे राज्य कहना उतना ही अनुचित है जितना कि किसी प्राणी के मस्तिष्क को प्राणी कहना अथवा किसी निगम के बोर्ड को निगम कहना।"

राज्य और सरकार में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. पूर्णतः एवं अंशतः का अन्तर—राज्य पूर्ण है जबकि सरकार उसका एक अंश है। राज्य निर्माण के लिए सरकार के अतिरिक्त जनसंख्या, भूमि (क्षेत्र) और सम्प्रभुता की आवश्यकता होती है। राज्य राजनीतिक रूप से संगठित एक ऐसी सत्ता है जिसका उद्देश्य सामान्य हितों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जबकि सरकार एक ऐसे सामूहिक अभिकरण, मजिस्ट्रेसी या संगठन का नाम है जिसके

माध्यम से राज्य इच्छा की रचना, कार्यान्विति तथा सिद्धि होती है। सरकार राज्य का आवश्यक तत्त्व है, परन्तु यह स्वयं राज्य नहीं। जिस प्रकार किसी निगम का निदेशक मण्डल स्वयं निगम नहीं होता उसी प्रकार सरकार, जो राज्य कार्यों का प्रबन्ध करने वाली निकाय है, स्वयं राज्य नहीं होती।

2. स्थायित्व का अन्तर—राज्य स्थायी है, परन्तु सरकार अस्थायी है। सरकारें क्रान्ति या निर्वाचनों द्वारा निरन्तर बदलती रहती हैं, परन्तु राज्य नहीं बदलता। उदाहरणतः रूस की 1917 की क्रान्ति ने उसकी सरकार के स्वरूप को बदल दिया, परन्तु रूस राज्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सन् 1688 की सुनहरी क्रान्ति ने इंगलैण्ड की सरकार के निरंकुश स्वरूप को बदल दिया। उसके स्थान पर एक सीमित सरकार स्थापित कर दी गई, परन्तु इंगलैण्ड राज्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इंगलैण्ड में प्रचलित यह कहावत कि "राजा मर गया है, राजा चिरंजीवी हो" राज्य के स्थायित्व को प्रकट करती है।

3. अमूर्त-मूर्त का अन्तर—राज्य एक अमूर्त संस्था है जो दिखाई नहीं देती। दैनिक जीवन में नागरिक राज्य के सम्पर्क में नहीं आते। दूसरी ओर, सरकार एक मूर्त संस्था है जो दिखाई देती है। नागरिक उसके सम्पर्क में सदैव आते रहते हैं। **सीले** ने कहा है कि "सरकार एक 'आविष्कार' है जिसके माध्यम से राज्य अपने आपको प्रकट करता है। राज्य की कोई प्रशंसा या निन्दा नहीं करता, परन्तु सरकार जब नागरिकों के लिए कुछ अच्छे कार्य करती है तो उसकी प्रशंसा की जाती है, परन्तु जब नागरिकों के हितों की उपेक्षा करती है तो उसकी निन्दा की जाती है।"

4. सम्प्रभुता का अन्तर—सम्प्रभुता राज्य का विशेष गुण है। यह उसका सार-तत्त्व है। इससे राज्य का अस्तित्व बना रहता है तथा वह अविनाशी रहता है। सरकार के पास सम्प्रभुता का अभाव होता है। सरकार जिन शक्तियों का प्रयोग करती है उन्हें राज्य द्वारा प्रदत्त किया जाता है। राज्य अपनी इच्छानुसार सरकार की शक्तियों में कमी या वृद्धि कर सकता है। नागरिकों को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते जबकि सरकार के विरुद्ध उन्हें अधिकार प्राप्त होते हैं। जब कभी सरकार नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण करती है तो नागरिक न्यायालय की शरण ले सकते हैं।

5. सदस्यता का अन्तर—राज्य की सारी जनता अर्थात् सभी लोग राज्य के सदस्य होते हैं। सरकार के केवल वे सदस्य होते हैं जो कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका में कार्य करते हैं।

6. क्षेत्र का अन्तर—राज्य निर्माण के लिए निश्चित क्षेत्र का होना अनिवार्य है परन्तु सरकार के लिए यह आवश्यक तत्त्व नहीं है।

7. प्रकृति के भेद—राज्य एक प्राकृतिक एवं स्वाभाविक संस्था है इसका निर्माण नहीं होता। इसका क्रमिक विकास होता है। दूसरी ओर, सरकार का

निर्माण होता है। यह व्यक्ति की सूझ-बूझ का परिणाम है। यह एक कृत्रिम संस्था है।

उपर्युक्त भेदों के बावजूद साधारण नागरिक के लिए इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। जैसाकि **लास्की** ने कहा है कि "राज्य और सरकार में भेद व्यावहारिक होने के स्थान पर सैद्धान्तिक महत्त्व का है। राज्य का प्रत्येक कार्य जिसका हमें सामना करना पड़ता है वस्तुतः सरकार का कार्य होता है। राज्य की इच्छा उसके कानूनों में निहित होती है, परन्तु सरकार उनके अर्थों को वास्तविक एवं प्रभावपूर्ण बनाती है।"

राज्य और समुदाय

समुदाय का अर्थ—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी अनेक आवश्यकतायें होती हैं। इनकी पूर्ति के लिए वे एक-दूसरे से मिलकर रहते हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदायों, संघों और संगठनों का निर्माण करते हैं। समुदाय व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठित होते हैं। **मैकाइवर** ने कहा है कि **"समुदाय ऐसे व्यक्तियों अथवा सदस्यों का समूह है जो एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के सम्बन्ध में एकसा मत रखते हैं तथा आपस में संयुक्त एवं संगठित होते हैं।"**

राजनीति शास्त्र के बहुत-से लेखक ऐसे हैं जो राज्य को एक समुदाय मानते हैं। उदाहरणतः गिर्के, मेटलैण्ड, लिण्डसे, बार्कर, लास्की, मैकाइवर, मिस फालेट जैसे **बहुलवादी लेखक राज्य को समुदाय मानते हैं।** इनकी धारणा है कि मनुष्य अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध संघों, समुदायों एवं संगठनों का निर्माण करते हैं। इन संघों का अपना व्यक्तित्व, इच्छा, क्षेत्र और सदस्यता होती है जो राज्य की भाँति वास्तविक होती है। उदाहरणतः चर्च, श्रमिक संघ, राजनीतिक दल, दबाव समूह, व्यावसायिक संघ एवं समुदाय, वैज्ञानिक संघ आदि ऐसे समुदाय हैं जो सामान्य कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इस तरह समाज समुदायों का वास्तविक जाल बन जाता है।

राज्य और समुदाय में समूह, सामान्य उद्देश्य और संगठन सम्बन्धी कुछ समानतायें होते हुए भी दोनों में महत्त्वपूर्ण भिन्नतायें पाई जाती हैं। ये भिन्नतायें मुख्यतः निम्न हैं—

1. सदस्यता की भिन्नता—राज्य की सदस्यता अनिवार्य है, परन्तु समुदाय की सदस्यता ऐच्छिक है। सभी व्यक्ति जो राज्य की सीमाओं में निवास करते हैं, उसके सदस्य होते हैं। उन्हें राज्य के कानूनों के प्रति भक्ति रखनी पड़ती है चाहे वे इन्हें पसन्द करते हों या न करते हों। दूसरी ओर, किसी समुदाय की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है। कोई उसे बाध्य नहीं कर सकता कि वह व्यवसाय या श्रमिक संघ का सदस्य बने। एक व्यक्ति एक समय पर एक ही राज्य

का सदस्य हो सकता है। वह दो राज्यों का सदस्य नहीं हो सकता। उदाहरणतः कोई व्यक्ति एक ही समय पर भारत और पाकिस्तान का नागरिक नहीं हो सकता दूसरी ओर, व्यक्ति एक समय पर अनेक समुदायों का सदस्य हो सकता है। यह उसकी क्षमता, सामर्थ्य और योग्यता पर निर्भर करता है। उदाहरणतः विन्सटिन चर्चिल एक समय पर 84 समुदायों का सदस्य था।

2. स्थायित्व का अन्तर—राज्य स्थाई है। इसका कभी नाश नहीं होता। परन्तु समुदाय अस्थाई और नश्वर है। राज्य सम्प्रभुता की भाँति स्थाई है जबकि समुदाय के सदस्य उसे किसी भी समय समाप्त करने का निर्णय ले सकते हैं। समुदाय सदस्यों या धन के अभाव के कारण स्वयं भी समाप्त हो सकता है या उसके उद्देश्यों की पूर्ति हो जाने पर वह निरर्थक हो सकता है। उदाहरणतः किसी ग्राम में कुओं के निर्माण हेतु स्थापित किया गया समुदाय उद्देश्य की पूर्ति होने पर निरर्थक हो जाता है। दूसरी ओर, राज्य सदस्यों की इच्छा से निर्मित नहीं होता। यह उनकी इच्छा से समाप्त नहीं किया जा सकता है। सरकार के परिवर्तन से राज्य में कोई परिवर्तन नहीं होता।

3. क्षेत्र या प्रदेश में अन्तर—राज्य की निश्चित सीमायें होती हैं। उसके कानूनों और आदेशों का प्रभाव उसकी सीमाओं तक रहता है। उससे बाहर उसके कानूनों का प्रभाव नहीं होता। दूसरी ओर, समुदायों का क्षेत्र निश्चित नहीं होता। वह सीमित हो सकता है और असीमित भी। उदाहरणतः विश्व में रोमन कैथोलिक चर्च जैसे अनेक समुदाय हैं जिनकी शाखायें विश्वभर में हैं।

4. उद्देश्य या कार्य क्षेत्र में अन्तर—समुदाय का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया जाता है जो कुछ भी हो सकता है, परन्तु राज्य का क्षेत्र विस्तृत और व्यापक होता है। वह पुलिस कार्यों तक सीमित नहीं होता। लोक कल्याणकारी राज्य का क्षेत्र तो आश्चर्यचकित रूप से विकसित हुआ है। आधुनिक प्रगतिशील राज्य नागरिकों की स्थिति सुधारने के लिए समूचे जीवन का नियमन करते हैं। अरस्तू ने कहा है कि **"राज्य अच्छे जीवन में, सद्गुण में, साझेदार है।"**

5. सम्प्रभुता का अन्तर—राज्य और समुदाय में यही एक अन्तर है जो राज्य को समुदाय से भिन्न करता है और राज्य को सर्वोच्च बनाता है। राज्य सर्वोच्च शक्तिशाली संस्था है। इस शक्ति के आधार पर राज्य नियन्त्रण और नियमन करता है, समाज में व्यवस्था बनाये रखता है तथा कानूनों की उल्लंघना करने वाले को दण्डित करना है। ये सब गुण समुदाय में अनुपस्थित होते हैं। समुदाय के अपने नियम होते हैं परन्तु उनकी उल्लंघना होने पर वह अपने सदस्यों को किसी प्रकार से शारीरिक या वित्तीय दण्ड नहीं दे सकता। कोई समुदाय उल्लंघना करने वाले सदस्य को सदस्यता से वंचित कर सकता है परन्तु दण्ड नहीं दे सकता।

राज्य क्षेत्र में राज्य की आज्ञा से समुदाय विद्यमान हो सकते हैं। राज्य चाहे तो किसी समुदाय को समाप्त कर सकता है तथा उसकी गतिविधियों के क्षेत्र को सीमित कर सकता है। राजाज्ञा के अभाव में कोई समुदाय जीवित नहीं रह सकता।

राज्य और समाज

राजनीति शास्त्र में बहुत-से ऐसे लेखक हुए हैं जो राज्य और समाज को समान समझते हैं तथा उनमें कोई भेद नहीं करते। उदाहरणतः प्लेटो और अरस्तू जैसे ग्रीक लेखक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं करते। **आदर्शवादी, साम्यवादी, सर्वसत्तावादी एवं अधिनायकवादी विचारधारायें भी राज्य और समाज में कोई भेद नहीं करतीं।** ये विचारधारायें किसी ऐसे क्षेत्र को स्वीकार नहीं करतीं जिनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। **हीगल** के लिए राज्य सर्व-व्यापी एवं सर्व-शक्तिमान है। वह नैतिक मानदण्डों का स्रष्टा है, वह स्वयं में साध्य है। **ग्रीन** और **काण्ट** जैसे उदार आदर्शवादी भी राज्य और समाज में कोई भेद नहीं करते। फासीवादी **मुसोलिनी** के लिए "राष्ट्र के अन्दर ही सब-कुछ है और राष्ट्र के बाहर कुछ नहीं तथा राष्ट्र के विरुद्ध कुछ नहीं।"

परन्तु राज्य और समाज समान नहीं। दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं। दोनों में भेद है। दोनों में भेद न करना भ्रममूलक है। जैसाकि **मैकाइवर** ने कहा है कि **"सामाजिक को राजनीतिक के साथ एकरूप करने से न तो राज्य स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है और न समाज ही।"** यही कारण है कि प्रजातान्त्रिक राज्यों में राज्य और समाज में भेद किया जाता है।

राज्य और समाज में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. उत्पत्ति में अन्तर—समाज में व्यक्ति 'अपनी जाति की चेतना" में संगठित होता है। मैकाइवर ने कहा है कि **"राज्य समाज में विद्यमान होता है, परन्तु समाज का रूप नहीं होता।"** **सोल टाऊ** ने भी लिखा है कि **"समाज स्वतः उत्पन्न एक स्वाभाविक संस्था है जबकि राज्य व्यक्ति की संकल्प शक्ति और तर्क की उपज है।"**

2. उद्देश्यों में अन्तर—राज्य का उद्देश्य महान्, परन्तु एक ही उद्देश्य होता है जबकि समाज के अनेक उद्देश्य होते हैं जिनमें कुछ महान् और कुछ साधारण होते हैं, परन्तु जो सामूहिक रूप से अत्यन्त गम्भीर एवं व्यापक होते हैं। **समाज, जैसाकि मैकाइवर और पेज ने कहा है, "सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।"** यह जाल शैक्षणिक, नैतिक, आर्थिक, मानसिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित होता है जबकि राज्य का सम्बन्ध केवल राजनीतिक पहलू और राजनीतिक सम्बन्धों से होता है। **बार्कर** ने कहा है कि "समाज से हमारा तात्पर्य अनेक उद्देश्यों तथा अनेक संस्थाओं वाले उन सब ऐच्छिक समुदायों

से होता है जो किसी राष्ट्र के अन्तर्गत होते हैं।" मैकाइवर का मत है कि **राज्य, वह संगठन है जो समाज के न तो बराबर है और न ही सम विस्तार वाला है, परन्तु विशिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिए निश्चित व्यवस्था के रूप में उसके अन्तर्गत निर्मित होता है।"**

3. समाज राज्य से पूर्व है---समाज राज्य से पूर्व है। इसमें संगठित एवं असंगठित दोनों प्रकार के समूहों को शामिल किया जाता है। दूसरी ओर, राज्य में केवल राजनीतिक दृष्टि से संगठित समूहों को शामिल किया जाता है। उदाहरणतः एस्किमो तथा कवायली क्षेत्र के पठान राजनीतिक रूप से संगठित नहीं यद्यपि प्रत्येक कबीला एक स्पष्ट सामाजिक इकाई है।

4. क्षेत्र में अन्तर—राज्य एक क्षेत्रीय अर्थात् प्रादेशिक संगठन है। इसके क्षेत्र की सीमायें होती हैं। इसके आदेशों की अनुपालना उसी क्षेत्र तक सीमित होती है। दूसरी ओर, समाज का कोई निश्चित क्षेत्र नहीं होता। उसका क्षेत्र एक मित्र-मण्डली हो सकती है और सारा विश्व भी। उदाहरणतः रोमन कैथोलिक चर्च अपने अनुयायियों पर नियन्त्रण रखता है चाहे वे किसी देश में निवास करते हों।

5. सम्प्रभुता में भेद—राज्य एक सर्वोच्च संस्था है। उनके पास सम्प्रभुता है। वह अपने आदेशों की अनुपालना करा सकता है तथा उसकी उल्लंघना करने वालों को दण्डित कर सकता है। दूसरी ओर, समाज के पास सर्वोच्च शक्ति का अभाव है। वह अपने आदेशों की पालना नहीं करा सकता। वह शारीरिक दण्ड नहीं दे सकता। वह आदेशों की उल्लंघना करने वालों का केवल वहिष्कार कर सकता है। **बार्कर** ने राज्य और समाज के भेद को इन शब्दों में व्यक्त किया है, **"समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है, उसका बल सद्भावना का बल है और उसकी कार्यपद्धति लचीली है। दूसरी ओर, राज्य का कार्य क्षेत्र यान्त्रिक कार्यवाही का क्षेत्र है, उसका बल सैनिक-शक्ति है तथा उसकी कार्यपद्धति कठोर है।"**

मैकाइवर ने राज्य और समाज के भेद को इस प्रकार व्यक्त किया है, "राज्य का संगठन समस्त सामाजिक संगठन नहीं है। राज्य के उद्देश्य वे समस्त उद्देश्य नहीं हैं जिनके लिए मानव प्रयत्नशील है। राज्य जिन उपायों से अपना उद्देश्य प्राप्त करता है वे उन उपायों का अंश ही हैं जिनका अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य समाज में रहकर उपयोग करता है। **परिवार या धर्म या क्लब जैसे समाज के रूप विद्यमान हैं जिनकी उत्पत्ति या प्रेरणा का स्रोत राज्य नहीं है और रीति-रिवाज या प्रतिद्वन्द्विता जैसी सामाजिक शक्तियाँ हैं जिनकी राज्य रक्षा कर सकता है या सुधार कर सकता है परन्तु वस्तुतः जिनकी रचना नहीं करता और मित्रता या ईर्ष्या जैसी सामाजिक प्रेरणायें हैं जो ऐसे अत्यन्त घनिष्ठ और व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करती हैं कि उन्हें राज्य के महान् यन्त्र द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।"**

उपर्युक्त भिन्नताओं के बाद भी राज्य समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है। राज्य वह संस्था है जो समाज में व्यक्तियों के सम्बन्धों को नियमित करती है, समाज के विघटनकारी तत्त्वों का दमन करती है तथा समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखती है। मानव प्रकृति की सामाजिकता नियमन की माँग करती है और नियमन राज्य की माँग करता है। राज्य आचरण और व्यवहार के नियमों को स्थापित करता है जो सामाजिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करते हैं। राज्य और समाज दोनों एक-दूसरे के सहयोगी हैं। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं।

राज्य और राष्ट्र

राष्ट्र का अर्थ—राष्ट्र शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द **'नेशियो'** (Natio) से हुई है जिसका अर्थ है **'पैदा होना' या जाति**। जैसाकि **बर्गेस** ने कहा है, **"राष्ट्र ऐसा जनसमूह है जिसकी उत्पत्ति एक ही जाति से हुई हो।" अर्थात् "जातीय एकता की जनता जो भौगोलिक एकता के एक प्रदेश पर निवास करती हो" राष्ट्र** है। फ्रांसीसी लेखक **प्रादियर फोरेरे** का मत है कि जाति,भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म की समानता से राष्ट्र बनता है।

राजनीति शास्त्र के बहुत-से लेखक 'राज्य' और 'राष्ट्र' को समान समझते हैं। ये राज्य को राष्ट्र के स्थान पर और राष्ट्र को राज्य के स्थान पर इस्तेमाल करते हैं। उदाहरणतः **फासिस्ट इटली** में राज्य और राष्ट्र को समान शब्दों में इस्तेमाल किया जाता था। **अर्जेन्टाइना जनतन्त्र** के संविधान में अर्जेन्टाइना राज्य के स्थान पर 'अर्जेन्टाइना राष्ट्र' शब्द का इस्तेमाल किया गया है। इसी प्रकार **'संयुक्त राष्ट्र संघ'** में 'राज्य' के स्थान पर 'राष्ट्र' शब्द का इस्तेमाल किया गया है। परन्तु राज्य के स्थान पर राष्ट्र शब्द का इस्तेमाल गलत है क्योंकि दोनों शब्दों में कुछ मौलिक भेद पाये जाते हैं। ये भेद निम्न हैं—

1. शब्द उत्पत्ति का अन्तर—राज्य और राष्ट्र में शब्द उत्पत्ति का अन्तर है। राज्य शब्द की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न शब्दों से मानी गई है। ग्रीक लेखक इसके लिए **'पोलिस'** शब्द का प्रयोग करते थे, ट्यूटन्स **'स्टेट्स'** शब्द का और जर्मन **लैण्ड टेग लैण्ट्सजेंट्स** आदि का प्रयोग करते थे। आधुनिक शब्दावली में मैकियावली ने पहली बार इस शब्द का प्रयोग अपनी रचना 'प्रिन्स' में किया। दूसरी ओर, राष्ट्र शब्द की उत्पत्ति लेटिन शब्द 'नेशियो' (Natio) से हुई है जिसका अर्थ है—पैदा होना या जाति।

2. आवश्यक तत्त्वों में अन्तर—राज्य के लिए जनसंख्या, भूमि, सरकार और सम्प्रभुता का होना आवश्यक है, परन्तु राष्ट्र के लिए सरकार और सम्प्रभुता का होना आवश्यक नहीं। सरकार और सम्प्रभुता के अभाव में राष्ट्र जीवित रह सकता है। उदाहरणतः प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व पोलैण्ड और फिनलैण्ड राष्ट्र थे यद्यपि वे राज्य नहीं थे। इसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के ठीक बाद जर्मनी

और जापान (जब उन पर विदेशी सेनाओं का आधिपत्य था) राज्य नहीं थे, परन्तु वे राष्ट्र थे। राष्ट्र निर्माण के लिए 'सामूहिक चेतना और एकता' की आवश्यकता होती है जो उनमें विद्यमान थी। राष्ट्र निर्माण में सामान्य जाति, सामान्य धर्म, सामान्य भाषा एवं साहित्य, सामान्य परम्परायें, सामान्य इतिहास एवं उचित-अनुचित के सामान्य नियम सहायक होते हैं।

3. भौतिक एवं आध्यात्मिकता का अन्तर—राज्य एक भौतिक एवं राजनीतिक संगठन है, परन्तु राष्ट्र एक आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक संगठन है। **स्पेंगलर** ने कहा है कि "राष्ट्र न तो भाषायी, न राजनीतिक और न जैविक संगठन है, यह तो एक आध्यात्मिक इकाई है।"

4. तत्त्वों की स्थिरता में अन्तर—राज्य के तत्त्व स्थिर हैं अर्थात् राज्य के चार ही मूल तत्त्व हैं—जनसंख्या, भूमि, सरकार और सम्प्रभुता और उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता जबकि राष्ट्र के तत्त्वों में परिवर्तन होता रहता है। यह कहना कठिन है कि कौनसा तत्त्व किस समय राष्ट्र-निर्माण में अधिक बलशाली हो जाय। यदि पहले नस्ल (वंश) और धर्म राष्ट्रीय एकता के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे तो आज 'सामान्य चेतना' को राष्ट्रीय एकता का आधार समझा जाता है। वस्तुतः अनेक राज्यों में जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि की भिन्नतायें होते हुए भी उनमें राष्ट्रीय एकता के भाव पाये जाते हैं। उदाहरणतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में जिस सामान्य चेतना का विकास हुआ है वह उसकी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है।

5. सम्प्रभुता का अन्तर—राज्य एक सार्वभौम संस्था है। अपनी सर्वोच्च शक्ति के आधार पर राज्य अपनी आज्ञाओं की अनुपालना करा सकता है तथा अवज्ञा करने वालों को दण्डित कर सकता है। दूसरी ओर, राष्ट्र के पास केवल नैतिक शक्ति होती है। वह सदस्यों से अनुनय कर सकता है उन्हें आदेश नहीं दे सकता। अवज्ञा होने पर वह उन्हें दण्डित नहीं कर सकता।

जिमरन *ने अपनी रचना* ***'राष्ट्रीयता और सरकार'*** में राज्य और राष्ट्रीयता के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है, **"राष्ट्रीयता धर्म की भांति आत्मिक है, राज्यत्व भौतिक है, राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक है; राष्ट्रीयता एक मनोदशा है, राज्यत्व एक कानूनी स्थिति है; राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक अधिकार है, राज्यत्व एक दायित्व है: राष्ट्रीयता अनुभूति, एक जीवन एवं चिन्तन की एक विधि है, राज्यत्व जीवन के समस्त सभ्य तरीकों की अभिन्न दशा है।"**

समीक्षा प्रश्न

1. राज्य को परिभाषित कीजिये और उन तत्त्वों की विवेचना कीजिये जो इसे बनाते हैं। क्या सिक्किम को एक राज्य की श्रेणी में रखा जा सकता है?
   (Raj. Suppl. 1983)

2. राज्य के कौन-कौन से मौलिक तत्त्व हैं ? (Raj. Suppl. 1985)
3. "राज्य एक ऐसा संगठन है जो न तो समाज का समकालीन है और न ही उसके समान विस्तार वाला है वरन् जिसका निर्माण समाज के अन्तर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप में कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया है।" (मैकाइवर) इस कथन की व्याख्या कीजिये और राज्य तथा समाज में अन्तर बताइये। (Raj. 1985)
4. राज्य की परिभाषा कीजिये और बताइये कि यह 'समाज' से किस प्रकार भिन्न है ? (Raj. 1979, 83)
5. अपने शब्दों में राज्य की व्याख्या कीजिये और इसके आवश्यक तत्त्व भी बताइये। नेपाल, अफगानिस्तान और गुजरात में से कौन राज्य कहे जा सकते हैं ? (Raj. 1981, Suppl. 1979)
6. राज्य व राष्ट्र में अन्तर बताइये। राष्ट्रीयता किसे कहते हैं ? (Raj. 1984; Ajmer 1988)
7. राज्य की परिभाषा बताइये तथा इसके तत्त्वों का परीक्षण कीजिये। क्या आप राजस्थान, वेटिकन, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा श्रीलंका को राज्य मानेंगे ? कारणों सहित स्पष्ट कीजिये। (Raj. Suppl. 1986)

6
राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता
(Nation and Nationality)

राष्ट्र का अर्थ (Meaning of Nation)—राष्ट्र शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के 'नेशियो' (Natio) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है जन्म, जाति या वंश। इस तरह शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से राष्ट्र ऐसा जनसमूह है जिसकी उत्पत्ति एक जाति या वंश से हुई है। **वर्गेस** और **लीकॉक** ने राष्ट्र शब्द को इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है। **वर्गेस के अनुसार, "जातीय एकता की जनता जो भौगोलिक एकता के एक प्रदेश में निवास करती हो, राष्ट्र है।"** **प्रादियर फोरेरे** का मत है कि **"जाति, भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म की समानता से राष्ट्र बनता है।"**

अनेक लेखक राष्ट्र निर्माण के लिए जाति एवं भाषा की एकता को सहायक समझते हुए भी यह कहते हैं कि "यादों की समान परम्परा......राज्य में मिलकर रहने की आकांक्षा तथा अपनी विरासत को भावी सन्तानों को सौंप देने की इच्छा राष्ट्र का निर्माण करती है।" **हॉसर** का मत है कि जनता को मिलकर रहने की आकांक्षा से ही राष्ट्र बनता है, भाषा एवं जाति से नहीं। "राष्ट्र एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता है और सामाजिक विकास का सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च प्रतिफल है।" **गार्नर** ने लिखा है कि राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक राजनीतिक समूह है जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण चेतन एवं दृढ़ निश्चियी है। यह एक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक एकता है और सामाजिक विकास की सबसे अन्तिम श्रेणी है।"

राष्ट्र शब्द को अनेक बार राजनीतिक संगठन अर्थात् राज्य के रूप में व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्र कोई ऐसी संस्था नहीं है जो केवल सांस्कृतिक या आध्यात्मिक सम्बन्ध से ही बँधी हुई हो, बल्कि यह एक राजनीतिक रूप से संगठित समुदाय भी है। यही कारण है कि अनेक बार राष्ट्र और राज्य शब्दों को पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरणतः जब 'भारत राष्ट्र' का प्रयोग किया जाता है तो इसका वास्तविक अर्थ 'भारत राज्य' से होता है। इसी प्रकार जब 'संयुक्त राष्ट्र संघ' का प्रयोग किया जाता है तो इसका अर्थ 'स्व

तन्त्र राज्यों और उपनिवेशों' से होता है। **लार्ड ब्राइस ने 'राष्ट्र' को राजनीतिक संगठन के रूप में परिभाषित किया है।** वह लिखता है कि **"राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्रीयता है जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है जो या तो स्वाधीन है या स्वाधीनता का इच्छुक है।" ऐस्मीन की धारणा है कि "राज्य राष्ट्र का कानूनी व्यक्तित्व है।"**

'**राष्ट्रीय**" (National) शब्द का प्रयोग **संज्ञा** और **विशेषण** दोनों रूपों में किया जाता है। संज्ञा के रूप में इसका प्रयोग 'कूटनीतिक पत्र व्यवहार' में किया जाता है और विशेषण के रूप में इसका प्रयोग "राष्ट्रीय चरित्र", "राष्ट्रीय सम्मान" और "राष्ट्रीय सम्पत्ति" में किया जाता है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता (Nation & Nationality)—राष्ट्र और राष्ट्रीयता शब्दों को अनेक वार पर्यायवाची शब्दों में प्रयोग किया जाता है, परन्तु इन दोनों शब्दों में भेद है। जैसाकि **लार्ड ब्राइस** ने कहा है कि "राष्ट्रीयता उस जनसमूह का नाम है जो भाषा, साहित्य, विचार, रीति-रिवाज, परम्परा आदि बन्धनों में इस प्रकार बँधा हो कि वह अपने को इसी प्रकार के दूसरे जन-समूह से भिन्न अनुभव करे; राष्ट्र उस राष्ट्रीयता का नाम है जिसने अपना ऐसा राजनीतिक संगठन बना लिया हो जो या तो स्वतन्त्र हो या जो स्वतन्त्रता का इच्छुक हो।" इस तरह **लार्ड ब्राइस के अनुसार राष्ट्र और राष्ट्रीयता में राजनीतिक संगठन का अन्तर है।** लेविलेई, रोज, हेज, मिल आदि ने इसी प्रकार के भेद को व्यक्त किया है। **लेविलोई** ने लिखा है कि "राष्ट्र व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो एक सम्प्रभुता के अधीन संगठित होता है जबकि राष्ट्रीयता व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो जाति, भाषा या परम्परा, इतिहास और हितों की समरूपता के कारण संगठित है।" **रोज** का मत है कि "राष्ट्रीयता ऐसा जन समूह है जो अभी राजनीतिक रूप से संगठित नहीं हुआ।" **हेज ने लिखा है कि "राजनीतिक एकता और सार्वभौम स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद ही कोई राष्ट्रीयता राष्ट्र का रूप ग्रहण करती है।"**

कुछ लेखक राष्ट्र और राष्ट्रीयता में भिन्नता के लिए राजनीतिक संगठन पर इतना बल नहीं देते जितना कि वे "संख्या" पर बल देते हैं। वे **राष्ट्रीयता** को राज्य के अन्तर्गत **एक सामाजिक जातीय समूह** मानते हैं। यह समूह सामान्यतः समस्त जनता का एक छोटा भाग होता है। उदाहरणतः ब्रिटेन में स्कॉट तथा वेल्श लोग, दक्षिण अफ्रीका में डच लोग, कनाड़ा में फ्रेंच लोग, यूगोस्लाविया में स्लोवीन लोग, भारत में मुसलमान लोग राष्ट्रीयतायें हैं।

राष्ट्र और राज्य (Nation and State)—राष्ट्र और राज्य में भेद के लिए राज्य से सम्बन्धित अध्याय 5 का अध्ययन कीजिए।

राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक तत्त्व

लेखकों में इस बात पर सहमति नहीं कि कौन से तत्त्व राष्ट्रीयता के निर्माण में या राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में सहायक होते हैं। यह निश्चित रूप से नहीं

कहा जा सकता कि जो तत्त्व किसी एक जन समूह को राष्ट्रीयता क सूत्र में संगठित करते हैं, क्या वे तत्त्व उसी मात्रा में किसी अन्य जन समूह को राष्ट्रीयता के गुणों से लैस कर सकते हैं। यह हो सकता है कि जो तत्त्व एक जन समूह में विद्यमान हों वे दूसरे में पूर्णतः या अंशतः अनुपस्थित हों। इन कठिनाइयों के बावजूद राष्ट्रीयता के निर्माण में मुख्यतः निम्न तत्व सहायक या आवश्यक समझे जाते हैं—

1. जाति या वंश की शुद्धता—जाति या वंश की एकता राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करती है। **एक ही पूर्वजों की सन्तान का दावा भाईचारा पैदा करता है। अतः गिलक्राइस्ट, बर्गेस, ब्राइस, लीकॉक, जिमर्न आदि लेखक जाति की शुद्धता को राष्ट्रीयता के विकास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।** परन्तु जाति की शुद्धता का तत्त्व राष्ट्रीयता के निर्माण में मूल या अनिवार्य तत्त्व नहीं। **प्रथम,** "जाति एक भौतिक वस्तु है जबकि राष्ट्रीयता एक मिश्रित वस्तु है जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों का भी समावेश होता है।" **दूसरे,** आज विश्व में कोई भी ऐसी जाति नहीं जो 'जाति की शुद्धता' का दावा कर सके। हेज का मत है कि "केवल असभ्य जातियों में ही वंश या नस्ल की शुद्धता पाई जाती है।" विश्व की सभ्य जातियों का निर्माण जातियों के विलय या मिश्रण से हुआ है। उदाहरणतः अंग्रेजी राष्ट्रीयता का निर्माण सैक्सन, नार्डिक एवं लेटिन जातियों के मिश्रण से हुआ है; स्विस राष्ट्रीयता का निर्माण ट्यूटन, लेटिन एवं स्लेवानिक जातियों के मिलन से हुआ है। अमरीका में नीग्रो लोगों के अतिरिक्त यूरोप की प्रायः सभी जातियाँ पाई जाती हैं। यहूदी लोग यूरोप के सभी राष्ट्रों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। इतना अवश्य है कि जो विविध जातियाँ किसी राष्ट्र का निर्माण करती हैं उनमें उग्र भेद नहीं होने चाहिए।

2. भाषा की एकता—भाषा सम्पर्क का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके माध्यम से लोग एक-दूसरे से सम्पर्क रख सकते हैं, भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं तथा अपनी संस्कृति एवं आदर्शों की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। सामान्य भाषा के अभाव में लोगों को एक-दूसरे के निकट आने तथा एक-दूसरे को समझने का अवसर नहीं मिलता। इस तरह सामान्य चेतना और सामान्य आदर्शों का विकास नहीं हो पाता जो राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए आवश्यक है। **अर्नेस्ट बार्कर** ने लिखा है कि "**राष्ट्र और भाषा को पृथक्-पृथक् नहीं समझा जा सकता।**" **रेम्जेम्यूर** का मत है कि "राष्ट्र के निर्माण में भाषा जाति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।" इस पर भी भाषा राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए अनिवार्य तत्त्व नहीं। यह विचार सत्य नहीं कि भाषा की विविधतायें राष्ट्रीयता की भावनाओं को निर्बल करती हैं। उदाहरणतः स्विस लोग विविध भाषाओं का प्रयोग करते हुए भी स्विस राष्ट्रीयता का निर्माण करने में सफल हुए हैं।

3. धार्मिक एकता—धर्म राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया में धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रारम्भिक समाज में धर्म एकता

और संगठन का आधार था। समान धर्मावलम्बी धार्मिक मान्यताओं के कारण आपस में मिलते-जुलते थे। आज भी अनेक राज्य धर्म पर आधारित हैं। उदाहरणतः पाकिस्तान में इस्लाम राज्य धर्म है। जहाँ कहीं धार्मिक भिन्नतायें उग्र रही हैं वहाँ राष्ट्र का विभाजन हुआ है। उदाहरणतः सन् 1947 में भारत के विभाजन का मूल कारण हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक भिन्नतायें थीं। जिन्ना ने धर्म के आधार पर ही "द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त" का विकास किया था और पाकिस्तान राज्य की माँग की थी जो अन्ततः सफल हुई। परन्तु धार्मिक एकता भी राष्ट्रीयता के निर्माण में अनिवार्य तत्त्व नहीं। धार्मिक विविधताओं के बावजूद राष्ट्रों का विकास हो रहा है। आधुनिक समय में धर्म के प्रति सहनशीलता की नीति अपनाई जाती है। धर्म को व्यक्ति का निजी क्षेत्र समझकर उसके प्रति तटस्थता की नीति अपनाई जाती है। यही कारण है कि आधुनिक राज्यों में धार्मिक विविधतायें होते हुए भी लोग राष्ट्रीयता का अनुभव करते हैं। उदाहरणतः जर्मनी में कैथोलिक्स और प्रोटैस्टेन्ट धर्म के अनुयायी निवास करते हैं और भारत में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि लोग निवास करते हैं। इस पर भी जर्मनी और भारत दोनों राष्ट्र हैं।

4. भौगोलिक एकता—भौगोलिक एकता भी राष्ट्रीयता के विकास में एक सहायक तत्त्व है। इसका अर्थ यह है कि जो लोग राष्ट्रीयता के गुण को प्राप्त करते हैं वे किसी निश्चित भू-भाग में निवास करते हैं। एक भूमि पर एक साथ रहने से लोगों में समान संस्कृति, समान आर्थिक हित, इतिहास के गौरव एवं पतन में समान साझेदारी, समान आदतें, परम्परायें एवं रीति-रिवाज, समान अनुभव उत्पन्न होते हैं जो राष्ट्र के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह भावना कि भारत भूमि "देवभूमि" है और "जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान् है" भारतीयों में राष्ट्र की प्रेरणायें फूँक देता है और भारत निवासी भारतीय भूमि की रक्षा हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

5. सांस्कृतिक एकता—समान संस्कृति मनुष्यों को एकता के सूत्र में बांधने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है। **समान संस्कृति भावात्मक एकता उत्पन्न करती है जो राष्ट्र निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।** समान संस्कृति लोगों में परम्परागत रीति-रिवाजों, त्यौहार आदि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। कला, साहित्य, भाषा, धर्म आदि तत्त्व संस्कृति के ही प्रमुख अंग हैं। **जिमरन** का मत है कि "राष्ट्रीयता का लक्ष्य मुख्यतः राजनीति न होकर संस्कृति विशेष की सुरक्षा है...यह सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्म-गौरव की समस्या से सम्बन्धित है।" **जे. एस. मिल** का कहना है कि "**एक निश्चित संस्कृति के बिना राष्ट्रीयता की भावना का विकास सम्भव नहीं।**" **बी. जोजफ** का मत है कि "राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति राष्ट्रीयता के कारण और परिणाम दोनों हैं।" उदाहरणतः भारत

पर विदेशियों द्वारा वार-वार आक्रमण हुए फिर भी भारतीय संस्कृति ने भारतीयों को एकत्रित एवं संगठित रखा।

राष्ट्रवाद के लिए संस्कृति जीवन की शक्ति है। यह समष्टि की भावना है। समान संस्कृति ने वीसवीं शताब्दी के राष्ट्रवाद को पुष्ट किया है। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलन में संस्कृति का प्रमुख हाथ रहा है। यूरोपीय राष्ट्रवाद के पीछे सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना विद्यमान थी। **फिक्टे, हीगल और गेटे** जैसे लेखकों ने जर्मन राष्ट्रवाद को दार्शनिक एवं साहित्यिक चेतना प्रदान की है।

6. समान इतिहास—समान इतिहास लोगों में राष्ट्रीयता की भावनायें उत्पन्न करता है। दीर्घकाल तक साथ रहने. सामूहिक मान-अपमान, प्रसन्नता और शोक झेलने से तथा वाह्य आक्रमणों का मिलकर सामना करने की भावनायें पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति को पुष्ट करती हैं। राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने में राष्ट्रीय नेताओं ने अपने शानदार अतीत, स्मरणीय घटनाओं, वीर पुरुषों के कार्यो को वार-वार दोहराया है। **ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति लोगों में राष्ट्रीयता और अपनत्व की भावनायें पैदा करती हैं।**

7. समान आर्थिक हित—समान आर्थिक हित भी लोगों को संगठित करने में सहायक होते हैं। वस्तुतः एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलनों में, जहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहा है, वहाँ राष्ट्र का आर्थिक विकास और लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना तथा आर्थिक हितों की रक्षा करना भी कोई कम महत्त्वपूर्ण उद्देश्य नहीं रहा। आर्थिक लाभों के प्रलोभन ने साम्राज्यवाद की भावना को जन्म दिया। वंगला देश के निर्माण का मूल कारण पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा पूर्वी पाकिस्तान (वंगला देश) का आर्थिक शोषण था जो पूर्वी पाकिस्तान में रहने वालों के लिए असहनीय वन गया।

8. विदेशी सरकार की अधीनता—विदेशी सरकार की अधीनता राष्ट्रीयता की भावनायें विकसित करने में सहायक होती है। विदेशी सरकार के विरुद्ध राष्ट्रीय भावनायें तीव्र गति से वढ़ती हैं। 'कुशासन' भी राष्ट्रीय भावनाओं को उत्पन्न करता है। **गिलक्राइस्ट** ने लिखा है कि "कुशासन राष्ट्रीयता का जन्मदाता है।"

9. समान राजनीतिक आकांक्षायें—उपर्युक्त सभी तत्त्व राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक हैं, परन्तु जव तक किसी जन-समूह में समान राजनीतिक आकांक्षायें अर्थात् स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की भावनायें उत्पन्न नहीं होतीं और वे अपनी सरकार के अधीन नहीं रहते तव तक वे राष्ट्र या राज्य का रूप ग्रहण नहीं कर सकते। **लेफर** ने ठीक लिखा है कि **"राष्ट्रीयता राज्य का वीज रूप है।"** **दुर्खीम** का मत है कि "राष्ट्रीयता ऐसे सदस्यों का समुदाय है जो एक-से कानूनों के अन्तर्गत रहना और अपने एक राज्य का निर्माण करना चाहता है।"

संक्षेप में, जैसाकि जे. एस. मिल ने लिखा है कि **"राजनीतिक इतिहास की समानता, यादों की समानता, भूतकाल की घटनाओं से सम्बद्ध तथा समान रूप**

से झेले गये सुख-दुःख, गर्व तथा तिरस्कार आदि तत्त्व" राष्ट्रीयता की भावनाओं को प्रोत्साहन देते हैं।

क्या भारत एक राष्ट्र है ?

भारत के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या वह एक राष्ट्र है ? **बिर्किनहैड, स्ट्रेची और चर्चिल** जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपने साम्राज्यीय हितों की रक्षा हेतु भारत को राष्ट्र मानने से इनकार कर दिया था। इसी भावना के आधार पर उन्होंने मुस्लिम लीग तथा उसके नेताओं में धार्मिक एवं साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारा था। परिणामस्वरूप 1947 में भारत का विभाजन हो गया। सेलिग, हैरीसन जैसे अमरीकी लेखक भी भारत को राष्ट्र मानने से इनकार करते हैं। ये लेखक भारत में विद्यमान भाषा एवं जातियों की विविधताओं और क्षेत्रीय एवं प्रान्तीय भावनाओं की ओर संकेत करते हैं।

उपर्युक्त लेखकों के विचार पाश्चात्यवाद से प्रभावित हैं। ये भारतीय राष्ट्रीयता एवं उसके राष्ट्रवाद का सही मूल्याँकन नहीं करते। भारत एक राष्ट्र है। इसके राष्ट्रवाद की मूल विशेषता यह है कि यह भिन्नताओं में एकता ढूँढता है और इसे स्थायी बनाता है। यह सत्य है कि भारतीय इतिहास में मौर्य, गुप्त आदि वंशों का प्रभाव रहा है; यह सत्य है कि यहाँ शक, हूण, मंगोल आदि जातियों का निवास रहा है; यह सत्य है कि आज भी लोगों में क्षेत्रीय भावनायें विद्यमान हैं और भाषायी भिन्नतायें पाई जाती हैं; परन्तु इसके बावजूद भारतीयों में समान राजनीतिक आकांक्षायें हैं, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए समान दृष्टिकोण है, समान राजनीतिक संस्थायें हैं आदि। भारत की मूल संस्कृति रामायण, गीता, पुराण आदि के प्रति समान आदर विद्यमान है; भारत के तीर्थ चारों दिशाओं में विद्यमान हैं। भारतीयों ने अतीत में आक्रमणकारियों और साम्राज्यवादियों का एक साथ मुकाबला किया है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों का एक साथ मिलकर सामना किया है। राष्ट्रीय नेता सभी जातियों के लिए पूजनीय एवं प्रेरक रहे हैं। वर्तमान भारतीय संविधान की धर्म निरपेक्षता सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है। ये तथा अन्य सभी तत्त्व भारत को राष्ट्र बनाते हैं।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की अवधारणा
या
एक राष्ट्र एक राज्य सिद्धान्त

अर्थ—राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा' या 'एक राष्ट्र एक राज्य' सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक राष्ट्रीयता का अपना व्यक्तित्व, अपनी विशेषतायें और लक्ष्य होते हैं; अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति होती है; अपनी परम्परायें, रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ होती हैं। अतः उसे अपने भाग्य का निर्णय

करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसे इस बात का निर्धारण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह चाहे तो किसी राज्य के अन्तर्गत अपनी स्वायत्तता का उपयोग करे या चाहे तो अपने पृथक् राज्य का निर्माण कर अपने संविधान और शासन के अन्तर्गत अपना जीवन-यापन करे। यह अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि जिस जन-समूह में राष्ट्रीयता के गुण विद्यमान हैं उसे स्वाधीन होने और अपने राज्य का निर्माण करने का अधिकार होना चाहिये। **राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा प्रत्येक 'राष्ट्रीयता को राज्य' मानती है।**

अवधारणा का समर्थन—कुछ लेखक राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा का समर्थन करते हैं। इनका मानना है कि राष्ट्रीय एकता, शक्ति, उन्नति और प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की सफलता के लिए 'एक राष्ट्र एक राज्य' आवश्यक है। इस अवधारणा का प्रमुख समर्थक **जॉन स्टुअर्ट मिल** है जिसने अपनी रचना **'प्रतिनिधि शासन'** में इसकी विस्तृत व्याख्या की है। **मिल लिखता है कि "सामान्यतः स्वतन्त्र संस्थाओं की यह आवश्यक शर्त है कि शासकीय सीमायें राष्ट्रीय सीमाओं के अनुरूप हों।"** "जहाँ राष्ट्रीयता की भावना किसी अंश तक जोरदार रूप में विद्यमान है वहाँ उस राष्ट्रीयता के सदस्यों को उन्हीं के एक पृथक् शासन के अधीन एकत्र कर देना चाहिए।" "जिस देश में भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताओं का मिश्रण है उसमें स्वतन्त्र संस्थाओं का अस्तित्व असम्भव है।" **रेम्जेम्यूर** का मत है कि "जब तक संसार के, विशेष कर यूरोप के राज्य, राष्ट्रीय आधार पर संगठित नहीं हो जाते तब तक शाँति और सुरक्षा विद्यमान नहीं रह सकती।" **अमरीका के राष्ट्रपति विलसन ने प्रथम महायुद्ध के काल में अपने भाषणों में राष्ट्रीय स्व-निर्णय के सिद्धान्त का समर्थन किया था। मैजिनी और नेपोलियन तृतीय** ने भी कहा था कि "राज्यीय एवं राष्ट्रीय सीमायें एक-दूसरे के अनुरूप होनी चाहिये।"

अवधारणा का विकास—राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा की उत्पत्ति 1815 की **वियना कांग्रेस** के समय हुई थी। परन्तु इसका विकास 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में अधिक हुआ। इसकी विशेषता यह है कि जहाँ यह "एकता स्थापित करने वाली शक्ति रही है" वहाँ यह एक विघटनकारी शक्ति भी रही है। **लार्ड कर्जन** ने 1923 में **लॉसेन शान्ति सम्मेलन** में कहा था कि "राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा दुधारी तलवार रही है। इसे कुछ अपवादों के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है।" इस सिद्धान्त ने जहाँ टर्की, सोवियत संघ, आस्ट्रिया, हंगरी जैसी प्राचीन राजनीतिक इकाइयों का विभाजन किया, वहाँ समान राष्ट्रीयता के आधार पर छोटे-छोटे राज्यों ने मिलकर जर्मनी और इटली जैसे राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद इस अवधारणा के आधार पर इस्टोनिया, लैटविया, लिथूआनिया और फिनलैण्ड आदि के बाल्टिक राज्यों का निर्माण हुआ और यूरोप में पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि राज्यों की स्थापना हुई। आधुनिक

समय में भी कभी-कभी इस सिद्धान्त की दुहाई दी जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के ग्यारहवें अध्याय में भी इस अवधारणा को मान्यता दी गई है। परन्तु, जैसाकि **जिमरन** ने कहा है "**इस आदर्श के मानने वाले आज बहुत कम मिलेंगे।**"

अवधारणा का मूल्याँकन—राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा के पक्ष और विपक्ष में दिये जाने वाले तर्क निम्न प्रकार से हैं—

A. पक्ष में तर्क—राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा के पक्ष में दिये जाने वाले प्रमुख तर्क निम्न हैं—

1. राष्ट्रीय उन्नति, सद्भावना और शक्ति की दृष्टि से इसका समर्थन किया जाता है। इसके समर्थकों का मत है कि राष्ट्रीय राज्य के नागरिकों में पारस्परिक सहयोग और सद्भावना स्वाभाविक होती है। उनमें बहु-राष्ट्रीय राज्यों की भाँति भाषा, क्षेत्र या अन्य आधारों पर संघर्ष की स्थिति नहीं होती। संकट के समय भी राष्ट्रीय राज्य अधिक सुदृढ़ और शक्तिशाली होते हैं। **लिप्सन** ने लिखा है कि "**मातृभूमि का प्रेम लोगों में उत्तम कार्य की प्रेरणा फूँक देता है।**"

2 प्रतिनिधि संस्थाओं की सफलता की दृष्टि से भी इसका समर्थन किया जाता है। यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय राज्यों में जनता के हित समान होने और विचारों का आदान-प्रदान सरल होने से प्रजातान्त्रिक संस्थायें अधिक सफलतापूर्वक कार्य कर सकती हैं परन्तु बहु-राष्ट्रीय राज्यों में हितों की भिन्नता होने से राष्ट्रीयताओं में प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न होती है जो अन्ततः संघर्ष को जन्म देती है। **मैकाइवर** का मत है कि "इसने हमारे आधुनिक प्रजातन्त्रों के लिए मार्ग-दर्शन किया है।"

3. स्वतन्त्रता के परिपत्र और साम्राज्यवाद के शत्रु की दृष्टि से भी इसका समर्थन किया जाता है। इसने राष्ट्रीय जन-समूहों में राष्ट्रीयता की भावनायें पैदा की हैं और उन्हें विदेशी साम्राज्यवादियों के चँगुल से छुटकारा दिलाया है। राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आधार पर ही इसका समर्थन किया था।

4. आन्तरिक और बाह्य शान्ति की दृष्टि से भी इसका समर्थन किया जाता रहा है। इससे राज्य के अन्दर अल्पसंख्यकों तथा उनके अधिकारों की समस्यायें उत्पन्न नहीं होतीं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी जाति या राष्ट्रीयता के नाम पर किसी दूसरे राज्य के क्षेत्र पर अनाधिकार चेष्टा नहीं की जाती। इससे आन्तरिक और बाह्य शान्ति की सम्भावना अधिक रहती है।

B. विपक्ष में तर्क—इसके विपक्ष में दिये जाने वाले प्रमुख तर्क निम्न हैं—

1. विघटनकारी प्रभाव—आलोचकों की धारणा है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यह अनेक राज्यों में विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देगी। इससे छोटे, आर्थिक दृष्टि से दुर्बल राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होगी।

2. नवीन समस्यायें—राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण अनेक समस्याओं को जन्म देता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और आर्थिक विकास के लिए हानिकारक है। यह

संकीर्ण राष्ट्रीय भावनाओं का विकास करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे की भावना के विपरीत होती है। संकीर्ण राष्ट्रीयता ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को जन्म दिया है। इसमें 'सामूहिक सुरक्षा 'को लागू करना कठिन हो जाता है। यह आर्थिक दृष्टि से कभी सक्षम इकाई नहीं हो सकता। आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त प्राकृतिक साधनों और तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है जो छोटी राजनीतिक इकाइयों के पास नहीं होता। राजनीतिक दृष्टि से बड़ी इकाइयाँ ह अधिक सुदृढ़ और कुशल होती हैं। छोटी इकाइयाँ सुरक्षा के प्रश्न को जटिल बना देती हैं। युद्ध, संघर्ष एवं अशान्ति के खतरे बढ़ जाते हैं। इसमें बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास नहीं हो पाता। विविध विचारों और संस्कृतियों के साथ रहने पर ही एक की कमी दूसरे द्वारा पूरी की जा सकती है।

3. बहुराष्ट्रीय राज्य स्वतन्त्रता और सभ्यता के पोषक हैं--राष्ट्रीय राज्य जाति और वंश पर अधिक बल देता है। इससे जहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना होती है वहाँ निरंकुश राज्यों की स्थापना का भी भय रहता है। नाजी जर्मनी में ठीक यही हुआ था। **जिमरन** का मत है कि "राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त हेनरी अष्टम या लूथर के राष्ट्रीय धर्म का रूप धारण करके स्वतन्त्रता का अन्त कर देगा।" **लार्ड एक्टन** ने लिखा है कि **"एक राज्य के अन्तर्गत अनेक राष्ट्रीयताओं का अस्तित्व उनकी स्वतन्त्रता की कसौटी ही नहीं, गारण्टी भी है। बहुराष्ट्रीय राज्य सभ्यता का एक प्रमुख साधन है।"** **ब्लंशली** ने लिखा है कि "राज्य में विविध विदेशी तत्वों के शामिल होने से विविधता आती है। इससे विदेशी राज्यों की जनता के साथ परस्पर अधिक घनिष्ठता एवं सम्पर्क स्थापित करने तथा उसे बनाये रखने में सहायता मिलती है।" **ब्लंशली** इसे 'सोने में सुहागा' कहता है।

समीक्षा प्रश्न

1. राष्ट्रवाद के अर्थ एवं तत्वों का परीक्षण कीजिए।
2. राष्ट्रीय स्व-निर्णय अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।
3. राष्ट्रीयता पर टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1986)

7

राज्य की प्रकृति-कानूनी, आंगिक एवं आदर्शवादी

(Nature of State-Legal, Organic and Idealistic)

परिचय जिस प्रकार राज्य शब्द के बारे में लेखकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं उसी प्रकार राज्य की प्रकृति के बारे में भी लेखकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। वस्तुतः प्रत्येक लेखक राज्य को अपने विचारों के अनुसार देखता है, उन्हीं के अनुसार उसे परिभाषित करता है तथा उसकी व्याख्या करता है। उदाहरणतः एक समाज शास्त्री राज्य को मुख्यतः एक सामाजिक घटना मानता है, एक इतिहासकार इसे ऐतिहासिक विकास का फल मानता है, एक नीतिशास्त्री इसे एक नैतिक संस्था मानता है, एक मनोवैज्ञानिक इसे मनोवैज्ञानिक संस्था मानता है, एक राजनीति शास्त्री इसे एक राजनीतिक समुदाय मानता है, एक कानूनशास्त्री इसे कानून की रचना करने वाली संस्था मानता है, आदि।

कानूनी सिद्धान्त

अर्थ—कानूनी सिद्धान्त की मान्यता है कि राज्य **"कानून का शिशु और पिता दोनों है।"** अर्थात् राज्य कानून की उत्पत्ति है और वह स्वयं कानून का निर्माता एवं स्रोत है। कानून प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र का प्रतीक है। वे ही बातें वैध एवं नैतिक हैं जिन्हें कानून स्वीकृति प्रदान करता है। राज्य कानून का संरक्षक है। राज्य के कार्यों का आधार कानून है। कानून राज्य की संस्थाओं और नागरिक अधिकारों को निश्चित करता है तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है।

कानून के सम्बन्ध में लेखकों के विचारों में भिन्नता है। **जॉन ऑस्टिन एवं हालैंड जैसे विश्लेषणात्मक स्कूल के समर्थक** राज्य को ऐसी संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य कानून का निर्माण करना, उसकी व्याख्या करना तथा उसे लागू करना है। राज्य कानून द्वारा कार्य करता है। विश्लेषणात्मक स्कूल के विधि-वेत्ता राज्य को कानून का एक मात्र स्रोत मानते हैं। **सर हेनरी मेन और सेविगनी जैसे ऐतिहासिक स्कूल के समर्थक** राज्य को कानून का स्रोत मानते हैं, परन्तु उनकी धारणा है कि

कानून राज्य का आदेश मात्र नहीं वल्कि इसका ऐतिहासिक विकास हुआ है। ऐतिहासिक स्कूल के समर्थक रीति-रिवाजों, रूढ़ियों एवं परम्पराओं को कानून का स्रोत मानते हैं। ड्ग्वी और क्रेव जैसे समाजशास्त्रीय स्कूल के समर्थकों की मान्यता है कि कानून राज्य के अस्तित्व से पूर्व विद्यमान था। ये लेखक कानून को राज्य इच्छा से परे एवं स्वतन्त्र मानते हैं। इनके लिए "सार्वजनिक सुदृढ़ता" की भावना कानूनों का आधार है।

राज्य का कानूनी व्यक्तित्व (The Legal Personality of the State)—क्या राज्य का कोई 'कानून व्यक्तित्व' है अर्थात् क्या राज्य को कानूनी दृष्टि से एक व्यक्ति माना जा सकता है जो व्यक्ति की भाँति चेतन है तथा जिसकी अपनी कोई इच्छा है? मध्य युग के वकीलों ने चर्च आदि संस्थाओं को "कृत्रिम व्यक्ति" का रूप दिया था, परन्तु **19वीं शताब्दी** के वकीलों ने पहली वार राज्य को "कानूनी व्यक्ति" या कृत्रिम व्यक्ति का स्वरूप प्रदान किया था। इसके प्रमुख समर्थक थे—स्टाल, स्टीन, गर्बर, गिर्के, ट्रीश्चे, ब्लंशली, जैलिनिक आदि। **गिर्के** का मत है कि राज्य तथा चर्च जैसी अन्य मानवीय संस्थायें केवल काल्पनिक व्यक्ति ही नहीं वल्कि वास्तविक व्यक्ति हैं क्योंकि उनका एक शरीर होता है और उनके घटक होते हैं, उनमें अपनी इच्छा शक्ति होती है और वे एक प्राकृतिक व्यक्ति की भाँति कार्य कर सकती हैं। **ब्लंशली** राज्य को परम "श्रेष्ठ व्यक्ति" मानता है। **ब्लंशली** की धारणा है कि "राज्य की अपनी कानूनी इच्छा होती है जो निवासियों की सामूहिक इच्छा से भिन्न होती है। राज्य में अपनी इच्छाओं को शब्दों एवं कार्यों में व्यक्त करने की शक्ति होती है और वह अधिकारों का जनक एवं उपभोक्ता होता है। राज्य का व्यक्तित्व न तो कानूनी कल्पना है और न कोई रूपक ही है वल्कि यह वास्तविक है।" कानूनी सिद्धान्त के समर्थकों की यह धारणा है कि राज्य के हित एवं अधिकार उसकी प्रजा या राष्ट्र के हितों एवं अधिकारों से भिन्न हैं। राज्य एक स्थायी एवं सनातन संस्था है। यह केवल वर्तमान प्रजा के हितों एवं हस्तियों का ही संरक्षक नहीं वल्कि भावी सन्तानों का भी रक्षक है। इसके हित किसी युग विशेष के हितों से भिन्न हो सकते हैं।

आलोचना—कानूनी सिद्धान्त कटु आलोचना का पात्र रहा है। **ड्ग्वी और लेफर** इसके प्रमुख आलोचक रहे हैं। **ड्ग्वी** का मत है कि "राज्य व्यक्तित्व की कल्पना एक आध्यात्मिक भावना तथा पुरातन विद्वानों के विचारों पर निर्भर करती है जिसका कोई मूल्य नहीं।" **गार्नर** इसे **"अवैज्ञानिक"** मानता है। **लेफर** इसे **"कल्पना"** कहता है। **ड्ग्वी के शब्दों में, "राज्य इच्छा वस्तुतः केवल उन लोगों की इच्छा है जो शासन करते हैं।"** लेफर ने कहा है कि **"राज्य के अधिकारों की वात करना शासकों के अधिकारों की वात करने के समान है।"** आज के अधिकांश विधि-वेत्ताओं की धारणा है कि जब राज्य के व्यक्तित्व की बात कही जाती है तो उसका केवल यह अर्थ है कि राज्य एक ऐसी सर्वोच्च सामूहिक संस्था है जिसकी

सामूहिक इच्छा, सामूहिक कार्य करने की शक्ति और सामूहिक कानूनी क्षमता है। यह सामूहिक इच्छा एवं शक्ति व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छा और शक्ति से भिन्न होती है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के वाद भी कानूनी सिद्धान्त राज्य के स्वरूप को स्पष्ट करता है तथा उसे समझने में सहायक है। विशेषकर उस स्थिति में जब राज्य सम्पत्ति को खरीदता एवं बेचता है या वह किसी व्यक्ति पर मुकदमा चलाता है या उस पर कोई व्यक्ति मुकदमा चलाता है।

आंगिक (सावयव) सिद्धान्त

अर्थ—**सावयव सिद्धान्त को आंगिक एवं जीवधारी सिद्धान्त भी कहते हैं।** यह सिद्धान्त कानूनी सिद्धान्त और सामाजिक समझौते की "कृत्रिम" धारणा दोनों को अस्वीकार करता है। इसके लिए राज्य एक वास्तविक व्यक्ति है जिसके अंग एक जीवधारी व्यक्ति अथवा वृक्ष के समान कार्य करते हैं। **यह एक प्राणी-वैज्ञानिक भावना है जिसके अनुसार राज्य को एक जीवधारी व्यक्ति माना जाता है।** यह राज्य के व्यक्तियों को जीवधारी के कोष्ठों के समान मानता है। इसका मत है कि राज्य और व्यक्ति एक-दूसरे पर ठीक वैसे ही निर्भर करते हैं जिस प्रकार शरीर और उसके अंग एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। इस सिद्धान्त के कुछ समर्थक राज्य में जीवधारी के समान ही रक्त-नाड़ियों, रक्त-संचालन, मस्तिष्क, स्नायु, नाड़ी-मण्डल, माँस-पेशियों, उदर, उरू, नासिका, केश-कलाप तथा नाखूनों तक की कल्पना करते हैं। दूसरे शब्दों में, इसके समर्थकों की मान्यता है कि जिस प्रकार घटक शरीर से पृथक् होकर जीवित नहीं रह सकते और उनका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, उसी प्रकार समाज से पृथक् रहकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकते और उनकी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।

सावयव सिद्धान्त की मान्यता है कि जिस प्रकार शरीर सरलता से जटिलता की ओर विकसित होता है उसी प्रकार राज्य भी सरलता से जटिलता की ओर विकसित होता है।

सावयव सिद्धान्त के लेखक एवं व्याख्या—सावयव सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन पुराना है। **जैलिनिक** ने कहा है कि 'सावयव सिद्धान्त सबसे पुराना और प्रसिद्ध" सिद्धान्त है। प्राचीन समय में इसके समर्थक थे—**प्लेटो, सिसरो**; मध्य युग में इसके समर्थक थे **सन्त थॉमस, जॉन ऑफ सेलिसबरी, मार्सिगलियो ऑफ पडुआ** आदि। **मैकियावली** और **हॉब्स** इसके समर्थक रहे हैं। **ब्लंशली और हर्बर्ट स्पेन्सर** इसके प्रमुख समर्थकों में से हैं।

प्लेटो ने राज्य की तुलना एक महान् आकार के व्यक्ति से की है। **सिसरो** का मत है कि "जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है, उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर पर राज्य का प्रमुख शासन करता है।" **हॉब्स** राज्य को एक विशाल

दैत्य (लेविग्राथन) मानता है जो एक कृत्रिम मानव है और जो आकार एवं शक्ति में प्राकृतिक व्यक्ति से बड़ा है।

ब्लंशली राज्य को "मानव शरीर की प्रतिमूर्ति" मानता है। उसकी धारणा है कि प्रत्येक के अपने-अपने अंग, कार्य तथा जीवन-प्रक्रियायें हैं और मानव शरीर तथा राज्य की इन सब बातों में समानता है। उसके लिए राज्य कोई "जीवन रहित कृत्रिम यन्त्र नहीं बल्कि सजीव आत्मा है।" ब्लंशली ने लिखा है कि **"जिस प्रकार एक तैल-चित्र, तैल-बिन्दुओं से अधिक कुछ और है, मूर्ति संगमरमर के प्रस्तर खण्डों के समूह मात्र से अधिक कुछ और भी है, उसी प्रकार राष्ट्र नागरिकों, व्यक्तियों के समूह मात्र और बाह्य नियमों के समूह से अधिक कुछ और भी है।"**

हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपनी रचना "समाजशास्त्र के सिद्धान्त" में सावयव सिद्धान्त की व्याख्या की है। इसमें स्पेन्सर ने समाज तथा जीवधारी के शरीर में निम्न समानताओं और असमानताओं का उल्लेख किया है --

A. समानतायें—मानव शरीर और राज्य शरीर में मुख्य समानतायें निम्न हैं—

(i) मानव शरीर और राज्य शरीर का आरम्भ कीटाणुओं अर्थात् जीवाणुओं से होता है।

(ii) विकास के साथ-साथ अनके आकार में वृद्धि होती है और वे एक-दूसरे से अधिकाधिक असमान होते जाते हैं और उनमें रचना सम्बन्धी जटिलता बढ़ती जाती है।

(iii) जटिलता पारस्परिक निर्भरता को जन्म देती है जो श्रम विभाजन को जन्म देता है। प्रत्येक अंग अपने कार्य को दूसरे अंगों की निरोगता और सुरक्षा के लिए करता है। जिस प्रकार शरीर के घटकों द्वारा ठीक प्रकार कार्य न करने से शरीर को हानि पहुँचती है उसी प्रकार समाज में यदि लुहार अपना कार्य न करे, खान खोदने वाला अपना काम बन्द कर दे, किसान अन्नोत्पादन न करे और व्यापारी अन्न-वस्त्र का वितरण ठीक से न करे तो पूरे समाज को हानि होती है।

(iv) जिस प्रकार शरीर में पुराने कोष तथा रक्ताणु धीरे-धीरे नष्ट होते हैं और नये कोष तथा रक्ताणु जन्म लेते हैं उसी प्रकार राज्य में व्यक्ति मरते व जन्म लेते हैं और राज्य का संगठन सदा बना रहता है।

(v) जिस तरह घटकों की अपेक्षा मूल शरीर का जीवन लम्बा होता है उसी प्रकार राज्य का जीवन उसके घटकों से (व्यक्तियों, समुदायों और संस्थाओं से) लम्बा होता है।

संक्षेप में, स्पेन्सर मानव शरीर और राज्य शरीर में समानता देखता है। स्पेन्सर लिखता है कि जिस प्रकार मानव शरीर में पोषण एवं अन्न-पाचन क्रिया होती है उसी प्रकार समाज में उत्पादन होता है अर्थात् दोनों में **निर्वाह व्यवस्था होती** है। जिस प्रकार मानव शरीर में रक्तवाहिनी होती है उसी प्रकार समाज में याता-

यात के साधन होते हैं अर्थात् दोनों में 'वितरण व्यवस्था' होती है। जिस प्रकार स्नायु मण्डल काम करता है उसी प्रकार राज्य में शासन एवं सेना होती है अर्थात् दोनों में 'नियामक व्यवस्था' होती है।

B. असमानतायें—स्पेन्सर ने मानव शरीर और राज्य शरीर में मुख्यतः निम्न असमानतायें बताई हैं :

(i) मानव शरीर के अंग एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं, परन्तु समाज की इकाइयाँ अर्थात् घटक (व्यक्ति) एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं बिखरे हुए होते हैं।

(ii) मानव शरीर में चेतना एक छोटे से भाग में केन्द्रित होती है, परन्तु समाज में वह सर्वत्र व्याप्त होती है। वस्तुतः समाज शरीर में चेतन केन्द्र का अभाव होता है।

आलोचना—निस्सन्देह मानव शरीर और समाज शरीर में कुछ समानतायें पाई जाती हैं, परन्तु समाज को मानव शरीर मान लेना गलत है। इन दोनों में समानता केवल ऊपरी है। दोनों में निम्न भिन्नतायें पायी जाती हैं—

1. चेतना का भेद—मानव शरीर के कोष्ठ यान्त्रिक टुकड़े मात्र हैं। उनका कोई अपना स्वतन्त्र जीवन नहीं है। उनका स्थान निश्चित है। उनमें विचार एवं इच्छा शक्ति का अभाव है। उनका केवल एक कार्य हैं कि वे अपने कार्यों को पूरा कर शरीर को स्थायी बनाये रखें। दूसरी ओर, राज्य के घटक अर्थात् व्यक्ति यान्त्रिक टुकड़े मात्र नहीं। वे बौद्धिक एवं नैतिक प्राणी हैं। उनमें अपनी इच्छा है, दूरदर्शिता है, उनका स्थान निश्चित नहीं। वे इधर-उधर आ-जा सकते हैं। उनमें आत्म-संयम का गुण है। राज्य के घटक (व्यक्ति) चेतनशील प्राणी हैं।

2. पृथक् अस्तिव का भेद—मानव शरीर या वनस्पति के अंग शरीर से इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए होते हैं कि उनका शरीर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं होता। किसी घटक के शरीर से पृथक् होने पर उसका अस्तित्व खत्म हो जाता है। दूसरी ओर, राज्य के घटकों (व्यक्तियों) का अस्तित्व राज्य से पृथक् रह कर भी सम्भव है। वे पृथक् होकर व्यक्ति तो रहते हैं।

3. विकास और परिवर्तन का भेद—मानव शरीर का विकास होता है जबकि राज्य का परिवर्तन होता है। मानव शरीर का विकास उसकी भीतरी क्रियाओं के कारण होता है जबकि राज्य का विकास बाह्य शक्तियों अर्थात् व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति और उनके चेतन कार्य का परिणाम होता है। शरीर का विकास प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है। शरीर के घटकों में यह क्षमता नहीं होती कि वे शरीर वृद्धि तथा विकास की गति को बदल दें या उसके आधार में कुछ जोड़ दें। दूसरी ओर, राज्य के घटक (व्यक्ति) राज्य की वृद्धि एवं विकास की गति को बदल सकते हैं और उसमें कुछ जोड़ सकते हैं। जैलिनिक ने ठीक लिखा है कि **"विकास, वृद्धि एवं मृत्यु राज्य जीवन की आवश्यक क्रिया नहीं है।"**

4. सर्वसत्तावाद का पोषक—सावयव सिद्धान्त ने उन सिद्धान्तों को जन्म दिया है जिन्होंने राज्य को निरंकुश एवं सर्वसत्तावादी शक्तियाँ प्रदान की हैं। इस सिद्धान्त ने राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन बना दिया है। इसमें नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं। जैलिनिक ने कहा है कि "मानव शरीर सम्बन्धी तुलना के सिद्धान्त को पूर्णतः अस्वीकार कर देना चाहिए नहीं तो इसमें जो कुछ सत्य है, उपमाओं के असत्य द्वारा उसके छिप जाने का खतरा है।"

मूल्यांकन—उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी सावयव सिद्धान्त निराधार नहीं। यह अठारहवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध, जो राज्य को केवल कृत्रिम यन्त्र मानती है, प्रतिक्रिया थी। इसमें राज्य की एकता तथा व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता पर बल दिया गया है। इसने इस बात पर बल दिया है कि मानव अकेले सभ्य-जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इसने इस बात की शिक्षा दी है कि "राज्य एक दिन के चमत्कार का तात्कालिक फल नहीं बल्कि यह सतत् प्रयासों का परिपक्व फल है।" इसने बताया है कि राज्य का मानव शरीर या वनस्पति की भांति क्रमिक विकास हुआ है, निर्माण नहीं हुआ। यह राज्य के ऐतिहासिक एवं विकासवादी दृष्टिकोण की सत्यता को प्रमाणित करता है तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों को अवांछनीय मानता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त

आदर्शवादी सिद्धान्त के विविध नाम—राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त को विविध नामों से जाना जाता है। यह सिद्धान्त राज्य को निरपेक्ष शक्तियों से विभूषित करता है अतः इसे **निरपेक्षतावादी सिद्धान्त** भी कहते हैं। यह राज्य को सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी एवं अभ्रान्त मानता है अतः इसे **सर्वसत्तावादी सिद्धान्त** भी कहते हैं। यह राज्य के आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत करता है अतः इसे **दार्शनिक सिद्धान्त** भी कहते हैं। यह राज्य को रहस्यमयी एवं देवतुल्य सीमाओं तक पहुँचा देता है अतः इसे **रहस्यवादी सिद्धान्त** भी कहते हैं।

अर्थ—आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को देवतुल्य मानता है। जैसा कि हीगल ने कहा है कि **"राज्य पृथ्वी पर ईश्वरीय स्वरूप है।"** इसके लिए **राज्य सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, निरंकुश, अभ्रान्त, न्यायी, नैतिक मापदण्डों का स्रष्टा व लोकपाल है। इसके लिए राज्य साध्य और व्यक्ति उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन मात्र है।** राज्य का विरोध अधर्म है। इसके लिए जो यथार्थ है वह तर्कसंगत है और जो तर्क संगत है वह यथार्थ है। इसकी मान्यता है कि राज्य का अपना व्यक्तित्व और अस्तित्व है जो उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व और अस्तित्व से भिन्न और पृथक् है जिनसे मिलकर राज्य बनता है। राज्य की अपनी इच्छा है, अपने हित एवं अधिकार है, सदाचार के अपने नियम हैं जो व्यक्तियों की इच्छाओं, हितों, अधिकारों एवं नियमों से भिन्न हैं। **राज्य समस्त सभ्यता एवं प्रगति का आदि स्रोत**

है। जैसाकि **मुसोलिनी** ने कहा है कि "**राज्य व्यक्ति के ऐतिहासिक अस्तित्व की सर्वव्यापी आत्मा एवं इच्छा है।**"

आदर्शवादी सिद्धान्त के लेखक—आदर्शवादी सिद्धान्त के दो प्रकार के लेखक हैं। एक–हीगल, ट्रीश्चे, नित्श्चे, बर्नहार्डी इसके उग्र रूप के समर्थक हैं; दूसरे–काण्ड, टी. एच. ग्रीन, बोसांके, ब्रेडले आदि इसके उदार रूप के समर्थक हैं। उग्र आदर्शवादी तथा उदार आदर्शवादी दोनों राज्यों को साध्य मानते हैं। इनमें अन्तर यह है कि जहां उग्र आदर्शवादी राज्य रूपी देवी पर व्यक्ति का पूर्ण बलिदान कर देते हैं वहां उदार आदर्शवादी राज्य को साध्य एवं श्रेष्ठ मानते हुए भी उसका दैवीकरण नहीं करते और राज्य पर व्यक्ति का पूर्ण बलिदान नहीं करते। टी. एच. ग्रीन जैसे उदार आदर्शवादी प्रतिरोध को खतरनाक मानते हुए भी राज्य के पथभ्रष्ट अर्थात् अत्याचारी होने पर व्यक्ति को प्रतिरोध का अधिकार देते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त की व्याख्या : प्लेटो तथा अरस्तू—प्लेटो सभी आदर्शवादियों का पिता है। उसने अपनी रचना **रिपब्लिक** में आदर्श राज्य का चित्रण किया है। अरस्तू भी एक आदर्शवादी विचारक है। दोनों राज्य को स्वाभाविक एवं आवश्यक संस्था मानते हैं। अरस्तू का मत है कि "राज्य का उद्भव जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ परन्तु उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।

प्लेटो और अरस्तू दोनों के लिए राज्य अपने सर्वोच्च रूप में एक नैतिक संस्था है। "सच्चा राज्य एक सद्गुण सम्पन्न जीवन की साझेदारी है।" दोनों राज्य और समाज की व्यावहारिक एकरूपता में विश्वास करते हैं। सामुदायिक प्रवृत्ति मनुष्य का स्वाभाविक गुण है जिसका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप राज्य है। प्लेटो की धारणा है कि राज्य की उत्पत्ति "मानव आत्मा" से होती है। वह राज्य को व्यक्ति के विस्तृत स्वरूप की अभिव्यक्ति मानता है। **प्लेटो ने कहा है कि "राज्य वृक्षों या चट्टानों से उत्पन्न नहीं होते। ये व्यक्तियों के चरित्र से निर्मित होते हैं जो उनमें निवास करते हैं।"**

प्लेटो और अरस्तू दोनों की मान्यता है कि राज्य के अन्दर ही मनुष्य सदाचारी एवं नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। अरस्तू के अनुसार राज्य "**नैतिक जीवन में आध्यात्मिक समुदाय है।" बार्कर** ने लिखा है कि "विद्यार्थियों की अनेक पीढ़ियों ने प्लेटो और अरस्तू से आदर्शवाद के सम्बन्ध में अनेक बातें सीखी हैं। इसमें प्रमुख ये हैं; स्वभावत: मनुष्य राजनीतिक समुदाय का सदस्य होता है, सच्चा राज्य नैतिक जीवन की व्यवस्था करता है, कानून द्वारा विशुद्ध एवं निष्पक्ष बुद्धि की अभिव्यक्ति होती है और व्यक्ति के लिए अच्छा जीवन समुदाय के सदस्य के रूप में अपने कर्त्तव्यों का उचित पालन करना है।"

रूसो—आधुनिक युग में रूसो की 'सामान्य इच्छा' में आदर्शवादी दर्शन की झलक मिलती है। रूसो के लिए "राज्य अपनी प्रकृति में एक जीवित प्राणी की

तरह है। उसका अपना व्यक्तित्व है और अपनी इच्छा है। यही इच्छा सामान्य इच्छा है जो समाज के सभी सदस्यों की उच्च, आदर्श, नैतिक एवं श्रेष्ठ इच्छाओं का निचोड़ है।"

हीगल—हीगल उग्र आदर्शवादियों का पिता है। उसके लिए राज्य सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, त्रिकालदर्शी, अभ्रान्त, निरंकुश, न्यायी, नैतिक, मापदण्डों का स्रष्टा एवं लोकपाल है। उसके लिए राज्य "नैतिक भावना की यथार्थता है" 'वह मानव की तात्विक तथा प्रत्यक्ष एवं आत्म-चेतन इच्छा शक्ति है जो अपने ज्ञान अथवा ज्ञान के अनुपात के अनुरूप सोचता है, अपने आपको जानता है और कर्म करता है।" हीगल के लिए राज्य एक "पूर्ण विवेक" है और वह स्वयं ही निरपेक्ष स्थिर साध्य है", क्योंकि राज्य 'वस्तुगत विवेक अथवा आत्मा है, इसलिए मानव में जो वास्तविक मानवता एवं नैतिकता के गुण हैं वे उसके राज्य के सदस्य होने के कारण हैं। राज्य के अन्तर्गत वह अपनी बृहत्तर स्वाधीनता को वास्तविक बना सकता है और प्राप्त कर सकता है। उसकी सेवा स्वतन्त्रता की देवी की पूजा है। मानव पर उसके अधिकार सर्वोच्च हैं। संक्षेप में, अपने पूर्ण एवं विकसित रूप में मानव ही राज्य है।

हीगल के लिए राज्य पृथ्वी पर ईश्वरीय स्वरूप है। वह 'दैवी भावना' है, "वह संसार की वास्तविक आकृति एवं संगठन के रूप में अभिव्यक्त होती हुई दैवी इच्छा है।" इस तरह उसके आदेशों की अनुपालना मानो ईश्वर के आदेशों की अनुपालना है। जैसाकि ट्रीश्चे ने कहा है, "व्यक्तियों का एक ही कर्त्तव्य है—राज्य के समक्ष नतमस्तक होकर उसकी पूजा करना।"

हीगल के लिए राज्य सावयव प्राणी है जिसका अपना व्यक्तित्व एवं अस्तित्व है, अपनी इच्छा है जो व्यक्तियों के व्यक्तित्व का योग मात्र नहीं अपितु उससे परे उसका अपना पृथक् अस्तित्व है। राज्य पूर्ण इकाई है और अपने घटकों से बड़ा है।

हीगल के लिए राज्य नैतिक पूर्णता एवं स्वतन्त्रता का दाता है। राज्य के अन्दर व्यक्ति स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। "इच्छा शाश्वत है, सर्वव्यापी है।" यह स्वयं जीवधारी है, यह स्वयं सोचती-समझती है, यह स्वयं निर्णय लेती है। "स्वतन्त्रता इच्छा का सार तत्त्व है।" हीगल ने कहा है कि "इच्छा का विचार स्वतन्त्र इच्छा है, जो स्वतन्त्र इच्छा की इच्छा करती है।"

हीगल और नित्श्चे, ट्रीश्चे एवं बर्नहार्डी जैसे लेखकों के लिए "राज्य शक्ति है।" राज्य का प्रथम कर्त्तव्य अपने-आपको शक्तिशाली बनाना है। शक्ति के लिए युद्ध अनिवार्य है। हीगल ने कहा है कि "जब राज्यों की विशिष्ट इच्छाओं पर कोई समझौता नहीं हो सकता तो विवाद का निर्णय युद्ध द्वारा किया जा सकता है।" हीगल का विश्वास है कि राष्ट्रीय व्यक्तित्व को स्थापित करने एवं उसे स्थायी बनाने के लिए युद्ध कोई अशुभ घटना नहीं बल्कि यह एक अनिवार्य तत्त्व है। जैसाकि हीगल ने कहा है कि "युद्ध निरपेक्ष बुराई नहीं", "युद्ध स्वयं में सद्गुणी क्रिया है।"

हीगल की धारणा है कि सभी अवसरों पर, विशेषतः युद्धकाल में राज्य अपने नागरिकों पर पूर्ण अधिकार का प्रयोग कर सकता है। राज्य अपने नागरिकों को अपने प्राण त्यागने के लिए कह सकता है।

ग्रीन—टी. एच. ग्रीन उदार आदर्शवादियों का पिता है। काण्ट और ग्रीन ने राज्य को आदर्शवादी बताते हुए भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को लोप नहीं होने दिया। **ग्रीन** ने आदर्शवाद के संयमित रूप को प्रस्तुत किया है। उसके लिए राज्य न तो पूर्ण है, न सर्वशक्तिमान और न ही स्वेच्छाचारी। उसकी शक्ति आन्तरिक एवं बाह्य दोनों दृष्टियों से सीमित है और राष्ट्र का अस्तित्व उसी रूप में है जिस प्रकार राष्ट्र के भीतर व्यक्तियों का रूप है।

ग्रीन युद्ध में नहीं अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे में विश्वास करता है। वह युद्धों का तिरस्कार करता है। उसके लिए युद्ध श्रेष्ठ राज्य का चिन्ह नहीं, यह अपूर्ण राज्य का चिन्ह है। उसकी धारणा है कि युद्ध व्यक्तियों के स्वतन्त्र जीवन में बाधा डालता है। **ग्रीन** अच्छी से अच्छी स्थिति में युद्ध को निर्दय आवश्यकता मानता है अर्थात् युद्ध एक ऐसी बुराई है जो दूसरी बुराई का समाधान करती है।

ग्रीन बेन्थम के इस कथन से सहमत नहीं कि "अधिकार विधि की उपज है।" ग्रीन के अनुसार, "अधिकार नैतिकता की उपज है।" ग्रीन लिखता है कि "सामान्य नैतिक चेतना अधिकारों की उत्पत्ति करती है, कानूनों की उत्पत्ति करती है जिनके द्वारा ये अधिकार स्थायी रखे जाते हैं और इसी के द्वारा उस सम्प्रभु या राज्य की उत्पत्ति होती है जिसका उद्देश्य उन कानूनों की घोषणा करना तथा उन्हें लागू करना है।" **ग्रीन** लिखता है कि "मानव जीवन की संस्थाओं का मूल्य (नैतिक) इच्छा और विवेक की शक्तियों को वास्तविकता प्रदान करने में है।"

ग्रीन की धारणा है कि राज्य का कर्त्तव्य नैतिक एवं वास्तविक स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। इस दृष्टि से राज्य का उद्देश्य सुधारात्मक है और उसे अज्ञानता, दरिद्रता एवं मद्यपान की बुराइयों को दूर करना चाहिये। संविदा की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है, परन्तु उसका यह भी कर्त्तव्य है कि संविदा एक पक्षीय न हो।

कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में अर्थात् जब राज्य पथभ्रष्ट हो जाता है तो ग्रीन व्यक्ति को राज्य का प्रतिरोध करने का अधिकार देता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की मूल विशेषतायें—राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त की मूल विशेषतायें निम्न हैं—

1. राज्य साध्य है, व्यक्ति साधन।
2. राज्य व्यक्ति का व्यापक रूप है।
3. राज्य एक नैतिक संस्था है।

4. राज्य पृथ्वी पर ईश्वरीय स्वरूप है। राजाज्ञाओं की अनुपालना करना व्यक्ति का धर्म है, अवज्ञा अधर्म है।

5. राज्य और समाज में कोई भेद नहीं। राज्य समाज का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

6. राज्य स्वतन्त्र इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के अन्दर है, बाहर नहीं।

7. व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं। ग्रीन अत्यन्त सीमित अर्थों में व्यक्ति के प्रतिरोध के अधिकार को स्वीकार करता है।

8. राज्य का कर्त्तव्य इच्छा और नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है।

9. अधिकार सामान्य चेतना की उपज है, प्रकृति या विधि की नहीं।

10. युद्ध सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। परन्तु ग्रीन युद्ध को अपूर्ण राज्य का चिन्ह और निर्दय आवश्यकता मानता है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है। यथार्थवादी स्कूल के लेखकों, विशेषकर एम. ड्विग्वी और समाजशास्त्रियों, विशेषकर डॉ. एल. टी. हाब्सहाउस ने इसकी कटु आलोचना की है। लास्की, मैकाइवर, सी. ई. एम. जोड़ आदि ने भी इसकी आलोचना की है। आलोचकों के अनुसार "**यह सिद्धान्त सिद्धान्त रूप में निराधार है, तथ्यों के प्रति झूठा और विदेश नीति में अनिष्टकारी एवं भयनक है।**" आलोचकों ने इसे मिथ्या बताया है और इसके दार्शनिक तर्कों और अनुमानों का खण्डन किया है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. **निरंकुश**—आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को साध्य मानता है और व्यक्ति को साधन। इसने राज्य रूपी देवी के आगे व्यक्ति का पूर्ण बलिदान कर दिया है। यह शुद्ध निरपेक्ष आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो राज्य को सर्वशक्तिमान, स्वेच्छाचारी एवं दैवी शक्तियाँ प्रदान करता है।

2. **स्वतन्त्रता विरोधी**—यह सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य रूपी देवी पर बलिदान कर देता है। यह व्यक्ति को राज्य के कार्यों की जांच करने का अधिकार नहीं देता। इसका कहना है कि राज्य कोई भूल नहीं करता। यह नैतिक मानदण्डों का स्रष्टा है। परन्तु राज्य द्वारा प्रदत्त नैतिकता कोई नैतिकता नहीं होती। हीगल के चिन्तन पर टिप्पणी करते हुए हाब्सहाउस ने कहा है कि "स्वतन्त्रता और कानून को एक बताकर हीगल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को कुण्ठित कर दिया है, समानता के स्थान पर अनुशासन को स्थापित करके, व्यक्ति को राज्य में विलीन करके तथा राज्य को मानवीय संस्था का सर्वोच्च विकास मान कर मानवता का विनाश कर दिया है।"

3. अनुदारवादी - आलोचक इस कथन को स्वीकार नहीं करते कि राज्य की इच्छा के अन्तर्गत व्यक्ति की इच्छा शामिल है। **लास्की** ने कहा है कि "राज्य की इच्छा सरकार की इच्छा है और सरकार कुछ व्यक्तियों का समूह है। आदर्श राज्य की स्थापना स्वर्ग में की जा सकती है। पृथ्वी पर ऐसे राज्य की स्थापना नहीं होती।" आदर्शवादियों ने सिर्फ इस बात को बताने का प्रयास किया है कि राज्य कैसे होने चाहिए, उन्होंने यह बताने का प्रयास नहीं किया कि राज्य कैसे हैं। यह सिद्धान्त सुधारों का स्रोत बनने के स्थान पर अनुदारवादी सिद्धान्त बन गया है। यह सभ्यता की वर्तमान दशा का समर्थक है।

4. राज्य समाज नहीं—आदर्शवादी राज्य और समाज को एक मानते हैं। परन्तु यह असत्य है। राज्य और समाज भिन्न हैं। **मैकाइवर** ने कहा है कि "राज्य समाज में विद्यमान होता है, परन्तु समाज का रूप तक नहीं होता।" राज्य समाज का एक अंग है, वह पूर्ण समाज नहीं। समाज में व्यक्ति के जीवन के सभी पहलू—आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक आदि—आ जाते हैं। राज्य तो केवल एक ही पहलू—राजनीतिक—से सम्बन्धित है। राज्य परिवार नहीं, राज्य चर्च नहीं। **हाब्सहाउस** ने कहा है कि "समुदाय स्व-आलोचना की प्रक्रिया से उत्पन्न, विकसित एवं परिवर्तित होते हैं, वे राज्य के आदेश से उत्पन्न नहीं होते।"

मैकाइवर और जिन्सबर्ग जैसे लेखक आदर्शवाद को कोरी कल्पना मात्र मानते हैं। इनका मत है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व से पृथक् राज्य का कोई व्यक्तित्व या इच्छा नहीं। **मैकाइवर** ने लिखा है कि "जिस प्रकार विद्यार्थियों के समूह से किसी नये विद्यार्थी की उत्पत्ति नहीं होती या पशुओं का रेवड़ स्वयं पशु नहीं होता, उसी प्रकार राज्य व्यक्तियों का समूह अवश्य है, परन्तु वह स्वयं व्यक्ति नहीं है।"

5. व्यक्ति विवेक और मनोवेग का पुतला है—आलोचक आदर्शवादी स्कूल के बुद्धिवाद की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि आदर्शवादी "सचेत इच्छा और "तर्कयुक्त मस्तिष्क" पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। वे भूल जाते हैं कि इच्छा और विवेक का क्षेत्र होते हुए भी व्यक्ति मनोवेगों, मनोभावों और प्रेरणाओं से कार्य करते हैं। व्यक्ति दूसरों का अनुकरण करते हैं। वे अपनी भावनाओं एवं आदतों को दूसरों से सीखते हैं। **मैक्डूगल और ग्राहम वालास** आदर्शवादी सिद्धान्त को "नंगा एवं तुच्छ" कहते हैं।

मूल्यांकन—आदर्शवादी सिद्धान्त की जो आलोचनायें की गयी हैं वे अतिशयोक्तिपूर्ण हैं और सिद्धान्त को गलत समझकर की गई हैं। जैसाकि **गार्नर** ने कहा है कि "जहां तक आदर्शवादियों ने राज्य के गौरव का गान किया, उसे समस्त मानव संस्थाओं में ऊँचा उठाया और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए उसकी अनिवार्यता को स्वीकार किया और यह कहा कि इस कारण नागरिकों को राज्य के

प्रति भक्ति रखनी चाहिये और राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उनसे बलिदान की आशा कर सकता है, राज्य ही कानून तथा अधिकारों आदि का स्रोत है और राज्य ही में व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति कर सकते हैं और उसके बिना मानव प्रगति तथा सभ्यता का विकास असम्भव है, वहाँ तक यह सिद्धान्त सर्वथा उचित और अनिन्दनीय है।" आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य के आदर्श रूप को प्रस्तुत करता है और वर्तमान राज्यों को उसके अनुरूप बनने तथा पूर्णता को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा देता है।

समीक्षा प्रश्न

1. "राज्य की प्रकृति का सावयव सिद्धान्त न तो राज्य के स्वरूप की पूर्ण व्याख्या करता है और न इसके कार्यों को ठीक प्रकार से बतलाता है।" इस की समीक्षा कीजिये। (Raj. Suppl. 79)
2. राज्य की प्रकृति के सावयव सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। (Raj. 1982, Suppl. 1984)
3. राज्य के सावयव सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए। इसकी सीमाओं को भी इंगित कीजिए। (Raj. 1980)

8

राज्य का उदय-समझौतावादी एवं ऐतिहासिक सिद्धान्त

(Origin of State—Contractual and Historical Theories)

परिचय—राज्य की उत्पत्ति कव और कैसे हुई, यह राजनीति शास्त्र की एक कठिन एवं विवादास्पद समस्या है। इतिहास इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता। लेखकों ने अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में व्यक्त किये गये मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

अर्थ एवं व्याख्या—दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि राजा ईश्वर की रचना है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और ईश्वर राजा के माध्यम से पृथ्वी पर शासन करता है। राजा अपनी शक्ति को ईश्वर से प्राप्त करता है। वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। दैवी सिद्धान्त सामाजिक समझौते की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता कि राजा अपनी सत्ता को 'जन सहमति' से प्राप्त करता है। इसका कहना है कि राजा अपने कार्यों के लिए किसी मानवीय संस्था या लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं। दैवी सिद्धान्त के अनुसार राजा लोगों से स्वतन्त्र, ऊपर और सर्वोच्च है। वह लोगों से स्पष्ट भक्ति प्राप्त करता है। राजाज्ञाओं की अनुपालना लोगों का धार्मिक कर्त्तव्य है; उनकी अवज्ञा, उपेक्षा या प्रतिरोध अपराध है। लोग अपने विरोध को केवल मौन वन्दना द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।

इतिहास एवं विकास—दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना कि राज्य स्वयं। वस्तुतः प्राचीन समय में धर्म और राजनीति एक दूसरे से घुले-मिले थे। ईश्वर को सत्ता का आधार माना जाता था।

1. भारतीय साहित्य में दैवी तत्त्व—प्राचीन भारत में सत्ता धर्म के अधीन थी और राजा धर्माधीन था। **मनुस्मृति** के अनुसार राजा की शक्ति प्रजा के सुख और कल्याण के लिये थी। वह सत्ता प्राप्त कर निरंकुश नहीं बन सकता था। भारतीय साहित्य में दैवी तत्त्व की प्रधानता थी, परन्तु इसमें राजा के दैवी अधिकारों जैसी कोई चीज नहीं थी। भारतीय और यूरोपीय दैवी सिद्धान्त में यह एक मुख्य अन्तर है।

2. यूनान और रोम में दैवी सिद्धान्त प्रचलित नहीं था। यूनानी विचारक राज्य को एक सामाजिक एवं प्राकृतिक संस्था मानते थे। रोम के विचारकों के लिये राज्य राजा और प्रजा की रचना था।

3. ग्रन्थों एवं महाकाव्यों में दैवी सिद्धान्त—दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन धार्मिक ग्रन्थों, महाकाव्यों एवं लेखकों की रचनाओं में मिलता है। **मनुस्मृति, श्रीमद्भागवत गीता, आल्ड टैस्टामैण्ट,** बाइबल जैसी धार्मिक पुस्तकों में इसका उल्लेख मिलता है। **जेम्स प्रथम** की रचना **"बेसिलीकन डोरोन"** और **"राजतन्त्रों का सच्चा नियम"** में **वाइक्लिफ** की रचना **'डी ऑफेशियो रेजिस'** में, **राबर्ट फिलमर** की रचना **"पैट्रिआर्की"** में दैवी सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। फ्रांसिस बेकन, बासे, मार्टिन लूथर आदि लेखकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। राजा के दैवी अधिकार दैवी सिद्धान्त पर आधारित थे।

यहूदियों की धार्मिक पुस्तक ओल्ड टैस्टामैण्ट में ईश्वर को समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत माना गया है। इसके अनुसार ईश्वर राजा को नियुक्त एवं विमुक्त करता है, उसे दण्डित करता है तथा उसका संहार करता है। बाइबिल के अनुसार "समस्त सांसारिक शक्तियों का स्रोत ईश्वर है। जो कोई उसकी अवज्ञा करते हैं वे ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं और ऐसा करने वालों पर दैवी शाप गिरेगा।"

4. मध्ययुग और दैवी सिद्धान्त—मध्ययुग में मार्टिन लूथर तथा जॉन काल्विन जैसे धर्म सुधारकों ने पोपशाही के पाखण्ड का विरोध करने के लिए राजा के दैवी अधिकारों का समर्थन किया। लेखकों ने इसका समर्थन राजा की शक्ति को सर्वोच्च बनाये रखने के लिए किया। स्टुअर्ट वंश के राजा **जेम्स प्रथम** ने इसके आधार पर अपने निरंकुश शासन को सिद्ध करने का प्रयास किया। जेम्स प्रथम ने अपनी रचना **"राजतन्त्रों के सच्चे नियम"** में राजाओं के निम्न दैवी अधिकारों का उल्लेख किया है:—

(i) राजा अपनी शक्ति को सीधे ईश्वर से प्राप्त करता है।
(ii) राजा का लोगों के प्रति कोई वैध उत्तरदायित्व नहीं है।
(iii) कानून राज्य सत्ता की रचना है। वे राजा के ऊपर नहीं।
(iv) राजा को अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार है।

(v) लोगों को राजा की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। राजा, चाहे बुरा हो या अच्छा, लोगों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं।

(vi) राजा पृथ्वी पर ईश्वर की साँस लेती हुई मूर्ति है।

सर राबर्ट फिल्मर ने अपनी रचना 'पैट्रिआर्का' में स्टुअर्ट राजाओं का समर्थन किया। उसने **हॉब्स** के इस सिद्धान्त को मिथ्या बताने का प्रयास किया कि राज्य समझौते का परिणाम है। **फिल्मर** का कहना है कि राज्य दैवी इच्छा की उत्पत्ति है।

फ्रांस में, इंग्लैण्ड के राजाओं की भाँति, **बुर्बों वंश** के शासकों ने भी दैवी सिद्धान्त का समर्थन किया। लुई XIV अपने-आपको राज्य कहता था। **बासे ने** लुई 14 वें के निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया है।

दैवी सिद्धान्त का प्रयोग—दैवी सिद्धान्त का निम्न उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया गया है—

(i) राजाओं ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने एवं लोगों से असंदिग्ध एवं अविभाजित भक्ति प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग किया।

(ii) प्रजातन्त्र के विकास का विरोध करने के लिए इसका प्रयोग किया गया।

(iii) राजा और पोप अर्थात् राजनीति और धर्म के संघर्ष में राजा की शक्ति को श्रेष्ठ बनाने के लिए इसका प्रयोग किया गया।

दैवी सिद्धान्त का ह्रास—इस सिद्धान्त के ह्रास होने का मूल कारण सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का विकास था जिसने 'सहमति' और 'सहयोग' को राज्य का आधार बना दिया। आधुनिक समय में धर्म निरपेक्ष विचारों, प्रजातन्त्र और राज्य कार्यों में लोगों की साझेदारी ने दैवी सिद्धान्त को प्रायः मृत बना दिया है।

आलोचना—दैवी सिद्धान्त की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. अनैतिहासिक—दैवी सिद्धान्त अनैतिहासिक है। इतिहास में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ईश्वर ने राजा को शक्तियाँ प्रदान की या राजा ईश्वर का प्रतिनिधि था। यह सिद्धान्त रक्त सम्बन्ध, आर्थिक आवश्यकताओं, राजनीतिक चेतना जैसे ऐतिहासिक तत्त्वों की उपेक्षा करता है जिन्होंने राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

2. निरंकुशता का पोषक—राजा की शक्तियों को ईश्वरीय आधार प्रदान करके दैवी सिद्धान्त राजाओं को निरंकुश शक्तियाँ प्रदान कर देता है जो अत्याचारी हो सकते हैं। इस सिद्धान्त में राजा अनुत्तरदायी है और जनता भ्रष्ट, अकुशल एवं अत्याचारी राजाओं को हटाने में असमर्थ है।

3. प्रतिक्रियावादी—दैवी सिद्धान्त भाग्यवादी होने से प्रतिक्रियावादी है। यह लोगों में अन्ध भक्ति पैदा करता है। अतः यह विवेक के विरुद्ध है।

4. प्रजातन्त्र विरोधी—दैवी सिद्धान्त में लोगों को कोई अधिकार या स्वतन्त्रतायें नहीं। इसमें लोगों के हितों की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं। यह लोगों को विरोध का कोई अधिकार नहीं देता।

5. यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति से उतना सम्बन्धित नहीं जितना कि राजनीतिक सत्ता से सम्बन्धित है।

महत्त्व—दैवी सिद्धान्त का अपना विशेष महत्त्व रहा है। सभ्यता के प्रारम्भिक काल में जब राज्य की प्रमुख समस्या सुरक्षा और व्यवस्था की थी, उस समय दैवी सिद्धान्त ने समाज को अराजकता से बचाकर लोगों को राजा के नेतृत्व के अधीन संगठित किया। जिस समय नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आदर्शों का अभाव था उस समय धर्म ने सुरक्षित एवं व्यवस्थित जीवन का आश्वासन दिया। दांते का मत है कि **"इसने कालान्तर में धार्मिक सत्ता के विरुद्ध राजनीतिक सत्तात्मक सत्ता का समर्थन किया।"**

2. पितृ एवं मातृ सिद्धान्त

पितृ एवं मातृ सिद्धान्त की मान्यता है कि परिवार राज्य का आधार है। परिवार के विकास के साथ गोत्रों का निर्माण हुआ, गोत्र से कबीले बने और कबीलों से राज्य का विकास हुआ। प्रो. हॉकिन्स ने लिखा है कि "राज्य के जन्म की बात **मुख्यतः कल्पनाओं पर आधारित है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राज्य इतिहास की उत्पत्ति है और चूँकि परिवार मानवीय समुदायों में सबसे प्राचीन समुदाय है इसीलिए राज्य के जन्म के पीछे परिवार का मुख्य हाथ रहा है। परिवार वास्तव में सर्वप्रथम सामाजिक इकाई है।"** प्लेटो के लिए परिवार राज्य का लघुरूप है। अरस्तू की धारणा है कि परिवार से राज्य का विकास हुआ। मैकाइवर का कहना है कि "परिवार में जो नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध पाये जाते हैं, वे सरकार के सार-तत्त्व हैं।"

(i) पितृ सिद्धान्त

पितृ सिद्धान्त का प्रमुख समर्थक सर हेनरी मेन है उसने अपनी रचनाओं **"प्राचीन कानून" और "संस्थाओं के प्रारम्भिक इतिहास"** में इसकी विस्तृत व्याख्या की है। मेन ने अपनी रचनाओं में उन पितृ-प्रधान परिवारों के उदाहरण दिये हैं जिनका उल्लेख यहूदियों के धार्मिक ग्रन्थ ओल्ड टैस्टामैण्ट में मिलता है। उसने प्राचीन भारत और रोम तथा बाइबिल से भी अनेक पितृ-प्रधान परिवारों के उदाहरण दिये हैं। मेन ने प्रारम्भिक समुदायों में पाये जाने वाले रीति-रिवाजों, परम्पराओं और संस्थाओं का उल्लेख भी किया है।

मेन की मान्यता है कि प्राचीन समय में समाज परिवारों का समूह था, यह पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का समूह नहीं था। परिवार समाज की इकाई था जिसका वयोवृद्ध पुरुष परिवार का **पैट्रिआर्क या मुखिया था।** पहिला परिवार पुरुष उसकी स्त्री और उनके बच्चे थे। धीरे-धीरे परिवारों का विकास हुआ। नये परिवारों की

स्थापना हुई। परन्तु इन परिवारों पर मूल परिवार के पिता या वयोवृद्ध पुरुष का पूर्ण अधिकार बना रहा। उसके उत्तराधिकारी उसके द्वारा नियन्त्रित होते थे। इस तरह पितृ-प्रधान परिवारों का विकास हुआ। परिवार के गोत्र और गोत्र से कबीले स्थापित हुए। कबीले का वयोवृद्ध पुरुष कबीले का कर्त्ताधर्त्ता होता था। उसे कबीले के नेता अर्थात् शासक को चुनने का अधिकार था। इस प्रथा ने राज्य को जन्म दिया। पैट्रिआर्क की शक्ति निरपेक्ष होती थी, अतः कबीले के शासक की शक्ति निरपेक्ष थी। इस तरह रक्त सम्बन्ध का सुदृढ़ बाण्ड लोगों को संगठित रखने में पर्याप्त था। लीकॉक ने परिवार से राज्य के विकास को इस प्रकार व्यक्त किया है, **"पहले एक गृहस्थी, उसके बाद एक पितृ-प्रधान परिवार, उसके बाद एक वंश के लोगों का कबीला और अन्ततः एक राष्ट्र। इस प्रकार इस आधार पर सामाजिक श्रेणियों का निर्माण होता है।"**

पितृ-प्रधान परिवार के मुख्य लक्षण निम्न थे—

(a) परिवार का पैट्रिआर्क (मुखिया) पुरुष था।

(b) परिवार में वंश परम्परा पिता से चलती थी।

(c) विवाह की प्रथा स्थायी थी। वह कहीं पर बहुपत्नीत्व और कहीं पर एक पत्नीत्व थी।

(d) रक्त सम्बन्ध परिवार के सदस्यों को संगठित रखने का सुदृढ़ बाण्ड था।

(e) परिवार के सदस्यों पर पैट्रिआर्क की शक्तियाँ निरपेक्ष थीं।

(f) राज्य के विकास का आधार पितृ-प्रधान परिवार था।

आलोचना—पितृ सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. पितृ सिद्धान्त सर्वत्र विद्यमान नहीं था—हेनरी मेन की यह धारणा सत्य नहीं कि पितृ सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित था। यदि प्राचीन भारत एवं रोम में पितृ प्रधान परिवारों के उदाहरण मिलते हैं तो एशिया और आस्ट्रेलिया में मातृ प्रधान परिवारों के उदाहरण भी मिलते हैं।

2. कबीला प्रारम्भिक सामाजिक इकाई थी—मैक्लेनन, मार्गन एवं जैंक्स जैसे मातृ सिद्धान्त के समर्थक हेनरी मेन के इस विचार से सहमत नहीं कि परिवार प्रारम्भिक सामाजिक इकाई थी। इनकी मान्यता है कि प्रारम्भिक सामाजिक इकाई कबीला था। कबीले के टूटने पर गोत्र और गोत्र से परिवारों का निर्माण हुआ। इनकी धारणा है कि वंश पुरुष से नहीं, नारी से चलता था क्योंकि विवाह कोई स्थाई संस्था नहीं थी।

3. अत्यन्त सरलीकरण—पितृ सिद्धान्त राज्य के उद्भव एवं विकास के लिए अत्यन्त सरल सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जबकि राज्य का विकास जटिल है। इसमें अनेक बड़े एवं छोटे तत्त्वों ने योगदान दिया है।

4. सामूहिक विवाह एवं अस्थाई विवाहों की प्रथायें इस बात के प्रमाण हैं कि पितृ सिद्धान्त निरन्तर अस्तित्व में नहीं रहा।

5. पितृ सिद्धान्त राजनीतिक सिद्धान्त होने के स्थान पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है जो प्राचीन समाज की घटनाओं की व्याख्या करता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी यह कहना सही नहीं कि पितृ सिद्धान्त निरर्थक है या इसमें सत्य का कोई अंश नहीं। यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि राज्य के विकास में रक्त सम्बन्ध की अत्यधिक भूमिका रही है। प्राचीन समाज में परिवार संगठन, सुरक्षा एवं एकता की मुख्य इकाई था।

(ii) मातृ सिद्धान्त

मातृ सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं—जे. एफ. मैक्लेनन, एल. एच. मार्गन और एडवर्ड जैंक्स। **मैक्लेनन** ने अपनी रचना **'प्रिमिटिव सोसाइटी'**, **मार्गन** ने अपनी रचना **'प्राचीन समाज'** और जैंक्स ने **'ए हिस्टरी ऑफ पॉलिटिक्स'** में इस सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या की है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि मौलिक सामाजिक समूह 'कुल' था जिसमें नारी की स्थिति प्रधान थी। परिवार मातृ प्रधान परिवार था। रक्त का सम्बन्ध नारी से जाना जाता था। सन्तान माता के वंश के अनुसार चलती थी और वयोवृद्ध नारी परिवार का केन्द्र बिन्दु थी। मार्गन ने लिखा है कि "कुल मातृ प्रधान रूप से संगठित था जो वंशगत एवं एकपक्षीय इकाई था। एकपक्षीय इसलिए कि इस प्रणाली के अधीन बच्चे अपनी माता के होते थे जिनके साथ पिता के कुल का कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था।"

मातृ प्रधान सिद्धान्त के समर्थकों की धारणा है कि प्राचीन समाज में स्थायी विवाह की संस्थायें—एक पत्नीत्व या बहुपत्नीत्व—विद्यमान नहीं थी। प्राचीन समाज में बहुपतित्व व्यवस्था थी। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें नारी के अनेक पति होते थे। बहुपतित्व व्यवस्था मालाबार में नायर या दक्षिण भारत के टोडास समाजों और तिब्बत निवासियों में आज भी न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती है।

जैंक्स ने मातृ सिद्धान्त के समर्थन में आस्ट्रेलिया की कैमिलौरी, अमरीका की इरोकूअस एलगोकवीन्स तथा ह्यू रोन्स आदि आदिम जातियों की परम्पराओं के उदाहरण दिये हैं। प्राचीन समय में आधुनिक समाजों की भाँति कोई परिवार या सामाजिक समूह जैसी चीज नहीं थी। यौन सम्बन्ध अनियमित थे। लोग रेवड़ों में रहते थे और प्रत्येक रेवड़ का अपना एक चिन्ह होता था। प्रत्येक रेवड़ या जन-समूह सांप या पेड़ जैसे प्राकृतिक पदार्थों के चिन्हों से पहचाना जाता था। एक विशेष रेवड़ का सदस्य अपने रेवड़ में विवाह नहीं कर सकता था, उसे अपने से भिन्न रेवड़ में विवाह करना होता था। एक विचार यह भी है कि एक व्यक्ति विवाह करते समय उस रेवड़ की सभी नारियों से विवाह कर सकता था। ऐसी स्थिति में सन्तान को केवल माता का ही ज्ञान था, पिता का नहीं। जैसाकि जैंक्स ने कहा है कि "मातृत्व एक तथ्य है जबकि पितृत्व एक विचार है।"

बेशोफन का मत है कि "प्रारम्भिक समाज में वंश परम्परा माता से होती थी, सम्पत्ति पर नारी का अधिकार था, नारियों का समाज में प्रभावशाली आदर था। उस समय के पारिवारिक जीवन का आधार माता थी और वंश माता के नाम से चलते थे।" **जैंक्स** की धारणा है कि "सामाजिक संगठन का विकास छोटे से बड़े संगठन की ओर नहीं हुआ अपितु बड़े से छोटे समुदाय की ओर हुआ है। इस विकास के चरण थे—कबीला, कुल, गृहस्थी और पैतृक।" इस तरह मातृ सिद्धान्तों के समर्थकों की धारणा है कि पितृ प्रधान परिवार तब उत्पन्न हुआ जब पुरुषों ने आवारा एवं शिकारी जीवन को छोड़कर स्थायी कृषक जीवन व्यतीत करना शुरू कर दिया।

आलोचना—मातृ सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. **अत्यन्त सरलीकरण**—मातृ सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का अत्यन्त सरल रूप प्रस्तुत करता है जबकि राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया जटिल रही है।

2. **मातृ एवं पितृ प्रधान परिवार**—इतिहास इस बात का साक्षी नहीं कि प्रारम्भिक परिवार केवल मातृ प्रधान थे। वस्तुतः प्राचीन समय में मातृ एवं पितृ दोनों प्रकार के परिवारों के उदाहरण मिलते हैं। यदि एक स्थान पर मातृ प्रधान परिवारों के उदाहरण मिलते हैं तो उसी समय दूसरे स्थानों पर पितृ प्रधान परिवारों के उदाहरण भी मिलते हैं। **लीकॉक** ने लिखा है कि **"दोनों में कोई भी सम्भवतः दूसरे द्वारा स्थानान्तरित किया जा सकता है।"** यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन समय में मातृ सिद्धान्त सामान्य रूप से प्रचलित था। यह कहना अधिक ठीक है कि पैतृक एवं मातृक दोनों सिद्धान्त साथ-साथ प्रचलित थे।

3. **सामाजिक सिद्धान्त**—मातृ सिद्धान्त एक राजनीतिक सिद्धान्त नहीं। यह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है जो राज्य के विकास से सम्बन्धित होने के स्थान पर परिवार या समाज के विकास से अधिक सम्बन्धित है। यह परिवार एवं वंश की व्याख्या करता है। **विलोबी** ने कहा है कि "पैतृक एवं मैतृक दोनों सिद्धान्त राजनीतिक कल्पनायें होने के स्थान पर सामाजिक अधिक हैं।"

4. **अन्य तत्वों की उपेक्षा**—मातृ सिद्धान्त राज्य के उदय एवं विकास में सहायक तत्वों की उपेक्षा करता है। इस बात को स्वीकार करना कठिन है कि राज्य की उत्पत्ति केवल परिवार के विस्तार से हुई। **गार्नर** ने लिखा है कि "परिवार एवं राज्य दोनों सार, उद्देश्य एवं कर्त्तव्यों में एक-दूसरे से भिन्न है। यह मान लेना आपत्तिजनक है कि एक के विकास से दूसरे का जन्म हुआ होगा या दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध रहा होगा।"

5. **नारी पुरुष की तुलना में निर्बल**—मातृ सिद्धान्त पुरुष की नारी से शारीरिक सर्वोच्चता की उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त भूल जाता है कि नारी स्वभाव से सरल एवं शारीरिक दृष्टिकोण से निर्बल है। नारी सम्भोग का साधन

है। इस बात को स्वीकार करना कठिन है कि नारी ने अपनी सत्ता का दावा करके अपने शासन को स्थापित कर लिया।

6. मुखिया का पद योग्यता पर आधारित था—पितृ सिद्धान्त की भाँति मातृ सिद्धान्त भी इस मात्रा में असत्य है कि वह केवल रक्त सम्बन्ध को संगठित सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण मानता है। अनेक प्राचीन समाजों या समुदायों में मुखिया के लिए योग्यता का सिद्धान्त प्रचलित था, उसका निर्वाचन होता था। उसका पद रक्त सम्बन्ध पर आधारित नहीं था। मुखिया के लिए वंशानुगत ज्येष्ठता का नियम नहीं था बल्कि योग्यता के आधार पर उसका निर्वाचन होता था।

3. शक्ति सिद्धान्त

शक्ति सिद्धान्त मुख्यतः निम्न मान्यताओं पर आधारित है—

1. राज्य शक्ति का शिशु है। शक्ति सिद्धान्त की मान्यता है कि राज्य शक्ति का शिशु है। शक्ति द्वारा इसका उदय हुआ है, शक्ति द्वारा इसे कायम रखा जाता है और शक्ति द्वारा इसका पोषण एवं विकास होता है। राज्य का एक मात्र उद्देश्य शक्ति एवं शक्ति संचयन है। यह "सर्वोपयुक्त के बचे रहने" (Survival of the fittest) के सिद्धान्त में विश्वास करता है। यह शक्ति को संगठन, न्याय व्यवस्था और अधिकार मानता है। इसके लिए शक्ति औचित्य की कसौटी है। इसका मत है कि युद्ध विवादों के निपटारे के लिए सर्वोत्तम साधन है। **युद्ध राजा को उत्पन्न करता है।** इसका आधार है—"जिसकी लाठी उसी की भैंस।"

2. मानव में आधिपत्य की भावना स्वाभाविक है—इसकी धारणा है कि मानव में दो प्रवृत्तियाँ बलशाली रहती हैं। प्रथम, उसमें सत्ता अर्थात् शक्ति की भूख रहती है और वह उसे एक बार प्राप्त करके उसका विस्तार करना चाहता है। दूसरे, वह अपने आपको योग्य बताना चाहता है और दूसरों पर स्वामित्व जमाना चाहता है। इन दोनों प्रवृत्तियों से मानव में लालसा, क्रूरता और प्रतिद्वन्द्विता के भाव उत्पन्न होते हैं। इसमें वही व्यक्ति विजयी होता है जो बलशाली होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि शक्तिशाली ने निर्बल को पराजित कर उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।

शक्ति सिद्धान्त का समर्थन करने वाले लेखक—शक्ति सिद्धान्त का समर्थन करने वाले लेखक **यूनानी सोफिस्टों** का मत है कि "न्याय शक्तिशाली का हित है।" शक्तिशाली न्याय तथा नैतिकता का समर्थन करता है और भीरु अपनी सुरक्षा के लिए शक्तिशाली की शरण लेता है। **ईसाई धर्म-पिताओं** की मान्यता है कि चर्च ही ईश्वर-निर्मित होने से पवित्र संस्था है। राज्य मनुष्यों के पापों का परिणाम है। राज्य का जन्म मनुष्य को उसके पापों का दण्ड देने के लिए हुआ है। **मैकियावली** राज्य की शक्ति को बनाये रखने के लिए प्रिन्स को **'सिंह और लोमड़ी'** के गुण रखने का परामर्श देता है। **स्पेन्सर और डार्विन** का सिद्धान्त "सर्वोपयुक्त के बचे रहने के सिद्धान्त" पर आधारित था। **वाल्टेयर** का मत है कि "प्रथम राजा भाग्य-

शाली योद्धा था ।" लीकॉक का मत है कि "शासन मानव के आक्रमण का परिणाम है ।" वुडरो विल्सन का मत है कि "अपने अन्तिम विश्लेषण में सरकार एक संगठित बल है ।"

लीकॉक, जैंक्स और ह्यूम ने शक्ति सिद्धान्त को इतिहास से प्रमाणित करने का प्रयास किया है । लीकॉक ने लिखा है कि "राज्य का आरम्भ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को पकड़ने तथा उसे दास बनाने में, अपेक्षाकृत दुर्बल कबीले को विजयी करने तथा अधिकृत करने में और श्रेष्ठतर शारीरिक बल-प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित करने से हुआ । कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य की प्रगतिशील उन्नति उसी विधि का केवल क्रम मात्र है ।" ह्यूम का मत है कि "राज्य का उदय उस समय हुआ होगा जब किसी मानव दल के नेता ने शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियों पर अधिकार जमा कर उन पर अपनी हुकूमत लादी होगी ।" विश्व के महान् साम्राज्य "खून और लोहे" से स्थापित हुए हैं ।

शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग—शक्ति सिद्धान्त का मुख्यतः निम्न रूपों में प्रयोग किया गया है—

1. धर्म गुरु—मध्य युग में धर्म गुरुओं ने इसका प्रयोग राज्य को दूषित और चर्च को श्रेष्ठ संस्था बताने के लिए किया । उनका कहना था कि "धर्म एक दैवी वस्तु है जबकि राज्य क्रूर बल की उपज है ।" **ग्रेगरी सप्तम** ने कहा था कि "कौन इस बात से अपरिचित है कि राजाओं और नवाबों की उत्पति उन क्रूर आत्माओं से हुई है जो ईश्वर को भूल कर उद्दण्डता, लूटमार, कपट, हत्या और प्रत्येक अपराध से, संसार के शासक के रूप में, बुराई का प्रसार करते हुए अपने साथी मानवों पर मतान्धता और असहनीय धारणा के साथ, राज्य करते रहे हैं ।"

2. व्यक्तिवादी—अठारहवीं शताब्दी में व्यक्तिवादियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सरकार के हस्तक्षेप से बचाने के लिए शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग किया । व्यक्तिवादियों की धारणा है कि, "व्यक्ति अपने हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है । उसे अपने भाग्य पर छोड़ देना चाहिए ।" व्यक्तिवादियों का कहना है कि संघर्ष जीवन का अडिग नियम है और इसमें शक्तिशाली को जीवित रहने और निर्बल पर आधिपत्य जमाने का अधिकार है । व्यक्तिवादियों का यह सिद्धान्त "सर्वोपयुक्त के बचे रहने के सिद्धान्त" से जाना जाता है । स्पेन्सर किसी प्रकार के राज्य-धर्म, राज्य शिक्षा, राज्य निर्धन सहायता, राज्य उद्योग-नियम, राज्य द्वारा नियन्त्रित मुद्रा व्यवस्था या राज्य द्वारा प्रबन्धित डाक, तार आदि की व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता ।

3. अराजकतावादी—अराजकतावादी लेखक, विशेषकर बेकुनिन एवं क्रोपोटकिन, राज्य को एक ऐसी दूषित संस्था मानते हैं जो अनुपयुक्त, अनावश्यक, अवांछनीय एवं अस्वाभाविक है । वे इसे शक्ति, हिंसा, युद्ध, अन्याय, शोषण,

असमानता एवं अत्याचार आदि का प्रतीक मानते हैं। अतः वे इसे 'भयंकर तूफान' द्वारा नष्ट करना चाहते हैं। महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी अराजकतावादी भी राज्य को "सत्ता का प्रतिनिधि" और "संगठित हिंसा का प्रतीक" मानते हैं।

4. समाजशास्त्री एवं समाजवादी—ओपेनहीम जैसे समाजशास्त्री राज्य को एक कृत्रिम संगठन मानते हैं जिसका कोई नैतिक या आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं। इसका उद्देश्य स्थूल हितों की रक्षा करना एवं उनका पोषण करना है।

समाजवादियों की धारणा है कि राज्य शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों के शोषण का परिणाम है। उनका कहना है कि औद्योगिक व्यवस्था शक्ति पर आधारित है। जिसमें उद्योगपति श्रमिकों को उनके न्यायपूर्ण पारिश्रमिक से वंचित करता है। मार्क्सवादी-साम्यवादी राज्य को "बुर्जुआ की कार्यकारिणी समिति", "शोषण का यन्त्र" आदि मानते हैं और उसके लोप की बात करते हैं। ये वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन, राज्य विहीन समाज की रचना करना चाहते हैं।

5. फासीवादी-नाजीवादी—बीसवीं शताब्दी की फासीवादी और नाजीवादी विचारधारायें शक्ति, हिंसा और साम्राज्य को सर्वोच्च स्थान देती हैं। ट्राट्स्की ने कहा है कि "राज्य आक्रमण और प्रतिरक्षा की सार्वजनिक शक्ति है जिसका मुख्य कार्य युद्ध करना और न्याय की व्यवस्था करना है।" बर्नहार्डी का मत है कि "शक्ति सर्वोच्च अधिकार है और इस विवाद का निर्णय युद्ध द्वारा किया जाता है कि अधिकार क्या है ? प्राणी विद्या के अनुसार युद्ध उचित निर्णय देता है क्योंकि इसके निर्णय वस्तुओं के स्वभाव पर आधारित होते हैं।"

मुसोलिनी और हिटलर दोनों ने अपने-अपने राष्ट्र की आन्तरिक एवं बाह्य नीति में शक्ति के तत्त्व पर बल दिया था। मुसोलिनी कहा करता था, "विश्व शांति कायरों का स्वप्न है। साम्राज्यवाद जीवन का सतत् एवं अडिग नियम है, बिना खून बहाये कोई जीवन नहीं, इटली का विस्तार उसके जीवन-मरण का विषय है। इटली का विस्तार अवश्य होना चाहिए या उसे नष्ट हो जाना चाहिए।" हिटलर का कहना था, युद्ध सतत् है, युद्ध सर्वव्यापी है। युद्ध सभी चीजों की उत्पत्ति है। सतत् युद्ध में मानव महान् बनता है, सतत् शांति में मानवता नष्ट हो जायेगी।"

आलोचना—शक्ति सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है—

1. राज्य का आधार इच्छा है शक्ति नहीं—शक्ति सिद्धान्त की त्रुटि यह है कि यह शक्ति को राज्य के उदय एवं स्थायित्व का एकमात्र आधार मानता है जबकि राज्य के स्थायित्व के लिए शक्ति के साथ सहमति और सहयोग की आवश्यकता है। शक्ति राज्य का प्रतीक हो सकती है उसका सार नहीं। शक्ति का प्रयोग औषधि के रूप में हो सकता है, भोजन के रूप में नहीं। शक्ति और दमन पर आधारित सरकारें चिर-स्थाई नहीं रह सकतीं। ये उसी शक्ति द्वारा नष्ट हो जाती हैं जिसे ये उत्पन्न करती हैं। टी. एच. ग्रीन ने कहा है कि "राज्य के निर्माण में जिन तत्त्वों का मुख्य हाथ रहा है उनमें मुख्य स्थान राज्य की दमनकारी शक्ति का नहीं

बल्कि लिखित एवं अलिखित विधियों के अनुसार वैध शक्ति के प्रयोग द्वारा ही राज्य स्थायी और शक्तिशाली बनते हैं।"

2. विकास के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता है, युद्ध की नहीं—शक्ति सिद्धान्त की यह भयंकर भूल है कि मानव की श्रेष्ठ शक्तियों का विकास युद्ध में होता है। वस्तुतः विज्ञान, कला और संस्कृति का विकास शान्ति के वातावरण में सम्भव है।

3. स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र विरोधी—शक्ति सिद्धान्त अन्ततः सर्वसत्तावाद और अधिनायकवाद को जन्म देता है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विरोधी होते हैं। अधिनायक अनुशासन, उत्तरदायित्व और सीढ़ीनुमा शासन में विश्वास करते हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, अधिकार और समानता में नहीं।

4. युद्ध विवादों का स्थाई हल नहीं—शक्ति सिद्धान्त की यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि युद्ध विवादों का स्थाई हल है। युद्ध यदि एक समस्या का समाधान करता है तो वह अनेक समस्याओं को जन्म देता है। विवादों का स्थाई हल पारस्परिक समझ और समझौतावृत्ति पर निर्भर करता है।

5. अन्यायपूर्ण—शक्ति सिद्धान्त अन्यायपूर्ण है। यह शान्ति विरोधी एवं संविधानवाद विरोधी है। यह अशान्ति, असमानता और निरंकुशता को जन्म देता है। चोरों, लुटेरों, आक्रमणकारियों और संहार करने वालों की शक्ति को कभी औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी इस बात को स्वीकार करना होगा कि राज्य के विकास में शक्ति की अत्यधिक भूमिका रही है। बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा एवं आन्तरिक व्यवस्था के लिए भी शक्ति की आवश्यकता होती है।

4. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

अर्थ—सामाजिक समझौते का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि **राज्य एक कृत्रिम संस्था है। यह व्यक्ति की सूझबूझ और सहमति का परिणाम है।** यह एक ऐसी ऐच्छिक संस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया है। इसका मत है कि सामाजिक समझौते से पूर्व व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में रहते थे जो एक गैर-राजनीतिक अवस्था थी। इसकी असुविधाओं से छुटकारा पाने के लिए व्यक्तियों ने राज्य का निर्माण किया।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त राज्य को दैवी सिद्धान्त की भाँति ईश्वरीय रचना नहीं मानता। यह अरस्तू की भांति इसे प्राकृतिक या स्वाभाविक संस्था भी नहीं मानता है। यह पितृ एवं मातृ सिद्धान्त की भाँति इसे परिवार का विस्तार नहीं मानता है। यह राज्य को ऐसी संयुक्त पूँजी कम्पनी मानता है जिसका निर्माण व्यक्तियों ने अपनी आवश्यकताओं हेतु किया है। यह व्यक्तियों की सहमति एवं स्वीकृति पर आधारित एक संस्था है।

इतिहास—सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्राचीन पूर्वी और पश्चिमी लेखकों के विवेचन का विषय रहा है। यूनान में सोफिस्ट राज्य को एक प्राकृतिक संस्था नहीं मानते थे। वे इसे मनुष्य द्वारा निर्मित संस्था मानते थे। प्लेटो ने अपनी रचना "क्राइटो" और "रिपब्लिक" में तथा अरस्तू ने अपनी रचना "पॉलिटिक्स" में इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है परन्तु उन्होंने इसका समर्थन नहीं किया। उन्होंने इसकी आलोचना की है। उनके लिए राज्य एक प्राकृतिक एवं स्वाभाविक संस्था है।

रोम के कानूनों में समझौते का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। रोमन कानून के अनुसार, "जिन सकारात्मक कानूनों के प्रति व्यक्ति भक्ति रखते हैं उन्हें समझौते द्वारा निर्मित किया गया है।" **सिसरो** की रचना **"कॉमनवैल्थ"** में **सामान्य स्वीकृति, सामान्य इच्छा, सामान्य शक्ति"** आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है जिनसे समझौते की अभिव्यक्ति होती है।

भारत के प्राचीन साहित्य में, विशेषकर **महाभारत** के शान्तिपर्व में इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। आचार्य कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में राज्य की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि लोगों ने अराजकता से बचने के लिए मनु को अपना राजा चुना और मनु के कानून और व्यवस्था बनाये रखने के उत्तरदायित्व को अपने कन्धों पर ले लिया।

हूकर पहले वैज्ञानिक लेखक थे, जिन्होंने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की तार्किक व्याख्या की। **ह्यूगो ग्रोशियस** ने भी इस सिद्धान्त को बढ़ावा दिया। परन्तु **हॉब्स, लॉक और रूसो** ही इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं।

(A) थॉमस हॉब्स का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—हॉब्स ने अपनी रचना **लेवियाथन** में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की जो व्याख्या की है, उसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. मानव प्रकृति (Human Nature)—मानव प्रकृति के सम्बन्ध में हॉब्स अरस्तू के इस कथन से सहमत नहीं है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। हॉब्स के अनुसार मानव एक असामाजिक प्राणी है। हॉब्स का मत है कि "क्रोध, लज्जा, लोलुपता, निराशा, स्पर्द्धा, आनन्द, भ्रम, धृष्टता, हर्ष, सहानुभूति, दयालुता, हँसी, गतिशीलता, प्राकृतिक कामुकता, मद, शक्ति, रोग, व्याख्यान, यथार्थ धर्म, समझौता, वैभव, विनोद आदि"[1] प्रवृत्तियाँ ही मानव को कार्य की प्रेरणा देती हैं।

हॉब्स का मत है कि **"सभी व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक शक्ति में समान हैं।"** कोई शारीरिक एवं मानसिक (बौद्धिक) शक्तियों के आधार पर श्रेष्ठ स्थिति की माँग नहीं कर सकता। हॉब्स लिखता है कि 'जहां तक शारीरिक शक्ति का प्रश्न है, यहां पर निर्बल के पास षड्यन्त्र, छल, कपट या गुटबन्दी व समझौते द्वारा एक

---

1. Hobbes ; Leviathan quoted by Hacker Andrew : Political Theory (1961) p. 202.

शक्तिशाली व्यक्ति को मार डालने की शक्ति है और जहां तक बौद्धिक शक्तियों का प्रश्न है.........व्यक्ति शारीरिक शक्ति से भी अधिक समान है, क्योंकि बुद्धि केवल अनुभव है जो समय के अनुसार सबको समान मात्रा में प्राप्त हो जाती है।

हॉब्स का मत है कि "**मानव में अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की अभिलाषा समान होती है।**" यदि कोई दो व्यक्ति किसी एक चीज की इच्छा करते हैं, जिन्हें वे प्राप्त नहीं कर सकते तो वे एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं और अपने उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयास करते हैं।

संघर्ष मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हॉब्स कहता है कि लक्ष्यों की प्राप्ति का उद्देश्य मानव को निरन्तर संघर्ष में लीन रखता है। **हॉब्स प्रतिस्पर्द्धा, अविश्वास (भय) और कीर्ति को संघर्ष के तीन कारण मानता है।** पहले के आधार पर व्यक्ति लाभ प्राप्त करने के लिए, दूसरे के आधार पर सुरक्षा प्राप्ति के लिए और तीसरे के आधार पर ख्याति प्राप्त करने के लिए वे एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं।

व्यक्ति स्वार्थी एवं स्वकेन्द्रित है। हॉब्स कहता है कि मानव की सब भावनाओं का आधार इच्छा या अनिच्छा है। जो पदार्थ आकर्षित करते हैं उनकी सब इच्छा करते हैं और जो विकर्षित करते हैं उनसे सब घृणा करते हैं। एक सुख और आशा का आधार है और दूसरा दुःख और निराशा का आधार है।

मानव सतत् गतिशील रहता है। हॉब्स कहता है कि मानव पशुओं की भांति भावनाओं का दास है। मानव और पशुओं में केवल इतना अन्तर है कि मानव में विवेक, तर्क और भाषण की शक्ति होती है जो पशुओं के पास नहीं होती। मानव की गतिविधियां सप्रयोजन होती हैं। उदाहरणतः **प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति प्राप्त करने की निरन्तर एवं निर्विश्राम इच्छा होती है।** जिसमें यह इच्छा नहीं होती उसकी स्वयं की सुरक्षा सर्वदा खतरे में रहती है।

2. प्राकृतिक दशा (State of Nature)—मानव प्रकृति के आधार पर हॉब्स ने प्राकृतिक दशा का वर्णन किया है। उसके लिए **प्राकृतिक दशा राज्यविहीन, समाज-विहीन दशा है। यह असहाय, असभ्य, भययुक्त, जंगली और अवांछनीय दशा** है। यह युद्ध की स्थिति है जिसमें प्रत्येक एक दूसरे का शत्रु है। यह विधिहीन दशा है जिसमें मानव का जीवन असुरक्षित और अल्प है। इसमें जीवन संघर्षमय है और सभ्यता का अभाव है। हॉब्स ने लिखा है कि "**प्राकृतिक दशा में मानव का जीवन एकाकी, दीन, मलिन, जंगली और अल्प है।**"

प्राकृतिक दशा "**निरन्तर युद्ध की स्थिति**" है। यह वास्तविक युद्ध नहीं। यह मानव की वह दशा है जिसमें वह हिंसक मृत्यु के भय से भयभीत रहता है। वह "**भय का दास**" है। हॉब्स लिखता है कि "**सर्वोच्च शक्ति के अभाव में अविश्वास (भय) सर्वत्र विद्यमान रहता है।**"

प्राकृतिक दशा **पूर्ण स्वतन्त्रता की दशा है।** इसमें सब-कुछ प्राप्त करना और कार्य करना सबके लिए वैधपूर्ण है। **इसमें शक्ति अधिकार है।** इसमें "**जिसकी लाठी**

उसी की भैंस", "जंगल के नियम", "छल, कपट और धोखाधड़ी" सर्वत्र विद्यमान हैं। इसमें जीवन और सम्पत्ति की कोई सुरक्षा नहीं और मानव "भूखे भेड़िये की तरह दूसरों को हड़पने के लिए सदा तैयार रहता है।"

प्राकृतिक दशा में कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं, कोई कानून नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई न्याय नहीं। इसमें प्रतिद्वन्द्विता इसलिए नहीं थी कि इसे सार्थक बनाने के लिए कोई मध्यस्थ शक्ति नहीं थी। इसमें कोई कानून इसलिये नहीं था कि कोई सामान्य शक्ति नहीं थी। इसमें नैतिकता इसलिये नहीं थी कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु था। इसमें न्याय इसलिये नहीं था कि कोई वैधानिक संस्थायें नहीं थीं। हॉब्स ने लिखा है कि 'जहां कोई सामान्य शक्ति नहीं होती वहां कोई कानून नहीं होता, वहां कोई न्याय नहीं होता।" इस तरह प्राकृतिक दशा में उचित अनुचित, न्याय-अन्याय, नैतिक-अनैतिक, धर्म-अधर्म, अच्छाई-बुराई, वैध-अवैध का कोई भेद नहीं था।

3. समझौता एवं कामनवैल्थ (राज्य) की उत्पत्ति—हॉब्स का मत है कि प्राकृतिक दशा की अराजक, असभ्य एवं असहाय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए लोगों ने समझौते द्वारा कामनवैल्थ (राज्य) की स्थापना की। कामनवैल्थ की स्थापना संस्थान या अभिग्रहण द्वारा हो सकती है। परन्तु हॉब्स ने संस्थान द्वारा कामनवैल्थ की स्थापना पर ही बल दिया है अर्थात् व्यक्ति प्रकृति की अराजक और असहाय दशा से छुटकारा पाने के लिए स्वेच्छापूर्वक संगठित होते हैं। हॉब्स ने कहा है कि "कामनवैल्थ की स्थापना उस समय होती है जब व्यक्तियों का समूह इस बात पर सहमत हो जाय और प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ यह समझौता कर ले कि अमुक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को उनका प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति—चाहे उसने उसके पक्ष में मत दिया हो या न दिया हो—उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह के कार्यों और निर्णयों को उसी प्रकार अधिकृत करे जैसे कि वे उसके स्वयं के हों ताकि वे आपस में शान्ति और सुरक्षा से रह सकें।" हॉब्स के समझौते में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता है कि **"मैं इस व्यक्ति या समूह को अपने आपको शासित करने के अपने अधिकार को इस शर्त पर देता हूँ कि आप भी अपने अधिकार उसे सौंप दें और उसके सभी कार्यों को उसी प्रकार अधिकृत करें..........यह उस महान दैत्य अथवा यदि हम अधिक सम्मान के शब्दों में कहें, उस नश्वर प्रभु की उत्पत्ति है जिसके प्रति हम, अविनाशी प्रभु के अधीन, शान्ति और सुरक्षा के लिए ऋणी हैं।"**

हॉब्स के विचारों से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(i) कामनवैल्थ सुरक्षात्मक भावनाओं पर आधारित—हॉब्स का मत है कि कामनवैल्थ (राज्य) एक प्राकृतिक या स्वाभाविक संस्था नहीं। यह स्वयं में साध्य भी नहीं। हॉब्स के लिए कामनवैल्थ (राज्य) एक कृत्रिम संस्था है जिसकी उत्पत्ति मानव के विशेष उद्देश्यों अर्थात् शान्ति और सुरक्षा के लिए हुई है। व्यक्तिवादियों

की भांति हॉब्स राज्य को एक उपयोगी संस्था मानता है। इसकी उपयोगिता का आधार पदार्थों और सेवाओं का विनिमय है। सेबाइन ने लिखा है कि **"राज्य दैत्याकार या लेविआथन है परन्तु लेविआथन से कोई व्यक्ति न तो प्रेम करता है और न ही उसका आदर करता है। इसका महत्त्व इसके उपयोगी होने में है। यह अपने कार्यों के लिए अच्छा है परन्तु यह केवल व्यक्तिगत सुरक्षा का यन्त्र है।"**[1]

(ii) कामनवैल्थ विवेक पर आधारित है—विवेक व्यक्तियों में इस ज्ञान और बुद्धि का विकास करता है कि शान्ति और सुरक्षा तभी सम्भव है जब वे एक सामान्य सत्ता के अधीन रहें और उसकी आज्ञाओं का पालन करें। हॉब्स ने लिखा है कि **"तलवार के भय के विना समझौते केवल शब्द हैं जो मानव को सुरक्षित नहीं रख सकते।" "शब्दों के बाण्ड, दमनकारी शक्ति के भय बिना, इतने कमजोर हैं कि वे व्यक्ति की इच्छा, लालच, क्रोध और मनोवेगों को नियन्त्रित नहीं कर सकते।"**

(iii) कामनवैल्थ वास्तविक एकता है—इसमें सभी व्यक्तियों का एकीकरण होता है। यह एक एकता है। इसकी शक्ति उन सब नागरिकों की शक्ति का जोड़ या उससे बढ़कर है जिन्होंने इसे स्थापित किया है।

(iv) समझौता सामाजिक है राजनीतिक नहीं—जिन पक्षों ने समझौता किया वे न तो समूह हैं और न जन और न ही सर्वोच्च शक्ति से युक्त सम्प्रभु। यह तो शुद्ध प्राकृतिक व्यक्तियों का समझौता है जिससे प्रत्येक का सबके साथ और सबका प्रत्येक के साथ समझौता है।

(v) सम्प्रभु समझौता का पक्ष नहीं परिणाम है—लोगों ने सम्प्रभु के साथ कोई समझौता नहीं किया। सम्प्रभु समझौते का एक पक्ष नहीं, वह समझौते का परिणाम है। सम्प्रभु समझौते से बाहर, सर्वोच्च और स्वतन्त्र है। उस पर समझौते की शर्तें लागू नहीं होतीं।

(vi) शासन शक्ति शासितों की मौलिक शक्ति है—शासन शक्ति का आधार लोगों की इच्छा या सहमति है। हॉब्स लिखता है कि "नागरिक सम्प्रभु की शरण में इसलिए जाते हैं कि वह उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। जब सम्प्रभु उनकी सुरक्षा की उपेक्षा करता है और अपनी शक्ति का प्रयोग अपने हितों के लिए करता है तो उसके कानून शासितों की इच्छा पर आधारित नहीं रहते।" हॉब्स लिखता है कि **"लोगों की भक्ति कानून के प्रति है शक्ति के प्रति नहीं।"**

(vii) दासता का चार्टर—हॉब्स का समझौता नागरिक स्वतन्त्रताओं का चार्टर नहीं, यह दासता का बाण्ड है। इसमें बहुमत अल्पमत की इच्छा मानने के लिए बाध्य है। नागरिक राजाज्ञाओं की पालना बिना शर्त करते हैं। जब तक समझौता विद्यमान है तब तक सम्प्रभु के प्रति भक्ति निरन्तर एवं निर्विवाद है।

---

1. Sabine, George H. : A History of Political Theory, p. 397.

(iii) विरोध का अधिकार—सम्प्रभु के प्रति नागरिकों को भक्ति पूर्ण बनाते हुए भी हॉब्स एक स्थिति में उन्हें सम्प्रभु के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार देता है। जब सम्प्रभु नागरिकों के जीवन को सुरक्षित रखने एवं शान्ति बनाये रखने में असफल रहता है तो नागरिक समझौते को समाप्त कर नये सम्प्रभु से समझौता कर सकते हैं जो उन्हें सुरक्षा एवं शान्ति प्रदान करने की क्षमता रखता है।

(ix) हॉब्स के लिए शासन का कोई भी स्वरूप—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, गणतन्त्र—उचित है यदि उसमें व्यवस्था, शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की योग्यता एवं क्षमता है।

4. सम्प्रभुता (Sovereignty)—हॉब्स वह दार्शनिक है "जिसने सर्वप्रथम इस बात को अनुभव किया कि राज्य के पूर्ण सिद्धान्त में मूल विचार सम्प्रभुता का है। उसने सर्वप्रथम इसके स्थान, कार्यों और सीमाओं को निश्चित करने की आवश्यकता पर बल दिया।"[1] जहाँ ग्रीक दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण कमी यह है कि उसमें कहीं भी सम्प्रभुता की प्रकृति का स्पष्ट विश्लेषण नहीं किया गया, वहाँ हॉब्स सम्प्रभुता को राजनीतिक जीवन का आवश्यक तत्त्व मानता है। उसका मत है कि इसके अभाव में कोई समाज या नागरिक समाज नहीं; कोई व्यवस्था नहीं, कोई कानून नहीं, कोई न्याय-अन्याय नहीं, कोई उचित-अनुचित नहीं।

हॉब्स सम्प्रभुता के ऐसे के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिसकी शक्तियाँ अविभाज्य, अविच्छेद, असीमित, स्थिर, अदेय और बन्धनहीन हैं। हॉब्स अपने सम्प्रभु पर किसी प्रकार की मर्यादायें स्वीकार नहीं करता। हॉब्स लिखता है कि "जो लोग अपनी बर्बर स्थिति से ऊपर उठे हैं वे राजनीतिक, नैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में निर्णायक निर्णय राज्य के प्रधान (सम्प्रभु) से प्राप्त करते हैं, विधर्मी भूत के बुद्धिमानों, दार्शनिकों, वक्ताओं, ईसाई युग के सन्तों या धर्म वैज्ञानिकों से नहीं।"

हॉब्स का सम्प्रभु वह व्यक्ति, व्यक्तियों का समूह या सभा है जिसे नागरिकों ने अपने सब अधिकार दे दिये हैं। सम्पूर्ण सामाजिक सत्ता सम्प्रभु में केन्द्रित है। वह जनसमूह का ऐसा प्रतिनिधि है जिसे सबके लिए सोचने या कार्य करने का अधिकार है। वह युद्ध की घोषणा कर सकता है। वह सम्पूर्ण प्रशासनिक शक्तियों का स्रोत है। वह कानून का निर्माता है। वह न्याय की व्यवस्था करता है। वह विचारों पर नियन्त्रण रखता है। वह परिवार, समुदाय, संघ एवं बिरादरी की सीमायें निर्धारित करता है आदि। सामाजिक और राजनीतिक जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो सम्प्रभु की शक्ति से बाहर हो।

---

1. Vaughan, C.E.: Studies in the History of Political Philosophy. p. 55

हॉब्स के सम्प्रभु की मुख्य शक्तियां निम्न हैं :—

(i) सम्प्रभु का क्षेत्राधिकार सर्वव्यापी है। सभी व्यक्ति, समूह, वर्ग, संस्थायें उसके अधीन हैं। सभी उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।

(ii) सम्प्रभु विधायक है। वह कानून का स्रोत है। वह उचित-अनुचित, वैध-अवैध, नैतिक-अनैतिक को निश्चित करता है। हॉब्स नागरिक के किन्हीं प्राकृतिक, स्वाभाविक या अलंघनीय अधिकारों में विश्वास नहीं करता।

(iii) सम्प्रभु को सम्पत्ति को नियन्त्रित करने का अधिकार है।

(iv) सम्प्रभु विचारों और सिद्धान्तों का अन्तिम निर्णायक है।

(v) सम्प्रभु न्याय का स्रोत है। वह विवादों का निपटारा करता है तथा अन्तिम निर्णय देता है।

(vi) सम्प्रभु युद्ध और शांति का निर्णायक है।

(vii) सम्प्रभु प्रशासनिक शक्तियों का स्रोत है।

(viii) अधिकार केवल सम्प्रभु के हैं। परिवार, संघ, समुदाय, चर्च, बिरादरी या अन्य संस्थाओं के कोई प्राकृतिक या स्वाभाविक अधिकार नहीं। ये केवल रियायतें हैं जो सम्प्रभु द्वारा प्रदान की जाती हैं।

आलोचना—हॉब्स के सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं :—

(i) **त्रुटिपूर्ण मनोविज्ञान**—हॉब्स के राजनीतिक दर्शन का मनोवैज्ञानिक आधार त्रुटिपूर्ण है। हॉब्स मानव को केवल स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, ईर्ष्यालु, अहमी एवं युद्ध-लोलुप अर्थात् आसुरी गुणों से युक्त मानता है। व्यक्ति के आसुरी गुणों के साथ प्रेम, सहयोग, दया, त्याग आदि के दैवत्व गुण भी पाये जाते हैं।

(ii) **भ्रमपूर्ण समझौता**—हॉब्स के समझौते में यह बात समझ में नहीं आती कि प्राकृतिक दशा के झगड़ालू, स्वार्थी, हिंसक एवं युद्ध-लोलुप व्यक्ति में एकाएक विवेक कैसे उत्पन्न हुआ और उसमें सामाजिकता, सहनशीलता एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने की भावनायें कैसे उत्पन्न हुई? हॉब्स का समझौता मात्र काल्पनिक है।

(iii) **अनैतिहासिक**—हॉब्स की प्राकृतिक दशा का वर्णन अनैतिहासिक है। समाजशास्त्रियों एव मानवशास्त्रियों ने सिद्ध कर दिया है कि प्राचीनतम अवस्था में भी व्यक्ति रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं से नियन्त्रित होते थे।

(iv) **निरंकुशता अराजकता का विकल्प नहीं**—यदि हॉब्स की इस धारणा को स्वीकार कर लिया जाय कि लोगों ने प्राकृतिक दशा की अराजक स्थिति से छुटकारा पाने के लिए कामनवैल्थ का निर्माण किया, तो इसके लिए निरंकुश सम्प्रभु एक मात्र विकल्प नहीं। अनुभव सिद्ध करता है कि मिश्रित संविधान भिन्न-भिन्न तत्वों में सन्तुलन बनाये रखने में सफल होते हैं।

(v) **एकपक्षीय समझौता**—हॉब्स का समझौता विवेक के विरुद्ध है। यह

आने वाली सन्तानों के भी विरुद्ध है। यह उन्हें इस बात का अधिकार नहीं देता कि वे समझौते को भंग कर दें।

(vi) समझौता दासता का प्रतीक है—हॉब्स का समझौता प्रजातन्त्र, उदारवाद एवं लोक-कल्याण के विरुद्ध है। लेवियाथन एक पुलिसमैन है। एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए (सुरक्षा एवं व्यवस्था) मानव की अन्य सभी स्वतन्त्रताओं को लेवियाथन की इच्छा मात्र बना देना अनुचित है।

(vii) हॉब्स राज्य और शासन में भेद करने में असफल रहा है।

(viii) विधि सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं। इसका आधार केवल भय नहीं। विधि का आधार सामाजिक सुदृढ़ता की भावना है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी **हॉब्स के सिद्धान्त में सम्प्रभुता का सिद्धांत स्पष्ट, निश्चित एवं असंदिग्ध है। हॉब्स के लिए राज्य एक मानवीय संस्था है, दैवी नहीं। उसका व्यक्तिवाद इस बात से स्पष्ट है कि वह व्यक्ति के हितों और उसके जीवित रहने के अधिकार को प्राथमिकता देता है।**

B. जॉन लॉक के सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—जॉन लॉक ने अपनी रचना **"शासन पर दो निबन्ध"** में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की जो व्याख्या की है उसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. मानव प्रकृति (Human Nature)—हॉब्स की भाँति लॉक का राजनीतिक दर्शन भी मानव प्रकृति पर आधारित है। परन्तु मानव प्रकृति के सम्बन्ध में हॉब्स और लॉक के विचारों में भिन्नता है। जहाँ हॉब्स के लिए मानव स्वार्थी, स्व-केन्द्रित, अहंकारी, कपटी, संघर्षशील और हिंसक है वहाँ लॉक का मानव सहयोगी, सहिष्णु, परोपकारी एवं शान्तिप्रिय है। लॉक का मानव प्रेम, दया, सहानुभूति, एकता और अच्छाई की मूर्ति है। हॉब्स का मानव पाशविक या आसुरी गुणों से युक्त है जबकि लॉक का मानव मानवीय या दैवी गुणों से युक्त है।

हॉब्स की भांति लॉक भी मानव की समानता में विश्वास करता है परन्तु जहाँ हॉब्स का मानव शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से समान है वहाँ लॉक के लिए मानव मानव होने से समान है। वे नैतिक दृष्टि से समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं।

लॉक हॉब्स के इस कथन से सहमत है कि "सभी मानवीय क्रियाओं का स्रोत इच्छा है।" वह इस बात को स्वीकार करता है कि "जिस वस्तु से उसे आनन्द प्राप्त होता है वह उसके लिए अच्छी है और जिससे उसे दुःख की अनुभूति होती है वह उसके लिए बुरी है।" लॉक इस बात से इनकार नहीं करता कि मानव सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता परन्तु लॉक हॉब्स के इस कथन को स्वीकार नहीं करता कि मानव स्वार्थी एवं आक्रान्त है। लॉक मानव को शान्तिप्रिय एवं सामाजिक प्राणी मानता है। लॉक कहता है कि मानव अपने नैतिक कर्त्तव्यों को

पूरा करने वाला जीव है। वह विवेक के आधार पर सत्य, विश्वास और नैतिकता के नियमों की परख करता है।

2. प्राकृतिक दशा (State of Nature)—लॉक ने मानव प्रकृति के आधार पर प्राकृतिक दशा का वर्णन किया है जो हॉब्स की प्राकृतिक दशा से ठीक विपरीत है। जहाँ हॉब्स के लिए प्राकृतिक दशा "निरन्तर युद्ध की स्थिति" है वहां लॉक के लिए प्राकृतिक दशा "सद्भावना", "पारस्परिक सहयोग और आत्मसुरक्षा" की दशा है। यह शत्रुता, ईर्ष्या या हिंसा की दशा नहीं। यह स्वतन्त्रता, समानता और निष्कपटता की दशा है। यह सामाजिक और नैतिक दशा है।

लॉक का मत है कि प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक कानून, जो विवेक पर आधारित थे, मानव के कार्यों का नियमन करते हैं। उसके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की व्यवस्था करते हैं। इन कानूनों के अधीन व्यक्ति जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति का उपयोग करते हैं। लॉक ने लिखा है कि "**व्यक्तियों को अपना कार्य करने, अपनी सम्पत्ति तथा अपने शरीर का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी यद्यपि यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक नियमों की सीमा के अन्दर होती थी परन्तु इसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी और उसे किसी दूसरे की इच्छा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था।**" लॉक लिखता है कि "प्राकृतिक दशा में सभी मानव समान हैं क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और एक ही सर्वशक्तिमान ईश्वर की सन्तान हैं। लॉक के अनुसार, 'ईश्वर के द्वारा बनाई गई किसी वस्तु को बिगाड़ने या नष्ट करने का अधिकार किसी मानव को नहीं।" "यदि अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं तो उसे दूसरे के जीवन को भी नष्ट करने का अधिकार नहीं। दूसरे के साथ उसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें।" लॉक का मत है कि व्यक्ति को अपना ही नहीं अपने भाई का भी रक्षक होना चाहिए।

3. सामाजिक समझौता—मानव प्रकृति और प्राकृतिक दशा की भांति सामाजिक समझौते के सम्बन्ध में लॉक और हॉब्स के विचारों में भिन्नता है। जहाँ हॉब्स के लिए समझौता केवल सामाजिक है, सम्प्रभु समझौते का एक पक्ष नहीं है बल्कि उसका परिणाम है और जहाँ हॉब्स के व्यक्तियों ने लेविआथन को अपने सम्पूर्ण अधिकार अर्पित करके उसे सर्वोच्च, असीमित, अविभाज्य एवं निरंकुश शक्तियाँ प्रदान कर दी हैं, वहाँ लॉक का समझौता सामाजिक होने के साथ राजनीतिक है, सम्प्रभु समझौते का एक पक्ष है, उसका परिणाम नहीं और समझौते द्वारा व्यक्तियों ने अपने सभी अधिकार सम्प्रभु को नहीं सौंपे बल्कि सीमित अधिकार सौंपे हैं। लॉक के लोगों ने सम्प्रभु को प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या करने, उन्हें कार्यान्वित करने एवं उनकी उल्लंघना करने वालों को दण्डित करने के अधिकार सौंपे हैं। सम्प्रभु की शक्ति असीमित नहीं बल्कि सीमित है, उसकी शक्ति न्याय या विश्वासाश्रित न्याय पर आधारित है।

लॉक के सामाजिक समझौते की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं :

(i) समझौता सामाजिक एवं राजनैतिक दोनों प्रकार का है।

(ii) सम्प्रभु समझौते का एक पक्ष है। समझौते की शर्तें उस पर लागू होती हैं। सम्प्रभु सीमित शक्तियों का उपयोग करता है।

(iii) नागरिक समाज की स्थापना के बाद भी व्यक्ति प्राकृतिक कानूनों के अधीन रहता है।

(iv) समझौता व्यक्ति की "सहमति" पर आधारित है। यह सहमति निश्चित या मौन हो सकती है, वाक्कारी नहीं।

(v) समझौता अविनाशी एवं अपरिवर्तनीय है।

(vi) लॉक के सामाजिक समझौते में बहुमत के शासन का सिद्धान्त निहित है।

4. सीमित सम्प्रभुता—लॉक के सामाजिक समझौते से स्पष्ट है कि शासक केवल सीमित शक्तियों का उपयोग करता है। वह इनका उपयोग सामान्य कल्याण के लिए करता है। वाहन ने लिखा है कि **"सत्ता को न्यास का रूप देकर लॉक शासन के सार्वजनिक नियन्त्रण की पर्याप्त व्यवस्था करता है।"** लॉक इस बात पर बल देता है कि **"राज्य लोगों के लिए है, लोग राज्य के लिए नहीं।" "शासन का उद्देश्य समुदाय की अच्छाई है।"**

लॉक ने शासन के विधायी, कार्यपालिका एवं न्यायिक तीन कार्य बताये हैं परन्तु उसने नहीं इन शक्तियों का केन्द्रीकरण कहीं किया। लॉक ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया फिर भी उसके चिन्तन में इसकी झलक मिलती है। लॉक व्यवस्थापिका को कॉमनवैल्थ की सर्वोच्च शक्ति मानता है। वह कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन रखता है परन्तु उसने कहीं भी व्यवस्थापिका को निरंकुश नहीं बनाया बल्कि उसे भी जनता की सर्वोच्च शक्ति के अधीन रखा है। व्यवस्थापिका केवल उन नियमों का निर्माण कर सकती है जो जन कल्याण के लिए हैं। लॉक लोगों को व्यवस्थापिका के विरुद्ध विद्रोह एवं क्रांति करने का अधिकार देता है, यदि वह नागरिक स्वतन्त्रताओं और सम्पत्ति का अपहरण करती है। लॉक ने कहा है कि **"यदि कोई व्यक्ति समाज या व्यक्ति-समूह के अधिकारों को नष्ट करने की चेष्टा और योजना बनाता है, यहाँ तक कि यदि उस समाज के विधायक भी इतने मूर्ख या भ्रष्ट हो जायें कि वे लोगों की स्वतन्त्रताओं और सम्पत्तियों का अपहरण करने लगें तो समाज अपने आपको बचाने के लिए सर्वोच्च शक्ति निरन्तर अपने पास रखता है।"**

लॉक के राज्य की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं :—

(i) समुदाय की अच्छाई—शासन का उद्देश्य समुदाय की अच्छाई है। लॉक का राज्य जनता के लिए है जनता राज्य के लिए नहीं।

(ii) राज्य का आधार सहमति है—राज्य के उदय एवं अस्तित्व के लिए निरन्तर 'सहमति' की आवश्यकता है। **लॉक** लिखता है कि "सहमति के बिना किसी व्यक्ति को राज्य का सदस्य नहीं बनाया जा सकता। सहमति निश्चित या मौन हो सकती है परन्तु वह बाध्यकारी नहीं होनी चाहिए। सहमति के अभाव में **लॉक "सत्ता के प्रयोग को अत्याचार"** कहता है।

(iii) संवैधानिक राज्य—लॉक का राज्य संवैधानिक राज्य है। यह विधि का शासन है। यह स्वेच्छाचारी आज्ञप्तियों का शासन नहीं। लॉक शासन की स्वविवेकी एवं संकटकालीन शक्तियों को स्वीकार करता है परन्तु वह उन्हें विधि के शासन का पूरक मानता है उसका प्रतिस्थापन नहीं। **लॉक** ने लिखा है कि **"जहाँ कानून का अन्त होता है वहाँ अत्याचार शुरू हो जाता है।"**

(iv) सीमित राज्य—लॉक का राज्य सीमित शक्तियों का उपयोग करता है। यह असीमित शक्तियों का उपयोग नहीं करता। लोक कल्याण के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए ही राज्य के पास विश्वासाश्रित शक्ति है। राज्य की शक्तियां प्राकृतिक नियमों द्वारा भी मर्यादित हैं। लॉक कहता है कि नागरिक कानून प्राकृतिक कानून के अनुरूप हो सकता है। **प्राकृतिक कानून राज्य की वैधता की कसौटी है। लॉक** ने कहा है कि **"सभी व्यक्तियों, विधायकों और अन्य के लिए प्राकृतिक कानून शाश्वत नियम हैं।" लॉक** ने अपनी रचना **"शासन पर दो निबन्ध"** में सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं किया।

(v) सहनशील एवं नकारात्मक राज्य—लॉक का राज्य विविध एवं परस्पर विरोधी विचारधाराओं को स्वीकार करता है। यह नकारात्मक इसलिये है कि यह नागरिकों के जीवन को सुधारने का प्रयास नहीं करता। यह केवल उस मात्रा तक जीवन को नियमित करता है जिस मात्रा में यह व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है।

आलोचना—लॉक के सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं:—

(i) मानव प्रकृति का अपूर्ण विवरण—हॉब्स की भांति लॉक मानव प्रकृति के एक पहलू पर बल देता है। यदि हॉब्स मानव को आसुरी गुणों से युक्त मानता है तो लॉक उसे दैवत्व के गुणों से युक्त मानता है। वास्तविकता यह है कि मानव अच्छाई और बुराई दोनों का पुतला है। मानव इतना विवेकयुक्त नहीं जितना लॉक उसे मानता है, राजनीतिक समाधान इतने स्पष्ट नहीं होते जितना लॉक उन्हें समझता है।

(ii) सहमति का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण—लॉक के लिए निश्चित या मौन स्वीकृति या राज्य के क्षेत्र में रहना मात्र सहमति है। परन्तु यह "सहमति" के खोखलेपन को स्पष्ट करता है। सर्वसत्तावादी शासनों में जिस "जन सहमति" को प्राप्त किया जाता है उसे "सहमति" की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

(iii) **सम्पत्ति की गलत धारणा**—लॉक की धारणा है कि सम्पत्ति की रक्षा हेतु व्यक्ति नागरिक जीवन में शामिल हुए हैं और राज्य का मुख्य उद्देश्य उसकी रक्षा करना है परन्तु सम्पत्ति की यह धारणा पूँजीवाद और उससे उत्पन्न होने वाली बुराइयों (शोषण, अन्याय, अनुचित लाभ आदि) को जन्म देती है।

(iv) **स्वतन्त्रता पर आवश्यकता से अधिक बल**—लॉक के सिद्धान्त में स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया गया है जबकि समानता की उपेक्षा की गई है। **हेरिंगटन** ने ठीक लिखा है कि **"जिस समाज में वर्ग और सम्पत्ति की खाई अधिक चौड़ी होती है वहां स्वतन्त्रता असम्भव है।"**

(v) **पुलिस राज्य**—लॉक का राज्य एक पुलिस राज्य है। यह लोक-कल्याणकारी राज्य नहीं। इसका निर्माण व्यक्तियों की सम्पत्ति की रक्षा हेतु हुआ है, उनके विकास हेतु नहीं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी लॉक के विचारों में उदारवाद, संविधानवाद और व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक मिलती हैं। इसमें लोक-प्रभुता के तत्त्व विद्यमान हैं। इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि यदि शासक सत्ता का दुरुपयोग करता है या जनहित के विरुद्ध कार्य करता है तो लोग शासक को अपदस्थ कर सकते हैं तथा नये शासक को चुन सकते हैं।

C. जीन जैक्स रूसो के सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—जीन जैक्स रूसो ने अपनी रचनाओं **"असमानता के उदय पर एक निबन्ध"** और **"सोशल कान्ट्रैक्ट"** में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की जो व्याख्या की है उसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(i) **मानव प्रकृति** (Human Nature)—मानव प्रकृति के सम्बन्ध में रूसो हॉब्स और लाक के विचारों का **मध्य मार्ग** अपनाता है। उसकी धारणा है कि मानव न तो हॉब्स के मानव की भाँति स्वार्थी, अहमी, दुष्ट, कपटी, संघर्षशील और आक्रामक है और न लाक के मानव की भाँति शान्तिप्रिय, सहयोगी, सहिष्णु एवं प्रेमी है। रूसो का मानव प्राकृतिक दशा में पूर्ण आनन्द का जीवन व्यतीत करता है। वह स्वतन्त्र, सन्तुष्ट और आत्म-निर्भर है। आकस्मिक और क्षणिक मेल के अतिरिक्त, जो उसकी प्रजाति को कायम रखने के लिए आवश्यक है, अन्य कोई चीज उसे अपने साथियों से मिलने के लिए प्रेरित नहीं करती। उसका जीवन सरल, व्यक्तिगत और एकाकी है।

रूसो की प्राकृतिक दशा का मानव जंगली है, दुष्ट नहीं है। वह घमण्डी या मिथ्याभिमानी नहीं। वह दूसरों को हानि पहुँचाने का इच्छुक नहीं। उसमें न स्वार्थ है न बौद्धिक कुशलता। उसे स्वत्व का ज्ञान नहीं। उसे मेरी और तेरी का, नैतिकता और अनैतिकता का, अच्छाई और बुराई का ज्ञान नहीं। उसमें न छल है न कपट। उसका जीवन एकाकी है परन्तु वह स्वतन्त्र, तुष्ट, आत्म-सन्तुष्ट, स्वस्थ, निर्भय जीवन व्यतीत करता है। उसे न अपने साथियों की आवश्यकता है, न समाज

की। उसमें प्रवृत्तियाँ हैं, चिन्तन नहीं। उसमें विवेक, भाषण और न्याय की भावना का अभाव है। संक्षेप में, जैसाकि डनिंग ने कहा है **"रूसो का मानव न तो मान्टेस्क्यू का भीरू और दबकाया हुआ जीव है और न ही हॉब्स का क्रियाशील और आक्रामक राक्षस। वह तो भला चंगा असभ्य जीव (Noble savage) है।"**

(ii) प्राकृतिक दशा (State of Nature)—रूसो ने प्राकृतिक दशा का वर्णन बड़े ही काव्यात्मक (Idyllic) ढंग से किया है। उसके लिए प्राकृतिक दशा, यदि वह कभी विद्यमान थी, एकाकीपन की दशा है और प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में जीवन व्यतीत करता है। उसमें भाषा का अभाव होने से विचारों का अभाव है। व्यक्ति की आवश्यकतायें अस्थाई हैं। उसमें अनैतिकता नहीं, धोखाधड़ी नहीं। रूसो की धारणा है कि समाज ने विवेक, विज्ञान और नैतिकता को जन्म दिया और उसने ही विकारों को जन्म दिया। **"सोशल कान्ट्रैक्ट"** में रूसो लिखता है कि **"व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।" तभी तो रूसो ने "प्रकृति की ओर वापस चलो" के सूत्र का निर्माण किया।** रूसो लिखता है कि **"हमें हमारा अज्ञान, हमारा भोलापन, हमारी गरीबी लौटा दो; जो हमें प्रसन्न रख सकती है।"**

रूसो इस बात को स्वीकार नहीं करता कि प्राकृतिक दशा में विवेक मानव जीवन को नियमित करता है। प्राकृतिक दशा का मानव केवल आत्म रक्षा और करुणा के सिद्धान्तों पर कार्य करता है जो विवेक से पूर्व है। प्राकृतिक दशा में विवेक के स्थान पर संवेग ही मानव आचरण को नियमित करते हैं।

(iii) सामाजिक समझौता (Social Contract)—रूसो का मत है कि प्राकृतिक दशा से सामाजिक दशा में परिवर्तन जनसंख्या की एकाएक वृद्धि, सम्पत्ति, के विकास, तर्क के उदय तथा इनके साथ उत्पन्न होने वाली नागरिक सहयोग और समानता की भावनाओं ने नागरिक समाज को उत्पन्न किया। रूसो ने लिखा है कि **"उस व्यक्ति ने जिसने सबसे प्रथम भूमि के टुकड़े को घेरकर यह कहा कि यह मेरा है तथा जिसको दूसरों ने स्वीकार कर लिया, वह नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था।"**

रूसो का मत है कि मानव पर मानव की सत्ता का केवल एक आधार है और वह है—सहमति और समझौता। समझौते की किस्म भी एक है जिसमें स्वतन्त्रता बनी रहती है और सत्ता स्थापित हो जाती है। यह समझौता है जिसमें असंख्य व्यक्ति सामूहिक एकता अर्थात् समाज का रूप ग्रहण करते हैं। रूसो ने **जिस सूत्र पर नागरिक समाज को आधारित किया है वह यह है "हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुष और अपने सभी अधिकारों को सामान्य इच्छा के निर्देशन में एक समूह में रखता है और एक संगठन के रूप में हम उन्हें सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में प्राप्त करते हैं।"** इससे "सामूहिक मैं" का जन्म होता है जो सामूहिक एकता है, जो नैतिकता है। इसका अपना जीवन, अपनी इच्छा और अपना अस्तित्व है।

यह सार्वजनिक पुरुष है। यह राजनीतिक निकाय है। इसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से राज्य, सम्प्रभु शक्ति कहा जाता है। इसके सदस्यों को जनता, नागरिक और प्रजाजन कहा जाता है।

रूसो के समझौते की विशेषता यह है कि जिस समझौते द्वारा वह सामूहिक एकता (राज्य) को उत्पन्न करता है, उसी के द्वारा वह व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है। रूसो लिखता है कि **"क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्ण अधिकार समुदाय को अर्पित करता है अतः समानता सुनिश्चित हो जाती है अर्थात् सब व्यक्ति शून्य बनकर समान हो जाते हैं।"** स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में रूसो लिखता है कि **"प्रत्येक व्यक्ति जब अपने-आपको पूर्ण समाज के समक्ष अर्पित करता है तो वह किसी विशेष व्यक्ति को अर्पित नहीं करता और क्योंकि समाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसके ऊपर हमें वे अधिकार न हों जो उसे प्राप्त हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति उतना ही प्राप्त करता है जितना कि वह खोता है और जो कुछ उसके पास शेष रह जाता है उसके लिए उसे अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है।"**

रूसो एक साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समानता की बात करता है और उसी समय व्यक्ति का राज्य में पूर्ण विलीनीकरण भी करता है।

(iv) सम्प्रभुता (Sovereignty)—रूसो की सम्प्रभुता की विशेषता यह है कि यह हॉब्स या लाक की भांति किसी व्यक्ति (राज्य) में निहित नहीं। यह समाज या समुदाय में निहित है। रूसो किसी वाह्य शक्ति को सम्प्रभु नहीं बनाता बल्कि स्वयं समाज या समुदाय को ही सम्प्रभु बनाता है। इस तरह रूसो ने पहली बार लोक-प्रभुता का बिगुल बजाया और वह आधुनिक प्रजातन्त्रवासियों का पूर्वगामी बन गया।

रूसो का सामाजिक समझौता सम्प्रभु से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का हल पेश करता है। समझौते द्वारा निर्मित राजनीतिक निकाय सर्वोच्च शक्ति (सम्प्रभुता) की स्वामिनी है। यही "सामूहिक मैं" है जो नैतिक और सामूहिक एकता है। इसका अपना उद्देश्य, जीवन और इच्छा है। रूसो ने लिखा है कि "अपने व्यक्तित्व और अपनी सारी शक्ति को सभी व्यक्ति सर्वमान्य रूप में सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन को सौंप देते हैं और अपनी संयुक्त दशा में प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण समाज के अविभाजित अंश के रूप में प्राप्त करते हैं।"

रूसो के लिए सम्प्रभुता "सामान्य इच्छा की कार्यान्विति के अतिरिक्त कुछ नहीं।" यदि इच्छा की अभिव्यक्ति सामान्य हित के अनुरूप नहीं तो वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं और इसमें सम्प्रभुता के गुण नहीं। केवल सामान्य इच्छा के कार्य को उचित कानून कहा जा सकता है।

रूसो की सम्प्रभुता के लक्षण वे ही हैं जो हॉब्स की सम्प्रभुता के हैं अर्थात् सम्प्रभुता अदेय, अविभाज्य और निरंकुश है। रूसो लिखता है कि "सम्प्रभुता का

हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता। इसका प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। इसका विभाजन करना इसे खण्डित करना है।" **रूसो** कहता है कि "ज्योंही राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है वह स्वतन्त्र नहीं रहता, वह विद्यमान नहीं रहता।" **रूसो** लिखता है कि "ज्योंही कोई स्वामी होता है, सम्प्रभु नहीं रहता।" सामान्य इच्छा के रूप में सम्प्रभु अभ्रान्त, सत्य और नित्य है।

रूसो के सम्प्रभु की विशेषता यह है कि वह निरंकुश एवं असीमित शक्तियों का उपयोग करते हुए भी **"सामान्य हित" से मर्यादित है।** सम्प्रभु वह कार्य नहीं कर सकता जो सामान्य हित में नहीं। परन्तु रूसो व्यक्ति को सामान्य इच्छा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं देता। उसने लिखा है कि "यदि कोई सामान्य इच्छा के आदेशों की पालना नहीं करता तो उसे उसके लिए बाध्य किया जायेगा। अर्थात् उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा।"

सामान्य इच्छा

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के राजनीतिक चिन्तन का मूल आधार है। इसके माध्यम से रूसो ने राजनीति शास्त्र के अनेक प्रश्नों—"स्वतन्त्रता और सत्ता, हित और कर्त्तव्य, व्यक्ति और सार्वभौमिकता" के समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

अर्थ, परिभाषा एवं व्याख्या—रूसो की धारणा है कि व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छायें हैं—(i) **यथार्थ इच्छा** (Actual Will) और (ii) **आदर्श इच्छा** (Real Will)। यथार्थ इच्छा वह इच्छा है जब व्यक्ति किसी विषय पर व्यक्तिगत हित या स्वार्थ की भावना से सोचते या कार्य करते हैं। यथार्थ इच्छा भावना प्रधान, स्वार्थी, संकीर्ण, संकुचित, पक्षपातपूर्ण, विवेकहीन एवं विकारयुक्त इच्छा है। यह परिवर्तनशील, अस्थिर एवं कामना प्रधान इच्छा है। यह अशुभ एवं अनैतिक इच्छा है। **दांते जर्मीनो** ने व्यक्ति की यथार्थ इच्छा को कामनवैल्थ का **"रोग"** कहा है। दूसरी ओर, आदर्श इच्छा वह इच्छा है जब व्यक्ति सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित होते हैं तथा कार्य करते हैं। व्यक्ति की यह इच्छा निजी स्वार्थ को निम्न स्थान देती है। आदर्श इच्छा समाज प्रधान, ज्ञानयुक्त, निःस्वार्थ, व्यापक, विवेकपूर्ण एवं नैतिक इच्छा होती है। जहां यथार्थ इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' की अभिव्यक्ति है वहाँ आदर्श इच्छा उसके उच्च या 'श्रेष्ठ स्व' की अभिव्यक्ति है।

रूसो की **"सामान्य इच्छा समुदाय का हित है।"** यह व्यक्तियों की आदर्श, पवित्र, शुभ एवं शुद्ध इच्छाओं का निचोड़ होने से सबके कल्याण की बात सोचती है। यह किसी व्यक्ति विशेष, वर्ग विशेष या बहुमत के कल्याण का विचार नहीं करती। यह सबके कल्याण का विचार करती है। **वेपर** ने कहा है कि **सामान्य**

इच्छा "सबकी भलाई के निमित्त सबकी आवाज है।"[1] बोसांके का मत है कि सामान्य इच्छा "सम्पूर्ण समाज या समस्त व्यक्तियों की इच्छा है जहाँ तक उनका उद्देश्य सामान्य है।" टी. एच. ग्रीन का मत है कि सामान्य इच्छा "सामान्य हित की सामान्य चेतना है।"[2]

सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा नहीं। यह जनमत नहीं। यह सर्वसम्मति नहीं। यह सब की इच्छा (Will of all) नहीं। रूसो की धारणा है कि बहुमत या जनमत या सर्व-सम्मति या सबकी इच्छा भी विशिष्ट इच्छाओं से प्रभावित हो सकती है। जो तत्त्व इच्छा को सामान्य इच्छा बनाता है वह संख्यात्मक बहुमत नहीं सामान्य कल्याण एवं सामान्य हित की भावना है। जैसा कि रूसो ने लिखा है कि "मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सामाजिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनाती है जिसके द्वारा वे एकता में बंधते हैं। सामान्य इच्छा और सबकी इच्छा में भेद करते हुए रूसो लिखता है कि जहाँ सामान्य इच्छा सामान्य हित से सम्बन्धित है वहाँ सबकी इच्छा विशिष्ट इच्छाओं का जोड़ है जो समाज में निजी हितों की प्रतिद्वन्द्विता के पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न होता है। रूसो लिखता है कि "सामान्य इच्छा का पता लगाने के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थिति यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा से पूछे कि अमुक विषय पर सामान्य इच्छा क्या है। यदि वह अपने निजी पसंदगियों या हितबद्ध समूहों की पसंदगियों से पूछता है तो वह सामान्य इच्छा का मिथ्याकरण है, उसकी सही अभिव्यक्ति नहीं।" दांते जर्मोनो ने लिखा है कि "सामान्य इच्छा पूर्ण का प्रबुद्ध हित है, यह संख्यात्मक बहुमत की इच्छा का आरोपण मात्र नहीं।"

सामान्य इच्छा की विशेषतायें— रूसो की सामान्य इच्छा की वही विशेषतायें हैं जो हॉब्स के लेविआथन की हैं। रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स के लेविआथन की भांति सर्वोच्च, असीमित, अमर्यादित, अपरिवर्तनीय, अविभाज्य, अदेय, अप्रतिनिध्यात्मक और अभ्रान्त है। इसमें एकता, स्थिरता और निरन्तरता के गुण विद्यमान हैं। आइवर ब्राउन ने लिखा है कि "रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स का लेविआथन है परन्तु इसका सिर कटा हुआ है।" एक अन्य लेखक के अनुसार "रूसो की वाणी हॉब्स की वाणी है परन्तु हाथ लॉक के हैं।"

रूसो की सामान्य इच्छा की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

1. अदेयता—सामान्य इच्छा अदेय है। इसका हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता। रूसो लिखता है कि ज्योंही इसका हस्तान्तरण किया जाता है त्योंही

---

1. "It is the voice of all for the good of all." Wayper, C.L.: Political Thought P. 144.
2. General will "is the common consciousness of the common end."
—Green, T. H.

स्वामी का जन्म होता है और स्वामी की धारणा सामान्य इच्छा की धारणा के विपरीत है।

2. अप्रतिनिध्यात्मक—सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। रूसो लिखता है कि इच्छा का कभी प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। रूसो को प्रतिनिधि सभाओं में विश्वास नहीं था। वह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थक था। उसके लिए डिप्टी (प्रतिनिधि) प्रबन्धक या आयुक्त है। जो चीज उसे प्रदान की जाती है वह शक्ति है, इच्छा नहीं। रूसो लिखता है कि "अंग्रेज लोग समझते हैं कि वे स्वतन्त्र होते हैं परन्तु वे भ्रम में हैं। वे केवल निर्वाचन के समय ही स्वतन्त्र होते हैं ज्योंही निर्वाचन समाप्त हो जाते हैं वे पुनः दास हो जाते हैं। वे कुछ भी नहीं रहते।"

3. अविभाज्यता—सम्प्रभु अविभाज्य है अर्थात् सामान्य इच्छा का विभाजन नहीं हो सकता। इसका विभाजन करना इसका खण्डन करना है। यह अवश्य ही "सम्पूर्ण एवं निश्चल" रूप में सम्पूर्ण समुदाय के पास रहनी चाहिए। जिस प्रकार जीव अपने अस्तित्व को नष्ट किये बिना अपना विभाजन नहीं कर सकता उसी प्रकार राजनीतिक समाज अपने आपको नष्ट किये बिना सम्प्रभुता को विभाजित नहीं कर सकता।

4. अवैयक्तिक एवं निःस्वार्थ—सामान्य इच्छा का स्वरूप अवैयक्तिक एवं निःस्वार्थी है। यह किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग या समूह विशेष से सम्बन्धित नहीं, इसका उद्देश्य सामान्य हित है। यह केवल जनकल्याण और जन-सेवा की भावना से प्रेरित होती है।

5. सत्यता—सामान्य इच्छा सामान्य हित पर आधारित होने से शुभ, शुद्ध और कल्याणमयी है। बुद्धि और विवेक पर आधारित होने से यह कभी गलती नहीं करती। यह सदैव सत्य है।

6. सर्वोच्च शक्ति—सामान्य इच्छा सर्वोत्तम एवं सार्वभौम शक्ति है। इसमें वाध्य करने और अपने आदेशों की अनुपालना कराने की शक्ति है। रूसो ने कहा है कि "जो कोई भी सामान्य इच्छा को मानने से इनकार करता है उसे पूर्ण समाज द्वारा मानने के लिए वाध्य किया जायेगा अर्थात् उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा।" सार्वजनिक कल्याण में वाध्यकारी शक्ति होती है।

7. एकता—सामान्य इच्छा विवेक पर आधारित होती है। इसमें कोई परस्पर विरोध नहीं होता। इसमें विभिन्नता में एकता पाई जाती है। ए. आर. लार्ड ने कहा है कि "यह राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती है और उसे बनाये रखती है। यह उन गुणों में अभिव्यक्त होती है जो हमें किसी राज्य के नागरिकों से आशा करनी चाहिए।

8. निरन्तरता—सामान्य इच्छा कोई ऐसी चीज नहीं जिसे एक बार व्यक्त कर दिया जाय, यह नित्य की चीज है। इसका नित्य नवीनीकरण होना चाहिए।

यह सहमति पर आधारित है। आने वाली सन्तानें इसका निरन्तर समर्थन कर इसका नवीनीकरण करती रहती हैं।

9. कानूनों का स्रोत—सामान्य समुदाय की इच्छा सामूहिकता की इच्छा है। कोई भी मानव समुदाय अपने कल्याण के विरुद्ध कानूनों का निर्माण नहीं कर सकता। अतः सामान्य इच्छा कानूनों का स्रोत है, न्याय का स्रोत है, उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक, वैध-अवैध का मापदण्ड है।

स्वतन्त्रता एवं समानता का पोषक—सामान्य इच्छा का सिद्धान्त केवल निरपेक्ष सम्प्रभुता का ही पोषक नहीं, यह व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता का भी पोषक है। रूसो की धारणा है कि व्यक्ति राज्य का सदस्य बनकर ही वास्तविक स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है; उसके बाहर वह अपनी पशुता का दास है। राज्य की सदस्यता उसे नैतिक प्राणी बनाती है। रूसो व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता दोनों की रक्षा करता है। वह लिखता है कि "क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्ण अधिकार समुदाय को अर्पित करता है अतः समानता सुनिश्चित रहती है अर्थात् सब व्यक्ति शून्य बनकर समान हो जाते हैं।" स्वतन्त्रता के बारे में रूसो लिखता है कि "प्रत्येक व्यक्ति जब अपने-आपको पूर्ण समाज के समक्ष अर्पित करता है तो वह किसी व्यक्ति विशेष को अर्पित नहीं करता और क्योंकि समाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसके ऊपर हमें वे अधिकार न हों जो उसे हमारे ऊपर प्राप्त हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति उतना ही प्राप्त करता है जितना कि वह खोता है। जो कुछ उसके पास शेष रह जाता है उसके लिए उसे अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है।"

आलोचना (Criticism)—रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं—

1. अनिश्चित एवं अस्पष्ट—रूसो की सामान्य इच्छा अनिश्चित, अस्पष्ट एवं विरोधाभासों से भरपूर है। **प्रथम,** किसी अमुक विषय पर सामान्य इच्छा का पता लगाना कठिन है क्योंकि रूसो के लिए 'सबकी इच्छा', 'सर्व सम्मति' या "बहुमत की इच्छा" सामान्य इच्छा नहीं। **दूसरे,** रूसो के लिए एक व्यक्ति की इच्छा भी सामान्य इच्छा है। यदि वह सामान्य हित से प्रेरित है। **तीसरे,** रूसो सामान्य इच्छा को सर्वदा सत्य मानता है, परन्तु वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता कि उसकी सत्यता कौन निश्चित करेगा।

2. कोरा आदर्शवाद—सामान्य इच्छा की धारणा कोरा आदर्शवाद है। यह काल्पनिकता है। इसमें व्यावहारिकता का अभाव है। रूसो की यह धारणा मिथ्या है कि लोग सार्वजनिक सभाओं में आदर्श इच्छा को अभिव्यक्त करेंगे। सार्वजनिक सभाओं या सम्मेलनों में लोग विवेक या आदर्श से नहीं, भावनाओं से प्रभावित होते हैं। लोग ज्ञानियों या समाजसेवकों से प्रभावित नहीं होते, वे चालबाज नेताओं से प्रभावित होते हैं। कानून सर्वदा सामान्य हितों को लेकर निर्मित नहीं होते हैं, वे विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए भी निर्मित किये जाते हैं।

3. सामान्य इच्छा न सामान्य है न इच्छा—"सामान्य इच्छा" में रूसो व्यक्ति की केवल आदर्श इच्छाओं को शामिल करता है जबकि "सामान्य" शब्द आदर्श इच्छा को अभिव्यक्त करता है और "इच्छा" यथार्थ इच्छा को अभिव्यक्त करती है। किसी ने ठीक कहा है कि जहाँ तक सामान्य इच्छा सामान्य है, वहाँ तक वह इच्छा नहीं और जहाँ तक वह इच्छा है वहाँ तक वह सामान्य नहीं।

4. राज्य की निरंकुशता—रूसो ने सामान्य इच्छा पर व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता को न्यौछावर कर दिया है। रूसो के इस वाक्य ने "जो कोई सामान्य इच्छा को मानने से इनकार करता है उसे पूर्ण समूह की बात मानने के लिए बाध्य किया जायेगा अर्थात् उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा।" लोक कल्याण के नाम पर हिटलर और मुसोलिनी जैसे अधिनायकों को जन्म दिया है। रूसो सामान्य इच्छा के विरुद्ध किसी विरोध को स्वीकार नहीं करता। वह उसका दमन करता है। यह शुद्ध निरंकुशतावाद है।

5. शासन का न्यून महत्त्व—रूसो की सामान्य इच्छा में सरकार का महत्त्व कम है। सरकार और उसके पदाधिकारी सम्प्रभु जनता के अभिकर्त्ता मात्र हैं। शासन एक समिति है जो प्रदत्त शक्तियों का उपयोग करती है।

6. प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त की अस्वीकृति—रूसो प्रतिनिधि संस्थाओं को स्वीकार नहीं करता। वह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थक है। परन्तु आधुनिक विशाल राज्यों में प्रतिनिधित्व प्रणाली के अतिरिक्त लोगों की इच्छाओं को जानने का कोई और विकल्प नहीं।

7. समुदायों की अस्वीकृति—रूसो समाज में चर्च, श्रमिक संघों, राजनीतिक दलों आदि के रूप में छोटे समुदायों की उपस्थिति को अनावश्यक समझता है जबकि बहुलवादियों के लिए समुदाय का महत्त्व राज्य के महत्त्व के समान है। दैनिक अनुभव समुदायों की आवश्यकता और उपयोगिता को सिद्ध करता है।

8. व्यक्ति के अहरणीय अधिकारों का अभाव—रूसो की सामान्य इच्छा में व्यक्ति के अहरणीय अधिकारों का कोई स्थान नहीं। जो सामान्य कल्याण लोगों की स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित नहीं होता वह कोई कल्याण नहीं। दूसरों द्वारा निर्धारित कल्याण न कल्याण है न स्वतन्त्रता।

9. त्रुटिपूर्ण—सामान्य इच्छा का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। यह जानना बहुत कठिन है कि व्यक्ति की कोई इच्छा स्वार्थ से प्रभावित है या किसी सामान्य कल्याण से। यथार्थ और आदर्श इच्छा का विभाजन कृत्रिम है।

महत्त्व उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने प्रजातन्त्र के मार्ग को प्रशस्त किया है और सरकार को 'सहमति', 'सहयोग' और सार्वजनिक कल्याण पर आधारित किया है। यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि "राज्य का आधार इच्छा है शक्ति नहीं।" इसने सामान्य हित

पर वल देकर लोक कल्याण की भावनाओं को प्रेरित किया है। रूसो प्रजातन्त्र का "उच्चतम पुजारी" है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त एक गलत इतिहास, गलत दर्शन एवं गलत कानून है।

अनेक लेखकों ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की प्रशंसा की है, परन्तु अनेक ने इसकी आलोचना भी की है। आलोचकों ने इसे **एक महान् कल्पना** एवं **"महान् धोखा"** कहा है। **मेन** इसे "साररहित" मानता है; **ग्रीन** इसे केवल **"गप्प"** कहता है; **वुल्जे** इसे "सर्वथा मिथ्या" मानता है; **बेन्थम** इसे केवल "मनोरंजन का खिलौना" मानता है; **पोलक** इसे "एक अति सफल परन्तु आत्मघाती राजनीतिक कपट" कहकर निन्दा करता है; **ब्लंशली** इसे "खतरनाक" मानता है; **गिलक्राइस्ट** इसे असत्य और अवास्तविक मानता है। इसे "गलत इतिहास, गलत दर्शन और गलत कानून" भी कहा गया है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की **आलोचना** मुख्यतः निम्न आधारों पर की गई है—

1. गलत इतिहास (Bad History)—इस सिद्धान्त के समर्थकों की सवसे वड़ी त्रुटि यह है कि वे अपने विचार की तार्किकता से चिन्तित थे, उसकी ऐतिहासिकता से नहीं। वे इस समस्या से चिन्तित नहीं थे कि इतिहास में राज्य का आरम्भ कैसे हुआ। वे उस समय के राजनीतिक एवं नागरिक सम्वन्धों के लिए तर्कपूर्ण आधार निश्चित करना चाहते थे और इसलिए उन्होंने प्राकृतिक दशा और सामाजिक समझौते की कल्पना की।

प्राकृतिक दशा का वर्णन कोरी कल्पना मात्र है। यह स्वीकार करना कठिन है कि इतिहास में कभी ऐसी प्राकृतिक दशा रही होगी जव मानव किसी लिखित या अलिखित कानूनों, रूढ़ियों या परम्पराओं के विना रहते थे। समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने यह वताने का प्रयास किया है कि हर समय में व्यक्ति किसी न किसी परम्परागत नियमों के अधीन रहा है। प्रारम्भिक समाज में कानून व्यक्तिगत होने के स्थान पर सामूहिक थे और व्यक्ति के स्थान पर परिवार समाज की इकाई था।

दूसरे, इतिहास में कोई ऐसे उदाहरण नहीं मिलते जिनसे ये सिद्ध होता हो कि प्राकृतिक दशा के व्यक्तियों ने समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की हो। अनेक वार 1620 के **'मे फ्लावर'** नाम के जहाज के 101 यात्रियों का उदाहरण दिया जाता है, जिन्होंने समझौते द्वारा अपने आपको नागरिक समाज में संगठित किया। परन्तु जहाज के यात्री प्राकृतिक दशा के व्यक्ति नहीं थे। वे एक राजनीतिक समाज (इंगलैण्ड) के नागरिक थे जो पहले राजनीतिक सत्ता के अधीन रह चुके थे।

तीसरे, समाज का विकास, जैसाकि **सर हेनरी मेन** ने कहा है, "स्थिति से संविदा की ओर हुआ है, संविदा (समझौते) से स्थिति की ओर नहीं हुआ।" **मेन** कहता है कि "संविदा आरम्भ नहीं है वल्कि यह समाज का लक्ष्य है।" **गेटेल** का मत है कि "प्रारम्भिक समाजों में परिवार इकाई था, सम्पत्ति सबकी साझी थी, रीति-रिवाज से कानून निर्मित होते थे और प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने स्तर के अन्दर पैदा होता था।"

2. गलत कानून (Bad Law)—सामाजिक समझौते का सिद्धान्त गलत कानून है। कानूनी दृष्टि से समझौते का कोई आधार नहीं। समझौते को लागू करने के लिए किसी स्वतन्त्र, सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता होती है जबकि इसके समर्थकों का कहना है कि समझौते के फलस्वरूप कामनवैल्थ (राज्य) का निर्माण हुआ। जब समझौते की अनुपालना और उसकी उल्लंघना करने वालों को दण्डित करने वाली कोई शक्ति नहीं तो समझौता निराधार हो जाता है। यदि यह मान लिया जाय कि समझौते द्वारा राज्य का निर्माण हुआ तो इस बात को स्वीकार करना कठिन है कि समझौता आने वाली सन्तानों पर लागू होता है। समझौता सम्बन्धित पक्षों पर ही लागू हो सकता है, आने वाली सन्तानों पर नहीं। **बेन्थम** ने कहा है कि "मैं राज्य के आदेशों का पालन इसलिए नहीं करता कि मेरे पितामह ने जार्ज तृतीय के पितामह के साथ समझौता किया था बल्कि मैं आदेशों का पालन इसलिए करता हूँ कि विद्रोह से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।"

3. गलत दर्शन (Bad Philosophy)—दार्शनिक आधार पर भी यह सिद्धान्त गलत है। **प्रथम**, प्राकृतिक दशा में अधिकारों और स्वतन्त्रता की बात करना कोरी कल्पना है, वास्तविकता नहीं। अधिकार सत्ता या राज्य के बिना नागरिक के कोई अधिकार या स्वतन्त्रतायें नहीं हो सकतीं। जहाँ राज्य या समाज नहीं वहाँ कोई अधिकार नहीं। कानून स्वतन्त्रताओं की पहली शर्त है। कानून के विद्यमान होने से ही स्वतन्त्रता बनी रह सकती है।

दूसरे, सामाजिक समझौते के अनुसार राज्य व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है तथा राज्य की सदस्यता ऐच्छिक है। ये दोनों बातें असत्य हैं। **अरस्तू** ने कहा है कि "राज्य एक प्राकृतिक या स्वाभाविक संस्था है; यह कोई कृत्रिम या निर्मित संस्था नहीं।" **बर्क** ने भी कहा है कि "राज्य किसी फर्म या व्यवसाय की तरह नहीं है जो कि अस्थाई रूप से बनायी गयी हो तथा पक्षों की इच्छा पर भंग की जा सकती हो। यह हमारे आदर और श्रद्धा का पात्र है।" राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं होती, अनिवार्य होती है।

तीसरे, यह सिद्धान्त नागरिकों की स्वतन्त्रता और राज्य के अस्तित्व दोनों के लिए खतरनाक है। हॉब्स का लेवियाथन निरंकुशता की मूर्ति है और उसका समझौता दासता का चार्टर है। यद्यपि रूसो सामान्य इच्छा को सामान्य हित से

मर्यादित करता है परन्तु उसकी सामान्य इच्छा भी हॉब्स का सिर विहीन लेवियाथन है। सामान्य इच्छा "व्यक्ति को स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य कर सकती है" जिसका वास्तविक अर्थ है कि व्यक्ति सामान्य इच्छा का दास है। रूसो के पास नागरिक अधिकारों का कोई सिद्धान्त नहीं। वह अपने नागरिकों को सामान्य इच्छा के विरोध का अधिकार ही नहीं देता। यद्यपि हॉब्स व्यक्ति को अन्ततः विरोध का अधिकार देता है, परन्तु वह निश्चित नहीं कर सका कि यह अधिकार कब और किस प्रकार निश्चित होगा और इसका निर्णय कौन करेगा कि ऐसा अधिकार उत्पन्न हो गया है। हॉब्स के दर्शन में 'विरोध' का तत्त्व राज्य को अस्थिर बनाता है।

चौथे, यह सिद्धान्त राज्य के उदय और विकास की यान्त्रिक व्याख्या करता है। राज्य का क्रमिक विकास हुआ है, इसका निर्माण नहीं हुआ।

पाँचवें, यह सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है। यह समझ में नहीं आता कि प्राकृतिक दशा का विवेकशून्य, रक्त पिपासु व्यक्ति एकाएक विवेकशील एवं सहयोगी प्राणी कैसे बन गया। यह सिद्धान्त केवल कल्पना मात्र है। इसका कोई ऐतिहासिक, कानूनी या दार्शनिक आधार नहीं। यह मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक एवं राजनीतिक दृष्टि से गलत है।

महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त ने **'सहमति'** एवं **'स्वीकृति'** पर महत्त्व देकर प्रजातन्त्र के मार्ग को प्रशस्त किया है। इसने स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे के सूत्रों का निर्माण किया जिन्होंने निरंकुशतावाद के विरुद्ध जिहाद खड़ा कर दिया। **लॉक के सिद्धान्त ने संविधानवाद को जन्म दिया और रूसो की सामान्य इच्छा ने लोक प्रभुता और जन कल्याण के विचारों को जन्म दिया।**

5. ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों की कल्पना की गयी है। **रॉबर्ट, फिलमर, बांसे जैसे लेखकों और जेम्स प्रथम जैसे राजाओं** का विश्वास है कि राज्य एक दैवी संस्था है और 'राजा पृथ्वी पर ईश्वर की साँस लेती हुई मूर्तियाँ हैं।" **लीकॉक, जैक्स, ओपेनहीमर, वाल्टेयर, बर्नहार्डी** और **ट्राट्स्की** जैसे लेखकों की धारणा है कि "युद्ध ने राजाओं को जन्म दिया" अर्थात् राज्य शक्ति का परिणाम है। **सोफिस्ट लेखक** "न्याय को शक्तिशाली का हित" कहते थे। **हॉब्स, लॉक** और **रूसो जैसे अनुबन्धवादी** लेखक राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानते हैं जिसका निर्माण व्यक्तियों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए किया है। ये लेखक राज्य को व्यक्ति के समझौते का परिणाम मानते हैं। **एम. लेनन, जैक्स तथा मार्गन** जैसे मातृ सिद्धान्त के समर्थक एवं सर **हेनरी मेन** जैसे पितृ सिद्धान्त के समर्थक राज्य को परिवार का विस्तार मात्र समझते हैं।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त सभी सिद्धान्त आंशिक रूप से ही सत्य हैं। इनमें कोई एक सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नहीं करता। **गार्नर** ने कहा है कि **"राज्य न तो ईश्वर की रचना है, न यह किसी उच्च शक्ति का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या अनुबन्ध की रचना है और न किसी परिवार का विस्तार है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।"**

राज्य कोई कृत्रिम या निर्मित संस्था नहीं है। इसका विकास क्रमिक रूप से हुआ है। जैसाकि **बर्गेस** ने कहा है कि "राज्य मानव समाज का एक क्रमिक एवं अविच्छिन्न विकास है जिसका आरम्भ अत्यन्त अधूरे एवं विकृत परन्तु उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्त होकर व्यक्तियों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर विस्तृत हुआ है।" **एडमण्ड बर्क** का मत है कि **"राज्य का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ है। वह दीर्घकालीन निश्चय तथा विकास का परिणाम है।"**

राज्य का विकास किसी एक तत्त्व या कारण से नहीं हुआ। इसका विकास किसी एक देश, समाज या समय विशेष का परिणाम नहीं। इसके विकास में अनेक बड़े-छोटे तत्त्वों का योगदान रहा है। **एम. रथनास्वामी** का मत है कि "राज्य के विकास में धर्म, रीति-रिवाज, कानून, संस्थाओं, सरकार, सभ्यता, संस्कृति, विचार, उद्योग" आदि का योगदान रहा है। **प्रो. गिडिंग्स** ने राज्य के विकास में "सैनिक, धार्मिक, उदार, कानूनी तथा नैतिक" तत्त्वों का उल्लेख किया है। **टी. हाब्सहाउस** ने "रक्त सम्बन्ध, अधिकार एवं नागरिकता" का उल्लेख किया है। राज्य के विकास में विभिन्न मानवीय रुचियों, आवश्यकताओं, आदर्शों एवं तत्सम्बन्धी प्रयत्नों का योगदान रहा है। इसमें मानव विवेक, उसकी सूझबूझ एवं उसके चयन की प्रवृत्ति ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

राज्य के विकास में मुख्यतः निम्न तत्त्वों की भूमिका रही है—

1. सामाजिक प्रवृत्ति (Social Instinct)—मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहना पसन्द करता है। उसकी उत्पत्ति, विकास और पोषण मानव समाज में होता है। वह समाज के विना या उसके बाहर अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी सामाजिक प्रवृत्ति सामाजिक संगठन को जन्म देती है और राज्य सभी मानवीय संगठनों में सर्वोच्च संगठन है। **अरस्तू** ने इन्हीं अर्थों में राज्य को एक प्राकृतिक एवं स्वाभाविक संगठन माना है। **अरस्तू** ने लिखा है कि "जब मानव को पृथक् कर दिया जाता है तो वह स्वावलम्बी नहीं रहता है। वह पूर्ण के सम्बन्ध में एक भाग है। जो समाज में रहने योग्य या जिसे समाज की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं में स्वावलम्बी है, वह या तो पशु है या देवता, वह राज्य का भाग नहीं।"

2. रक्त सम्बन्ध (Kinship of Blood Relationship)—राज्य के विकास में रक्त सम्बन्ध का अत्यधिक योगदान रहा है। यह मानव संगठन का पहला

या मूल स्रोत है। प्राचीन समाज इसी के द्वारा संगठित एवं व्यवस्थित था। **रक्त सम्बन्ध अर्थात् पुत्रत्व से भाईचारे और पिता से मुखिया को जन्म मिला। रक्त से परिवार, परिवार से गोत्र और गोत्र से कबीले ने जन्म लिया।** प्रत्येक कबीले का वयोवृद्ध व्यक्ति समूह का सरदार होता था और सरदार उस कबीले का सेनापति, शासक, पुरोहित एवं न्यायाधीश होता था। **मैकाइवर** ने ठीक ही लिखा है कि **"रक्त सम्बन्ध समाज की रचना करता है और समाज अन्ततः राज्य की रचना करता है।"**

रक्त सम्बन्ध में मेल-जोल का ऐसा गुण है जिसने जातियों को संगठित किया तथा उसमें संगठन, एकता, घनिष्ठता, अनुशासन, सामूहिक जीवन व आज्ञापालन के ऐसे गुण पैदा किये जो राज्य के उदय, विकास तथा अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। **रक्त सम्बन्ध ने "सामान्य चेतना, सामान्य हित और सामान्य उद्देश्य" का विकास किया जो राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य तत्त्व है। गेटेल** ने लिखा है कि "रक्त सम्बन्ध से परस्पर अधीनता एवं एकता के भाव पुष्ट हुए जो राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य हैं।"

3. धर्म (Religion)—रक्त सम्बन्ध की भाँति धर्म ने भी राज्य के विकास में भूमिका निभाई है। रक्त सम्बन्ध ने जिस निकटता और घनिष्ठता को जन्म दिया, धर्म ने उसे सुदृढ़ किया। धर्म ने रक्त सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न एकता, आज्ञापालन, अनुशासन एवं व्यवस्था में निष्ठा एवं औचित्य के भाव पैदा कर दिये। तभी तो **गेटेल** ने कहा है कि **"रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं।" गिलक्राइस्ट** का मत है कि **"प्राचीन परिवार उतना ही धार्मिक संघ था जितना कि यह एक स्वाभाविक संघ था।"**

प्राचीन समाज में व्यक्ति धर्मभीरु थे। वे मृत्यु, आँधी, तूफान, सूर्य, चाँद, तारे, विजली आदि प्राकृतिक घटनाओं को नहीं समझते थे। परिणामस्वरूप उन्होंने इनकी पूजा करना शुरू कर दिया। भारत एवं चीन जैसे देशों में आधुनिक समय में भी मृतकों को आदर एवं श्रद्धा से देखा एवं पूजा जाता है। कुल देवता को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना, उपासना, वलिदान आदि का सहारा लिया जाता है।

धर्म ने जादूगर राजा और पुरोहित राजा को जन्म दिया। प्राचीन समाज में धम और राजनीति घुले-मिले थे, धर्मगुरु राजा था, राजा ही धर्मगुरु था और राजा ही धर्म-रक्षक था। प्राचीन सुमेरिया के इतिहास में पुरोहित राजा का उदाहरण मिलता है। प्राचीन भारतीय राज्यों में राज्य के मामलों में प्रमुख पुरोहित की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। टर्की का खलीफा राजनीतिक अध्यक्ष होने के साथ-साथ धार्मिक अध्यक्ष भी था।

धर्म मानव की भूख है, उसकी आस्था और निष्ठा है। यही कारण है कि धार्मिक स्वीकृति कानूनी स्वीकृति से अधिक शक्तिशाली होती है। प्राचीन समाज में

धर्म कानून की स्वीकृति थी और धार्मिक स्वीकृति व्यक्ति के समूचे जीवन को नियन्त्रित करती थी। यह उसके कर्मकाण्डों और आदर्शों को निश्चित करती थी। धर्म ने बर्बरतापूर्ण अराजकता का दमन किया और भक्ति एवं आज्ञापालन की शिक्षा दी।

आधुनिक समाजों में भी धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। आधुनिक राज्य प्रायः धर्म-निरपेक्ष हैं। धर्म को व्यक्ति का निजी क्षेत्र समझा जाता है। फिर भी अनेक राज्य धर्म पर आधारित हैं। उदाहरणतः पाकिस्तान इस्लाम धर्म पर आधारित है और इंगलैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट धर्म का अनुयायी ही सिंहासन पर बैठ सकता है। भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है फिर भी इसकी राजनीति धर्म से प्रभावित है।

4. शक्ति एवं वर्ग संघर्ष—शक्ति ने भी राज्य के विकास में अत्यधिक योगदान दिया है। शक्ति राज्य का स्थायी आधार नहीं। फिर भी वाह्य आक्रमणों से रक्षा, आन्तरिक व्यवस्था और न्याय व्यवस्था के लिए शक्ति एक अनिवार्य तत्त्व है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि **"युद्ध ने राजा को जन्म दिया।"** बलशाली कबीले ने निर्बल कबीलों को पराजित कर उन्हें अपने अधीन कर लिया। विश्व में बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना युद्ध या पशु बल के आधार पर हुई है। उदाहरणतः ब्रिटिश एवं रोम साम्राज्यों की स्थापना शक्ति द्वारा हुई थी।

बीसवीं शताब्दी की अनेक विचारधारायें शक्ति, हिंसा या युद्ध पर आधारित हैं। फासीवादी, नाजीवादी विचारधारायें शक्ति को 'न्याय', 'सही' और 'व्यवस्था' मानती हैं। **मुसोलिनी** का कहना था कि "बिना खून बहाये कोई जीवन नहीं"; **हिटलर** के लिए "सतत युद्ध में ही मानव महान् बनता है, सतत शान्ति में मानवता नष्ट होती है।" साम्यवादी विचारधारा 'विश्व साम्यवाद' का संकल्प लिए हुए है। प्राचीन असभ्य जीवन से लेकर आधुनिक सभ्य जीवन तक सर्वोपयुक्त के बचे रहने (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। विश्व की महाशक्तियाँ अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए शक्ति पर निर्भर करती हैं। अस्त्र-शस्त्रों की होड़ शक्ति संचयन का तरीका है।

मार्क्स तथा उस जैसी विचारधारा रखने वाले लोगों की मान्यता है कि इतिहास विरोधी आर्थिक वर्गों की कहानी है। वर्ग-संघर्ष इतिहास को समझने की कुँजी है। **मार्क्स और ऐंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र में लिखा है कि "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।"** मार्क्स का विश्वास है कि विकास दो परस्पर विरोधी आर्थिक वर्गों के संघर्ष के कारण हुआ।

5. आर्थिक आवश्यकतायें (Economic Needs)—आर्थिक आवश्यकताओं ने भी राज्य के विकास में सहयोग दिया है। प्लेटो का मत है कि राज्य का उदय व्यक्ति की अनेक आवश्यकताओं से होता है। कोई भी व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे से सहयोग करता है और

"पारस्परिक आर्थिक निर्भरता के बन्धन द्वारा राज्य रूपी संगठन में संगठित हो जाता है।" आर्थिक आवश्यकताओं ने सेवाओं के उचित विनिमय श्रम विभाजन और कार्य विशिष्टीकरण को जन्म दिया।

मैकियावली, हॉब्स, लॉक तथा मान्टेस्क्यू आदि लेखकों का विश्वास है कि आर्थिक तत्त्व अत्यधिक बलशाली होते हैं। कार्ल मार्क्स ने तो परिवर्तन की सारी *प्रक्रिया को आर्थिक आवश्यकताओं में ढूँढने का प्रयास किया। शिकार, पशुपालन,* कृषक और औद्योगिक अवस्थायें आर्थिक विकास के विभिन्न चरण हैं। कृषक अवस्था ने निजी सम्पत्ति को जन्म दिया जिसने अन्ततः विवादों को उत्पन्न किया। सम्पत्ति ने सुरक्षा, युद्ध और दासता की समस्याओं को उत्पन्न किया। सम्पत्ति ने सरकार की आवश्यकता पर बल दिया। **एडम स्मिथ** का मत है कि **"जहाँ सम्पत्ति नहीं वहाँ सरकार की आवश्यकता भी नहीं। मैकाइवर** का मत है कि **"सम्पत्ति की अन्तर्क्रियाओं"** ने राज्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। *नियम, कानून, न्याय और व्यवस्था की मान्यतायें सम्पत्ति की रक्षा के प्रश्न से ही* उत्पन्न हुई हैं। सम्पत्ति ने धनिक और निर्धन, पूँजीपति और सर्वहारा, शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया है आदि।

6. राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)-- राजनीतिक चेतना का अर्थ है सामान्य समस्याओं का ज्ञान, सामान्य उद्देश्यों के प्रति जागरूकता और उनकी प्राप्ति के लिए इच्छा। यह कहना बहुत कठिन है कि लोगों में राजनीतिक संगठन के लिए सामान्य राजनीतिक चेतना का विकास कब हुआ। इतना अवश्य है कि इसका विकास होने पर ही राजनीतिक संगठन (राज्य) का उदय हुआ। **अमर नन्दी** ने कहा है कि **"सहज प्रवृत्ति और उद्देश्य, स्वाभाविक भावना और विवेचित पसन्द राज्य के विकास में महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे हैं।"** लोगों में राजनीतिक चेतना का विकास तब हुआ जब उनके समक्ष जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, बाह्य आक्रमणों से रक्षा, आन्तरिक व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक विकास की सामान्य समस्यायें उत्पन्न हुईं। इनका समाधान करने हेतु लोग राज्य के आदेशों और आज्ञाओं को मानने के लिए तैयार हो गये।

संक्षेप में, राज्य का निर्माण नहीं हुआ। यह क्रमिक विकास का परिणाम है जिसमें अनेक तत्त्वों ने अपना योगदान दिया है। इस सिद्धान्त का महत्त्व यह है कि यह "संस्थाओं के वास्तविक अध्ययन, ऐतिहासिक सापेक्षता और गत्यात्मकता" पर बल देता है।

समीक्षा प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का परीक्षण करें तथा उसकी सीमाओं को इंगित करें। (Raj. 1983)
2. रूसो की सामान्य इच्छा अवधारणा का मूल्यांकन करें। लोकतन्त्र में इसके महत्त्व को समझाइये। (Raj. 1985, Suppl. 1979)

3. "राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।"—(ग्रीन); इस कथन के सन्दर्भ में राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी शक्ति सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए। (Raj. 1981)
4. "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त गलत इतिहास, गलत कानून और गलत दर्शन है।" इस कथन के सन्दर्भ में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए। (Raj. 1980)
5. "राज्य का विकास हुआ है, निर्माण नहीं।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (Raj. Suppl. 1984)
6. "राज्य न तो ईश्वर की कृति है, न किसी उच्च व्यक्ति का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव अथवा सम्मेलन की सृष्टि है और न ही किसी परिवार का विस्तार मात्र है।"—(गार्नर); इस कथन को ध्यान में रखते हुए राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त (ऐतिहासिक सिद्धान्त) का विवेचन कीजिए। (Raj. Suppl. 1986)
7. प्राकृतिक अवस्था एवं सामाजिक समझौते के सम्बन्ध में हॉब्स, लॉक तथा रूसो के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (Raj. 1986, Suppl. 1985; Ajmer 1988)
8. "राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते का सिद्धान्त आधुनिक सम्प्रभुता की अवधारणा के विकास में सहायक हुआ है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए एवं सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को समझाइये। (Raj. 1985)
9. राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी किस सिद्धान्त को आप सबसे अधिक उचित मानते हैं और क्यों? (Raj. 1984, Suppl. 1985)
10. आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति द्वारा ही हुई है? (Raj. 1981)
11. "रूसो की सामान्य इच्छा निरंकुशता को प्रोत्साहन देती है।" तर्क सहित स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1981)
12. रूसो द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त विषयक विचारों का परीक्षण कीजिए। (Raj. 1978)
13. सामान्य इच्छा पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (Raj. Suppl. 1986)
14. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त (ऐतिहासिक सिद्धान्त) की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (Raj. 1987)

9

राज्य का कार्यक्षेत्र-अहस्तक्षेप एवं अन्य सिद्धान्त

(Sphere of State Activity -Laissez-Faire and Other Theories)

परिचय—जिस प्रकार राज्य के अर्थ और राज्य उत्पत्ति के बारे में लेखकों में एकमत नहीं पाया जाता, उसी प्रकार राज्य की प्रकृति (स्वरूप) और उद्देश्य के बारे में भी लेखकों में एकमत नहीं पाया जाता। **प्लेटो और अरस्तू** जैसे ग्रीक लेखकों के लिए राज्य एक प्राकृतिक नैसर्गिक और स्वाभाविक संस्था है जिसका उदय मानव आवश्यकताओं के लिए हुआ और जिसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए बना हुआ है। **सोफिस्टों और हॉब्स, लाक तथा रूसो** जैसे अनुबन्धवादियों के लिए राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों ने अपनी आवश्यकताओं के लिए किया है। **हीगल** जैसे आदर्शवादियों के लिए राज्य साध्य और व्यक्ति साधन है। **हर्बर्ट स्पेन्सर** जैसे आंगिक सिद्धान्त के समर्थकों के लिए राज्य एक जीवधारी रचना है। **जॉन ऑस्टिन** जैसे विधिवेत्ताओं के लिए राज्य एक क़ानूनी रचना है अर्थात् राज्य कानून का शिशु एवं पिता दोनों है। **वैन्थम** जैसे उपयोगितावादियों के लिए राज्य एक उपयोगी संस्था होने से विद्यमान है। **लीकॉक, वर्नहार्डी, ट्रीश्चे, नीश्चे** जैसे लेखकों एवं **हिटलर और मुसोलिनी** जैसे अधिनायकवादियों के लिए राज्य सत्ता एवं शक्ति का प्रतीक है। **जे. एस. मिल** एवं **हर्बर्ट स्पेन्सर** जैसे व्यक्तिवादियों के लिए राज्य एक आवश्यक बुराई है। **क्रोपोटकिन, बेकुनिन** जैसे अराजकतावादियों के लिए राज्य एक अनावश्यक बुराई है। **मेटलैण्ड, एच. जे. लास्की** जैसे बहुलवादियों के लिए राज्य एक समुदाय है। **एटली, डरबिन, टॉनी और जवाहरलाल नेहरू** जैसे लोकतान्त्रिक समाजवादियों एवं फेवियनवादियों के लिए राज्य एक धनात्मक अच्छाई है। **मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, माओ** तथा उनकी सन्तानों के लिए राज्य एक वर्गीय संस्था है जिसका उदय बुर्जुआ वर्ग के हितों की रक्षा हेतु हुआ और जिसका अस्तित्व सर्वहारा वर्ग के शोषण के लिए विद्यमान है।

कुछ अन्य लेखकों के लिए राज्य मानवीय प्रेरणाओं की उच्चता का प्रतिनिधित्व करता है। इसका उद्देश्य नैतिक मानदण्डों को ऊँचा उठाना है, इसका प्रमाण चिन्ह न्याय है, इसका सार कानून है जो लोक कल्याण के लिए लोक सहमति पर आधारित है। आधुनिक समय में राज्य के प्रति दृष्टिकोण अनुभवमूलक है। राज्य को कार्यों के आधार पर अच्छा या बुरा कहा जाता है। लोक कल्याण, प्रजातन्त्र और मानवता आज के राज्य के मानदण्ड हैं; राष्ट्रीय सुरक्षा, व्यवस्था, कल्याण एवं विकास आधुनिक राज्य के मुख्य कार्य हैं।

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

1. अहस्तक्षेप का (व्यक्तिवादी) सिद्धान्त
या
राज्य एक आवश्यक बुराई है
या
वह सरकार सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करती है

यह विचार व्यक्तिवादी लेखकों का है। इसके मूल समर्थक हैं—**जे. एस. मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, सुमनर, लूथर, मिल्टन, लॉक, स्पिनोजा, माण्टेस्क्यू, वाल्तेयर आदि।** ये लेखक यथेच्छाचारिता (अहस्तक्षेप—Laissez-faire) की नीति में विश्वास करते हैं। इनकी धारणा है कि व्यक्ति को अकेला छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह अपने हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और राज्य को उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। **फ्रीमेन** ने कहा है कि **"शासन का सर्वोत्तम रूप शासन का अभाव है। किसी रूप में शासन का अस्तित्व मानव की अपूर्णता का सूचक है।"**

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं। राज्य आवश्यक इसलिए है कि व्यक्ति अपूर्ण है। उसमें अपराध की भावना है; उसमें अतिक्रमण की प्रवृत्ति है: वह स्वार्थी और लालची है। इस प्रकार की समाज विरोधी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य की आवश्यकता है। जैसाकि **विलोबी** ने कहा है कि **"मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के लिए राज्य सत्ता की आवश्यकता है।" स्पेन्सर** का विश्वास है कि **"राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध की भावना विद्यमान है।"** राज्य बुराई इसलिए है कि प्रत्येक कानून या नियम जो राज्य द्वारा बनाया जाता है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करता है। इस तरह **व्यक्तिवादी प्रतिबन्ध के अभाव को स्वतन्त्रता कहते हैं। उनके लिए राज्य और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी हैं।** सुमनर ने लिखा है कि "यह हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि हम इस विकल्प का त्याग नहीं कर सकते; या तो स्वतन्त्रता, असमानता और सर्वोत्तम व्यक्तियों की विजय हो या परतन्त्रता, समानता और दुष्टों की विजय हो। पहला विकल्प समाज को आगे

बढ़ाता है तथा समाज के सर्वश्रेष्ठ सदस्यों का पक्ष लेता है; दूसरा समाज का पतन करता है और उसके दुष्ट व्यक्तियों की रक्षा करता है।"

व्यक्तिवादी राज्य को केवल पुलिस कार्य सौंपना चाहते हैं। वे राज्य के कार्यों को सीमित रखना चाहते हैं। वे राज्य को केवल वाह्य आक्रमण से सुरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्य सौंपना चाहते हैं। वे राज्य के कार्यक्षेत्र को बढ़ाना नहीं चाहते। जैसाकि स्पेन्सर ने लिखा है कि **"राज्य पारस्परिक आश्वासन के लिए संयुक्त सुरक्षा कम्पनी है। ....मैं केवल सुरक्षा के लिए राज्य के साथ बीमा करता हूँ, किसी अन्य चीज के लिए नहीं।"** स्पेन्सर लिखता है कि **"राज्य का मुख्य कार्य रक्षा करना तथा मर्यादित करना है न कि पोषण करना और समुन्नत करना।"**

व्यक्तिवादियों ने, विशेषकर जे. एस. मिल ने, व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बाँटा है। एक वे कार्य हैं जिनका प्रभाव मानव तक सीमित है; दूसरे वे कार्य हैं जिनका प्रभाव समाज के अन्य सदस्यों पर पड़ता है। व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब व्यक्ति के कार्यों का दूसरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अन्यथा व्यक्ति को अकेला छोड़ देना चाहिए। **जे. एस. मिल** ने लिखा है कि "सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध सत्ता का समुचित प्रयोग केवल एक ही उद्देश्य से किया जा सकता है और वह है दूसरों को हानि से बचाना।" इस तरह व्यक्तिवादी मानव के केवल उस व्यवहार में हस्तक्षेप की आज्ञा देते हैं जहाँ उसका प्रभाव दूसरों पर प्रतिकूल पड़ता है।

व्यक्तिवादी व्यक्ति को निम्न क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं—

विचारों की स्वतन्त्रता के बारे में मिल लिखता है कि "यदि सम्पूर्ण समाज एक विचार का है और केवल एक व्यक्ति ही विरोधी विचारधारा का है तो मानव जाति के लिए उसे शान्त रखना उसी प्रकार न्यायसंगत नहीं होगा जिस प्रकार यदि वह व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने पर दूसरे व्यक्तियों को चुप करा दे।" मिल की धारणा है कि किसी विचार का आरम्भ में ही दमन करना, चाहे वह कानूनी दण्ड द्वारा किया गया हो या जनता द्वारा निन्दित करके किया गया हो, सत्य का गला घोंटना है। मिल का विश्वास है कि **विरोधी विचारधारा ही सत्य की परख है।** मिल कहता है कि **यह आवश्यक नहीं कि परम्परागत या सर्वमान्य विचार अवश्य ही सत्य हों, वे असत्य भी हो सकते हैं।** सरकार बहुमत और सामाजिक **कुलीनतन्त्र अचल नहीं होते।** यह भी सम्भव है कि आज कुछ झक्की ऐसे विचारों को मानते हों जिन्हें आने वाली सन्तानें ठीक समझें और उनका अनुसरण करें।

व्यक्तिवादी प्रतिबन्ध की नीति को व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक मानते हैं। प्रतिबन्ध या हस्तक्षेप से व्यक्ति की योग्यताओं का दमन होता है;

अन्त:प्रेरणा और आत्मनिर्भरता नष्ट होती है; कार्य करने की प्रवृत्ति, स्वावलम्बन तथा निर्णय लेने की शक्ति का ह्रास होता है; उत्तरदायित्व की भावना निर्वल होती है; चरित्र पंगु बन जाता है; व्यक्ति निरुद्यमी और आलसी बन जाता है। संक्षेप में, हस्तक्षेप की नीति से व्यक्ति का विकास रुक जाता है।

व्यक्तिवादी **आर्थिक क्षेत्र में** भी व्यक्ति को **स्वतन्त्रता** देने के पक्ष में हैं। उनका विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित है। **एडम स्मिथ** ने लिखा है कि "वाणिज्य और उद्योग यदि निजी साहसिक उपक्रम पर छोड़े जायें तो अधिक समृद्ध होते हैं।" उसका विश्वास है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता से व्यक्ति क्रियाशील बनते हैं; समाज की प्रगति होती है; उत्पादन में वृद्धि होती है; मूल्य स्वत: नियमित होते हैं; पूँजी और श्रम की स्वतन्त्र गति को प्रोत्साहन मिलता है। व्यक्तिवादियों का विश्वास है कि राज्य के नियमन द्वारा अयोग्य और आलसी व्यक्तियों को बढ़ावा मिलता है। इससे योग्य व्यक्तियों पर बोझ पड़ता है।

व्यक्तिवादी व्यक्ति को **कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता देना** चाहते हैं। उनकी धारणा है कि राज्य को कभी भी व्यक्ति के कार्यों को निर्धारित नहीं करना चाहिये। कार्य अर्थात् व्यवसाय की स्वतन्त्रता कुशलता और दक्षता के लिये अनिवार्य है।

संक्षेप में, व्यक्तिवादी राज्य की मूल मान्यतायें निम्न हैं—

1. यह आदर्शवादी सिद्धान्त के विपरीत है। इसका केन्द्र बिन्दु व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता है।
2. यह स्वतन्त्रता के नकारात्मक रूप पर बल देता है।
3. यह व्यक्ति को साध्य मानता है और राज्य को साधन।
4. इसके लिए राज्य एक आवश्यक बुराई है।

आलोचना—व्यक्तिवादी राज्य की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. **राज्य आवश्यक बुराई नहीं**—आधुनिक लोक-कल्याणकारी विचारधारा राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानती बल्कि धनात्मक अच्छाई मानती है। आज का राज्य केवल सुरक्षा और व्यवस्था ही नहीं करता बल्कि पोषण और विकास भी करता है। अरस्तू ने कहा है कि '**राज्य का उदय जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ, परन्तु उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।**"

राज्य व्यक्तिगत प्रगति का आवश्यक माध्यम है। जैसा कि **बर्क** ने कहा है कि **"राज्य की समूचे विज्ञान में साझेदारी है, सारी कला में साझेदारी है एवं सारे गुण और पूर्णता में साझेदारी है।"**

2. **कानून स्वतन्त्रता का रक्षक है, भक्षक नहीं**—व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का नकारात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं सकारात्मक नहीं। उचित नियन्त्रण में ही उचित

स्वतन्त्रता का उपयोग किया जा सकता है। स्वतन्त्रता नियन्त्रण की अनुपस्थिति नहीं बल्कि उचित नियमों की उपस्थिति है। कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं और दूसरों के आक्रमण से रक्षा करते हैं। लीकॉक ने कहा है कि "पूर्ण स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्ति को मिल सकती है।"

3. व्यक्ति सदैव अपने हितों का सर्वोत्तम संरक्षक नहीं होता—व्यक्तिवादियों का यह दृष्टिकोण संकुचित है कि व्यक्ति सदैव अपने हितों का संरक्षक है। वस्तुतः स्वार्थ, लाभ और ईर्ष्या की भावनायें शोषण, अन्याय और विषमताओं को जन्म देती हैं जो निश्चय ही व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकारक हैं। **वार्कर ने** ठीक ही कहा है कि **"मिल कोरी स्वतन्त्रता और अमूर्त व्यक्ति का पैगम्बर ही रहा है।"**

4. स्वतन्त्र प्रतियोगिता हानिकारक है—सबल अर्थात् धनाढ्य के लिए स्वतन्त्र प्रतियोगिता भले ही लाभदायक हो, परन्तु निर्धन के लिए यह निश्चित ही हानिकारक है। इससे श्रमिकों की दीनता, भूख और अयोग्यता बढ़ती है। आधुनिक समय के सभी राज्यों में न्यूनाधिक मात्रा में नियमन की व्यवस्था है।

5. यथेच्छाचारिता दोषपूर्ण है—यथेच्छाचारिता "सर्वोपयुक्त के बचे रहने" के सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु यह सिद्धान्त हानिकारक है। यह कुशल डाकू व लुटेरे को जीवित रहने का अधिकार देता है और ईमानदार, परन्तु निर्धन कारीगर को जीवन से वंचित करना चाहता है।

2. अराजकतावादी सिद्धान्त या राज्य एक अनावश्यक बुराई है

यह विचार अराजकतावादी लेखकों का है। इसके मूल समर्थक हैं—**गॉडविन, हॉजस्किन, प्रोधाँ, थोरो, वारेन, टकर, टॉलस्टॉय, गांधी, विनोबा, बेकुनिन, क्रोपोटकिन** आदि। इन लेखकों की मान्यता है कि राज्य एक दूषित संस्था है जो अनुपयुक्त, अनावश्यक, अवांछनीय तथा अस्वाभाविक है। इनकी धारणा है कि राज्य एक हानिकारक संस्था है जिसने सभ्यता और मानवता को पतन की ओर धकेला है। अराजकतावादी लेखक अरस्तू के इस विचार से सहमत नहीं कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है। ये व्यक्तिवादियों के इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। इसके लिए राज्य एक अनावश्यक बुराई है जिसे एक **"भयंकर तूफान"** द्वारा नष्ट कर देना चाहिए।

अराजकतावादी राज्य को शक्ति का प्रतीक मानते हैं जो मानवीय अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का शत्रु है। इनके लिए राज्य दुर्गुणों की खान है। राज्य युद्ध, हिंसा, अन्याय, शोषण, असमानता, अत्याचार, हत्या, घृणा आदि को बढ़ावा देता है। **बेकुनिन** का विचार है कि' **प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली का उद्देश्य पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का संगठन एवं समर्थन करना है।** क्रोपोटकिन ने लिखा है कि " समस्त सरकारें चाहे उनका स्वरूप राजतन्त्रात्मक हो, वैधानिक हो या गण-

तान्त्रिक हो कुलीन वर्ग, पादरियों और व्यापारियों के हितों की बलपूर्वक रक्षा करती हैं।" अराजकतावादी पूँजीवादी और प्रजातन्त्रवादी दोनों प्रकार के राज्यों को नष्ट करना चाहते हैं। ये प्रजातन्त्रवादी राज्य को व्यावसायिक वकीलों, व्यावसायिक पादरियों आदि के लिये उपयोगी मानते हैं। यही कारण है कि बेकुनिन को प्रजातान्त्रिक प्रणाली से उतनी ही आपत्ति थी जितनी की निरंकुश या स्वेच्छाचारी शासन से।

अराजकतावादी शक्ति और सत्ता दोनों को मानव के लिए हानिकारक मानते हैं। बेकुनिन ने कहा है कि "शक्ति उन्हें........भ्रष्ट करती है जो उसका संचालन करते हैं और उन्हें भी भ्रष्ट करती है जिन्हें उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है।" **क्रोपोटकिन** ने लिखा है कि "एक दुष्ट पतित मन्त्री भी सम्भवतः एक बहुत ही अच्छा व्यक्ति होता यदि उसके हाथों में राज्य की शक्ति नहीं होती।"

अराजकतावादी व्यक्ति को स्वभावतः विवेकशील, शान्तिप्रिय, सहयोगी और शुभेच्छु, प्राणी मानते हैं। इनका कहना है कि आर्थिक विषमतायें, जिन्हें राज्य अपनी शक्ति द्वारा स्थायी बनाये रखता है, व्यक्ति को स्वार्थी, पद-लोलुप, ईर्ष्यालु और निर्दयी बनाती हैं। **राज्य निर्दोष को कपटी व दोषी बनाता है और सज्जन को अपराधी बनाता है।** इनका कहना है कि "प्रथम तो राज्य निरपराध व्यक्ति को अपराधी बनाता है और फिर उसे अपराधी होने के अभियोग में दण्डित करता है।"

अराजकतावादी बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से भी राज्य को पतनकारी मानते हैं। इनका विश्वास है कि जो शासन करते हैं तथा जो शासित होते हैं दोनों के लिए राज्य पतनकारी है। राज्य प्रोत्साहन की अपेक्षा आदेश, दमन और शक्ति से काम लेता है। जिस कार्य में आदेश या निर्देश का भाव रहता है उसमें बौद्धिक और नैतिक गुणों का अभाव होता है। कार्य तभी नैतिक माना जाता है जब उसे स्वेच्छा से किया जाता है। मानव के सर्वोत्तम कार्य वे हैं जो अन्तरात्मा से प्रेरित होते हैं। जैसा कि **क्रोपोटकिन ने** कहा है कि **"वही नैतिकता सच्ची नैतिकता है जो स्वाभाविक हो गई हैं। थोपी गयी नैतिकता, नैतिकता नहीं होती।"**

अराजकतावादी, विशेषकर क्रोपोटकिन; राज्य का न तो कोई प्राकृतिक औचित्य मानते हैं और न कोई ऐतिहासिक महत्त्व। राज्य मानव की स्वाभाविक सहकारी प्रवृत्तियों के भी विरुद्ध है। क्रोपोटकिन के लिए तो राज्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के भी विपरीत है। उसका विश्वास है कि कानून या तो अनावश्यक है या हानिप्रद। आज के कानूनों में कुछ तो ऐसे रीति-रिवाज हैं जो समाज के लिए लाभप्रद हैं। अतः वे बिना राज्य की स्वीकृति के मान्य रहेंगे और कुछ नियम

ऐसे हैं जिनका पालन, सम्पत्ति के स्वामियों के लिए हितप्रद होने के कारण, सत्ता के भय से होता है। **गॉडविन** का विश्वास है कि **"विधि निर्माण सभी देशों में धनवानों के पक्ष में तथा निर्धनों के विपक्ष में होता है।"**

अराजकतावादी राज्य की रक्षात्मक और परोपकारी सेवाओं को लाभकारी नहीं मानते। इनकी धारणा है कि जनता स्वयं कार्य करते हुए आन्तरिक लुटेरों तथा विदेशी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा कर सकती है। इनका कहना है कि इतिहास से सिद्ध होता है कि राज्य की स्थायी सेवायें नागरिक सेनाओं द्वारा पराजित हुई हैं और आक्रामक लोक-विद्रोह द्वारा विफल कर दिये गये हैं। इनकी धारणा है कि कारागार अपराधों को रोकने की अपेक्षा उन्हें फैलाने में अधिक सफल होते हैं। अराजकतावादी राज्य के सांस्कृतिक एवं परोपकारी कार्यों को भी अनावश्यक मानते हैं। इनकी धारणा है कि जब व्यक्ति आर्थिक एवं राजनीतिक पराधीनता से मुक्त हो जायेंगे तो वे स्वयं स्वेच्छा से शिक्षा एवं दानशीलता के लिए आवश्यक बातों की व्यवस्था कर लेंगे।

अराजकतावादियों की धारणा है कि शिक्षा, विज्ञान, साहित्य, कला आदि का विकास व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण हुआ है, राज्य सत्ता या शक्ति के कारण नहीं। राज्य ने सर्वदा इनके विकास में बाधा प्रस्तुत की है।

संक्षेप में, अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक एवं हानिकारक संस्था मानते हैं। इसके लिए राज्य का केवल एक कार्य है 'अपने मृत्यु-पत्र पर हस्ताक्षर कर अपना अन्त कर लेना।'

आलोचना—राज्य के सम्बन्ध में अराजकतावादियों के अधिकांश तर्क अतिशयोक्तिपूर्ण असत्य, अवांछनीय एवं हानिकारक हैं। इनके तर्क सत्यांश से दूर हैं। विचारधारा के रूप में यह प्रायः मृत हो गये हैं। इसके मुख्य दोष निम्न हैं—

1. राज्य का उन्मूलन न तो वांछनीय है और न सम्भव—अराजकतावादी राज्य का पूर्ण उन्मूलन चाहते हैं जो न तो वांछनीय है और न सम्भव। कोई भी ऐच्छिक समुदाय राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं को दे नहीं सकता क्योंकि उसके पास न तो इनके लिए साधन होते हैं और न क्षमता, ज्ञान व योग्यता। राज्य केवल वाह्य आक्रमणों से सुरक्षा या आन्तरिक व्यवस्था नहीं करता बल्कि वह न्याय व्यवस्था स्थापित करता है, भिन्न-भिन्न समुदायों में सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करता है, राज्य कला, संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान दर्शन आदि का पोषक एवं रक्षक है। आज के अणु युग एवं जटिल समाज में राज्यविहीन समाज की कल्पना मिथ्या है।

2. 'अधिकार सत्त' अनिवार्य है—अराजकतावादी अधिकार सत्ता से छुटकारा पाना चाहते हैं। परन्तु अधिकार सत्ता से छुटकारा पाना असम्भव है। जहाँ कहीं मानव और उसके द्वारा स्थापित संस्थायें विद्यमान हैं वहाँ अन्तिम निर्णय

के लिए अधिकार सत्ता अनिवार्य है। राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य अधिकार सत्ता को ढूँढना कठिन है क्योंकि राज्य ही निष्पक्ष, अवैयक्तिक एवं सार्वजनिक भावना से कार्य कर सकता है।

3. राज्य का अभाव अराजकता को जन्म देगा—राज्य के संरक्षण और कानून की व्यवस्था के अभाव में समाज में अराजकता फैलने का भय रहता है। राज्य के अभाव में समाज में "जंगल का नियम" एवं "जिसकी लाठी उसी की भैंस" का नियम फैल जायेगा।

4. कानून स्वतन्त्रता का भक्षक नहीं, रक्षक है—यद्यपि कुछ कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक हो सकते हैं परन्तु अधिकांश कानूनों का उद्देश्य स्वतन्त्रता को वास्तविक बनाना है। कानून उच्छृंखलता को मर्यादित करते हैं। जैसाकि सिसरो ने कहा है कि **"हम स्वतन्त्र होने के लिए बन्धन में रहते हैं।"**

5. राज्य कल्याणकारी संस्था है, दमनकारी नहीं—राज्य समाज का शोषण नहीं। यह समाज में बुराइयों के लिए उत्तरदायी नहीं। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं। आज का राज्य निर्बलों एवं निर्धनों का मित्र है, शत्रु नहीं। राज्य स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा आदि विविध सेवाओं को प्रदान करता है।

6. मानव अच्छाई और बुराई दोनों का पुतला है—अराजकतावादी व्यक्ति को अच्छाई, सहनशीलता आदि का पुतला मानते हैं जबकि व्यक्ति में दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रण है। यदि व्यक्ति में प्रेम, सहयोग और त्याग की भावना है तो उसमें स्वार्थ, ईर्ष्या, लोभ और वासना भी है। अतः अराजकतावादियों का मनोवैज्ञानिक आधार गलत है।

3. राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं

राज्य के आधार के सम्बन्ध में मुख्यतः दो विचार पाये जाते हैं। एक विचार यह है कि राज्य का आधार 'शक्ति' अर्थात् पशु-शक्ति है। **दूसरा विचार** यह है कि राज्य का आधार 'इच्छा' अर्थात् 'सामान्य चेतना की सामान्य इच्छा' है। **पहले विचार के समर्थक हैं**—यूनानी सोफिस्ट धर्मगुरु ग्रेगरी सप्तम, राजनीतिक दार्शनिक मैकियावली, हॉब्स, लीकॉक, जैंक्स और ह्यूम, व्यक्तिवादी स्पेन्सर, वैज्ञानिक डार्विन, साम्यवादी मार्क्स और ऐंगेल्स आदि। बीसवीं शताब्दी के सर्वसत्तावादी दार्शनिक और नेता जैसाकि ट्राटस्की, बर्नहार्डी, नीत्से, मुसोलिनी और हिटलर तथा प्रजातन्त्रवादी लेखक जैसाकि राजनीतिशास्त्र के आधुनिक दृष्टिकोण का समर्थन करने वाले व्यवहारवादी लेखक जैसाकि मेरियम, केटलिन, लॉसवैल और मार्गेन्थो शक्ति राजनीति पर बल देते हैं। **दूसरे विचार के मुख्य समर्थक हैं**, टी. एच. ग्रीन। वस्तुतः यह कथन टी. एच. ग्रीन का है कि "राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।" ग्रीन का मत है कि **"मानव चेतना स्वतन्त्रता की कल्पना करती है—स्वतन्त्रता में अधिकार शामिल हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"** कानूनी

एवं निरपेक्ष सम्प्रभुता की आलोचना करने वाले बहुलवादी लेखकों का भी मत है कि राजाज्ञाओं का अनुपालन उसकी पशु शक्ति अर्थात् दण्ड के भय के कारण नहीं होता बल्कि सामाजिक सुदृढ़ता की भावना के कारण होता है। यह विश्वास कि व्यवस्था और सामाजिक जीवन के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता है, समाज के सदस्यों को राजाज्ञाओं के अनुपालन की प्रेरणा देता है।

उक्त दोनों विचारों की व्याख्या निम्न प्रकार से है—

1. राज्य का आधार शक्ति है—इस विचार के समर्थकों का कहना है कि राज्य **"शक्ति का शिशु"** है। इनका मत है कि राज्य के उदय, स्थायित्व और विकास में शक्ति की भूमिका निर्णायक है। **लीकॉक** ने कहा है कि "राज्य का आरम्भ शक्ति द्वारा व्यक्ति को पकड़ने और उसे दास बनाने में, अपेक्षाकृत दुर्बल कबीले को विजयी करने तथा उसे अपने अधीन करने में और श्रेष्ठ शारीरिक बल प्रयोग द्वारा स्वामित्व स्थापित करने से हुआ। कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य का प्रगतिशील विकास इसी विधि का केवल क्रम-मात्र है। **धर्म गुरु** भी राज्य को **"क्रूर बल की उपज"** मानते हैं। इनका कहना है कि राज्य व्यक्ति के पापों का परिणाम है। इसका उदय व्यक्ति को नियन्त्रण में रखने और उसे दण्डित करने के लिए हुआ है। **महात्मा गांधी** जैसे दार्शनिक अराजकतावादियों का भी मत है कि राज्य **"संगठित हिंसा का प्रतीक"** है।

राज्य को 'शक्ति का शिशु' मानने वालों का कहना है कि शक्ति मानव की भूख है; प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिस्पर्द्धा उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं और संघर्ष जीवन का अडिग नियम है। प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष के जीवन में केवल शक्तिशाली ही जीवित रहते हैं और वे निर्बलों पर अपना स्वामित्व जमा लेते हैं। व्यक्तिवादी लेखकों की धारणा यही है। इसे ही "सर्वोपयुक्त के बचे रहने" (Survival of the fittest) और **"जिसकी लाठी उसी की भैंस** (Might is Right) के नाम से जाना जाता है। इस शारीरिक शक्ति के आधार पर ही नीत्से ने अपने अतिमानव के सिद्धान्त (Th ory of Superman) का प्रतिपादन किया है।

राज्य को शक्ति पर आधारित करने वाले लेखक **शक्ति को संगठन, व्यवस्था, अधिकार और न्याय** का आधार मानते हैं। इनका कहना है कि शक्ति अर्थात् **युद्ध औचित्य की कसौटी** है अर्थात् युद्ध सही-गलत, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय को निश्चित करने के लिए सबसे अच्छा साधन है। **यूनानी सोफिस्ट** तो शक्तिशाली के हित को ही न्याय कहते थे। **बर्नहार्डी** के अनुसार, "शक्ति सर्वोच्च अधिकार है और इस विवाद का निर्णय युद्ध द्वारा किया जाता है कि अधिकार क्या है? प्राणीशास्त्र के अनुसार युद्ध उचित निर्णय देता है क्योंकि इसके निर्णय वस्तुओं के स्वभाव पर आधारित होते हैं।" **मुसोलिनी और हिटलर** तो युद्ध के उपासक थे। उनके लिए युद्ध सभी चीजों की उत्पत्ति है। उनका कहना है कि युद्ध में ही व्यक्ति महान बनता है और शान्ति में मानवता नष्ट होती है।

मैकियावली, हॉब्स और राजनीतिशास्त्र का आधुनिक दृष्टिकोण अपनाने वाले व्यवहारवादी लेखक शक्ति राजनीति पर बल देते हैं। **मैकियावली राज्य को शक्ति व्यवस्था कहता है।** उसके विचारों का आधार ही शक्ति, शक्ति अर्जन, शक्ति प्रसार और उसका स्थायित्व है। **हॉब्स का सम्प्रभु (लेविआथन) शक्ति का अवतार है।** हॉब्स लिखता है कि "तलवार के भय के विना समझौते केवल शब्द हैं जो मानव को सुरक्षित नहीं रख सकते। दमनकारी शक्ति के भय के विना शब्दों के वाण्ड इतने कमजोर हैं कि ये व्यक्ति की इच्छा, लालच, क्रोध और भावनाओं को नियन्त्रित नहीं कर सकते।" मार्गेन्थो का मत है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, सभी राजनीति की भाँति, शक्ति के लिए संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, शक्ति सर्वदा तात्कालिक उद्देश्य होता है।"**

2. राज्य का आधार इच्छा है—टी. एच. ग्रीन इस विचार से सहमत नहीं कि राज्य शक्ति का शिशु है। वह इस विचार से भी सहमत नहीं कि राज्य के उदय, स्थायित्व और विकास के लिए शक्ति अनिवार्य है। वस्तुतः **ग्रीन** शक्ति को राज्य का अनिवार्य तत्त्व ही नहीं मानता। **ग्रीन कहता है कि राज्य का आधार सामान्य चेतना की सामान्य इच्छा है और सामान्य इच्छा सामान्य कल्याण की सामान्य इच्छा है।** जैसाकि वेपर ने कहा है कि **"ग्रीन की सामान्य इच्छा राज्य निर्माण की सामान्य इच्छा है, यह राज्य की इच्छा नहीं।"** ग्रीन कहता है कि मानव की सामाजिक प्रवृत्ति ही उसे समाज के साथ बाँधती है और सामाजिक सुदृढ़ता की भावना उसे राजाज्ञाओं के अनुपालन की प्रेरणा देती है।

ग्रीन कहता है कि **राज्य शक्ति, अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को वनाये रखने के लिए है। यह समाज विरोधी तत्त्वों को दबाने के लिए है, भक्ति प्राप्त करने के लिए नहीं है।** राज्य दमनकारी शक्ति द्वारा अपने सदस्यों से स्वाभाविक भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, भक्ति तभी स्वाभाविक होती है जब वह निष्ठा और विश्वास पर आधारित हो और पशु वल पर आधारित न हो। ग्रीन कहता है कि **शक्ति का वैध प्रयोग** ही राज्य को स्थायी और प्रगतिशील वनाता है। **ग्रीन** के शब्दों में, "राज्य के निर्माण में जिन तत्त्वों का मुख्य हाथ रहा है उनमें मुख्य स्थान राज्य की दमनकारी शक्ति का नहीं वल्कि लिखित और अलिखित विधियों के अनुसार वैध शक्ति के प्रयोग द्वारा ही राज्य स्थायी और शक्तिशाली वनते हैं।" **ग्रीन** कहता है कि शासक चाहे कितना ही निरंकुश क्यों न हो, वह पशु शक्ति के आधार पर वहुत देर तक समाज से भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, थोड़े समय के लिए वह इसे भले ही प्राप्त कर ले। **ग्रीन** लिखता है कि शक्ति पर आधारित संस्थायें अन्ततः नष्ट हो जाती हैं।

ग्रीन का मत है कि **नैतिक और राजनीतिक अधीनता का एक ही स्रोत है और वह है सामान्य चेतना की सामान्य कल्याण की भावना,** जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की चेतना और कल्याण शामिल है। **ग्रीन** इस वात पर वल देता है कि "संस्थायें

मानव के लिए हैं, मानव संस्थाओं के लिए नहीं।" संस्थाओं का मूल्य नैतिक इच्छा और विवेक की शक्तियों को वास्तविकता प्रदान करने में है।

ग्रीन का मत है कि राजाज्ञाओं की अनुपालना का आधार सम्प्रभु की क्रूर इच्छा या पशु शक्ति नहीं। **सामाजिक सुदृढ़ता की भावना ही राजाज्ञाओं के अनुपालन की प्रेरणा देती है।** जैसा कि **ग्रीन** ने लिखा है कि "जो चीज मानव को समाज के साथ बाँधती है वह दण्ड का भय नहीं, वह किन्हीं बाह्य लाभों को प्राप्त करने की इच्छा नहीं, वह तो उसकी स्वयं की प्रवृत्ति है जो उसे उससे बाँधती है।" "**यह विश्वास कि कानून समाज के कल्याण के लिए है और सम्प्रभु उस समाज की सामान्य चेतना की सामान्य इच्छा को प्रकट करने के लिए है, मानव को उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य करती है।**"

राज्य अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को जिस शक्ति द्वारा बनाये रखता है, दार्शनिकों ने उसे सम्प्रभुता की संज्ञा दी है। **रूसो** का मत है कि यह सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निवास करती है जबकि **आस्टिन** का मत है कि यह एक निश्चित सम्प्रभु में निवास करती है। इन दोनों विचारों में कोई मेल नहीं। फिर भी **ग्रीन** कहता है कि इनमें कोई विरोध नहीं। आस्टिन की भाँति ग्रीन स्वीकार करता है कि प्रत्येक विकसित समाज में कोई निश्चित सत्ता अवश्य होती है जो कानूनों अर्थात् अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को लागू करती है और जिसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं होता।" परन्तु जहां आस्टिन इस सत्ता के प्रयोग का आधार पशु शक्ति मानता है, वहां **ग्रीन रूसो** की भाँति इसका आधार सामान्य इच्छा मानता है। **ग्रीन** कहता है कि **साधारण आज्ञापालन का आधार जो समाज का अधिकांश भाग निश्चित सम्प्रभु को देता है वह उस सम्प्रभु की पशु शक्ति नहीं बल्कि स्वयं समाज की सामान्य चेतना की सामान्य इच्छा है।**

ग्रीन का मत है कि **सम्प्रभुता सामाजिक सम्बन्धों की उत्पत्ति है। यह सामान्य कल्याण की सामान्य इच्छा है।** यह सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को बनाये रखने की इच्छा है, जहां तक ये संस्थायें सामान्य इच्छा को प्रकट करती हैं। यह अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को बनाये रखने की इच्छा है। ग्रीन सम्प्रभु को निरपेक्ष दमनकारी शक्ति का सूचक मानने के लिए तैयार नहीं क्योंकि वह सुरक्षा प्रदान करता है और नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर वह व्यक्ति के नैतिकता के विकास के मार्ग को प्रशस्त करता है। **ग्रीन** कहता है कि यह विचारों की त्रुटि है जो सम्प्रभु को सर्वोच्च दमनकारी शक्ति का सूचक मानते हैं। ग्रीन राज्य को एक सकारात्मक अच्छाई कहता है क्योंकि इसके माध्यम से ही व्यक्ति अपने विवेक को इच्छा में प्रयोग कर सकता है।

ग्रीन राज्य की सर्वोच्च शक्ति को स्वीकार तो करता है परन्तु वह उसे हीगल की भाँति वन्दनीय नहीं बनाता और न ही उसे किन्हीं रहस्यमय सीमाओं तक पहुँचाता है। ग्रीन, हीगल की भाँति, व्यक्ति का राज्य रूपी देवी पर बलिदान

इस तरह मार्क्स और एन्जिल्स राज्य को वर्ग-संघर्ष का परिणाम मानते हैं। लेनिन ने कहा है कि "कहां, कब और किस रूप में राज्य का विकास होता है, यह ठीक इस बात पर निर्भर करता है कि कब, कहाँ और किस सीमा तक किसी समाज के वर्गों के विरोध को वस्तुनिष्ठ ढंग से मिलाया नहीं जा सकता और विलोमतः राज्य का अस्तित्व सिद्ध करता है कि वर्गों को मिलाया नहीं जा सकता।"

मार्क्स की धारणा है कि सामाजिक विकास में सरकार 'रचनात्मक शक्ति' होने के स्थान पर 'रुकावट शक्ति' है। यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा शासक वर्ग शासित वर्ग पर अपनी इच्छा थोपता है तथा इसके माध्यम से अपनी अधिमान्य स्थिति को बनाये रखता है। मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास है कि राज्य श्रमजीवियों का शोषण करने में बुर्जुआ की सहायता करता है; अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने में उसकी मदद करता है; राज्य की पुलिस और सेना, न्याय व्यवस्था, अपराधिक कानून आदि सब बुर्जुआ वर्ग के हितों को रक्षा करते हैं। मार्क्स कहता है कि पूँजीपति अपने हितों की रक्षा हेतु धर्म और संस्कृति का प्रयोग करता है। तभी तो मार्क्स धर्म को "अफीम की गोली" कहता है।

मार्क्स की धारणा है कि वर्ग राज्य एवं निर्दय अवस्थाओं के अन्त के लिए सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति अवश्यम्भावी है जिसमें सर्वहारा वर्ग शासक वर्ग का रूप ग्रहण करेगा अर्थात् सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद को स्थापित किया जायेगा; संक्रान्ति काल में बुर्जुआ के अवशेषों को नष्ट किया जायेगा और अन्त में निर्बाध अवस्था अर्थात् साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होते-होते राज्य का लोप हो जायेगा। **यह साम्यवादी व्यवस्था राज्य विहीन, वर्ग विहीन, शोषण विहीन व्यवस्था होगी जिसमें प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुकूल प्राप्त होगा और प्रत्येक से उसकी क्षमतानुकूल प्राप्त किया जायेगा।**

संक्षेप में, मार्क्सवादी-साम्यवादी राज्य के मुख्य बिन्दु निम्न हैं—

(i) राज्य बुर्जुआ की कार्यकारिणी समिति है।
(ii) राज्य वर्ग संघर्ष का परिणाम है।
(iii) राज्य शोषण का यन्त्र है।
(iv) राज्य शक्ति और हिंसा पर आधारित है।
(v) राज्य स्थायी संस्था नहीं, यह अस्थाई संस्था है।
(vi) साम्यवादी व्यवस्था में राज्य का धीरे-धीरे लोप हो जायेगा।

आलोचना—मार्क्सवादी-साम्यवादी विचारों की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. राज्य एक नैतिक संस्था है, एक वर्गीय संस्था नहीं—मार्क्स का यह विचार मिथ्या है कि राज्य "आर्थिक लूट" है। राज्य कोई वर्गीय संस्था नहीं जो समाज के किसी एक वर्ग के हाथों में दूसरे वर्ग का शोषण करने का यन्त्र हो। यह एक नैतिक संस्था है। इसका उद्देश्य मानव व्यक्तित्व के विकास में सहायक होना है।

2. राज्य जन-समूह का मित्र है, शत्रु नहीं—मार्क्स ने राज्य को केवल "शोषण का यन्त्र" वर्गीय संगठन" "बुर्जुआ की कार्यकारिणी समिति" तथा "हिंसा" पर आधारित संस्था माना है, परन्तु हमारा दैनिक अनुभव ठीक इसके विपरीत है। आज का कल्याणकारी राज्य व्यक्ति का सहायक एवं मित्र है, उसका शत्रु नहीं। यह निर्दय अवस्थाओं का सुधारक है, जनक नहीं। यह सुरक्षा का साधन है, दमन का स्रोत नहीं।

3. राज्य स्थाई है अस्थाई नहीं—मार्क्स का यह कथन कोरी कल्पना है कि साम्यवादी समाज में राज्य का लोप हो जायेगा। वस्तु-स्थिति यह है कि सोवियत संघ में 1917 में साम्यवादी क्रान्ति होने के 71 वर्ष बाद भी राज्य सुदृढ़ हुआ हैं, उसका लोप नहीं हुआ।

4. परिवर्तन संवैधानिक साधनों द्वारा सम्भव है—साम्यवादियों की यह धारणा मिथ्या है कि परिवर्तन केवल क्रान्ति द्वारा सम्भव है। प्रजातान्त्रिक लोक-कल्याणकारी राज्यों में जिन क्रान्तिकारी परिवर्तनों को संवैधानिक साधनों द्वारा लाया जा रहा है, साम्यवाद उनकी कल्पना नहीं कर सका। संवैधानिक परिवर्तनों में स्थायित्व होता है। क्रान्ति द्वारा लाये गये परिवर्तन पुनः क्रान्ति को जन्म दे सकते हैं।

5. समष्टिवादी सिद्धान्त या राज्य एक धनात्मक अच्छाई है

यह विचार समष्टिवादियों, फेवियनवादियों, श्रेणी समाजवादियों, प्रजातान्त्रिक समाजवादियों और लोक-कल्याणकारी राज्य के समर्थकों का है। **इंगलैण्ड में** इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक **फेवियन समाजवादी दार्शनिक** थे—विशेषकर वर्नार्ड शॉ, एच. जी वेल्स, सिडनी वेव, वेट्रीश वेव, ग्राह्म वालास, जी. डी. एच. कोल आदि। आर. एच. टानी, क्लेमेंट एटली, डर्विन, फ्रांसिस विलियम, आर. एच. एस. क्रासमैन, डेनिस हीले जैसे **प्रजातान्त्रिक समाजवादियों** और हॉब्सन, जी. डी. एच. कोल जैसे **श्रेणी समाजवादियों** ने भी इसका समर्थन किया है। **जर्मनी में** एडवर्ड वर्नस्टीन राड वर्टस और फर्नीनार्ड लैसले ने इसका समर्थन किया है। **फ्रांस में** जीन जारेस और **स्वीडन में** कार्ल ब्रान्टिग ने, **बेल्जियम** में एडवर्ड अन्सीले ने इसका समर्थन किया है। **अमरीका में** नार्मल थॉमस ने और **भारत में पं** जवाहरलाल नेहरू ने इसका समर्थन किया है।

राज्य को एक धनात्मक अच्छाई मानने वाले राज्य विरोधी नहीं। ये केवल राज्य के वर्तमान पूँजीवादी स्वरूप को वदलना चाहते हैं। ये कुछ लोगों के स्थान पर अधिकतम व्यक्तियों और विशिष्ट हितों के स्थान पर सामान्य हितों की सुरक्षा करना चाहते हैं। ये राज्य को वर्ग-संस्था नहीं मानते बल्कि राज्य को सामान्य हित के लिए आवश्यक संस्था मानते हैं। ये व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानते। इनका यह विश्वास नहीं कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करते हैं। ये साम्यवादियों की भाँति राज्य के लोप की

आशा नहीं करते। ये अराजकतावादियों की भाँति, राज्य की अनावश्यक बुराई नहीं मानते। इनके लिए राज्य एक धनात्मक अच्छाई है जिसके माध्यम से आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को दूर किया जा सकता है; व्यवस्था की व्यवस्थाओं को हल किया जा सकता है; स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, विकास आदि की योजनाओं को लागू किया जा सकता है। ये अरस्तू के इस कथन से सहमत हैं कि "राज्य का उदय जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ और उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।" **हॉब्सन जैसे श्रेणी समाजवादी राज्य को सारे "समाज का प्रतिनिधि" मानते हैं। उसकी धारणा है कि राज्य "सत्ता का मूल स्रोत, अन्तिम न्यायकर्त्ता और उत्पादनकर्त्ता या उपभोक्ता की हैसियत से, नागरिक की हैसियत से व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है।"**

राज्य को धनात्मक अच्छाई मानने वाले परिवर्तन की योजनाओं को राज्य के माध्यम से क्रमिक रूप में लागू करना चाहते हैं। ये राज्य के माध्यम से पूँजीवाद व्यक्तिवाद, सम्पत्ति और स्वतन्त्र प्रतियोगिता से उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करना चाहते हैं। ये परिवर्तन को संवैधानिक साधनों द्वारा, अर्थात् समझा-बुझाकर विचार-विमर्श द्वारा, जनमत के आधार पर कानून के माध्यम से लाना चाहते हैं। ये हिंसक, क्रान्तिकारी या दमन के साधनों में विश्वास नहीं करते।

राज्य को धनात्मक अच्छाई मानने वाले राज्य के कार्यों में विस्तार चाहते हैं। ये व्यक्तिवादियों के इस कथन से सहमत नहीं कि वह सरकार अच्छी है जो कम से कम शासन करती है। ये इस बात में विश्वास नहीं करते कि प्रत्येक कानून का निर्माण व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करता है। इनका विश्वास है कि शोषण, अधःपतन और बेरोजगारी को दूर करने में राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इनकी धारणा है कि राज्य द्वारा लोगों के आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक हितों की सुरक्षा हो सकती है तथा न्याय, आराम, निष्पक्षता और निष्कपटता की भावनायें पैदा की जा सकती हैं। **लिन्डसे** ने कहा है कि **"तटस्थ सत्ता के रूप में राज्य की नितान्त आवश्यकता है।"**

संक्षेप में, राज्य को धनात्मक अच्छाई मानने वाले राज्य के पक्ष में हैं। इनके राज्य का स्वरूप लोक-कल्याणकारी है। इनका मत है कि राज्य सामान्य हित और सामान्य विकास के लिए किसी भी क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है —

1. "राज्यवाद" का खतरा—इसमें राज्यवाद का खतरा है। जब उत्पादन और वितरण के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व, प्रबन्ध और नियन्त्रण होता है तो इससे राज्य में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ जन्म लेना शुरू कर देती हैं। इससे वे सब दुष्परिणाम निकलते हैं जो एकाधिकारी प्रवृत्तियों में पाये जाते हैं। जैसाकि **एबनस्टीन** ने कहा है कि **"जब राज्य स्वयं ही एकाधिकारवादी है तो इससे नागरिकों**

की रक्षा कौन करेगा।" राज्य के हाथों में सत्ता का केन्द्रीयकरण होने से नागरिकों की स्वतन्त्रताओं को खतरा उत्पन्न हो जाता है। **डर्बिन** का मत है कि **"योजना कार्यक्रमों... का मुख्य उद्देश्य प्रतिबन्ध है और इसका मुख्य परिणाम प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर एकाधिकार की स्थापना है।"**

2. नौकरशाही की शक्ति में विस्तार—राज्य की शक्तियों में विस्तार से नौकरशाही की शक्तियों में विस्तार हो जाता है। इससे भ्रष्टाचार, घूसखोरी, छल, कपट एवं व्यक्तिगत द्वेष की भावनायें पैदा होती हैं; कुनबापरस्ती और लालफीताशाही का बोलबाला हो जाता है। **क्रॉसमैन** ने लिखा है कि **"राष्ट्रीयकरण उत्तरदायित्व की समस्या का हल नहीं।"**

6. बहुलवादी सिद्धान्त या राज्य एक समुदाय है

यह विचार बहुलवादी लेखकों का है। इसके मूल समर्थक हैं—एच. जे. लास्की, जे. नेविल फिगिस, ए. डी. लिण्डसे, लिओ ड्विग्वी, अर्नेस्ट बार्कर, मिस फॉलेट, एफ. डब्ल्यू. मेटलैण्ड, आटो वान गिर्के, जे. पॉल बॉकोर, एमिल दुर्खिम, आर. एम. मैकाइवर आदि। ये लेखक राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विरोध करते हैं। **ए. डी. लिण्डसे** ने कहा है कि "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभुत्वपूर्ण राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।" **लास्की** का मत है कि "राजनीतिक दर्शन के लिए प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को वैध बनाना सम्भव नहीं है...यदि प्रभुता की सम्पूर्ण कल्पना का परित्याग कर दिया जाए तो यह राज्य विज्ञान के लिए स्थायी हित का कार्य होगा।"

राज्य एक समुदाय—बहुलवादियों की धारणा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी भिन्न-भिन्न आवश्यकतायें हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह भिन्न-भिन्न समुदायों का निर्माण करता है। ये समुदाय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि हो सकते हैं। इन समुदायों का अपना व्यक्तित्व होता है, अपनी इच्छा होती है, अपना कार्यक्षेत्र होता है, अपने सदस्य होते हैं। ये समुदाय अपने सदस्यों से उसी प्रकार भक्ति की माँग करते हैं कि जिस प्रकार राज्य अपने सदस्यों से भक्ति की माँग करता है। इनकी मान्यता है कि राज्य कतिपय समूहों के विरोध के विरुद्ध अपनी इच्छा को लागू नहीं कर सकता।

राज्य समाज नहीं—बहुलवादी राज्य को समाज नहीं मानते। जैसाकि **मैकाइवर** ने लिखा है कि "राज्य समाज नहीं है क्योंकि राजनीति को सामाजिकता के साथ मिलाना महान् भ्रम उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार न तो हम राज्य को समझ सकेंगे, न समाज को।" "राज्य समाज के अन्तर्गत विद्यमान होता है परन्तु वह समाज का रूप तक नहीं होता।" **मैकाइवर** लिखता है कि "परिवार या धर्म या क्लब जैसे समाज के रूप विद्यमान हैं जिनकी उत्पत्ति या प्रेरणा का स्रोत राज्य नहीं और रीति-रिवाज या प्रतिद्वन्द्विता जैसी सामाजिक शक्तियाँ हैं; जिनकी राज्य रक्षा कर सकता है या सुधार कर सकता है, परन्तु वस्तुतः जिनकी रचना नहीं करता

और मित्रता या ईर्ष्या जैसे सामाजिक प्रेरक भाव हैं जो ऐसे अत्यन्त घनिष्ठ और वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो राज्य के महान् यन्त्र द्वारा नियन्त्रित नहीं हो सकते ।"

आलोचना—बहुलवादियों ने राज्य को समुदाय का रूप प्रदान करके समुदायों के महत्त्व को प्रकट किया है, परन्तु ये राज्य का सम्प्रभुता का विरोध करने में असमर्थ रहे हैं । वस्तुतः अनेक बहुलवादियों ने **स्वयं निर्णायक या समन्वय शक्ति के रूप में राज्य की सम्प्रभुता को स्वीकार किया है** । बार्कर ने कहा है कि "हम धर्म-संघ या व्यावसायिक संघों की महत्ता को कितना ही क्यों न मानें तो भी हमें राज्य को उच्च शक्ति के रूप में पर्याप्त अधिकार देने होंगे ।" विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में मेल-मिलाप और सन्तुलन स्थापित करने का काम राज्य ही कर सकता है । **लास्की** ने स्वीकार किया है कि "प्रत्येक राज्य में कोई न कोई शक्ति होती है, जो सीमित है ।" **मिल फॉलेट** का मत है कि " **अन्य संघों का सदस्य होते हुए भी मेरी आत्मा राज्य में निवास करती है ।"**

7. सर्वसत्तावादी सिद्धान्त या राज्य सर्वसत्तावाद है
या
"राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं, हर चीज राज्य के अन्दर"

यह विचार **अधिनायकवादी, फासिस्टवादी एवं सर्वसत्तावादी** लेखकों या **नेताओं या राज्यों का है । इसके मूल समर्थक हैं फासिस्ट इटली के मुसोलिनी तथा नाजी जर्मन के हिटलर तथा उन जैसी विचारधारा रखने वाले लेखक और अधिनायक** है ।

सर्वसत्तावादी विचारधारा में विश्वास रखने वाले लेखक राज्य को सर्व-शक्तिमान एवं सर्वव्यापी समझते हैं । ये जीवन के किसी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, धार्मिक, बौद्धिक या नैतिक क्षेत्र को नहीं मानते जो राज्य के नियन्त्रण से मुक्ति हो । इनके लिए राज्य की शक्ति निरपेक्ष है और वह "झूले से कब्र" तक व्यक्ति पर नियन्त्रण रखता है ।

सर्वसत्तावादी राज्य व्यक्ति के किन्हीं ऐसे प्राकृतिक अधिकारों को नहीं जानता जिन्हें राज्य नियन्त्रित नहीं कर सकता । यह लोकतन्त्र के स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारे और लोक-प्रभुता के सिद्धान्तों के स्थान पर उत्तरदायित्व, अनुशासन शिष्टवर्ग की योग्यता और सीढ़ीनुमा शासन पर बल देता है इसमें स्वतन्त्रता राज्य द्वारा प्रदत्त एक रियायत है ।

सर्वसत्तावादी राज्य, राज्य या राष्ट्र के अतिरिक्त किसी दूसरे के प्रति भक्ति को स्वीकार नहीं करता । इसके लिए राज्य के प्रति अभक्ति विद्रोह है जो समस्त मानवीय दोषों में महान् है ।

राज्य समस्त जीवन का केन्द्र---सर्वसत्तावादी राज्य में राज्य समस्त जीवन का केन्द्र होता है । वही अधिकारों का स्रोत होता है । वही नैतिकता का मापदण्ड

होता है। वही सम्प्रभुता का प्रयोग करता है। इसमें लोक-प्रभुता जैसी कोई चीज नहीं होती। समाज में विद्यमान अन्य सभी संघ, समुदाय या संस्थायें राज्य की अनुमति से विद्यमान होती हैं। कोई ऐसी मानवीय या आध्यात्मिक वस्तु, विषय या मूल्य नहीं जो राज्य से वाहर हो। राज्य के उद्देश्य मानव के सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य होते हैं। फासिस्ट राज्य में यह कहावत प्रचलित होती है कि राज्य के वाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं, हर चीज राज्य के अन्दर है।"

सर्वसत्तावादी राज्य में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक या सांस्कृतिक जीवन राज्य के नियन्त्रण में होता है। नागरिक स्वतन्त्रताओं पर (भाषण अभि-व्यक्ति, समुदाय, संघ, प्रेस, रेडियो आदि पर) राज्य का नियन्त्रण होता है; शिक्षा केन्द्र विद्यार्थियों को वही शिक्षा देते हैं जो राज्य देना चाहता है; नाचघर तथा कला केन्द्र उसी संस्कृति को चित्रित करते हैं जो राष्ट्रीय राज्य के लिए फलदायी होती है; स्त्रियाँ सन्तान उत्पत्ति पारिवारिक प्रेम की भावना से नहीं करती बल्कि राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार करती हैं। व्यापार अर्थात् वस्तुओं का आयात और निर्यात राष्ट्रीय उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया जाता है। राष्ट्रीय व्यवस्था राष्ट्रीय नियमों द्वारा निर्धारित होती है।

आलोचना—सर्वसत्तावादी राज्य कोरा निरंकुशतावाद है। इसमें राज्य रूपी देवी पर व्यक्ति का वलिदान पूर्ण है। नागरिकों की स्थिति दास और यन्त्रों में पुर्जों के समान होती है। ये राज्य शान्ति विरोधी, मानवता विरोधी एवं अन्त-र्राष्ट्रीयता विरोधी होते हैं। इस प्रकार के राज्य स्वीकार नहीं किये जाते।

समीक्षा प्रश्न

1. "राज्य जीवन को सम्भव बनाने के लिए उत्पन्न हुआ पर अब यह जीवन को अच्छा बनाने के लिए विद्यमान है।" समझाइये। (Raj. 1981)
2. आप किन आधारों पर राज्य के कार्यों को सीमित करना पसन्द करेंगे? (Raj. 1980)
3. "राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं" (ग्रीन। इस कथन की जाँच कीजिए। (Raj. 1982 Ajmer 1988)
4. "वह सरकार सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करती है।" स्पष्ट कीजिए। (Raj. Suppl. 1975)
5. "राज्य के सम्बन्ध में अहस्तक्षेपवाद की नीति" पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (Ajmer, 1988)

10

राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

(The Ends and Functions of The State)

राज्य के उद्देश्य (The Ends of the State)—जिस प्रकार राज्य की प्रकृति के बारे में लेखकों में एक मत का अभाव है उसी प्रकार राज्य के उद्देश्यों के बारे में भी लेखकों में एक मत का अभाव है। प्राचीन लेखक प्लेटो एवं अरस्तू, आदर्शवादी लेखक हीगल, ब्रेडले, बोसांके, ग्रीन आदि; फासीवादी लेखक एवं नेता मुसोलिनी; नाजीवादी लेखक एवं नेता हिटलर; सर्वसत्तावादी एवं अधिनायकवादी विचारधारायें एवं लेखक राज्य को साध्य मानते हैं। उपयोगितावादी लेखक बेन्थम राज्य को स्पष्ट रूप से साध्य स्वीकार नहीं करता परन्तु उसने "उपयोगिता" एवं "अधिकतम व्यक्तियों के सुख" के दो ऐसे सूत्र दिये हैं जिनको आधार मान कर राज्य अपने उद्देश्यों की अधिकतम सिद्धि कर सकता है। समाजवादी एवं साम्यवादी भी राज्य को प्रत्यक्षतः साध्य स्वीकार नहीं करते परन्तु इस प्रकार के राज्यों में राज्य जिन शक्तियों का प्रयोग करता है तथा उसके उद्देश्यों के नाम पर जिस मात्रा में व्यक्ति के हितों और स्वतन्त्रताओं का बलिदान दिया जाता है वह निश्चित ही राज्य को साध्य बनाती हैं। दूसरी ओर, जे. एस. मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, एडम स्मिथ, मिल्टन, लॉक, स्पिनोजा, मांटेस्क्यू, वाल्टेयर जैसे व्यक्तिवादी लेखक; प्रोधां, टॉल्स-टाय, गांधी, क्रोपोटकिन और बेकुनिन जैसे अराजकतावादी लेखक; एच. जे. लास्की, ए. डी. लिण्डसे, अर्नेस्ट बार्कर, मिस फालेट, ड्विग्वी और क्रेब जैसे बहुलवादी लेखक राज्य को साधन मानते हैं।

5. राज्य स्वयं में साध्य है (State is an End in Itself)

राज्य को साध्य मानने वाले लेखक राज्य और व्यक्ति में भेद नहीं करते। वे राज्य के उद्देश्यों को ही व्यक्ति के उद्देश्य मानते हैं। उनके लिए व्यक्ति और राज्य में उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार अंगों का शरीर के साथ सम्बन्ध है। इन लेखकों के लिए आदर्श राज्य आंगिक एकता है। इनमें व्यक्ति और राज्य में कोई संघर्ष नहीं होता। इनमें व्यक्ति बनाम राज्य जैसी कोई चीज नहीं। इनके लिए राज्य की चेतना व्यक्ति की चेतना है। **प्लेटो** का मत है कि राज्य की उत्पत्ति

मानव आत्मा से होती है। **प्लेटो** ने लिखा है कि "राज्य वृक्षों या चट्टानों से उत्पन्न नहीं होते। वे व्यक्तियों के चरित्र से उत्पन्न होते हैं जो उनमें निवास करते हैं।" **प्लेटो की धारणा है कि राज्य "सद्गुण और अच्छाई में साझेदारी" है। अरस्तू** का मत है कि **"राज्य का उद्भव जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ पर वह अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।"**

हीगल जैसे आदर्शवादी लेखक राज्य को **"स्वयं में साध्य"** मानते हैं। उनके लिए राज्य **"सम्पूर्ण विवेक"** है। **हीगल** के अनुसार "राज्य पृथ्वी पर ईश्वरीय रूप" है। राज्य नैतिक मानदण्डों का स्रष्टा है। **हीगल** राज्य को सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी मानता है। **हीगल** का मत है कि राज्य कभी गलती नहीं करता। राज्य नैतिक पूर्णता है और स्वतन्त्रता का दाता है। **हीगल** युद्ध को नैतिक अच्छाई मानता है। **बोसांके** ने व्यक्ति को राज्य के अधीन माना है। उसके लिए राज्य "पूर्ण नैतिक विश्व का संरक्षक है।" **ट्रीश्चे** का मत है कि "राज्य शक्ति है और हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम नतमस्तक होकर उसकी पूजा करें।" परन्तु ग्रीन ऐसा उदारवादी आदर्शवादी है जो राज्य को आदर्श मानते हुए भी राज्य रूपी देवी पर व्यक्ति का बलिदान नहीं करता।

फासीवादी तथा नाजीवादी सर्वसत्तावादी व्यवस्थाओं में राज्य राष्ट्र, या जाति एक ऐसी काल्पनिक गाथा हैं जो "जीवित सदस्यों का ही नहीं बल्कि अगिणत पीढ़ियों का भी वर्णन करता है।" जैसाकि **मुसोलिनी** ने कहा है कि **"राज्य व्यक्ति के ऐतिहासिक अस्तित्व की सर्वव्यापी आत्मा और इच्छा है।"** इन राज्यों में व्यक्ति और समुदायों का महत्त्व राष्ट्र के प्रसंग में है। जैसाकि **मुसोलिनी** ने कहा है कि "इतिहास के बाहर मनुष्य का कोई महत्त्व नहीं।" **फासिज्म** की यह कहावत प्रसिद्ध है कि **"प्रत्येक चीज राज्य के अन्दर है. कोई चीज राज्य के बाहर नहीं और कुछ भी राज्य के विरुद्ध नहीं।"**

समाजवादी एवं साम्यवादी व्यवस्थायें प्रत्यक्षतः राज्य को साध्य स्वीकार नहीं करतीं परन्तु इनमें समाज को महत्त्व दिया जाता है व्यक्ति को नहीं। साम्यवाद में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं। **साम्यवाद में यदि स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज है तो यह "संकलित सामुदायिक जीवन" की स्वतन्त्रता है।** जैसाकि **मार्क्स और एन्जिल्स** ने लिखा है कि **"समुदाय में ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्भव है।"**

B. राज्य एक साधन है (State is means to an end)

राज्य को साधन मानने वाले लेखक राज्य और व्यक्ति में भेद करते हैं। इनके लिए राज्य स्वयं में साध्य नहीं बल्कि मानव के हितों की पूर्ति के लिए साधन है। इनके लिए संस्थायें (राज्य सहित) मानव कल्याण और समृद्धि के लिए हैं, मानव संस्थाओं के लिए नहीं हैं। इनकी धारणा है कि जिस प्रकार व्यक्ति के

अधिकारों पर औचित्यपूर्ण प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं उसी प्रकार राज्य अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए कुछ सीमाओं से बाहर नहीं जा सकता ।

राज्य को साधन मानने वालों में मूलत: अराजकतावादी, व्यक्तिवादी और बहुलवादी लेखक आते हैं ।

(i) **अराजकतावादी**—क्रोपोटकिन और बेकुनिन जैसे अराजकतावादी लेखक राज्य को अनावश्यक बुराई मानते हैं । ये राज्य को अनुपयुक्त, अनावश्यक, अवांछनीय तथा अस्वाभाविक संस्था मानते हैं । ये राज्य को एक हानिकारक संस्था मानते हैं जिसने सभ्यता और मानवता को पतन की ओर धकेला है । ये राज्य को शक्ति का प्रतीक मानते हैं जो मानवीय अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का शत्रु है । ये राज्य को शोषण का यन्त्र मानते हैं । **बेकुनिन** ने कहा है कि 'प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली का उद्देश्य पूँजीपतियों द्वारा श्रमिक के शोषण का संगठन एवं समर्थन करना है ।" **क्रोपोटकिन** ने भी लिखा है कि "समस्त सरकारें चाहे उनका स्वरूप राजतन्त्रात्मक हो, वैधानिक हो या गणतान्त्रिक हो, कुलीन वर्ग, पादरियों और व्यापारियों के हितों की बलपूर्वक रक्षा करती हैं ।" **क्रोपोटकिन** राज्य की रक्षात्मक एवं परोपकारी सेवाओं को न तो आवश्यक मानता है और न प्रभावकारी । अत: ये राज्य को भयंकर तूफान द्वारा नष्ट करना चाहते हैं ।

(ii) **व्यक्तिवादी**—जे. एस. मिल और हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे व्यक्तिवादी लेखक **राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं ।** व्यक्तिवादी लेखक राज्य को आवश्यक इसलिए मानते हैं कि व्यक्ति अपूर्ण है और उसमें अपराध की भावना है । **विलोबी** ने लिखा है कि "मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के लिए ही राज्य सत्ता की आवश्यकता है ।" **स्पेन्सर** ने भी लिखा है कि "राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध की भावना विद्यमान है ।" इस तरह व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक मानते हैं, परन्तु वे साथ में उसे बुराई भी कहते हैं । इनकी धारणा है कि राज्य-द्वारा निर्मित प्रत्येक कानून या नियम प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करता है । अत: व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों को पुलिस कार्यों तक सीमित रखना चाहते हैं । ये राज्य को सुरक्षात्मक एवं व्यवस्थात्मक कार्य सौंपना चाहते हैं विकास कार्य नहीं । जैसाकि **स्पेन्सर** ने लिखा है कि राज्य "पारस्परिक आश्वासन के लिए संयुक्त सुरक्षा कम्पनी है......मैं केवल सुरक्षा के लिए राज्य के साथ बीमा करता हूँ, किसी अन्य चीज के लिए नहीं ।" **स्पेन्सर** ने लिखा है कि "राज्य का मुख्य कर्त्तव्य रक्षा करना तथा मर्यादित करना है न कि पोषण करना और समुन्नत करना ।' **जे. एस. मिल** जैसे लेखक व्यक्ति को विचारों, आर्थिक प्रतियोगिता और कार्य के क्षेत्र में निर्बाध स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं । व्यक्तिवादी प्रतिबन्ध की नीति को व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक मानते हैं । इनकी धारणा है कि प्रतिबन्ध की नीति जहाँ सत्य का दमन करती है वहाँ विकास को अवरुद्ध करती है तथा व्यक्ति को निरुद्यमी एवं आलसी बनाती है ।

(iii) **बहुलवादी**—लास्की, लिण्डसे, फ्रिग्गी जैसे बहुलवादी लेखक राज्य को स्वीकार करते हुए भी उसकी सम्प्रभुता पर प्रहार करते हैं। इनकी धारणा है कि राज्य की सम्प्रभुता अविभाज्य नहीं। राज्य सर्वोच्च सत्ता नहीं। यह उसी प्रकार से एक समुदाय है जिस प्रकार से समाज में अन्य समुदाय या संघ विद्यमान हैं। इनके लिए राज्य अन्य समुदायों के समकक्ष है या समकक्षों में प्रथम है। इनकी मान्यता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध समुदायों या संघों का निर्माण करता है। ये समुदाय उसी प्रकार से स्वाभाविक हैं जिस प्रकार से राज्य। समुदायों का अपना व्यक्तित्व होता है। इनकी अपनी इच्छा होती है; ये अपने सदस्यों से उसी प्रकार भक्ति प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार राज्य अपने सदस्यों से भक्ति प्राप्त करता है। ये विधि को सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं मानते बल्कि उसे सामाजिक सुदृढ़ता की भावना सामाजिक विवेक और औचित्य की भावना पर आधारित मानते हैं। इस तरह बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता का खण्डन करते हैं।

मूल्यांकन—राज्य के उद्देश्यों सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों विचार अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। राज्य न तो पूर्णतः साध्य है और न पूर्णतः साधन है। यदि राज्य को पूर्णतः साध्य मान लिया जाय तो वह निरंकुश एवं सर्वसत्तावादी हो जायेगा और व्यक्ति राज्य रूपी यन्त्र में उपकरण मात्र बनकर रह जायेगा। दूसरी ओर, यदि राज्य को व्यक्ति के हितों का केवल साधन मात्र मान लिया जाय तो उसके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायेगा और सामाजिक हितों की उपेक्षा होगी। सत्य इन दोनों विचारों के मध्य में स्थित है। जहाँ राज्य की सुरक्षा और समाज में व्यवस्था का प्रश्न है, वहाँ राज्य के हित सर्वोपरि हैं और वह साध्य है। यदि राज्य व्यक्ति के विकास के लिए स्वस्थ एवं सुन्दर जीवन की व्यवस्थायें जुटाता है तो उस स्थिति में भी राज्य के उद्देश्य सर्वोपरि हैं। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता व्यक्ति के विकास और उसके सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति के लिए आवश्यक है तो उसे राज्य का साधन बनाना हानिकारक है। इस क्षेत्र में व्यक्ति को साध्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और राज्य को साधन।

राज्य के कार्य

राज्य के कार्यों के लिए कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते और न ही सभी समयों के लिए उसके कार्यों को स्पष्ट किया जा सकता है। राज्य के कार्यों का स्वरूप समय, परिस्थिति, आवश्यकता, विचार एवं राज्य की प्रकृति के अनुरूप बदलता एवं विकसित होता रहता है। **राज्य के कार्य उसके आर्थिक स्रोतों, प्राकृतिक साधनों, सामाजिक सेवा की भावनाओं, लोगों की जागरूकता और राजनीतिक चेतना पर निर्भर करते हैं।**

(आधुनिक राज्य के कार्यों का विस्तृत वर्णन **अध्याय 11 में** लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य के शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है। अतः राज्य के कार्यों का अध्ययन उसी स्थान पर कीजिए।)

राज्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त

राज्य के कार्यों से सम्बन्धित विविध सिद्धान्त मुख्यतः निम्न हैं--

(i) व्यक्तिवादी सिद्धान्त।
(ii) आदर्शवादी सिद्धान्त।
(iii) साम्यवादी सिद्धान्त।
(iv) उपयोगितावादी सिद्धान्त।
(v) साम्यवादी सिद्धान्त।
(vi) अराजकतावादी सिद्धान्त।
(vii) फासी एवं नाजी सिद्धान्त।
(viii) लोक कल्याणकारी सिद्धान्त।

व्यक्तिवादी, आदर्शवादी, अराजकतावादी आदि सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या **"राज्य का कार्य क्षेत्र"** सम्बन्धी **अध्याय 9** में विस्तारपूर्वक की गई है। अतः उन्हें यहाँ दोहराने से कोई लाभ नहीं। यहाँ केवल समाजवादी राज्य के सिद्धान्त की व्याख्या की जा रही है। लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या अध्याय 11 में की गयी है।

समाजवादी राज्य

वर्तमान युग की सबसे बड़ी देन समाजवाद तथा समाजवादी विचारधारा का विकास है। यह ऐसी विचारधारा है जो सबका कल्याण चाहती है, जो व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के अधीन समझती है; जो लाभ के स्थान पर सेवा भाव पर बल देती है; जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और स्वतन्त्र प्रतियोगिता की विरोधी है; जो शोषण, अन्याय, गम्भीर आर्थिक असमानताओं तथा अन्य असामाजिक बुराइयों का अन्त चाहती है; जो भूमि तथा अन्य प्राकृतिक उपलब्धियों को सामान्य लाभ के लिए प्रयोग में लाना चाहती है; जो बड़े उद्योगों का सामाजीकरण चाहती है; जो सबको विकास के समान अवसर प्रदान करना चाहती है। एक शब्द में, राज्य को लोक कल्याणकारी राज्य बनाने में समाजवाद समय की पुकार है। यह एक ऐसा विचार है जो करोड़ों की आशाओं को अभिव्यक्त करता है।

समाजवाद की निश्चित परिभाषा देने में कठिनाइयाँ—राजनीति शास्त्र में बहुत कम ऐसे शब्द हैं जिन्होंने इतने अधिक विवाद को जन्म दिया है जितना कि समाजवाद शब्द ने दिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि यह एक समशील विचार नहीं। इसके भिन्न-भिन्न रूप हैं, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। यह एक ऐसा अनेक-रूपी दर्शन है जिसे प्रत्येक दार्शनिक अपनी ही दृष्टि से देखता है। प्रत्येक राज्य में इसका स्वरूप स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होता है। **डॉ. शैडवैल** के शब्दों में, **"समाजवाद अत्यन्त जटिल, अनेक तरफा और भ्रांतियों से पूर्ण ऐसा प्रश्न है जिसने मानव के मस्तिष्क को सबसे अधिक उलझाया है।"**

समाजवाद का कोई निश्चित क्षेत्र नहीं। इसकी कोई सीमा नहीं। इसका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं; यह एक राजनीतिक आन्दोलन है; यह एक दर्शन है; यह एक आर्थिक प्रणाली है; यह एक सामाजिक व्यवस्था है। यह उत्पादन से प्राप्त होने वाले लाभों को स्वामियों और सेवकों में न्यायोचित आधार पर बाँटना चाहता है; यह व्यक्ति के जीवन को राज्य द्वारा नियोजित कर उसका चहुँमुखी विकास करना चाहता है। समाजवाद सामाजिक संगठन का एक राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्त है जिसकी मूल विशेषता आर्थिक कार्यों पर सरकारी नियन्त्रण को स्थापित करना है ताकि प्रतियोगिता का स्थान सहयोग ले ले; विकास के अवसर सबको प्राप्त हों और श्रम का पारितोषिक सबमें न्यायोचित रूप से बाँट दिया जाय।

समाजवाद—की निश्चित परिभाषा देने में कठिनाई यह है, जैसाकि **सी. ई. एम. जोड** ने कहा है कि "यह एक ऐसी टोपी है जिसकी आकृति बहुत अधिक पहनने से बिगड़ गयी है।" प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में यह भिन्न सिद्धान्त, आन्दोलन, प्रणाली या व्यवस्था प्रतीत होती है।

समाजवाद की परिभाषा—समाजवाद की मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं—

(1) **अपादोराय** के शब्दों में, "समाजवाद एक सिद्धान्त और एक आन्दोलन है जो उत्पादन और विनिमय के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व और सामूहिक नियन्त्रण द्वारा जनसाधारण के हित के लिए लोक समाज का सामूहिक संगठन चाहता है।"

(2) **हुबर्ट बलाण्ड** के शब्दों में, "उत्पादन और विनिमय के साधनों पर सामान्य नियन्त्रण को समाजवाद कहते हैं और यह सामान्य नियन्त्रण सबके समान लाभ के लिए है।"

(3) **विश्वकोष ब्रिटानिका** के अनुसार, "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जो केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम वितरण तथा उसके अधीन श्रेष्ठतम उत्पादन की व्यवस्था करना चाहता है।"

(4) **जी. डी. एच. कोल** के शब्दों में, "समाजवाद का अर्थ चार बातों से है—(i) **एक मानवीय** सभा जिसमें वर्ग-विभेद को समाप्त कर दिया गया है; (ii) **एक सामाजिक प्रणाली** जिसमें कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी से न तो इतना अमीर और न इतना गरीब हो कि वे आपस में समान शर्तों पर मिल भी न सकें; (iii) समस्त उत्पादन के मुख्य साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व एवं प्रयोग; (iv) समस्त नागरिक अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार एक दूसरे की सेवा करें।"

(5) **जार्ज बर्नाड शॉ** के शब्दों में, "समाजवाद आय की समानता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

(6) **बर्ट्रैण्ड रसल** के शब्दों में, "यदि हम समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व की वकालत कहें तो हम समाजवाद के मूल तत्त्व के अधिक निकट पहुँच जाते हैं।"

समाजवाद भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। जो जिस रंग या दृष्टि से इसकी ओर देखता है उसे वही रंग और दृष्टि नजर आती है। कुछ के लिए यह उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व है; कुछ के लिए यह उत्पादन के मुख्य साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व और छोटे-मोटे उत्पादन के साधनों पर सीमित निजी स्वामित्व है; कुछ के लिए यह अच्छे उत्पादन और अच्छे वितरण की व्यवस्था है; कुछ के लिये यह नागरिकों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने की प्रणाली है, कुछ के लिए यह नियन्त्रण की प्रक्रिया है; कुछ के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के लाभ, शोषण और अन्याय प्रवृत्ति तथा निजी निवेश के अन्त करने का तरीका है; कुछ के लिए यह धन के वितरण की पूर्णतः नवीन प्रणाली है; कुछ के लिये यह उचित आधारों पर सार्वजनिक लाभों का बँटवारा है; कुछ के लिये यह आय की न्यूनतम दरों को निश्चित करने का माध्यम है ताकि इन भिन्नताओं के कारण कोई किसी का शोषण न कर सके; कुछ के लिये यह लाभ, भाड़े, ब्याज की वर्तमान प्रणालियों को अन्त करने की विधि है; कुछ के लिये यह निजी सम्पत्ति, स्वतन्त्र प्रतियोगिता और असंयमित व्यक्तिवाद का अन्त करने का साधन है; कुछ के लिये यह भूमि और प्राकृतिक साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व को स्थापित करने का आधार है; कुछ के लिये यह वर्गीय आन्दोलन है; कुछ के लिए यह पारस्परिक सहयोग की प्रेरणा और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का यन्त्र है; कुछ के लिये यह सबको श्रमिक बनाने का तरीका है; कुछ के लिये यह समाज में सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना का सर्वोत्तम साधन और समता का आधार है। संक्षेप में, समाजवाद ऐसा सिद्धान्त, आन्दोलन और जीवन पद्धति है जो सार्वजनिक कल्याण पर आधारित है।

समाजवाद एक विरोध—यह पूँजीवाद के विरुद्ध विरोध है। यह उसके व्यक्तिगत लाभों के विरुद्ध विरोध है, यह सामाजिक और आर्थिक बुराइयों तथा विषमताओं के विरुद्ध विरोध है। यह स्वतन्त्र प्रतियोगिता के विरुद्ध विरोध है। यह मानव कल्याण के लिये तथा उसे जीवन की न्यूनतम आवश्यकतायें उपलब्ध कराने के लिये सुधार आन्दोलन है।

समाजवादी राज्य के आवश्यक तत्त्व या मूल सिद्धान्त

समाजवादी राज्य के मूल तत्त्व निम्न हैं—

1. समाज को अधिक महत्त्व—समाजवाद शब्द की उत्पत्ति **सोसियस** (Socius) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'समाज'। स्वाभाविक है कि समाजवादी राज्य व्यक्ति के स्थान पर समाज को अधिक महत्त्व देता है। समाजवादी राज्य के लिये समाज व्यक्ति से अधिक उच्चतर, महानतम और पवित्र है। इस प्रकार का राज्य उन नीतियों का अनुसरण करता है जिससे समाज का कल्याण हो, व्यक्ति विशेष का नहीं। यह व्यक्तियों के हितों को समाज के हितों के अधीन समझता है।

2. समाज की आंगिक एकता पर बल—समाजवादी राज्य समाज को आंगिक एकता में गूँथना चाहता है, परन्तु सर्वसत्तावादी या एकदलीय शासन की भाँति व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की बलि चढ़ाकर नहीं अपितु उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करके । समाजवादी राज्य न तो व्यक्तिवादियों की निर्बाध स्वतन्त्रता के पक्ष में है और न साम्यवादियों या सर्वसत्तावादियों के अति नियन्त्रण के पक्ष में है। यह मध्य मार्ग अपनाता है। यह व्यक्ति को आने वाले कल के खतरों से तथा भूख और नंगेपन की गुलामी से स्वतन्त्र रखना चाहता है। व्यक्तिवादी राज्य स्वतन्त्रता के माध्यम से सबको समानता प्रदान करता है, परन्तु समाजवादी राज्य समानता के माध्यम से सबकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रखना चाहता है।

3. पूँजीवाद का उन्मूलन—समाजवादी राज्य पूँजीवादी राज्य का उन्मूलन चाहता है। उसकी धारणा है कि समाज में विद्यमान शोषण तथा अन्य आर्थिक विषमतायें पूँजीवाद के लाभ, भाड़े और व्याज की प्रवृत्तियों के कारण हैं। पूँजीवाद ही श्रमिकों में असन्तोष, निराशा और वर्ग चेतना उत्पन्न करता है। जीविकोपार्जन के साधन सुलभ न होने के कारण श्रमिकों में ईर्ष्या, द्वेष और बदले की भावना पैदा होती है।

4. स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त—समाजवादी राज्य स्वतन्त्र प्रतियोगिता को समाज विरोधी तत्त्व मानता है। इसकी धारणा है कि (i) अत्यधिक धनी और अत्यधिक निर्धन में निष्पक्ष प्रतियोगिता सम्भव नहीं; (ii) स्वतन्त्र प्रतियोगिता में अन्यायपूर्ण और कुटिल साधनों का प्रयोग किया जाता है; (iii) अपनी वस्तुओं का प्रचार करने के लिए धनी विज्ञापनों पर अनावश्यक व्यय करते हैं जिससे धन का अपव्यय होता है; (iv) इसमें एकाधिकार की प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। इसीलिये समाजवादी राज्य सहयोग पर बल देता है, स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर नहीं।

5. समाज में समानता स्थापित करना—समाजवादी राज्य समाज में विद्यमान आर्थिक विषमताओं को दूर कर सम्पत्ति का वितरण इस प्रकार चाहता है कि वह कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित न हो। यह अमीर और गरीब की खाई को कम करना चाहता है । यह समानता चाहता है। जैसाकि **बुल्से** ने लिखा है कि **"समाजवाद की शक्ति तर्क नहीं अपितु समानता की माँग है।"**

समाजवादी समानता से अभिप्राय निरपेक्ष या पूर्ण समानता नहीं है। पूर्ण समानता न तो सम्भव है और न ही अपेक्षित। समाजवादी समानता से इतना आशय अवश्य है कि सबको विकास के पर्याप्त अवसर मिलें, श्रमिकों को अपने श्रम का पारितोपिक ठीक मिले। समाजवादी उस सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था को समाप्त करना चाहते हैं जिसमें कुछ को बिना श्रम किये जीवन की सुख-सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं और बहुसंख्यक लोगों को कठोर श्रम करने पर भी पेट भर कर भोजन प्राप्त नहीं होता। समाजवादी राज्य सामाजिक न्याय की माँग करता है। यह श्रमिकों के समाज का विकास करना चाहता है, परजीवियों के समाज की नहीं।

6. निजी सम्पत्ति का उन्मूलन—समाजवादी राज्य निजी सम्पत्ति को शोषण का मुख्य कारण मानता है। उसका विश्वास है कि निजी सम्पत्ति के कारण प्रजातान्त्रिक प्रणालियाँ विगड़ जाती हैं; वे पूँजीपतियों के हाथों में कठपुतली मात्र वनकर रह जाती हैं। अनेक समाजवादियों ने निजी सम्पत्ति को "चोरी" अथवा न्याय के प्रति अपराध माना है। हैलोवेल का कहना है कि "बुराई मुख्यतः उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व के कारण उत्पन्न होती है।" इस तरह समाजवाद निजी सम्पत्ति का उन्मूलन कर समाज में विद्यमान विषमताओं को दूर करना चाहता है। परन्तु समाजवाद उस निजी सम्पत्ति को, जैसे निजी वस्तुएँ, छोटे-छोटे व्यवसाय या अपने रहने योग्य घर आदि में लगी हुई सम्पत्ति को वनाये रखना चाहता है जो समाज में शोषण का कारण नहीं।

7. भूमि और खानों से निजी स्वामित्व की समाप्ति—भूमि और खानें प्राकृतिक देन हैं। इसलिए उन पर किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह का स्वामित्व नहीं होना चाहिए। इनका उपयोग सामाजिक लाभ के लिए होना चाहिए। अतः समाजवाद भूमि और खानों पर सार्वजनिक स्वामित्व चाहता है।

8. उद्योगों का राष्ट्रीयकरण—समाजवादी राज्य उत्पादन के सभी मुख्य साधनों पर सार्वजनिक नियन्त्रण रखने के पक्ष में हैं। वह उनका राष्ट्रीयकरण चाहता है। उसके लिए निजी उद्योग "निजी लूट" है। समाजवाद के राष्ट्रीयकरण की नीति का यह अभिप्राय नहीं कि वह सभी छोटे-वड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहता है। वह केवल उन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहता है जिनमें शोषण की सम्भावना है। जिन उद्योगों में व्यक्ति स्वयं कार्य करता है या जिनमें अधिक नौकरों की आवश्यकता नहीं होती, समाजवाद उनका राष्ट्रीयकरण नहीं चाहता। वह बड़े उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व इसलिये चाहता है कि पूँजीपति बनावटी कमी पैदा न कर सकें, उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों में अनावश्यक वृद्धि न कर सकें और समाज को सार्वजनिक सेवाएँ निरन्तर उपलब्ध होती रहें।

9. निजी अधिकारों की सुरक्षा—व्यक्तियों को धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में स्वतन्त्रता देता है। आर्थिक क्षेत्र में भी समाजवाद व्यक्तियों को सीमित स्वतन्त्रता देता है। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति अपने स्वतन्त्र विचार रख सकता है; उनका प्रचार कर सकता है; किसी धर्म का अनुयायी वन सकता है। समाजवाद में मानवीय स्वतन्त्रतायें सुरक्षित रहती हैं।

10. राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता—समाजवादी राज्य की धारणा है कि जव तक व्यक्तियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल धोखा मात्र है। **समाजवादी राज्य आर्थिक स्वतन्त्रताओं पर बल देता है; मजदूरों के न्यूनतम वेतन निर्धारित करता है; रोजगार की व्यवस्था करता है; वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करता है; उद्योगों पर**

नियन्त्रण रखता है; उत्पादन, वितरण और विनिमय की उचित व्यवस्था करता है आदि।

11. राज्य एक धनात्मक अच्छाई है—समाजवाद राज्य को धनात्मक अच्छाई मानता है। इसलिए वह राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार चाहता है। इसकी धारणा है कि राज्य कानूनों द्वारा विकास में सहयोग दे सकता है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्य में राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आज व्यक्ति बाह्य सुरक्षा या आन्तरिक व्यवस्था के लिए ही राज्य पर निर्भर नहीं करता बल्कि भोजन शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, पानी, विद्युत, गैस, निवास, रोजगार आदि के लिए भी राज्य पर निर्भर करता है।

समाजवादी राज्य का मूल्यांकन

गुण—समाजवादी राज्य में निम्न गुण पाये जाते हैं—

1. सामान्य कल्याण पर आधारित—समाजवादी राज्य सामान्य कल्याण पर आधारित होता है। यह किसी वर्ग विशेष के हितों की सुरक्षा नहीं करता बल्कि समाज के सभी वर्गों के हितों की सुरक्षा करता है। यह निर्धनों और दुर्बलों के प्रति सहानुभूति रखता है। यह सताए हुए लोगों के लिए न्याय की व्यवस्था करता है। यह खोये हुए एवं बेसहारा लोगों के लिए उत्तरदायित्व को स्वीकार करता है। यह सामाजिक सेवा और सार्वजनिक सहायता की व्यवस्था करता है।

2. विकास के साधनों की व्यवस्था—समाजवादी राज्य में किसी का शोषण नहीं होता। इसमें सबको विकास के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। यह सबकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है तथा समानता बनाये रखता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्त्व और गौरव समझा जाता है।

3. पूँजीवाद की बुराइयों का अन्त—समाजवादी राज्य पूँजीवादी व्यवस्था की बुराइयों-शोषण, अन्याय, असमानता-का अन्त कर देता है। यह धन का केन्द्रीकरण नहीं होने देता। इसमें उद्योगों से प्राप्त लाभों को सामान्य सेवाओं में लगाया जाता है। इसमें आय की गम्भीर भिन्नतायें नहीं होतीं। इसमें सम्पत्ति का अधिक से अधिक साम्यिक वितरण किया जाता है।

4. निजी पूँजी का उन्मूलन—समाजवादी राज्य निजी पूँजी का उन्मूलन कर समाज को उससे उत्पन्न होने वाली बुराइयों से बचाता है। यह उत्पादन के मुख्य साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करता है। भूमि और खानों का सामाजीकरण कर यह उनसे होने वाले लाभ को सामान्य कल्याण में खर्च करता है।

5. श्रमिकों की दशा में सुधार—समाजवादी राज्य उन लोगों को, जो वर्षों से दासता की जंजीरों में जकड़े हुए थे, जिन्हें निर्धनता, अज्ञानता, अनभिज्ञता घेरे हुए थी, मुक्ति दिलाता है। यह जहां उनकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है वहां उन्हें समानता का दर्जा भी देता है।

6. सहयोग पर बल—समाजवादी राज्य में स्वतन्त्र प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग पर, निजी सम्पत्ति के स्थान पर सामाजिक सम्पत्ति पर और उत्पादन में लाभ के स्थान पर सेवा पर बल दिया जाता है।

7. वास्तविक प्रजातन्त्र—प्रजातन्त्र तब तक वास्तविक नहीं हो सकता जब तक नागरिकों को राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जाती। समाजवादी राज्य समाजवादी नीतियों को अपनाकर सर्वसाधारण को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का प्रयास करता है। समाजवाद **"प्रजातन्त्र का आर्थिक पूरक"** है।

दोष—समाजवादी राज्य के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. सर्वसत्तावाद को बढ़ावा—प्रजातन्त्र और लोक कल्याण के नाम पर समाजवादी राज्य में अत्यधिक सत्ता केन्द्रित हो जाती है। सत्ता का यह केन्द्रीकरण सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों को जन्म देता है। इससे प्रजातान्त्रिक प्रणालियों और व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सदैव खतरा बना रहता है।

2. नागरिक हितों के प्रति उदासीन—समाजवादी राज्य में यह मान लिया जाता है कि राज्य व्यक्तियों के हितों को समझता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि राज्य कर्मचारी, जो राज्य शक्ति का प्रयोग करते हैं, लोगों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को समझने में असफल रहते हैं। वे उनके प्रति उदासीनता दिखाते हैं। व्यक्ति अपने आर्थिक हितों को स्वयं अच्छी तरह समझता है। राज्य व्यक्ति के हितों की रक्षा कर सकता है, उनका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

3. कार्य की प्रेरणा का ह्रास—समाजवादी राज्य कार्य की प्रेरणा और उत्साह के स्रोतों को नष्ट कर देता है। कार्य की प्रेरणा का मुख्य स्रोत निजी लाभ होता है। मौलिकता और दक्षता अपनी श्रेष्ठता का पुरस्कार चाहती है। जहां कुशलता-अकुशलता के समान समझी जाती है, जहां बुद्धिमान और मेहनतियों को आलसियों और अयोग्यों के समान समझा जाता है, वहां प्रेरणा उदासीनता में और कुशलता अकुशलता में बदल जाती है। किसी ने ठीक कहा है कि **समाजवादी दृष्टिकोण "स्फूर्ति में शिथिलता, साहस की समाप्ति, आविष्कार की कमी, उद्योग में स्थिरता ला देता है और ये सब उन्नति और उत्पादन के लिए घातक हैं।"** सरकार नियमों द्वारा नियन्त्रण तो रख सकती है पर उद्योगों को सुचारु रूप से स्वयं नहीं चला सकती।

4. कुशलता की कमी—राज्य कर्मचारियों की उदासीनता उत्पादन में कमी ला देती है। उत्पादक वस्तुओं के गुणों में भी कमी आ जाती है। जहां प्रतियोगिता समाप्त कर दी जाती है, वहां वस्तुओं के गुणों में कमी होना स्वाभाविक है। **समाजवादी अवधारणा भूल जाती है कि स्पर्धा कार्य की प्रेरणा का सर्वोत्तम साधन है और कला के विकास का सर्वोत्तम आधार है।** समाजवाद **व्यक्ति को आलसी, अकर्मण्य और निष्क्रिय बनाता है।**

5. लालफीताशाही और भ्रष्टाचार को बढ़ावा—समाजवाद राज्य कर्मचारियों के महत्त्व को अनावश्यक और आश्चर्यजनक गति से बढ़ा देता है। जैसे-जैसे राज्य के कार्यों में विस्तार होता है वैसे-वैसे राज्य कर्मचारियों के हाथों में शक्ति केन्द्रित होती जाती है। शक्ति के आ जाने से राज्य कर्मचारी भ्रष्ट हो जाते हैं। कुनबापरस्ती और पक्षपात का बोलबाला हो जाता है। इस तरह नौकरशाही राज्य के अन्दर अपना नवीन साम्राज्य स्थापित कर लेती है।

6. चरित्र का पतन—राज्य के कार्यों में वृद्धि, प्रशासन में भ्रष्टता और व्यवहार में उदासीनता राज्य कर्मचारियों के चरित्र का पतन कर देती है और साधारण नागरिकों के चरित्र पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। समाजवादी राज्य में सामान्य चरित्र का पतन होता है।

7. अपव्यय की सम्भावना—समाजवादियों ने पूँजीवादी व्यवस्था पर यह आरोप लगाया है कि इसमें विज्ञापनों और प्रचार पर अनावश्यक व्यय होता है। समाजवादी यह भूल जाते हैं कि पूँजीपति 10 व्यक्तियों से जितना काम लेता है वहां सार्वजनिक व्यवस्था में उसी काम को करने के लिए 40–50 व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। पूँजीवाद में निजी जोखिम होता है। सार्वजनिक व्यवस्था में निजी जोखिम नहीं होता। इसीलिए समाजवादी राज्य में धन के अपव्यय की अधिक सम्भावना रहती है।

8. भौतिकवादी एवं अनैतिक सिद्धान्त—समाजवादी राज्य केवल भौतिक सम्बन्धों पर बल देता है—धार्मिक, नैतिक या आध्यात्मिक सम्बन्धों पर नहीं। समाजवादी राज्य उपयोगितावादी, अवसरवादी और भौतिकवादी होता है। इसमें सत्य और न्याय के किसी शाश्वत नियम की अपील नहीं की जाती। **डेविडसन** का विचार है कि **धनिकों की जेबें काट कर निर्धनों की जेबें भरना अन्यायपूर्ण है। यह सामाजिक लूट है।**

9. संकीर्ण विचारधारा—समाजवादी राज्य मानव के एक पहलू पर बल देता है। यह 'जीविकोपार्जन' तक सीमित है। यह भूल जाता है कि जीवन में 'सुन्दरता' और 'अच्छे जीवन' का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। पेट पालना ही मानव का उद्देश्य नहीं। समाजवाद उन चीजों की व्याख्या नहीं करता जिनसे मानव में 'सौन्दर्य' का विकास होता है।

10. उपभोक्ता की कठिनाइयाँ—समाजवादी राज्य में राज्य ही उत्पादन, वितरण और विनिमय की मात्राओं को निर्धारित करता है। राज्य कर्मचारियों की उदासीनता उपभोक्ताओं की कठिनाइयों को बढ़ा देती है।

11. निजी सम्पत्ति के महत्त्व को समझने में असफल—समाजवाद निजी सम्पत्ति का उन्मूलन चाहता है परन्तु निजी सम्पत्ति को नष्ट करना मानो व्यक्ति की क्षमता, उसके उल्लास तथा उसकी कुशलता पर कुठाराघात करना है। निजी सम्पत्ति कार्य करने की प्रेरणा है। व्यक्ति का स्वाभाविक गुण यह है कि वह अपने

पड़ोसी के समान वनना नहीं चाहता, वह उससे आगे वढ़ना चाहता है। निजी सम्पत्ति आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन का आधार है। यह समाज में श्रेष्ठता और सम्मान का प्रतीक है।

12. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण—समाजवाद समाज में समानता लाने के लिये कटिवद्ध है। परन्तु मानव न तो बुद्धि में, न कार्यशीलता में, न क्षमता में और न आवश्यकता में समान है। जब मानव इन सब क्षेत्रों में असमान है तो समाज में वनावटी समानता पैदा करना हानिकारक है और अवांछनीय है।

13. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास—केन्द्रीय व्यवस्था समाजवादी राज्य का उद्देश्य है। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सदैव खतरा रहता है। योजनायें, जो समाजवादी राज्य की आधारशिलायें हैं, व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर प्रभावी होती हैं। प्रो. लीकॉक ने कहा है कि **"समाजवाद में स्वतन्त्रता का अपहरण होता है।"**

14. धर्म विरोधी—समाजवाद धर्म को पूँजीवाद का मित्र मानता है। इसके लिए धर्म प्रतिक्रियावादी शक्ति है। **मार्क्स** ने धर्म को 'अफीम' कहकर निन्दित किया है। हो सकता है कि धर्म ने अन्धविश्वास और भाग्यवादिता को जन्म दिया हो, परन्तु जीवन में धार्मिक मूल्यों की उपेक्षा करना गलत है। धर्म अनेक मानवीय मूल्यों का स्रोत है। यह नैतिकता का आधार है।

15. श्रम उत्पादन का एकमात्र स्रोत नहीं—समाजवाद श्रम को उत्पादन का स्रोत मानता है, परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उत्पादन के लिए जहां श्रम की आवश्यकता है वहां उन यन्त्रों की आवश्यकता भी है जिन पर श्रम किया जा सकता है, उस प्रवन्ध की भी आवश्यकता है जिसके माध्यम से उत्पादित वस्तुओं को मण्डियों में वेचा जा सके।

16. इतिहास की एक तरफा व्याख्या—समाजवादी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते हैं। इस वात से कोई इनकार नहीं करता कि आर्थिक तत्त्व महत्त्व पूर्ण हैं, परन्तु यह कहना कि आर्थिक तत्त्व ही सव संस्थाओं और क्रियाओं का नियमन करता है, गलत है। इतिहास विरोधी वर्गों के संघर्ष की कहानी मात्र नहीं। मानव में जहाँ लाभ की भावना है वहाँ उसमें सेवा, त्याग, प्रेम, सहयोग आदि की भावनायें भी हैं।

17. यथार्थ से दूर—समाजवादी राज्य अधिक प्रचारात्मक है। वह समाज के जिस रूप का चित्रण करता है वह यथार्थवाद से दूर है। वह पूँजीवाद का जो चित्रण करता है वह भी अतिशयोक्तिपूर्ण है। वह भूल जाता है कि पूँजीवाद में अत्यधिक लचीलापन है जो उसमें नहीं। पूँजीवादी राज्यों ने जिस सीमा तक मजदूरों की दशा में सुधार किया है उतना तो समाजवादी राज्यों ने भी नहीं किया।

18. समाजवाद की असफलता—सोवियत संघ, चीन तथा अन्य कुछ राज्यों में समाजवादी व्यवस्था सफल होती नजर आती है परन्तु इनमें मानवीय स्वतन्त्रताओं के जिस दमन पर इसे सफल बनाने का प्रयास किया गया है वह अमानवीय है। आस्ट्रिया, स्वीडन, चैकोस्लोवाकिया और डेनमार्क में समाजवादी प्रयास असफल रहे हैं। वर्तमान समय में चीन पूँजीवादी तकनीक को प्रोत्साहन दे रहा है।

"व्यक्तिवाद का केन्द्र-बिन्दु स्वतन्त्रता है
समाजवाद का केन्द्र-बिन्दु समानता है।"

व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों व्यक्ति के कल्याण और उसके विकास से सम्बन्धित विचारधारायें हैं। दोनों की विधियों और साधनों में भिन्नता होते हुए भी वे एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति को स्वतन्त्रता और समानता दोनों की आवश्यकता है। उसका विकास तभी सम्भव है जब उसे स्वतन्त्रता और समानता समुचित रूप से प्राप्त हो। स्वतन्त्रता के अभाव में व्यक्ति पंगु बन जाता है और समानता के अभाव में स्वतन्त्रता केवल दिखावा मात्र बनकर रह जाती है। यदि व्यक्तियों से समाज बनता है तो समाज में ही व्यक्तियों का महत्त्व है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर होने से एक-दूसरे के पूरक हैं।

व्यक्तिवाद और समाजवाद में एक मुख्य भिन्नता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति के विकास और कल्याण के लिए उनके कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन करता है। व्यक्ति के कार्यों में व्यक्तिवाद तभी हस्तक्षेप स्वीकार करता है जब उसके कार्यों का प्रभाव दूसरों पर प्रतिकूल पड़ता है। दूसरी ओर, समाजवाद मानव के सामाजिक पहलू पर अत्यधिक बल देता है। वह उसे केवल मर्यादित स्वतन्त्रतायें देना चाहता है। वह स्वतन्त्रता की अपेक्षा मानव समानता पर बल देता है। इसी कारण स्वतन्त्रता को व्यक्तिवाद का केन्द्र-बिन्दु और समानता को समाजवाद का केन्द्र-बिन्दु कहा जाता है।

स्वतन्त्रता व्यक्तिवाद का केन्द्र-बिन्दु है—

व्यक्तिवाद का अर्थ है—**यथेच्छाचारिता** (अहस्तक्षेप) अर्थात् व्यक्ति को अकेला छोड़ दो क्योंकि वह अपने हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राज्य को उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। **फ्रीमेन** के शब्दों में, "शासन का **सर्वोत्तम रूप शासन का अभाव है। किसी भी रूप में शासन का अस्तित्व मानव की अपूर्णता का सूचक है।"**

व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है। राज्य आवश्यक इसलिए है कि व्यक्ति अपूर्ण है। उसमें अपराध की भावना है। उसमें अतिक्रमण की प्रवृत्ति है। वह स्वार्थी और लालची है। इन समाज विरोधी या ऐसी ही प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए व्यक्तिवादी राज्य की आवश्यकता समझते हैं। जैसाकि

विलोवी ने लिखा है कि "मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के लिए ही राज्य सत्ता की आवश्यकता है।" स्पेन्सर का विश्वास है कि "राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध की भावना विद्यमान है।" दूसरी ओर, व्यक्तिवादी राज्य को बुराई भी मानते हैं। उनकी धारणा है कि प्रत्येक कानून या नियम जो राज्य द्वारा बनाया जाता है, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करता है। व्यक्तिवादी प्रतिबन्ध के अभाव को स्वतन्त्रता कहते हैं। उनके लिए राज्य और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी हैं।

व्यक्तिवादी राज्य को केवल पुलिस कार्य ही सौंपना चाहते हैं। वे राज्य के कार्यों को सीमित रखना चाहते हैं। वे राज्य को केवल बाह्य आक्रमण से सुरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्य सौंपना चाहते हैं। वे इससे अधिक राज्य के कार्यक्षेत्र को नहीं बढ़ाना चाहते। स्पेन्सर लिखता है कि "राज्य का मुख्य कर्त्तव्य रक्षा करना तथा मर्यादित करना है न कि पोषण करना और समुन्नत करना।"

व्यक्तिवादियों ने, विशेषकर जे. एस. मिल ने, व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बाँटा है। एक वे कार्य हैं जिनका प्रभाव मानव तक सीमित है और दूसरे वे जिनका प्रभाव समाज के अन्य सदस्यों पर पड़ता है। व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य को तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब व्यक्तियों के कार्यों का प्रभाव दूसरों पर प्रतिकूल पड़े अन्यथा उसे व्यक्ति को अकेला छोड़ देना चाहिये। मिल लिखता है कि "सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध सत्ता का समुचित प्रयोग केवल एक ही उद्देश्य से किया जा सकता है और वह है दूसरों को हानि से बचाना।"

अनेक क्षेत्रों में व्यक्तिवादी व्यक्ति को पूर्ण या निरपेक्ष स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। विशेषकर विचारों के क्षेत्र में, आर्थिक प्रतियोगिता के क्षेत्र में और कार्य के क्षेत्र में व्यक्तिवादी व्यक्ति को अकेला छोड़ना चाहते हैं।

विचारों की स्वतन्त्रता के बारे में मिल लिखता है कि "यदि सम्पूर्ण समाज एक विचार का है और केवल एक व्यक्ति ही विरोधी विचारधारा का है तो मानव जाति के लिए उसे शान्त रखना उसी प्रकार न्याय संगत नहीं होगा जिस प्रकार यदि वह व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने पर दूसरे व्यक्तियों को चुप करा दे।" मिल की धारणा है कि किसी विचार का आरम्भ में ही दमन करना, चाहे वह कानूनी दण्ड द्वारा किया गया हो या जनता द्वारा निन्दित करके किया गया हो, सत्य का गला घोंटना है। उसका विश्वास है कि विरोधी विचारधारा सत्य की परख है। विरोधी विचारधारा सत्य की गहराई तक पहुँचा सकती है। मिल कहता है कि यह आवश्यक नहीं कि परम्परागत या सर्वमान्य विचार अवश्य ही सत्य हों, वे असत्य भी हो सकते हैं। सरकार, बहुमत और सामाजिक कुलीनतन्त्र अचूक नहीं होते। यह सम्भव

है कि आज कुछ झक्की ऐसे विचारों को मानते हों जिन्हें आने वाली सन्तानें ठीक समझें और उनका अनुसरण करें।

व्यक्तिवादी प्रतिवन्ध की नीति को व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक मानते हैं। प्रतिबन्ध या हस्तक्षेप से व्यक्ति की योग्यताओं का दमन होता है, अन्तःप्रेरणा और आत्मनिर्भरता नष्ट होती है, कार्य करने की प्रवृत्ति, स्वावलम्बन तथा निर्णय लेने की शक्ति का ह्रास होता है, उत्तरदायित्व की भावना निर्वल होती है, चरित्र पंगु वन जाता है, व्यक्ति निरुद्यमी और आलसी वन जाता है। संक्षेप में, हस्तक्षेप की नीति से व्यक्ति का विकास रुक जाता है।

व्यक्तिवादी **आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को स्वतन्त्रता** देने के पक्ष में हैं। उनका विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित है। **एडम स्मिथ** के शब्दों में, **वाणिज्य और उद्योग यदि निजी साहसिक आरम्भन पर छोड़े जायें तो अधिक समृद्ध होते हैं।"** उसका विश्वास है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता से व्यक्ति क्रियाशील बनते हैं; समाज की प्रगति होती है; उत्पादन में वृद्धि होती है; मूल्य स्वतः नियमित होते हैं; पूँजी और श्रम की स्वतन्त्र गति को प्रोत्साहन मिलता है। व्यक्तिवादियों का विश्वास है कि राज्य के नियमन द्वारा अयोग्य और आलसी व्यक्तियों को वढ़ावा मिलता है। इससे योग्य व्यक्तियों पर बोझ पड़ता है।

व्यक्तिवादी व्यक्ति को कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहते हैं। उनकी धारणा है कि राज्य को कभी भी व्यक्ति के कार्यों को निर्धारित नहीं करना चाहिये। कार्य की स्वतन्त्रता कुशलता और दक्षता के लिए अनिवार्य है।

समानता समाजवाद का केन्द्र-बिन्दु है—

समाजवाद की विचारधारा व्यक्तिवाद से भिन्न है। वह व्यक्ति के हितों की सुरक्षा के साधनों को जुटाते हुए भी समाज के हितों पर अधिक वल देता है। उसकी धारणा है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और समाज के हित और कल्याण में व्यक्ति के हित और कल्याण शामिल हैं। समाज के विरुद्ध या समाज के वाहर व्यक्ति का कोई हित नहीं। समाजवाद व्यक्तिवाद की तरह व्यक्ति को निरपेक्ष स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता। वह उसे केवल सामाजिक स्वतन्त्रतायें प्रदान करता है।

समाजवाद समानता लाने के लिए मुख्यतः निम्न साधनों का सहारा लेता है—

(1) समाजवाद सभी की समानता पर वल देता है। वह पूंजी, धर्म, वंश, जाति, लिंग आदि आधारों पर किसी प्रकार की भिन्नता नहीं करता। उसकी दृष्टि में वड़े-छोटे, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब सभी समान हैं।

(2) समाजवाद प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर देना चाहता है। उसकी धारणा है कि यदि किसी व्यक्ति का विकास असहाय परिस्थितियों के कारण रुक जाता है तो उससे समाज की हानि होती है।

(3) समाजवाद आर्थिक शोषण के विरुद्ध है। वह समाज में विद्यमान शोषण की प्रणालियों—लाभ, व्याज और भाड़ा—को समाप्त करना चाहता है।

(4) समाजवाद निजी सम्पत्ति का विरोधी है। लाभों को सार्वजनिक कल्याणकारी कार्यों में लगाने हेतु यह भूमि और उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व चाहता है। यह उत्पादन, वितरण और विनिमय की समुचित व्यवस्था चाहता है।

(5) समाजवाद के समानता के सिद्धान्त से यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक को समान वेतन प्राप्त होंगे। यह न तो सम्भव है और न ही विकास और कुशलता के लिए वाँछनीय है। समाजवाद वेतनों की गम्भीर भिन्नताओं को समाप्त करना चाहता है। वह वेतनों में इतनी अधिक भिन्नता नहीं चाहता कि इन भिन्नताओं के कारण कोई किसी का शोषण कर सके। समाजवाद राष्ट्रीय वेतनों की न्यूनतम दरों को निश्चित करना चाहता है। यह आर्थिक प्रजातन्त्र द्वारा राजनीतिक प्रजातन्त्र को वास्तविक वनाना चाहता है।

(6) समाजवादी राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानते। इनके लिए राज्य एक धनात्मक अच्छाई है। ये राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित नहीं करना चाहते। ये राज्य को केवल पुलिस कार्य नहीं सौंपते। ये राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार चाहते हैं। इनका विश्वास है कि राज्य का कार्य केवल सुरक्षा और व्यवस्था वनाये रखना नहीं है वल्कि पोषण और समुन्नत करना भी है।

समाजवादी राज्य को जनता का प्रतिनिधि एवं संरक्षक, अभिभावक एवं व्यावसायिक प्रवन्धक, सचिव एवं साहूकार मानते हैं। ये राज्य को व्यक्ति का विरोधी नहीं मानते। इनका कहना है कि राज्य कानूनों द्वारा आर्थिक शोषण दूर करने का प्रयास करता है, सामाजिक विषमताओं को दूर करता है और राजनीतिक स्थिरता उत्पन्न करता है।

समाजवादियों की धारणा है कि नियन्त्रण में ही वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव है। नियन्त्रण के अभाव में स्वतन्त्रता वास्तविक नहीं रहती। अनियन्त्रित स्वतन्त्रता उच्छृंखलता वन जाती है। इनका मत है कि कानून स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं वल्कि उसके संरक्षक हैं। कानून उन्हीं स्वतन्त्रताओं को प्रदान करते हैं जो प्रदान करने योग्य और उपयोग कराने योग्य हैं। उच्छृंखल स्वतन्त्रताओं पर नियन्त्रण रखना स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, उसका विरोध करना नहीं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि व्यक्तिवाद का केन्द्र-विन्दु स्वतन्त्रता और समाजवाद का केन्द्र-विन्दु समानता है।

समीक्षा प्रश्न

1. "समाजवादियों तथा व्यक्तिवादियों के उद्देश्य अन्ततोगत्वा एक-दूसरे से भिन्न नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देना चाहता है।" (जोड) इस कथन की व्याख्या कीजिए और वताइये कि इन दोनों में कहाँ तक अन्तर है ?
2. "व्यक्तिवाद का केन्द्र-बिन्दु स्वतन्त्रता है, समाजवाद का केन्द्र-बिन्दु समानता है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. "राज्य साध्य भी है और साधन भी।" विवेचना कीजिये।

11
लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त
(Theory of Welfare State)

परिचय (Introduction)--लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा बीसवीं शताब्दी की एक प्रमुख अवधारणा है। जैसाकि अर्नोल्ड जे. टॉयनबी ने कहा है कि "इतिहास में यह पहला युग है जिसमें लोग इस चीज को सोचने का साहस करते हैं कि सभ्यता के लाभ सारी मानव जाति को उपलब्ध हो सकते हैं।"

लोक कल्याणकारी अवधारणा को परिभाषित करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार "राष्ट्र", "स्वतन्त्रता" और "समानता" जैसी अवधारणाओं को परिभाषित करना कठिन है। इसका कारण यह है कि लोक कल्याण की अवधारणा जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी अवधारणा अर्थात् अहस्तक्षेप नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया है वहाँ यह बीसवीं शताब्दी की अधिनायकवादी एवं सर्वसत्तावादी अवधारणाओं अर्थात् साम्यवादी, फासीवादी, नाजीवादी विचारधाराओं के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया है। लोक कल्याण की अवधारणा न तो व्यक्तिवादियों की भाँति व्यक्ति को अकेला छोड़ना चाहती है और न साम्यवादियों या अधिनायकवादियों की भाँति व्यक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहती है। यह नियोजित जीवन और नियोजित विकास चाहती है। यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के लिए हिंसक साधनों में विश्वास नहीं करती। यह विकास और परिवर्तन के लिए संवैधानिक साधनों का सहारा लेती है। यह अनुनय, विवेक और जनमत के आधार पर परिवर्तन लाना चाहती है; यह व्यक्ति, व्यक्ति समूहों और संस्थाओं पर उतना ही नियन्त्रण रखना चाहती है जितना कि उसकी आवश्यकता है। यह सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए तथा समाज में विद्यमान गम्भीर विषमताओं और शोषण को दूर करने के लिए जहाँ सामाजिक नियन्त्रण और नियमन का सहारा लेती है वहां यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्रताओं को प्रदान भी करना चाहती है। यह व्यक्ति और समाज दोनों का समुचित विकास चाहती है। लोक

कल्याणकारी अवधारणा में व्यक्तिवादी, प्रजातन्त्रवादी, समाजवादी, आदर्शवादी एवं सर्वोदयवादी सभी अवधारणाओं का मिश्रण है।

अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition)

लोक कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य लोगों का कल्याण करना है, उनके हितों की सुरक्षा करना है तथा उनके सुख में वृद्धि करना है। यह राज्य अपने आपको "शक्ति" का यन्त्र नहीं समझता बल्कि "लोक-कल्याण" और "समाज सेवा" का यन्त्र समझता है।

लोक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. डॉ. अब्राहम के शब्दों में,—"लोक कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"

2. टी. डब्ल्यू. कैन्ट के शब्दों में,—"लोक कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए अधिक से अधिक सामाजिक सुविधायें प्रदान करता है।"

3. जी. डी. एच. कोल के शब्दों में,—"लोक कल्याणकारी राज्य वह समाज है जिसमें जीवन के आश्वरत न्यूनतम स्तर और विकास पर प्रत्येक नागरिक का अधिकार होता है।"

4. आर्थर शलेसिंगर के शब्दों में,—"लोक कल्याणकारी राज्य ऐसी व्यवस्था है जिसमें सरकार सभी नागरिकों से लिए रोजगार, आय, शिक्षा, चिकित्सा-सहायता, सामाजिक सुरक्षा और आवास के निश्चित स्तरों को प्रदान करने की जिम्मेदारी को स्वीकार करती है।"

5. हर्बर्ट एच. लेहमन के शब्दों में,—"लोक कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जिसमें लोगों को वास्तविक भूख, आवासहीनता या जाति, वर्ग या रंग के आधार पर दमन के भय से मुक्त होकर अपनी क्षमताओं का विकास करने, अपनी योग्यताओं का मुआवजा प्राप्त करने और आनन्द को प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होती है।"

लोक कल्याणकारी राज्य के लक्षण
(Characteristics of a Welfare State)

लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. व्यापक कार्यक्षेत्र—लोक कल्याणकारी राज्य का कार्यक्षेत्र केवल पुलिस कार्यों तक सीमित नहीं होता। यह व्यापक होता है। राज्य सुरक्षा और व्यवस्था ही नहीं बनाये रखता बल्कि पोषण और विकास में भी सहायक होता है।

2. आर्थिक सुरक्षा और विकास—लोक कल्याणकारी राज्य लोगों को आर्थिक सुरक्षा और विकास का आश्वासन देता है। यह रोजगार की व्यवस्था करता है तथा नागरिकों को जीवन का न्यूनतम स्तर प्रदान करने की कोशिश

करता है। यह बेरोजगारी भत्ते, वृद्धावस्था पेन्शन, सहायता आदि की व्यवस्था करता है।

3. चिकित्सा व्यवस्था—लोक कल्याणकारी राज्य लोगों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राज्य अस्पतालों, औषधालयों की व्यवस्था करता है तथा समाज के निर्बल वर्गों के लिए निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करता है। राज्य के इस उद्देश्य के पीछे यह धारणा कार्य करती है कि नागरिकों के स्वस्थ होने पर ही राज्य स्वस्थ रह सकता है।

4. सामाजिक सुरक्षा—लोक कल्याणकारी राज्य नागरिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। इसके लिए राज्य सभी नागरिकों को कानून का समान संरक्षण प्रदान करता है तथा सभी को कानून के समक्ष समान समझा जाता है। इसमें नागरिकों में जाति, धर्म, भाषा, वर्ग, लिंग या अन्य किसी आधार पर कोई भिन्नता नहीं की जाती।

5. शिक्षा व्यवस्था—शिक्षा लोक कल्याणकारी राज्य की "आत्मा" है। इस प्रकार के राज्य में उचित शिक्षा को राज्य का सर्वोत्तम परिपोषक और सर्वोत्तम संरक्षक समझा जाता है। अतः राज्य यथा साधन शिक्षा की व्यवस्था करता है और निरक्षरता एवं अनभिज्ञता को दूर करने का प्रयास करता है।

6. पिछड़े वर्गों के लिए विशेष व्यवस्थायें—लोक कल्याणकारी राज्य समाज के निर्धन, निर्बल एवं पिछड़े हुए वर्गों के विकास के लिए विशेष सुविधायें प्रदान करता है। उदाहरणतः भारतीय संविधान अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं पिछड़े हुए वर्गों के लिए विशेष व्यवस्थायें करता है।

7. नियोजित विकास—लोक कल्याणकारी राज्य नियोजित आर्थिक जीवन और नियोजित आर्थिक विकास में विश्वास करता है। इसके लिए राज्य सारे आर्थिक जीवन को नियन्त्रित और नियमित करता है। राज्य उद्योग-धन्धों पर नियन्त्रण रखता है; उत्पादन, वितरण और उपभोग का नियमन करता है; मूल्यों को निर्धारित करता है तथा विकास की दर निर्धारित करता है।

8. अनुसन्धान पर बल—लोक कल्याणकारी राज्य अनुसन्धान पर विशेष बल देता है। राज्य उद्योग, कृषि, विज्ञान आदि क्षेत्रों में अनुसन्धान की व्यवस्था करता है तथा उससे प्राप्त होने वाले लाभ को सारी मानव जाति में बाँट देता है।

9. कला एवं संस्कृति का विकास—लोक कल्याणकारी राज्य कला, संस्कृति और साहित्य के विकास के लिए विशेष सहायता और प्रोत्साहन देता है।

10. मध्यमार्गीय साधन—लोक कल्याणकारी राज्य मध्यमार्गी राज्य होता है। यह उग्र साधनों और नीतियों का विरोध करता है। यह व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों का मध्य मार्ग अपनाता है। यह व्यक्ति के विकास हेतु आवश्यक स्वतन्त्रताओं की रक्षा करते हुए सामाजिक हितों की रक्षा करता है।

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य
(Functions of a Welfare State)

आधुनिक लोक कल्याणकारी, समाजसेवी, प्रजातान्त्रिक राज्य के कार्यों को मुख्यतः निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है—

A. अनिवार्य कार्य—इन्हें पुलिस या सुरक्षात्मक कार्य भी कहा जाता है।

B. ऐच्छिक कार्य—इन्हें लोक-कल्याणकारी कार्य भी कहा जाता है।

A. अनिवार्य कार्य—राज्य के अनिवार्य कार्य मुख्यतः निम्न हैं—

1. बाह्य आक्रमणों से रक्षा एवं आन्तरिक सुरक्षा—राज्य का सर्वोत्तम कार्य अपने अस्तित्व की रक्षा करना है। राज्य को अपनी सम्प्रभुता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जहां बाह्य आक्रमणों से रक्षा करनी पड़ती है वहां उसे आन्तरिक व्यवस्था बनाये रख कर लोगों के जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा भी करनी होती है। यदि राज्य इस कार्य को सफलतापूर्वक नहीं कर सकता तो उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को निरन्तर खतरा बना रहता है। अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने के लिए राज्य जल, थल एवं वायु सेनाओं की व्यवस्था करता है, आन्तरिक सुरक्षा हेतु पुलिस की व्यवस्था करता है तथा परिवहन एवं आवागमन के साधनों का विकास करता है।

2. कानून व्यवस्था—राज्य कानूनों का निर्माण करता है। राज्य कानूनों के माध्यम से अपनी सम्प्रभुता की रक्षा करता है, सुरक्षा की व्यवस्था करता है, उपद्रवों का दमन करता है तथा लोगों के जीवन, स्वतन्त्रताओं और सम्पत्ति की रक्षा करता है।

3. न्याय व्यवस्था—राज्य निष्पक्ष, सस्ते और शीघ्र न्याय की व्यवस्था करता है। इसके लिए राज्य न्यायालयों की व्यवस्था करता है, व्यक्तियों के आचरण को नियमित करने के लिए दीवानी और फौजदारी संहिताओं का निर्माण करता है और इनकी उल्लंघना करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है।

4 अधिकार व्यवस्था—राज्य व्यक्ति एवं संस्थाओं के अधिकारों की विवेचना करता है तथा उनकी सुरक्षा करता है। राज्य परिवार जैसी प्रारम्भिक एव अनिवार्य संस्थाओं की रक्षा करता है। राज्य पारिवारिक जीवन की रक्षा करता है। इसके लिए यह कानून द्वारा पति-पत्नी के सम्बन्धों, विवाह, तलाक आदि को निर्धारित करता है। राज्य कानूनों द्वारा सम्पत्ति के अर्जन, क्रय-विक्रय, उत्तराधिकार आदि को नियन्त्रित करता है।

5. आर्थिक व्यवस्था—राज्य अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक कार्यों को सम्पन्न करता है। उदाहरणतः राज्य मुद्रा की व्यवस्था करता है, कर लगाता है, आयात-निर्यात के नियमों का निर्माण करता है, बैंक व्यवस्था सम्बन्धी कानूनो का निर्माण करता है; भूमि जंगलात और सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रबन्ध करता है तथा डाक, तार, रेल आदि की व्यवस्था करता है।

6. विदेशी सम्बन्धों की व्यवस्था—राज्य दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। आधुनिक समय में कोई भी राज्य शून्यता में निवास नहीं कर सकता और न ही अकेले जीवन व्यतीत कर सकता है। कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विरादरी से पृथक नहीं रह सकता। अतः राज्य दूसरे राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को वनाये रखने का प्रयास करता है तथा तनाव और संघर्ष को सीमित करने का प्रयास करता है। इसके लिए राज्य दूसरे देशों में अपने राजदूतों को नियुक्त करता है।

राज्य उपर्युक्त अनिवार्य कार्यों को सम्पन्न करने में जितनी मात्रा में सफल होता है उतनी मात्रा में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है और उसके अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनी रहती है।

B. ऐच्छिक या लोक कल्याणकारी कार्य—राज्य के ऐच्छिक या लोक कल्याणकारी कार्य उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक तो नहीं होते परन्तु ये उसे एकता और सुदृढ़ता प्रदान करते हैं। राज्य के ऐच्छिक कार्यों की पूर्ति उसके आर्थिक स्रोतों और संकल्प पर निर्भर करती है। इन कार्यों का सम्वन्ध मुख्यतः व्यक्ति के व्यक्तित्व, नैतिकता, सामाजिक और आर्थिक हितों से होता है।

राज्य के ऐच्छिक या लोक कल्याणकारी कार्यों को मुख्यतः निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों की व्यवस्था—लोक कल्याणकारी राज्य समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की कोशिश करता है कि व्यक्ति अपने सर्वोत्तम व्यक्तित्व का विकास कर सके। राज्य व्यक्ति के विकास में आने वाली वाधाओं को दूर करता है। उदाहरणतः राज्य अनभिज्ञता और निरक्षरता को दूर करने के लिए शिक्षालयों की व्यवस्था करता है, निर्धनता और वेरोजगारी को दूर करने के लिए रोजगार, वृद्धावस्था पेन्शन एवं आर्थिक सहायता की व्यवस्था करता है; गम्भीर आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए उत्तरोत्तर करों की व्यवस्था करता है; निर्वल और पिछड़े हुए वर्गों का उत्थान करने के लिए उन्हें विशेष रियायतें प्रदान करता है आदि।

2. सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा—राज्य नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु अस्पतालों, औषधालयों आदि की व्यवस्था करता है। राज्य महामारी के समय या रोगों की रोकथाम के लिए टीकों की व्यवस्था करता है। राज्य इस बात के प्रति सचेत रहता है कि स्वस्थ नागरिक ही स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। राज्य नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए श्रमिकों को शोषण से वचाता है, कार्य के घण्टे निश्चित करता है, वेतन और अवकाश निश्चित करता है तथा वीमा योजना आदि की व्यवस्था करता है।

3. शिक्षा—शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का साधन है। यह व्यक्ति की उन्नति का मन्त्र है। यह स्वच्छ एवं आदर्श नागरिकता का आधार और प्रजा-

तन्त्र की सफलता की कुन्जी है। शिक्षा ही नागरिक को निडर, साहसी और सहनशील बनाती है। जैसाकि **प्लेटो** ने कहा है कि **"शिक्षा बौद्धिक रोग के लिए बौद्धिक उपचार है।"** "सामाजिक शिक्षा सामाजिक न्याय का साधन है।" "शिक्षा सर्वश्रेष्ठ अभिरक्षक और सर्वश्रेष्ठ पोषक है।" शिक्षा के अत्यधिक महत्व के कारण ही आधुनिक राज्य शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क बनाने का प्रयास करते हैं। उदाहरणतः भारतीय संविधान के अध्याय IV में (नीति निदेशक तत्त्वों के अध्याय में) 14 वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गयी है।

4. आर्थिक नियमन—आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य अहस्तक्षेप के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। अतः समाज कल्याण के लिए जहां कहीं नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, वे उसे लागू करने में अपने-आपको स्वतन्त्र समझते हैं। आवश्यकता पड़ने पर राज्य उद्योगों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है, उनका नियमन कर सकता है या उन्हें स्वतन्त्र छोड़ सकता है। राज्य उद्योगों के विकास के लिए औद्योगिक अन्वेषण केन्द्र स्थापित कर सकता है, रुग्ण उद्योगों को आर्थिक सहायता दे सकता है, मालिकों और श्रमिकों की समस्याओं का समाधान करने के लिए मध्यस्थता कर सकता है, औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना कर सकता है, आदि। राज्य लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए नियोजित विकास पर बल दे सकता है, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कर सकता है आदि। राज्य नागरिकों को पानी, गैस, विद्युत आदि की अनेक सेवायें प्रदान कर सकता है।

क्या भारत एक लोक-कल्याणकारी राज्य है ?

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा भारत के लिए कोई नवीन अवधारणा नहीं है। यह प्राचीन समय से ही भारत में विद्यमान रही है। **श्रीरामचरितमानस के दूसरे सोपान में गोस्वामी श्री तुलसीदास** ने कहा है कि **"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।"** अर्थात् जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुःखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है। भारत में इस सूत्र ने प्रजा के जीवन को सुखी रखने के लिए एक कसौटी के रूप में कार्य किया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से, एक लोक कल्याणकारी राज्य रहा है। भारतीय संविधान तथा उसकी व्यवस्थायें जहाँ भारत को एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाती हैं वहाँ शासन की नीतियाँ उसे व्यवहार में एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाने के लिए प्रयत्नशील रही हैं। भारत आर्थिक साधनों के अभाव के कारण अभी तक पूर्ण लोक कल्याणकारी राज्य का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सका जैसाकि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न एक विकसित राज्य हो सकता है, फिर भी संविधान और शासनकी नीतियों की मशा और दिशा यही रही है।

A. संवैधानिक व्यवस्थायें—संविधान की निम्न व्यवस्थायें भारत को एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाती हैं—

1. प्रस्तावना—संविधान की प्रस्तावना भारत को "**समाजवादी गणराज्य बनाने**" एवं भारत के समस्त नागरिकों को "**सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय**" दिलाने का आश्वासन देती है। यह व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व की "**प्रतिष्ठा और अवसर की समानता**" का आश्वासन देती है।

प्रस्तावना भारत में किसी विशिष्ट प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना नहीं करती। यह भारत के लोगों पर छोड़ दिया गया है कि वे अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से किस प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अर्थात् किस प्रकार के सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना चाहते हैं। फिर भी प्रस्तावना शासन से अपेक्षा करती है कि उसकी नीतियाँ लोक कल्याण को बढ़ावा देंगी, सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करेंगी, समाज के कमजोर और पिछड़े हुए वर्गों के जीवन स्तर को ऊंचा उठायेंगी, आर्थिक संचयन को रोकेंगी एवं समतावादी समाज को स्थापित करने का प्रयत्न करेंगी।

प्रस्तावना में "न्याय" शब्द का उल्लेख व्यक्ति को सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति का आश्वासन देता है। यह उसे निजी और सामाजिक हित में सामञ्जस्य बिठाने का आश्वासन देता है। 'अवसर की समानता' व्यक्ति को अपनी सम्भावित शक्तियों के पूर्ण विकास के अवसर का आश्वासन देती है।

2. राज्य के नीति निदेशक तत्त्व—प्रस्तावना में जिस सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की परिकल्पना की गई है, उसे **भाग IV** के नीति निदेशक तत्वों में लिपिबद्ध किया गया है। ये तत्त्व भारत को एक लोक कल्याणकारी एवं समाज सेवी राज्य बनाने के निर्देश देते हैं। जैसाकि **अनुच्छेद 38** में व्यवस्था की गई है कि **"राज्य लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए ऐसी सामाजिक व्यावस्था को सुनिश्चित एवं सुरक्षित करने के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रयास करेगा ताकि राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय व्याप्त हो।"**

नीति निदेशक तत्वों में शासन को मुख्यतः निम्न निर्देश दिये गये हैं—

(i) भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण सामान्य कल्याण में सहायक हो।

(ii) धन और उत्पादन के साधनों का संचयन कुछ हाथों में न हो।

(iii) धन की असमानतायें यथासम्भव कम हों।

(iv) सभी को जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों।

(v) मजदूरी की न्यूनतम दरों की व्यवस्था हो।

(vi) उद्योगों के प्रबन्ध में मजदूरों के भाग लेने की व्यवस्था हो।

(vii) पुरुषों और महिलाओं दोनों के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन हों।
(viii) सभी के स्वास्थ्य और शक्ति के पोषण और सुरक्षा की व्यवस्था हो।
(ix) बच्चों, किशोरावस्था और महिलाओं के नैतिक और भौतिक शोषण से सुरक्षा की व्यवस्था हो।
(x) 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो।
(xi) विकास के लिए अवसर और सुविधायें उपलब्ध हों।
(xii) बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, अक्षमता या अन्य इसी प्रकार की अवाँछनीय अवस्था में राज्य सहायता की व्यवस्था हो।
(xiii) पिछड़े हुए एवं निर्बल वर्गों के लिए शैक्षणिक और आर्थिक उत्थान की व्यवस्था हो।
(xiv) अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े हुए वर्गों के लिए सामाजिक न्याय की व्यवस्था हो।
(xv) समाज के निर्बल वर्गों को समान न्याय दिलाने तथा मुफ्त कानूनी सहायता उपलब्ध कराने की व्यवस्था हो।

B. शासन की नीतियाँ एवं लोक-कल्याण—आज भारत एक पूर्ण लोक-कल्याणकारी राज्य नहीं। भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधनों से वंचित है; निर्वाह योग्य मजदूरी अभी भी चर्चा का ही विषय है; अर्थव्यवस्था का लाभ अधिकांशतः पूँजीपति हड़प कर जाता है; भौतिक साधनों पर धनाढ्यों का आधिपत्य है; समाज में गम्भीर आर्थिक विषमतायें हैं; बेरोजगारी मुँह फाड़े खड़ी है; चिकित्सा सुविधायें अपर्याप्त हैं; शिक्षा आज भी माता-पिता की आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर है; बच्चों, महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों एवं पिछड़े हुए वर्गों का आज भी शोषण होता है।

इस पर भी भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है। **कांग्रेस** ने तो 1956 में ही **"समाजवादी ढंग के समाज"** (Socialist Pattern of Society) के उद्देश्य को निर्धारित कर लिया था। भारत आज उस सड़क पर चल रहा है जो उसे एक पूर्ण लोक-कल्याणकारी राज्य की मंजिल तक ले जाती है। भारतीय सरकारों ने लोक कल्याण से सम्बन्धित मुख्यतः निम्न नीतियों का अनुसरण किया है—

1. नियोजन—पंचवर्षीय योजनाओं, नदी-घाटियों की अनेक बहुमुखी योजनाओं, उद्योगों एवं कृषि के विकास द्वारा **सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा उठाने और जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध कराने** का प्रयास किया गया है। **सामुदायिक विकास योजनाओं एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं** द्वारा जहाँ देहाती क्षेत्रों के विकास पर बल दिया गया है वहां देहात में रहने वाले लोगों को विकास योजना के निर्माण एवं कार्यान्विति में भी शरीक किया गया है। इनका मुख्य उद्देश्य देहात की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना है।

2. मिश्रित अर्थ व्यवस्था—इसका उद्देश्य प्राकृतिक सम्पदा का समाज कल्याण के लिए अधिक से अधिक उपयोग करना एवं धन संचयन को रोकना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सार्वजनिक महत्त्व के कुछ उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित किया गया है, कुछ पर सार्वजनिक नियन्त्रण है और शेष को निजी क्षेत्र में स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है। इस तरह भारत में लोकतन्त्र और समाजवाद दोनों को एक साथ कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया है।

3. समाजवादी ढाँचे के समाज का निर्माण—इसके लिए संविधि द्वारा मुख्यतः निम्न सामाजिक नीतियों को अपनाया गया है—

(a) जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण, बड़े-बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण एवं राजाओं के प्रिवीपर्सों की समाप्ति।

(b) काम के अधिकार को अभी तक नागरिकों का एक मूल अधिकार नहीं बनाया जा सका, फिर भी बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, अक्षमता अथवा इसी प्रकार की अन्य अवांछनीय अवस्था में राज्य सहायता द्वारा सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन दिया गया है।

(c) समाज कल्याण बोर्डों की स्थापना की गयी है तथा समाज कल्याण में लीन ऐच्छिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाती है।

(d) सार्वजनिक आवास व्यवस्था को लागू किया गया है।

(e) सम्पत्ति को नागरिकों के मूल अधिकार से निकाल कर एक कानूनी अधिकार बना दिया गया है। अब सम्पत्ति को कानून द्वारा नियमित और नियन्त्रित किया जा सकता है।

(f) भूमि सम्बन्धी अनेक सुधार लागू किये गये हैं। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है, जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित की गयी है, शहरी सम्पत्ति का सीमाकरण किया गया है, भूमिहीनों और गरीब लोगों को मकान हेतु भूमि दी गयी है आदि।

(g) ग्रामीण जनता के ऋणों को माफ किया गया है तथा ठेका मजदूर प्रथा समाप्त कर दी गई है।

(h) मजदूरों एवं कर्मचारियों के कल्याण सम्बन्धी अनेक योजनायें लागू की गयी हैं। उदाहरणतः औद्योगिक प्रबन्ध में मजदूरों की साझेदारी, सवेतन अवकाश, जीवन बीमा, प्रॉवीडेन्ड फण्ड एवं बोनस और पारिवारिक पेन्शन आदि की व्यवस्था की गयी है।

(i) सार्वजनिक सेवाओं में वृद्धि की गयी है। शिक्षा सुविधाओं एवं चिकित्सा सुविधाओं में विस्तार किया गया है। निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के उद्देश्य को तो अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका फिर भी योग्य एवं निर्धन छात्रों एवं अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों एवं पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों के लिए व्यापक छात्रवृत्तियों एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है।

समीक्षा प्रश्न

1, लोक कल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं ? इसके प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।
2. "आधुनिक राज्य लोक कल्याणकारी राज्य है।" इस कथन की दृष्टि में लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों का विवेचन कीजिए। (Raj. 1979)
3. लोक-कल्याणकारी राज्य की परिभाषा दीजिए। उसके कार्यों को समझाइये। क्या भारत एक लोक-कल्याणकारी राज्य है ? (Raj. Suppl. 1985)
4. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। लोक-कल्याणकारी राज्य की प्राथमिक गतिविधियाँ क्या हैं ? (Raj. 1983,86)
5. लोक-कल्याणकारी राज्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1985)
6. लोक-कल्याणकारी राज्य किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए। (Raj. 1987)

12

धर्म निरपेक्ष राज्य का सिद्धान्त

(Theory of Secular State)

परिचय : मानव के जीवन में धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। मानव का सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन, उसके विचार तथा क्रियायें धार्मिक भावनाओं से प्रेरित तथा प्रभावित होती हैं। प्राचीन तथा मध्य युग में धर्म का प्रभाव अत्यधिक था। वर्तमान समय में भी धर्म का प्रभाव प्रजातान्त्रिक राज्य में उतना ही नजर आता है जितना कि निरंकुश या सैनिक राज्यों में आता है। उदाहरणतः प्रजातन्त्र की जननी कहलाये जाने वाले इंगलैण्ड में प्रोटेस्टैन्ट धर्म का अनुयायी ही राज्य सिंहासन पर बैठ सकता है। पाकिस्तान जैसे राज्य तो इस्लाम धर्म पर आधारित हैं।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ एवं परिभाषा—धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जिसका अपना कोई धर्म नहीं होता और जो धर्म के नाम पर किसी प्रकार की भिन्नता नहीं करता। इस प्रकार के राज्य में धर्म को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होता। राज्य किसी धर्म विशेष का प्रचार व निर्देशन नहीं करता। राज्य की दृष्टि में सब धर्म समान होते हैं। राज्य में सब धर्मों का समान आदर होता है। राज्य की नीतियाँ किसी धर्म द्वारा निर्धारित नहीं होतीं बल्कि समाज कल्याण की भावना से निर्धारित होती हैं।

धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी व्यक्ति को न तो कोई धर्म अपनाने के लिए कहता है और न किसी धर्म को छोड़ने के लिये कहता है। धर्म के प्रति राज्य का दृष्टिकोण सहनशीलता का होता है। इस प्रकार के राज्य में धर्म व्यक्ति का निजी क्षेत्र समझा जाता है। धर्म व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की चीज मानी जाती है जिससे राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति किसी धर्म को अपना सकता है या छोड़ सकता है। राज्य इसमें हस्तक्षेप नहीं करता।

धर्म-निरपेक्ष राज्य में व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से किसी धर्म का प्रचार कर सकता है, उसके लिए संस्थाओं या इमारतों का निर्माण कर सकता है, शिक्षा केन्द्रों को

खोल सकता है, शर्त यह है कि शिक्षा केन्द्रों में शिक्षा ग्रहण करने वाले अन्य धर्मों के अनुयायियों के वच्चों को किसी विशेष धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता।

धर्म-निरपेक्ष राज्य में नागरिकता का निर्धारण किसी धर्म के आधार पर नहीं किया जाता वल्कि व्यक्ति के आधार पर किया जाता है। राज्य किसी धर्म को वनाये रखने के लिए करों या सार्वजनिक धन को खर्च नहीं कर सकता; राज्य किसी व्यक्ति से किसी अमुक धर्म के लिये दान देने के लिये नहीं कह सकता।

परिभाषा—धर्म निरपेक्ष राज्य की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं—

(1) **वेकान्तारमन** के शब्दों में, "धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धार्मिक नहीं होता और न ही अधार्मिक होता है और न ही वह धर्म विरोधी होता है, परन्तु जो धार्मिक सिद्धान्तों और धार्मिक क्रिया-कलापों से पूर्णतः अलग होता है और इस तरह वह धार्मिक विषयों में तटस्थ होता है।"

(2) **एच. वी. कामथ** के शब्दों में, "एक धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो ईश्वर रहित राज्य है; न ही वह अधर्मी राज्य है और न ही वह धर्म विरोधी राज्य है।"

(3) **पं. जवाहरलाल नेहरू** के शब्दों में, "धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है धर्म और आत्मा की स्वतन्त्रता; जिनका कोई धर्म नहीं उनके लिए भी स्वतन्त्रता। इसका अभिप्राय यह है कि सब धर्मों के लिये स्वतन्त्रता .... इसका अर्थ है सामाजिक और राजनीतिक समानता।"

(4) **डी. ई .स्मिथ** के शब्दों में, "धर्म-निरपेक्ष राज्य निजी और सामूहिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है। यह व्यक्ति के साथ, उसके धर्म का विचार किये बिना, नागरिक के रूप में व्यवहार करता है। राज्य संवैधानिक तौर पर किसी धर्म से सम्बन्धित नहीं होता और न किसी धर्म की वृद्धि की कोशिश करता है और न ही धर्म में हस्तक्षेप करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि धर्म-निरपेक्ष राज्य के नागरिक या कर्मचारी किसी धर्म को नहीं अपना सकते या वे ईश्वर या धार्मिक मान्यताओं में विश्वास नहीं रख सकते या सरकारी पद ग्रहण करते समय ईश्वर को साक्षी मान कर शपथ ग्रहण नहीं कर सकते। **टी. के. टोप** ने ठीक लिखा है कि **"भारत के धर्म-निरपेक्ष होने का यह अर्थ नहीं कि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना जाता। भारतीय संविधान में ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता दी गई है। देश के प्रमुख अधिकारियों को पद ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ लेनी पड़ती है।"** धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि राज्य संगठित रूप से किसी धर्म से न तो सम्वन्धित हो और न किसी धर्म का प्रचार करे और न ही अपनी नीतियों को किसी धर्म पर आधारित करे। राज्य में सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

धार्मिक स्वतन्त्रता का यह कदापि अर्थ नहीं कि कोई धर्म अपने अनुयायियों को धर्माज्ञाओं का उल्लंघन करने पर दण्डित कर सकता है। धर्म अपने सदस्यों का

वहिष्कार कर सकता है । धार्मिक स्वतन्त्रता की आड़ में धर्म के अनुयायी ऐसी नीतियों (जैसे अस्पृश्यता का प्रचलन, वहुपत्नी प्रणाली या साम्प्रदायिकता आदि) का अनुसरण नहीं कर सकते जो सामाजिक, नैतिकता या सार्वजनिक स्वास्थ्य या सार्वजनिक कल्याण या व्यवस्था के विरुद्ध हो। कोई व्यक्ति अपने धर्म का प्रचार करते समय किसी अन्य व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में वाधक नहीं हो सकता। जव कभी समाज में अनाचार फैलने की सम्भावना होती है तो राज्य का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे कार्यों पर प्रतिवन्ध लगाये जो सामाजिक, नैतिकता या सार्वजनिक कल्याण के विरुद्ध है। यदि राज्य धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है तो धर्म का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक उत्पात को जन्म न दे। जव धर्म ऐसी मूर्खता करता है तो राज्य उस पर प्रतिवन्ध लगाने के लिए स्वतन्त्र है।

धर्म निरपेक्ष राज्य की विशेषतायें

धर्म-निरपेक्ष राज्य की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

1. राज्य का कोई अपना धर्म नहीं होता—धर्म-निरपेक्ष राज्य का अपना कोई "राज्य धर्म" नहीं होता। इस राज्य में सभी धर्मों को समानता के आधार पर अपना विकास करने का अधिकार होता है। अपने धर्म का विकास करने के लिये भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी समुदायों या संघों का निर्माण कर सकते हैं, शर्त यह है कि वे अपने धर्म का विकास करते समय किसी अन्य धर्म या उसके द्वारा स्थापित किसी समुदाय या संघ के कार्य में रुकावट या उत्पात पैदा न करें।

2. धार्मिक विषयों में तटस्थता—धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म के विषयों में तटस्थ होता है क्योंकि राज्य का कोई अपना धर्म नहीं होता इसलिये वह न किसी धर्म को विशेष संरक्षण देता है और न ही किसी धर्म का प्रचार करता है और न ही किसी के धर्म के विकास या प्रचार में आर्थिक सहायता देता है। इस राज्य में धर्म के नाम पर नागरिकों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं की जाती। राज्य किसी नागरिक को किसी धर्म को अपनाने या किसी धर्म को छोड़ने के लिये नहीं कहता। व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी धर्म को अपना सकता है, किसी धर्म को छोड़ सकता है, किसी धर्म के प्रचार के लिए संस्थाओं का निर्माण कर सकता है तथा अपने वच्चों को किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा दिला सकता है।

3. धार्मिक हठधर्मिता को निरुत्साहित करना—धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक विषयों में तटस्थ अवश्य होता है, परन्तु वह हठधर्मिता को पनपने नहीं देता। राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता तथा सार्वजनिक कल्याण के लिये राज्य ऐसी संस्थाओं को वढ़ावा देता है जिनका उद्देश्य धार्मिक हठधर्मिता के प्रभाव को कम करना होता है। राज्य उन लोगों के मूल अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है जो धार्मिक दृष्टि से निर्वल होते हैं।

4. सर्वाधिकार विरोधी—धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक सहनशीलता की नीति पर चलता है। इसमें न तो किसी धर्म और न स्वयं राज्य के 'साम्राज्य' को स्वीकार

किया जाता है। इसमें धर्म को व्यक्ति का निजी क्षेत्र समझा जाता है। राज्य यथा-सम्भव धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु जब धर्म सामाजिक उत्पात बन जाता है तो राज्य हस्तक्षेप करता है। राज्य सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता, सार्वजनिक स्वास्थ्य और कल्याण के लिये हस्तक्षेप करता है।

5. नैतिकता के नियमों की स्वीकृति—धर्म-निरपेक्ष राज्य अधर्मी, विधर्मी या धर्म विरोधी नहीं होता। वह अनाचारी, अनैतिक या नास्तिक भी नहीं होता। इस प्रकार का राजा धार्मिक विषयों में तटस्थ होते हुए भी उच्च आध्यात्मिक उद्देश्यों जैसे सत्य, अहिंसा, विश्व-बन्धुत्व, शान्ति आदि को प्राप्त कर सकता है इसमें नैतिकता का अभाव नहीं होता केवल धार्मिक हठधर्मिता और कट्टरता का अभाव होता है। नैतिकता इस राज्य का आवश्यक सद्गुण होता है। इसमें नागरिकों में एकता राष्ट्रीय और मानवीय आधारों पर स्थित नैतिकता होती है। इस तरह धर्म-निरपेक्ष राज्य नैतिकता के नियमों को अस्वीकार नहीं करता बल्कि उन्हें सार्वजनिक जीवन में स्वीकार करता है।

6. बहुजातीयता पर आधारित—प्रत्येक राज्य में अनेक प्रकार की जातियाँ निवास करती हैं जिनकी भिन्न-भिन्न धार्मिक मान्यतायें होती हैं। सभी जातियाँ मिलकर तभी रह सकती हैं जब प्रत्येक को अपनी धार्मिक मान्यताओं को मानने का अधिकार हो। राष्ट्र की संस्कृति पर किसी एक धर्म की मोहर नहीं होती। इसमें सभी जातियों का न्यूनाधिक मात्रा में योगदान होता है।

7. लोक-कल्याण पर आधारित—लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को समान समझा जाता है और रंग, लिंग, सम्प्रदाय, जाति, धर्म आदि भावों के बिना सबको समान सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अधिकार दिये जाते हैं। इसमें अन्तःकरण की स्वतन्त्रता दी जाती है और किसी धर्म के साम्राज्य को स्थापित होने नहीं दिया जाता। धर्म-निरपेक्ष राज्य को आध्यात्मिक लोकतन्त्र की संज्ञा दी जाती है।

8. मौलिक रूप से लोकतन्त्रात्मक—धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने क्षेत्र में आने वाले सभी नागरिकों के कल्याण की गारण्टी देता है। समय-समय पर राज्य नागरिकों के कल्याण के लिये योजनायें बनाता है तथा लोक कल्याणकारी संस्थाओं की स्थापना करता है। इनका मुख्य उद्देश्य मानव का उद्धार करना होता है।

9. राज्य द्वारा धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाती—धर्म-निरपेक्ष राज्य स्वयं किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता। यह उन संस्थाओं को कोई सहायता नहीं देता जो शिक्षा क्रम में धार्मिक शिक्षा प्रदान करती हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रम को इस प्रकार निर्धारित करता है कि नागरिक नैतिकता, मानवता और राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास कर सकें और वे मानवीय मूल्यों के महत्व को समझ सकें।

10. राज्य के कानूनों से कोई मुक्त नहीं होता—धर्म-निरपेक्ष राज्य के कानूनों से कोई धर्म या उसके सिद्धान्त या उसके ठेकेदार (पुजार, मौलवी, पादरी या ग्रन्थी) मुक्त नहीं होते। यदि कोई धर्म या उसके सिद्धान्त उसके अनुयायियों के लिये या सार्वजनिक कल्याण के लिये हानिकारक होते हैं तो राज्य कानून द्वारा ऐसे हानिप्रद सिद्धान्तों या धार्मिक व्यवहारों की मनाही कर सकता है। यदि किसी धर्म के ठेकेदार धार्मिक संस्थाओं से उत्पन्न होने वाली आय का दुरुपयोग करते हैं तो राज्य कानूनों द्वारा इनकी व्यवस्था ठीक कर सकता है। राज्य लोगों को शोषण से बचाने के लिए उचित कार्यवाही कर सकता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म का स्थान

धर्म निरपेक्ष राज्य में धर्म के महत्त्व को कम नहीं आँका जाता, उसे केवल राजनीति में कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसमें धर्म को मानवीय सुख का आधार माना जाता है। **धर्म मानव की, जैसाकि मैकाइवर ने कहा है, "स्वाभाविक भूख है।"** परन्तु इस भूख को निजी सीमाओं तक सीमित रखा जाता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान 'राष्ट्रीय एकता' को दिया जाता है। इस एकता को धार्मिक कट्टरता या हठधर्मिता पर निर्भर नहीं किया जाता वल्कि धार्मिक सहनशीलता और धार्मिक सहयोग पर आधारित किया जाता है। **धर्म-निरपेक्ष राज्य में नैतिकता धार्मिक नहीं राष्ट्रीय वन जाती है; धर्म के उद्देश्य जातीय नहीं रहते वल्कि मानवीय वन जाते हैं; जातीय कल्याण राष्ट्रीय कल्याण में वदल जाता है; राजकीय विषयों में धर्म का कोई महत्त्व नहीं रहता, केवल 'एकता' का महत्त्व रहता है।**

धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म निजी विषय होता है और राज्य की नीतियों या प्रशासन में उसका कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्वन्ध नहीं होता। फिर भी धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म का स्थान उस देश के वातावरण, लोगों तथा राज्य के विशेष हितों पर निर्भर करता है।

क्या धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है?

साधारणतः धर्म निरपेक्ष राज्य धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु यदि धर्म या धार्मिक सिद्धान्त या धार्मिक टीकायें, धार्मिक गुरु या धर्म के प्रवन्धक सार्वजनिक उत्पात पैदा करते हैं या धार्मिक संस्थाओं का कु-प्रवन्ध करते हैं या धार्मिक स्थानों से उत्पन्न होने वाली आय या सम्पत्ति का दुरुपयोग करते हैं तो धर्म-निरपेक्ष राज्य कानून वनाकर उन पर नियन्त्रण कर सकता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य सार्वजनिक कल्याण, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सार्वजनिक नैतिकता के नाम पर धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है।

क्या धर्म-विरोधी राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य हो सकता है?

धर्म-विरोधी राज्य को धर्म-निरपेक्ष राज्य कहना वहुत कठिन है क्योंकि धर्म विरोधी राज्य में उसके नेता या दल के सदस्य किसी 'धर्म', 'ईश्वर' या नैतिकता

में विश्वास नहीं करते। जिस तरह बिना नैतिकता के कोई समाज केवल नीच और बेईमान लोगों को उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार धर्म विरोधी राज्य भी उस भवन की तरह है जिसका कोई ठोस आधार नहीं। जहाँ नैतिकता का अभाव है वहाँ जीवन के मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता। बाध्यकारी कानून अच्छे, कृतज्ञ और ईमानदार नागरिक पैदा नहीं कर करता। नैतिकता के अभाव में नागरिक स्वार्थों की पूर्ति और भौतिक सन्तुष्टि में ही लगे रहेंगे।

नागरिकों को आज्ञाकारी और कर्त्तव्यपरायण बनाने के लिए आवश्यक है कि किन्हीं नैतिक नियमों को अपनाया जाय, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि ये नैतिक नियम किसी धार्मिक नैतिकता पर आधारित हों। नैतिकता के नियम गैर धार्मिक नैतिकता के नियमों पर आधारित हो सकते हैं। उदाहरणतः धर्म-निरपेक्ष राज्य में ऊंचे पदों को ग्रहण करते समय पदाधिकारियों को 'ईश्वर' की शपथ दिलाई जाती है। इसका उद्देश्य किसी धर्म का प्रचार करना नहीं बल्कि पदाधिकारियों को अपने सार्वजनिक कार्यों को ईमानदारी और लोक कल्याण की भावना से कराने के लिए प्रेरित करना है। धर्म विरोधी राज्य में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं होती। यहां लोग केवल विज्ञान और उसकी उपलब्धियों पर निर्भर करते हैं।

मूल्यांकन (Evaluation)—धर्म-निरपेक्ष राज्य के पक्ष और विपक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिये जाते हैं—

1. क्या धर्म-निरपेक्ष राज्य भौतिकवाद पर आधारित है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य की यह कहकर आलोचना की जाती है कि इसमें जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक पहलुओं की उपेक्षा की जाती है। इसमें भौतिकवाद पर अधिक बल दिया जाता है जिससे व्यक्ति में मानवता और नैतिक गुणों की कमी होती है। धार्मिक शिक्षा के अभाव में व्यक्ति में "दैवी भ्रम" या "प्राकृतिक प्रकोप" जैसी चीजें नहीं रहतीं। इसके अभाव में व्यक्ति बेईमान और अनैतिक बन जाता है। इन सब बुराइयों से सार्वजनिक चरित्र का पतन होता है तथा सार्वजनिक कार्यों में उदासीनता, आलस्य और भ्रष्टता का बोलबाला रहता है।

यह ठीक है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य विज्ञान और उसकी भौतिक उपलब्धियों से अधिक सम्बन्धित रहता है परन्तु यह कहना गलत है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य व्यक्ति को नैतिक नियमों के अपनाने या उच्च आध्यात्मिक भावनाओं का अनुसरण करने से रोकता है। वास्तविकता यह है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में ही उच्च नैतिक भावनाओं सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व का विकास स्वतन्त्र रूप से हो सकता है। कोई धर्म-निरपेक्ष राज्य नैतिक नियमों को अपनाने से नहीं रोकता। वह केवल संकीर्ण धार्मिक भावनाओं और धार्मिक हठधर्मिता पर रोक लगाता है क्योंकि ये सार्वजनिक कल्याण के लिए हानिकारक होती है। धार्मिक सहनशीलता धर्म-निरपेक्ष राज्य का आधार होता है।

2. क्या धर्म-निरपेक्ष राज्य स्वाभाविक लोक-कल्याण की भावनाओं का ह्रास करता है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य की यह कहकर आलोचना की जाती है कि वह व्यक्ति में स्वबलिदान, त्याग आदि की भावनाओं को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि राज्य धार्मिक विषयों के प्रति उदासीन या तटस्थ होता है । इससे व्यक्तियों में परोपकार की भावनायें जागृत नहीं होतीं । आलोचकों का मत है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में मानव बिगड़ जाता है । इनका कहना है कि समाज सेवा की भावनाओं का उदय नैतिक आदर्शों और धार्मिक मान्यताओं की प्रेरणा से होता है ।

आलोचकों की यह धारणा एकपक्षीय और संकीर्ण है । यह समझ में नहीं आता कि आलोचक धर्म-निरपेक्ष राज्य को धर्म विरोधी या अधर्मी मानने की भूल क्यों करते हैं ? वास्तव में धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो अधर्मी होता है और न ही धर्म विरोधी । इसका केवल यह अभिप्राय है कि राज्य अपनी नीतियों में किसी धर्म को संरक्षण नहीं देगा, किसी धर्म का स्वयं प्रचार नहीं करेगा और न किसी नागरिक को कोई धर्म मानने के लिए बाध्य करेगा । राज्य की नजरों में सभी धर्म समान होते हैं । जब कभी राज्य किसी धर्म में हस्तक्षेप करता है तो वह केवल सार्वजनिक हित, सुरक्षा, व्यवस्था या शान्ति के लिए करता है और इस आधार पर धर्म में हस्तक्षेप करना सार्वजनिक कल्याण के लिए अनिवार्य है। किसी को सामाजिक उत्पात पैदा करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता । जब राज्य स्वेच्छा से सब धर्मों को विकास के समान अवसर प्रदान करता है तो राज्य अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के विकास में सहायक होता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य लोक कल्याण की भावनाओं पर आधारित होता है और उसकी नीतियों का यही उद्देश्य होता है ।

3. धर्म-निरपेक्ष राज्य में बहुमत समुदाय के साम्राज्य के स्थापित होने का भय विद्यमान रहता है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि निर्वाचन के माध्यम मे बहुमत समुदाय संसद में बहुमत प्राप्त कर सकता है तथा संसद द्वारा अपने धर्म से साम्राज्यवाद को स्थापित कर सकता है ।

यह आरोप सत्यांश से परे है । **प्रथम,** धर्म-निरपेक्ष राज्य में निर्वाचन सामूहिक होता है साम्प्रदायिक नहीं । दूसरे, धर्म-निरपेक्ष राज्य का संविधान किसी एक सम्प्रदाय या जाति के लिए नहीं होता बल्कि सभी नागरिकों के लिए होता है जिसमें बहुमत और अल्पमत दोनों समुदायों के सदस्य होते हैं । तीसरे, धर्म-निरपेक्ष राज्य में नागरिकता धर्म या जाति पर निर्भर नहीं करती । कोई प्रथम या द्वितीय श्रेणी का नागरिक नहीं होता, बल्कि सभी समान होते हैं । चौथे, यदि यह मान लिया जाय कि बहुमत, बहुमत के नशे में ऐसी मूर्खता करता भी है तो ऐसे मूर्ख कार्यों को दूर करने के लिए नव-निर्वाचन कभी दूर नहीं होते । पाँचवें धर्म-निरपेक्ष

राज्य में कानून सामान्य हितों पर आधारित होते हैं भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक हितों पर नहीं। सामान्य दीवानी और फौजदारी कोड सभी नागरिकों पर लागू होती है। छठे, धर्म-निरपेक्ष राज्य में अल्पमत वालों और पिछड़े हुए वर्गों के लिए संवैधानिक संरक्षण की व्यवस्था होती है। इस पर यदि यह कहा जाय कि निर्वाचन द्वारा बहुमत, बहुमत के धर्म के साम्राज्य को स्थापित कर देगा। सिवाय भ्रम और प्रजातान्त्रिक प्रणालियों एवं संस्थाओं में अविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

4. क्या धर्म-निरपेक्ष राज्य की प्रवृत्ति फासिस्टवादी या अधिनायकवादी होती है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह राज्य में शक्ति को केन्द्रित करने का प्रयास करता है जिससे फासिस्टवादी या अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। आलोचक यह भी आरोप लगाते हैं कि इसमें कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का गुट सत्ता को, अल्पमतों के हितों की रक्षा के नाम पर, हथिया ले और मनमाने ढंग से शासन करने लगे।

इस प्रकार की आलोचना व्यर्थ है क्योंकि धर्म-निरपेक्ष राज्य का सम्बन्ध राज्य या शासन के स्वरूप से नहीं होता। राज्य का शासन का स्वरूप कैसा ही हो, सभी में धर्म-निरपेक्षता के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है यदि ऐसी इच्छा है। धर्म-निरपेक्षता का सम्बन्ध आध्यात्मिक और धार्मिक स्वतन्त्रता से है। जहां तक व्यक्ति या राज्य के बिगड़ने का सम्बन्ध है, वह एक धार्मिक व्यक्ति या राज्य भी हो सकता है और एक अधिनायक भी धार्मिक सहनशीलता का समर्थन कर सकता है। जब व्यक्ति या राज्य अवांछित रूप ग्रहण करता है तब ही वह बिगड़ता है। राज्य धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपना कर नहीं बिगड़ता।

5. क्या पदाधिकारियों को पद ग्रहण करते समय ईश्वर की शपथ दिलाना धार्मिक है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि उच्च सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के समय ईश्वर की शपथ दिलाना धर्म-निरपेक्षता की भावना के विपरीत है।

यह आरोप गलत है। पदाधिकारी को शपथ किसी राज्य धर्म के अनुसार नहीं दिलाई जाती है बल्कि उस व्यक्ति के स्वयं के धर्म के अनुसार दिलाई जाती है। 'ईश्वर की शपथ' किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं होती। यह तो केवल इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति सार्वजनिक कार्यों में ईमानदारी और निष्पक्षता का व्यवहार करे। 'ईश्वर की शपथ' 'ईश्वर' की प्रतीक है किसी धर्म की नहीं। यह पदाधिकारी को जागरूक रखने का तरीका है।

6. क्या धर्म-निरपेक्ष राज्य में राष्ट्र के छिन्न-भिन्न होने का भय रहता है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें राष्ट्रीय एकता के छिन्न-भिन्न होने का भय रहता है। इस प्रकार की आलोचना करने वालों का मत

है कि धर्म राष्ट्रीय एकता में अत्यधिक सहायक होता है और यदि राज्य धर्म के प्रति उदासीन होगा तो यह एकता खतरे में पड़ जायेगी।

यह धारणा मिथ्या है। राष्ट्रीय एकता केवल धर्म पर आधारित नहीं होती। ऐतिहासिक घटनायें, मनोवैज्ञानिक तत्त्व, साथ रहने की भावना, समान आकांक्षायें आदि तत्त्व राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न करते हैं। नागरिकों में प्रेम, सहयोग, भ्रातृ-भाव की भावनाओं का तभी विकास हो सकता है जब सभी को अपने-अपने धर्म को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनाने की स्वतन्त्रता हो। यह केवल धर्म-निरपेक्ष राज्य में ही सम्भव है। राष्ट्रीय एकता में धार्मिक सहनशीलता सहायक होती है धार्मिक हठ-धर्मिता नहीं। वहुजातीय देशों में राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का यही सर्वोत्तम साधन है।

संक्षेप में, धर्म-निरपेक्ष राज्य के विरोध में दिये गये तर्क त्रुटिपूर्ण मिथ्या है। इसका कोई तार्किक आधार नहीं। धर्म-निरपेक्ष भावना धर्म विरोधी या अधर्मी भावना का पर्यायवाची नहीं; यह धार्मिक सहनशीलता का पर्यायवाची है। **यह इस बात पर आधारित है कि "जो कुछ सीजर का है उसे सीजर को दे दो और जो कुछ ईश्वर का है उसे ईश्वर को दे दो।" धर्म-निरपेक्ष राज्य में मानवता, भ्रातृभाव और विश्व वन्धुत्व की भावनाओं के अधिक विकसित होने की सम्भावना होती है। इसमें बहुमत और अल्पमत मिल-जुल कर रह सकते हैं।** इसमें अल्पसंख्यक और वहुसंख्यक दोनों अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। सच्चा लोक-कल्याणकारी राज्य और विश्व सरकार धर्म-निरपेक्षता पर ही स्थापित हो सकती है।

क्या भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है ?

भारत एक वहुजातीय देश है। यहाँ पर हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, फारसी, जैन, बौद्ध, यहूदी, आंग्ल आदि अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं। इन जातियों के भिन्न-भिन्न धर्म और भिन्न-भिन्न विश्वास हैं। भारत में हिन्दू धर्म के अनुयायियों की वहुतायत है। इस पर भी संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रीय अखण्डता और एकता की आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए तथा अल्पसंख्यकों में विश्वास वनाये रखने के लिए भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य का स्वरूप दिया है। **बयालीसवें संविधानिक संशोधन ने प्रस्तावना में धर्म-निरपेक्ष शब्द को जोड़कर भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया है।** भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। इस कथन के पक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

1. भारतीय गणराज्य का अपना कोई धर्म नहीं—भारतीय राज्य का अपना कोई धर्म नहीं। राज्य न तो किसी धर्म में आस्था रखता है और न ही किसी धर्म का प्रचार करता है। राज्य किसी नागरिक को किसी अमुक धर्म को अपनाने या किसी अमुख धर्म को छोड़ने के लिए नहीं कहता। राज्य किसी धर्म के लिए कोई चन्दा इकट्ठा नहीं करता, किन्हीं धार्मिक संस्थाओं का निर्माण नहीं करता और न

ही किसी को ऐसे कार्य करने के लिए कहता है। भारत में धर्म को व्यक्ति का निजी क्षेत्र माना जाता है। अतः वह धार्मिक विषयों में तटस्थ है।

2. भारतीय नागरिकता किसी धर्म विशेष पर निर्भर नहीं करती—भारत में नागरिकता किसी धर्म विशेष पर निर्भर नहीं करती बल्कि व्यक्ति पर निर्भर करती है। भारत में नागरिकों के पास एक ही नागरिकता है, जिसे भारतीय नागरिकता कहते हैं। भारतीय संविधान की प्रस्तावना के ये शब्द 'हम भारत के लोग' इस बात के प्रतीक हैं कि हम सब भारतीय हैं हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि नहीं।

3. विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता—भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह घोषणा कि संविधान भारत के सभी नागरिकों के लिए **"विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता" "प्रतिष्ठा और अवसर की समानता" तथा "बन्धुत्व की भावना" को सुरक्षित रखता है, भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य** बनाती है। प्रस्तावना में ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। विश्वास और उपासना को व्यक्तिगत विषय मान कर व्यक्ति पर छोड़ दिया गया है।

4. संयुक्त निर्वाचन प्रणाली—भारत की संयुक्त निर्वाचन प्रणाली भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाती है। निर्वाचन क्षेत्र भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों में बँटे हुए हैं। यहाँ साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र नहीं। मतदाताओं के लिए सामान्य निर्वाचन सूचियाँ हैं। निर्वाचन चिन्ह सामान्य हो सकते हैं। कोई उम्मीदवार अथवा दल ऐसा निर्वाचन चिन्ह नहीं ले सकता जिससे धार्मिक भावनायें उभरती हों। निर्वाचनों में साम्प्रदायिकता को भडकाना या धर्म, जाति के आधार पर मतों को प्राप्त करने की अपील करना निर्वाचन भ्रष्टाचार में आता है।

5. नागरिकों के मूल अधिकार—भारतीय संविधान के **अध्याय तीन** में नागरिकों को प्रदान किये गये मूल अधिकार भारत के धर्म-निरपेक्ष होने के प्रमाण हैं। ये अधिकार भारत के धर्म-निरपेक्ष आदर्श को सुदृढ़ करते हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये सभी को समान रूप से प्राप्त हैं। राज्य धर्म, जाति, भाषा, लिंग, प्रदेश या अन्य किसी आधार पर नागरिकों में कोई भिन्नता नहीं करता। **अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता का उन्मूलन करता है। इसके आधार पर किसी भी अयोग्यता को मानना दण्डनीय अपराध है।**

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 30 धर्म-निरपेक्षता के आधार स्तम्भ हैं। अनुच्छेद 25 सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार देता है। **अनुच्छेद 26** प्रत्येक सम्प्रदाय को धार्मिक प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण करने, अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करने तथा चल-अचल सम्पत्ति का विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार देता है। **अनुच्छेद 29 और 30** भारत की अल्पसंख्यक जातियों को अपनी इच्छानुसार अपनी लिपि,

भाषा और संस्कृति की सुरक्षा के लिए संस्थाओं को स्थापित करने का अधिकार देते हैं।

संक्षेप में, भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है।

समीक्षा प्रश्न

1. धर्म-निरपेक्ष राज्य की अवधारणा का परीक्षण कीजिए। (Raj. Suppl. 1984, 86)
2. धर्म-निरपेक्ष राज्य के लक्षणों का विवेचन कीजिए। क्या भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है? (Raj. 1985, Suppl. 1979)
3. धर्म-निरपेक्ष राज्य के कार्यों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1987)
4. धर्म-निरपेक्ष राज्य पर एक टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1982, 84)

13

सम्प्रभुता-अद्वैतवादी सिद्धान्त

(Sovereignty—Monistic Theory)

परिचय (Introduction) - सम्प्रभुता राज्य का एक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। यही एक ऐसा तत्त्व है जो राज्य को अन्य समुदायों से पृथक् करता है तथा उसे समाज में विद्यमान सभी व्यक्तियों, समूहों व संस्थाओं से अधिक शक्ति अर्थात् सर्वोच्च सत्ता प्रदान करता है। यही एक ऐसा तत्त्व है जिसके आधार पर राज्य समाज में शांति व व्यवस्था बनाये रखता है, समाज में न्याय की स्थापना करता है तथा आज्ञाओं की उल्लंघना करने वालों को दण्डित करता है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समानता का दर्जा प्रदान करता है। संक्षेप में सम्प्रभुता के आधार पर राज्य आन्तरिक व बाह्य स्वतन्त्रता का उपयोग करता है तथा कोई राजनीतिक संगठन राज्य कहलाता है।

ग्रीक राजनीतिक चिन्तन की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें सम्प्रभुता का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। अरस्तू के चिन्तन में राज्य की 'सर्वोच्च शक्ति' का उल्लेख मिलता है जो आधुनिक यथार्थ सम्प्रभुता के तो निकट है, परन्तु जो वैधानिक सम्प्रभुता के निकट नहीं। रोम के विधिवेत्ता इस शब्द से परिचित थे। **पन्द्रहवीं शताब्दी में बॉमान्वायर और लॉयसा जैसे फ्रांसीसी लेखकों ने 'सम्प्रभु' और 'सम्प्रभुता' शब्दों का प्रयोग किया था। बॉमान्वायर** ने कहा था कि 'राजा सम्प्रभु है जो सबसे ऊपर है।" इसके बाद इन शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी, इटालियन और जर्मनी के राजनीतिक साहित्य में होने लगा। **सोलहवीं शताब्दी में पहली बार जीन बोदां ने राष्ट्रीय राज्यों और निरंकुश राजतन्त्र के सन्दर्भ में इसका विकास किया था। उसके बाद हॉब्स, ग्रोशियस, बेन्थम और ऑस्टिन ने इसकी व्याख्या की। ऑस्टिन ने अपनी रचना "न्यायशास्त्र पर व्याख्यान"** (Lectures on Jurisprudence) **में सम्प्रभुता की स्पष्ट व्याख्या की।** उसने विधि को सम्प्रभुता का आदेश माना और इसे राज्य के स्थायी, निश्चित, अविभाज्य और सार्वभौम तत्त्व की संज्ञा दी।

अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition)

सम्प्रभुता शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द **'सुपरऐनस'** (Superanus) से हुई है। **'सुपरऐनस'** शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—**"सुपर+ऐनस"** (Super+anus)। **'सुपर'** का अर्थ है **'सर्वोच्च'** और **'ऐनस'** का अर्थ है **'शक्ति'**। **इस तरह सुपरऐनस का अर्थ है सर्वोच्च शक्ति।** सम्प्रभुता राज्य की 'इच्छा और शक्ति' की सर्वोच्चता और सार्वभौमिकता को अभिव्यक्त करती है।

प्रत्येक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य में कोई न कोई ऐसा व्यक्ति, सभा या समूह होता है जिसकी सत्ता एवं निर्णय अन्तिम होते हैं, जो आदेश दे सकता है और उनकी अनुपालना करवा सकता है तथा उनकी अवज्ञा करने वालों को दण्डित कर सकता है। राज्य में विद्यमान अन्य सभी व्यक्ति, समुदाय, निगम या संस्थायें इस सम्प्रभु के अधीन होती हैं तथा उसकी आज्ञा से विद्यमान होती हैं।

सम्प्रभुता की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. **बोदाँ** के शब्दों में "सम्प्रभुता राज्य की नागरिकों एवं प्रजाजनों पर सर्वोच्च सत्ता है जो नियमों से बाधित नहीं होती।"

2. **ग्रोशियस** के शब्दों में, "सम्प्रभुता उस पुरुष की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता है जिसके कार्यों पर किसी अन्य का कोई नियन्त्रण नहीं होता और जिसकी इच्छा का कोई विरोध नहीं कर सकता।"

3. **ब्लेकस्टोन** के शब्दों में, "सम्प्रभुता सर्वोच्च, निश्चित, निरपेक्ष एवं अनियन्त्रित सत्ता है।"

4. **जेलिनेक** के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य का वह लक्षण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त और किसी से बाध्य नहीं है और न अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति द्वारा मर्यादित है।"

5. **ड्गिवी** के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य की **आदेशात्मक शक्ति** है।"

6. **विलोबी** के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य की **सर्वोच्च इच्छा** है।"

7. **बर्गेस** के शब्दों में, "सम्प्रभुता नागरिक और नागरिकों के समस्त समुदायों पर मौलिक, निरपेक्ष एवं मर्यादित शक्ति है।"

सम्प्रभुता के लक्षण
(Characteristics of Sovereignty)

सम्प्रभुता के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. **स्थायित्व** (Permanence)—सम्प्रभुता तब तक विद्यमान रहती है जब तक राज्य विद्यमान रहता है। सम्प्रभुता के धारक की मृत्यु या उसकी अल्पकालिक पदच्युति या राज्य के पुनर्गठन से उसकी मृत्यु नहीं होती बल्कि वह तत्काल नये सम्प्रभु के हाथों में पहुँच जाती है।

2. **अनन्यता** (Exclusiveness)—राज्य में सर्वोच्च शक्ति केवल एक व्यक्ति या संस्था के हाथों में होती है। यह दो या अनेक व्यक्तियों के हाथों में नहीं होती। सम्प्रभु की आज्ञाओं का पालन अन्य सभी व्यक्ति एवं संस्थायें करती हैं। सम्प्रभु सभी को आदेश दे सकता है तथा उसकी अनुपालना करा सकता है। सम्प्रभु किसी अन्य प्राकृतिक, दैवी या धार्मिक सत्ता को स्वीकार नहीं करता। ये सब सत्तायें राजनीतिक सम्प्रभु के अधीन होती हैं और उसकी आज्ञा से राज्य में विद्यमान रहती हैं।

3. **सर्वव्यापकता** (All-comprehensiveness)—सम्प्रभुता राज्य की क्षेत्रीय सीमाओं के अन्तर्गत सर्वव्यापी होती है। यह सभी व्यक्तियों, समुदायों एवं वस्तुओं पर समान रूप से लागू होती है। सम्प्रभुता के इस लक्षण में "राज्येत्तर सम्प्रभुता" के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है जिसके कारण राज्य में विद्यमान विदेशी राजदूतों पर राज्य की सम्प्रभुता लागू नहीं होती। यह विदेशी राजदूतों का ऐसा विशेषाधिकार है जिसे राज्य स्वेच्छा से स्वीकार करता है। यदि आवश्यकता हो तो सम्प्रभु अवांछित राजदूतों को राज्य से बाहर जाने के लिए कह सकता है।

4. **अदेयता** (Inalienability)–सम्प्रभुता अपने स्वरूप में अदेय है। इसका हस्तांतरण नहीं किया जा सकता। इसे हस्तांतरित करना इसे नष्ट करना है। जैसा कि लाइबर ने कहा है कि **"सम्प्रभुता ठीक उसी प्रकार पृथक् नहीं की जा सकती जिस प्रकार कोई वृक्ष अंकुरित होने के अपने अधिकार को हस्तांतरित नहीं कर सकता या कोई व्यक्ति अपना आत्म विनाश किये बिना अपने व्यक्तित्व या अपने जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता।" रूसो** सम्प्रभुता को अदेय मानता है यद्यपि वह स्वीकार करता है कि "सत्ता" का हस्तान्तरण किया जा सकता है। **प्रो. रिची** जैसे लेखकों की धारणा है कि सम्प्रभुता का हस्तान्तरण हो सकता है, विशेषकर जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य को अपनी भूमि का कोई खण्ड देता है। परन्तु यह सम्प्रभुता का हस्तान्तरण नहीं बल्कि उस क्षेत्र में उस राज्य की सत्ता का हस्तान्तरण है।

5. **अविभाज्यता** (Indivisibility)—सम्प्रभुता अविभाजित है। इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। इसे विभाजित करना इसे खण्डित करना है यह "सम्पूर्ण एवं निश्चल" है। विभाजित सम्प्रभुता, सम्प्रभुता की धारणा के विपरीत है। जेलिनेक ने लिखा है कि **"विभाजित, खण्डित, क्षीण, सीमित एवं सापेक्ष सम्प्रभुता, सम्प्रभुता की भावना के विपरीत है।" जॉन. सी. कैलहौन** ने लिखा है कि "सम्प्रभुता एक सम्पूर्ण वस्तु है। इसे विभाजित करना इसे नष्ट करना है। यह राज्य में सर्वोच्च सत्ता है। अर्द्ध-सम्प्रभुता कहना वैसा ही होगा जैसा कि अर्द्ध-त्रिभुज अथवा अर्द्ध वर्ग कहना।"

लास्की. लिण्डसे, द्विग्वी, क्रैब, मिस फॉलेट जैसी बहुलवादियों की धारणा है

कि सम्प्रभुता का विभाजन हो सकता है। इनका कहना है कि सम्प्रभुता समाज में विद्यमान विविध समुदायों में विभाजित होती है। ये लेखक राज्य को एक समुदाय मानते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न समुदायों में सम्प्रभुता का विभाजन जहाँ राज्य में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करेगा वहां यह राज्य को शक्तिहीन बना देगा। वस्तुस्थिति यह है कि बहुलवादी स्वयं अन्त में एक निर्णायक की आवश्यकता अनुभव करते हैं और यह निर्णायक ही सम्प्रभु होता है । स्वयं **लास्की** ने लिखा हैकि "**प्रत्येक राज्य में कोई न कोई शक्ति होती है जो असीमित है।**"

संघात्मक राज्यों में "सम्प्रभुता" या "राज्य शक्ति" का विभाजन नहीं होता। संघ में केवल प्रशासनिक शक्तियों का विभाजन होता है जिनका प्रयोग केन्द्र या एककों की सरकारें करती हैं।

6. **निरपेक्ष** (Absolute)—सम्प्रभुता निरपेक्ष, असीमित एवं अनियन्त्रित होती है। इस पर कोई आन्तरिक या वाह्य सीमायें नहीं होतीं। यह निरंकुश होती है। यह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। यह आदेश देने की स्थिति में होती है। यह किसी से आदेश प्राप्त नहीं करती।

7. **मौलिकता** (Originality)—सम्प्रभुता राज्य की मौलिक शक्ति है। इसे किसी से प्राप्त नहीं किया जाता। यह राज्य की स्वयं की शक्ति है। वह इसका प्रयोग स्वयं करता है। **रूसो** ने लिखा है कि "सम्प्रभुता का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता।" **रूसो** लिखता है कि "जिस क्षण जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है वह स्वतन्त्र नहीं रहती, वह अस्तित्व में नहीं रहती।"

8. **अभेद्य** (Imprescriptibility)—सम्प्रभुता अभेद्य है। यह राज्य का दीर्घकालीन अधिकार है। दीर्घकाल तक इसका प्रयोग न करने पर भी यह नष्ट नहीं होती। यह बनी रहती है।

9. **एकता** (Unity)--सम्प्रभुता एकता है। इसमें कोई विरोध या टकराव नहीं होता। इसमें विभिन्नता में एकता होती है। **रूसो** ने लिखा है कि "अनेकता में सामान्य इच्छा (सम्प्रभुता) की विशेषतायें अवश्य विद्यमान होनी चाहिये।" **ए. आर. लॉर्ड** ने लिखा है कि, "यह राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती है और उसे बनाये रखती है। यह उन गुणों में अभिव्यक्त होती है जो हमें किसी राज्य के नागरिकों से आशा करनी चाहिये।"

सम्प्रभुता के प्रकार
(Kinds of Sovereignty)

सम्प्रभुता के मुख्य प्रकार निम्न हैं---

(i) **नाम मात्र की एवं वास्तविक सम्प्रभुता** (Titular and Real Sovereignty)—नाम मात्र की सम्प्रभुता ऐसे राजा या शासक की अभिव्यक्ति करती है जो शासन की वास्तविक शक्तियों का उपयोग नहीं करता । संवैधानिक

तौर पर शासन की सारी शक्ति उसके हाथों में होती है और शासन उसी के नाम से चलाया जाता है परन्तु उसकी वास्तविक शक्तियों का उपयोग उत्तरदायी मन्त्री करते हैं। नाममात्र का सम्प्रभु **"शासन का एक पुर्जा मात्र"** होता है। वह **"सत्वहीन छाया"** मात्र होता है। यह **"स्वर्णिम शून्य"**, **"रबर की मोहर"**, **"मुकुटधारी ध्वजमात्र"** होता है। संसदात्मक प्रणाली में राज्याध्यक्ष—सम्राट या राष्ट्रपति नाम मात्र का अधिकारी होता है। वह राज्य करता है शासन नहीं करता, शासन तो मन्त्रिमण्डल करता है। ब्रिटेन का सम्राट या साम्राज्ञी और भारत का राष्ट्रपति नाममात्र के सम्प्रभु के उदाहरण हैं।

वास्तविक सम्प्रभु ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की अभिव्यक्ति करती है जो शासन शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करता है।

(ii) **वैध एवं राजनीतिक सम्प्रभुता** (Legal and Political Sovereignty)—वैध सम्प्रभुता ऐसी सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति करती है जो कानूनी रूप से वैध हो। **वैध सम्प्रभुता सम्प्रभुता के वकीलीय दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है। न्यायालय और वकील इसी को मान्यता देते हैं।** इसे राज्य में सर्वोच्च कानून निर्माण करने वाली सत्ता कहा जाता है। यह कानूनी रूप से आदेश जारी कर सकती है। कोई इसके आदेशों की उल्लंघना नहीं कर सकता। **राज्य में अन्य सभी सत्तायें वैध सम्प्रभु से आदेश प्राप्त करती हैं।** उदाहरण : इंग्लैण्ड में संसद वैध सम्प्रभु है। कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह उसके आदेशों (कानूनों) की उल्लंघना नहीं कर सकता। कोई न्यायालय उन्हें अवैध या प्रभावहीन नहीं बना सकता। वैध सम्प्रभुता संगठित, निर्दिष्ट, निश्चित, स्पष्ट एवं दृश्य होती है।

राजनीतिक सम्प्रभुता ऐसी सम्प्रभुता को अभिव्यक्त करती है जो कानूनी दृष्टि से अज्ञात होती है, जो असंगठित होती है, जो वैध सम्प्रभु के पीछे होते हुए भी कानूनी रूप से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होती है। यद्यपि वैध सम्प्रभुता अन्ततः राजनीतिक सम्प्रभुता के प्रति उत्तरदायी होती है परन्तु राजनीतिक सम्प्रभुता कानूनी दृष्टि से राज्य की इच्छा को व्यक्त नहीं कर सकती। न्यायालय राजनीतिक सम्प्रभुता को मान्यता प्रदान नहीं करती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वैध सम्प्रभु राजनीतिक सम्प्रभु की उपेक्षा कर सकता है या निर्वाचनों में अभिव्यक्त की गई इच्छाओं का निरादर कर सकता है। **राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा राज्य की पूर्ण या वयस्क जनता की इच्छा होती है। यदि इच्छा को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया जाता है तो वैध सम्प्रभु उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।**

वैध और राजनीतिक सम्प्रभुता के भेद में सम्प्रभुता के विभाजन का सिद्धान्त निहित नहीं है। वस्तुतः यह एक ही सम्प्रभुता की विविध स्रोतों द्वारा अभिव्यक्ति है। **प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में वैध और राजनीतिक सम्प्रभु में पूर्ण एकरूपता होती है। दोनों में कोई भेद नहीं होता।** दोनों एक प्रकार के सम्प्रभु होते हैं। **गार्नर** ने लिखा

है कि "विशुद्ध प्रजातन्त्र में निर्वाचकों की अभिव्यक्त इच्छा केवल आदेश या लोकमत ही नहीं होती वल्कि यह स्वयं ही कानून होती है।" अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र में इस प्रकार की एकरूपता नहीं होती। इसमें वैध और राजनीतिक सम्प्रभुता में भिन्नता होने की सम्भावना होती।

(iii) **लोक एवं राष्ट्रीय सम्प्रभुता** (Popular and National Sovereignty)—लोक सम्प्रभुता ऐसी सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति करती है जिसमें अन्तिम सत्ता या सर्वोच्च शक्ति "लोगों" के हाथों में होती है। "लोग" या "जनता" शब्द से कुछ भी अर्थ लिया जा सकता है। यह "समस्त असंगठित तथा अनिश्चित जन-समूह" हो सकता है और यह चेतनशाल, विवेकपूर्ण, उत्तरदायी, मताधिकार प्राप्त निर्वाचक मण्डल हो सकता है। सामान्यतः लोक प्रभुता उन्हीं लोगों के हाथों में होती है जिन्हें मताधिकार प्राप्त होता है और वे इसका प्रयोग वैधानिक संस्थाओं या प्रक्रियाओं के माध्यम से करते हैं। जैसाकि **गार्नर** ने लिखा है कि **"लोक प्रभुता का अर्थ केवल यही है कि जिन राज्यों में वयस्क मताधिकार प्रचलित है उनमें निर्वाचक मण्डल के वहुमत को अपनी इच्छा व्यक्त करने और उस पर अमल करवाने की सत्ता प्राप्त है जिसका वह वैध प्रणाली द्वारा प्रयोग करता है।"**[1]

लोक प्रभुता की अवधारणा प्रजातन्त्र का आधार है। **ब्राइस** ने लिखा है कि "लोकप्रभुता प्रजातन्त्र का आधार एवं आदर्श है।" प्रजातन्त्र के विकास के साथ इस अवधारणा का विकास हुआ है। सोलहवीं और सत्ररहवीं शताब्दी में **मार्सिलियो ऑफ पडुवा, विलियम ऑफ ओकम, जार्ज बुकानन, थॉमस वार्ले** आदि लेखकों ने राजा की निरंकुश शक्तियों के सिद्धान्त का विरोध करते हुए प्राकृतिक कानूनों और संविदा सिद्धान्त के आधार पर लोकप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इन लेखकों की धारणा है कि "मौलिक रूप से सम्प्रभुता लोगों के हाथों में होती है और कुछ समय तक उसका प्रयोग न करने से वह उनके हाथों से निकल नहीं जाती। वस्तुतः लोगों ने अपनी प्रभुत्व शक्ति राजा को कभी दी ही नहीं।" **सिसरो** ने लिखा है कि **"कामनवैल्थ की सत्ता लोगों की निगमनात्मक शक्ति से प्राप्त होती है।"**

आधुनिक समय में रूसो लोकप्रभुता का सबसे प्रमुख समर्थक है। रूसो के अनुवन्ध की विशेषता यह है कि वह हॉब्स या लॉक की भाँति राजनीतिक समाज या कामनवैल्थ की स्थापना के वाद सम्प्रभु को संस्था का रूप प्रदान नहीं करता वल्कि समाज की रचना के साथ ही वह समाज को ही सम्प्रभु वना देता है और वह निरन्तर सम्प्रभु वना रहता है। **रूसो के सिद्धान्त में कोई वाह्य शक्ति सम्प्रभु नहीं वनती वल्कि समाज स्वयं सम्प्रभु वन जाता है।** रूसो ने लिखा है कि **"अपने व्यक्तित्व और अपनी सारी शक्ति को सभी व्यक्ति सर्वमान्य रूप में सामान्य इच्छा के**

---

1. Garner. J. W. : Political Science and Government, p. 152.

सर्वोच्च निर्देश को सौंप देते हैं और अपनी संयुक्त दशा में प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण समाज के अविभाजित अंश के रूप में प्राप्त करते हैं।" रूसो के लिए "लोकप्रभुता सामान्य इच्छा की कार्यान्विति के अतिरिक्त कुछ नहीं।"

राष्ट्रीय सम्प्रभुता की अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि सम्प्रभुता राष्ट्र में निहित है किसी व्यक्ति विशेष या निरपेक्ष राजा में नहीं। राष्ट्रीय सम्प्रभुता का सिद्धान्त जहां व्यक्तिगत सम्प्रभुता के सिद्धान्त का निषेध है वहां वह रूसो की इस शिक्षा के भी विपरीत है कि प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा के रूप में इसके एक अंश का उपयोग करता है। यह सिद्धांत केवल यह मानता है कि सम्प्रभुता सामूहिक रूप में केवल समूचे राष्ट्र में निहित है।

राष्ट्रीय सम्प्रभुता आवश्यक रूप में लोक सम्प्रभुत्ता के अनुरूप या समान नहीं होती। जिन राज्यों में सार्वभौम वयस्क मताधिकार विद्यमान नहीं होता वहाँ राष्ट्रीय सम्प्रभुता लोक सम्प्रभुता के समान नहीं हो सकती।

राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त की घोषणा फ्रांसीसी क्रांतिकारियों ने "मानव के अधिकारों की घोषणा" में की थी जिसमें यह कहा गया था कि "समस्त सम्प्रभुता मूलतः राष्ट्र में निहित है।" यह सिद्धान्त आज भी फ्रांसीसी राजनीतिक सिद्धान्त का अभिन्न अंग है। परन्तु यह सिद्धान्त, जैसाकि ड्विग्वी ने कहा है, "व्यर्थ और निष्फल" है। यदि राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि राष्ट्र का अपना एक निजी व्यक्तित्व और निजी इच्छा होती है जो व्यक्तियों की इच्छा और व्यक्तित्व से भिन्न और पृथक है। यह बात ऐसी है जो न तो अभी तक प्रमाणित हुई है और न प्रमाणित हो सकेगी।[1]

(iv) यथार्थ एवं वैध सम्प्रभुता (De facto and De jure Sovereignty)–यथार्थ सम्प्रभुता उस सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति है जो भौतिक(शारीरिक)या आध्यात्मिक या अन्य किसी शक्ति पर आधारित होती है। यह कानून या विधि पर भी आधारित हो सकती है और नहीं भी हो सकती। इसमें यथार्थ सम्प्रभु सत्ता या शक्ति का वास्तविक प्रयोग करता है, आदेश देता है तथा उसकी अनुपालना करता है। यथार्थ सम्प्रभु लोगों को उसके प्रति भक्ति रखने के लिए बाध्य कर सकता है। कोई एक मन्त्री या अधिनायक, या सेना का जनरल जब सत्ता को हस्तगत कर लेता है तो वह यथार्थ सम्प्रभु होता है। वह सत्ता हस्तगत करने के अनेक कारण दे सकता है, परन्तु सत्ता हस्तगत करते समय उसे वैध सम्प्रभुता प्राप्त नहीं होती। उदाहरणतः पाकिस्तान में जब जनरल अयूबखां ने या याह्याखां ने या जुलाई, 1977 में जनरल मोहम्मद जिया-उल-हक ने सत्ता को हस्तगत किया था तो उस समय उनके पास वैध सम्प्रभुता नहीं थी। इसी तरह जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी जब सत्ता में आये तो वे अपने वैध अधिकारों के कारण नहीं

1 See Garner. J. W.: Ibid, p. 143.

वल्कि यथार्थ शक्ति के कारण सत्ता में आये। जहां कहीं भी क्रांतियाँ, राज्य विप्लव या आकस्मिक शासन परिवर्तन होते हैं वहां सम्प्रभु यथार्थ सम्प्रभुता का प्रयोग करते हैं। जब कभी राज्य के एक भाग पर शत्रु सेना का अधिकार हो जाता है और सेनानायक स्थानीय शासनाधिकारी का स्थान ग्रहण कर जनता को आदेश देता है तथा उससे उसकी अनुपालना करवाता है तो वह यथार्थ सम्प्रभुता का उपयोग करता है। द्वितीय महायुद्ध में हिटलर ने जिन राज्यों को पराजित करके अपने अधीन कर लिया था वहां उसकी सम्प्रभुता यथार्थ थी, वैध नहीं।

अनेक वार यथार्थ सम्प्रभु वैध सम्प्रभु का रूप ग्रहण कर लेता है, विशेषकर उस परिस्थिति में जब वैध सम्प्रभु निरंकुश एवं अकुशल होता है और यथार्थ सम्प्रभु लोकप्रिय और कुशल होता है तथा लोग उसका स्वेच्छा से समर्थन करने लग जाते हैं। **गार्नर** ने लिखा है कि "जो सम्प्रभु अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा वैठाने में सफल हो जाता है, वह कालान्तर में, जनता द्वारा नाम लिये जाने अथवा राज्य के पुनर्गठन के कारण, वैध सम्प्रभु वन जाता है।" उदाहरणतः रूस में साम्यवादियों ने 1917 की क्रांति द्वारा सत्ता को हस्तगत किया था, परन्तु उन्हीं साम्यवादियों ने समय पाकर लोगों की स्वाभाविक भक्ति को प्राप्त कर लिया और वे रूस में वैध सम्प्रभु वन गये।

वैध सम्प्रभुता का आधार कानून होता है। सम्प्रभु को कानूनी तौर पर आदेश देने और आज्ञाओं का पालन कराने का अधिकार होता है। यद्यपि वैध सम्प्रभु अपने आदेशों की अनुपालना के लिए सैनिक या पशु शक्ति का प्रयोग कर सकता है, परन्तु उसकी शक्ति का एकमात्र आधार पशु शक्ति नहीं होता। उसका आधार कानूनी स्वीकृति होती है। जो व्यक्ति वैध सम्प्रभु को अपदस्थ कर सत्ता को हस्तगत करता है वह यथार्थ सम्प्रभुता का उपयोग करता है समय पाकर और लोगों की सहमति प्राप्त होने से वह यथार्थ प्रभु वैध प्रभुता को ग्रहण कर लेता है।

(v) **आन्तरिक एवं वाह्य सम्प्रभुता** (Internal and External Sovereignty)—आन्तरिक सम्प्रभुता का अर्थ यह है कि राज्य के अन्दर केवल एकही सम्प्रभु है, उसकी सत्ता असीमित एवं निरपेक्ष है। उसके पास आदेश देने और उनकी अनुपालना कराने की सर्वोच्च शक्ति है। राज्य में अन्य सभी सत्तायें—व्यक्ति समूह, समुदाय या संस्थायें—उसी सम्प्रभु से आदेश प्राप्त करती हैं। हॉब्स ने कहा है कि "**प्राकृतिक कानून, राष्ट्रों के कानून और दैवी कानून व्यक्ति पर राज्य के सम्प्रभु की इच्छा के माध्यम से ही वाध्यकारी हो सकते हैं।**" इस तरह आन्तरिक दृष्टि से सम्प्रभु सम्पूर्ण प्रशासनिक शक्तियों का स्रोत होता है। वह कानून का निर्माता होता है। वह न्याय की व्यवस्था करता है। वह विचारों पर नियन्त्रण रखता है। वह परिवार, समुदाय, संघ एवं विरादरी की सीमायें निर्धारित करता है।

वह नैतिक मापदण्डों की व्याख्या करता है। वह राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है, आदि। इस तरह जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो सम्प्रभु की शक्ति से बाहर हो।

वाह्य सम्प्रभुता का अर्थ है कि सम्प्रभु अपनी विदेश नीति का स्वयं निर्माता है। वह किसी वाह्य सत्ता से आदेश प्राप्त नहीं करता। वाह्य सम्प्रभुता राज्य को दूसरे राज्यों के समान दर्जा प्रदान करती है। इसके आधार पर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां एवं समझौते करता है, दूसरे राज्यों में अपने राजदूतों को नियुक्त करता है तथा दूसरे राज्यों के राजदूतों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करता है।

सम्प्रभुता पर ऑस्टिन के विचार

सम्प्रभुता के सम्बन्ध में ऑस्टिन के विचार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उसके विचारों ने कानूनी चिन्तन पर अत्यधिक प्रभाव डाला है।

ऑस्टिन एक विधिवेत्ता था। उसका सम्बन्ध कानून के विश्लेषणात्मक स्कूल से था। अतः उसकी सम्प्रभुता की व्याख्या कानूनी है। ऑस्टिन के विचारों पर एक्विनास, हॉब्स और जर्मी वेन्थम के विचारों का प्रभाव था। इनके विचारों की भांति ऑस्टिन भी सम्प्रभुता को निर्दिष्ट, निश्चित, निरपेक्ष, असीमित, अदेय, अविभाज्य, सर्वव्यापी एवं स्थायी मानता है। ऑस्टिन सम्प्रभुता के वर्गीकरण के विपरीत है। उसके लिये सम्प्रभुता एकता एवं अखण्ड है। यह सम्पूर्ण एवं निश्चल है।

ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार उसकी रचना "विधिशास्त्र पर व्याख्यान" (Lectures on Jurisprudence)में संकलित हैं जिसे 1832 में प्रकाशित किया गया था। ऑस्टिन एक विधिवेत्ता था अतः उसकी कानून की परिभाषा भी उसी चिन्तन से प्रभावित है। **ऑस्टिन के लिए कानून "उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है।" ऑस्टिन ने** सम्प्रभुता की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"यदि कोई निर्दिष्ट श्रेष्ठ मानव, उसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठ मानव से आदेश प्राप्त करने का अभ्यस्त नहीं और वह एक निश्चित समाज के बड़े भाग से साधारणतः अपने आदेशों की अनुपालना कराने का अभ्यस्त है तो वह श्रेष्ठ मानव उस समाज में सम्प्रभु है और वह समाज, श्रेष्ठ मानव सहित, राजनीतिक एवं स्वतन्त्र समाज है।"

ऑस्टिन की उपर्युक्त परिभाषा से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(i) सम्प्रभुता राज्य का आवश्यक तत्त्व है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से किसी पदार्थ में गुरुत्व केन्द्र।

(ii) राज्य में सम्प्रभुता का प्रयोग कोई निश्चित सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति या व्यक्ति समूह करता है। रूसो की 'सामान्य इच्छा' ऑस्टिन के निश्चित सर्वश्रेष्ठ मानव के समान नहीं।

(iii) सम्प्रभु किसी आन्तरिक या वाह्य सत्ता से आदेश प्राप्त नहीं करता। वह आदेश देता है और उसकी अनुपालना कराता है। वह आदेशों की उल्लंघना करने वालों को दण्डित करता है।

(iv) सम्प्रभु के प्रति लोगों की भक्ति स्वाभाविक है। यह निरन्तर, नियमित, और अविच्छिन्न होती है।

(v) सम्प्रभु कानून का निर्माता है। कानून सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु की इच्छा ही कानून है। आदेश चाहे वैध हो या अवैध, उचित हो या अनुचित, सही हो या गलत, तर्क-संगत हो या तर्कहीन, उसकी अनुपालना आवश्यक एवं वैध है।

(vi) सम्प्रभुता अदेय, अविभाज्य और एकता है। यह निरपेक्ष, असीमित और अबाध्य है।

(vii) निश्चित सम्प्रभु के होने से ही समाज "स्वतन्त्र एवं राजनीतिक" समाज बनता है।

आलोचना (Criticism)—ऑस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है। **सर हेनरी मेन, क्लार्क और सिजविक जैसे ऐतिहासिक विधिवेत्ता और एच. जे. लास्की, जे. नेविल फिगिस, ए. डी. लिण्डसे, लियो ड्विग्वी, अर्नेस्ट बार्कर, मिस फॉलेट जैसे बहुलवादी लेखक इसके कटु आलोचक रहे हैं।**

ऑस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धान्त की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की गई है—

1. सम्प्रभुता निश्चित मानव श्रेष्ठ में नहीं होती—सर हेनरी मेन जैसे ऐतिहासिक विधिवेत्ताओं की धारणा है कि सम्प्रभुता निश्चित मानव श्रेष्ठ में निहित नहीं होती। प्राचीन पूर्वी राज्यों और आधुनिक संघीय राज्यों में किसी निश्चित एवं सर्वश्रेष्ठ मानव को ढूँढना कठिन है। **निरंकुश से निरंकुश शासक भी समाज में स्थापित रीति-रिवाजों परम्पराओं, रूढ़ियों, लोकाचारों एवं धार्मिक आज्ञाओं की उपेक्षा या उल्लंघना करके बहुत देर तक शासन नहीं कर सकता।** उदाहरणतः महाराजा रणजीतसिंह एवं टर्की के सुल्तान ऑस्टिन की सम्प्रभुता की कल्पना के निकट हो सकते हैं, परन्तु अपनी सत्ता के चरम काल में भी उन्होंने लोगों के रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं की उपेक्षा नहीं की।

2. लोक प्रभुता के सिद्धान्त के विपरीत—ऑस्टिन के सिद्धान्त में केवल वैध सम्प्रभुता को मान्यता दी गई है जनमत या लोकप्रभुता को नहीं। अतः यह सिद्धान्त आधुनिक प्रजातांत्रिक सिद्धान्त के विपरीत है। **प्रजातांत्रिक राज्य में वैध सम्प्रभु लोक सम्प्रभु के प्रति भक्ति रखता है, उसके समक्ष झुकता है तथा जन-इच्छा के आधार पर नीतियों में परिवर्तन करता है। ऑस्टिन का सिद्धान्त रूसो के "सामान्य इच्छा" के सिद्धान्त के विपरीत है।**

3. कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं—ऑस्टिन का मत है कि "कानून सम्प्रभुता का आदेश है।" आलोचकों का कहना है कि "कानून को केवल आदेश मात्र मानना न्यायवेत्ता तक के लिए व्याख्या की खाल खींचना है।" आधुनिक समय में कानून सम्प्रभु द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, वह उसका आदेश मात्र नहीं होता।

कानून का आधार समाज की रीतियाँ एवं परम्परायें होती हैं जिन्हें समाज स्वभाव से स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त वैधानिक टीकायें, न्यायिक निर्णय, धार्मिक अनुशास्तियां भी कानून के स्रोत होती हैं।

ऑस्टिन का यह मत अव्यावहारिक है कि लोग "दण्ड के भय" के कारण कानूनों की अनुपालना करते हैं। यदि ऐसा होता तो कानूनों की उल्लंघना नहीं होती। **व्यक्ति कानून की अनुपालना अपनी स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति के कारण करते हैं, दण्ड के भय के कारण नहीं। ड्विग्वी ने ठीक लिखा है कि "सामाजिक सुदृढ़ता" की भावना कानून की आधारशिला है। क्रैब ने लिखा है कि कानून का उदय लोगों की "औचित्य की भावना" से होता है।** यही कारण है कि जब कभी कानून किसी रीति-रिवाज या परम्परा पर चोट पहुँचाता है तो समाज उसका विरोध करता है। ऑस्टिन का यह कथन मिथ्या है कि सम्प्रभु जिस चीज की स्वीकृति देता है वह आदेश है।

4. अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी—ऑस्टिन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा है। यह एक कानूनी कल्पना है जो राज्यों में ऐंठन और अलगाव भावना पैदा करती है। यह सहयोग, भाईचारे या समन्वय की भावना पैदा नहीं करती। **लास्की** का मत है कि "**अन्तर्राष्ट्रीय पहलू से स्वतन्त्र सार्वभौम राज्य की धारणा मानव कल्याण के लिए घातक है।**"

5. बहुलवादियों द्वारा की गई आलोचना—जहां ऑस्टिन सम्प्रभुता को निरपेक्ष, आसीमित, अविभाज्य एवं अनुत्तरदायी मानता है वहां लास्की, लिण्डसे, बार्कर जैसे बहुलवादी लेखक उसे सीमित और विभाजित मानते हैं। **ब्लंशली** जैसे लेखकों का मत है कि सम्प्रभुता न तो आन्तरिक दृष्टि से और न बाह्य दृष्टि से निरपेक्ष है। आन्तरिक दृष्टि से सम्प्रभु संवैधानिक कानून, नागरिकों के मूल अधिकार आदि से सीमित है, जबकि बाह्य दृष्टि से वह दूसरे राज्यों के अधिकारों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों आदि से सीमित है। **लास्की** का मत है कि "**यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा को राजनीति विज्ञान से निकाल दिया जाय तो यह स्थाई रहने वाला लाभ होगा।**"

बहुलवादी ऑस्टिन के इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं कि सम्प्रभु लोगों से निरपेक्ष भक्ति प्राप्त करता है। बहुलवादी कहते हैं कि लोगों की प्रम्प्रभु के **प्रति भक्ति निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है और यह सापेक्ष भक्ति भी सम्प्रभु के आदेशों या कानूनों के औचित्य पर निर्भर करती है।** सम्प्रभु के कानून लोगों की औचित्य भावना के जितने निकट होंगे उनकी भक्ति उतनी ही अधिक होगी।

बहुलवादियों की धारणा है कि राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था नहीं जिसके प्रति लोग भक्ति रखते हैं। बहुलवादी राज्य को समुदाय का दर्जा देते हैं। इनका कहना है कि मानव की अनेक आवश्यकतायें हैं। इनकी पूर्ति के लिये वह विविध

प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक समुदायों का निर्माण करता है। ये समुदाय उसी प्रकार से प्राकृतिक एवं स्वाभाविक होते हैं जिस प्रकार कि राज्य। इन समुदायों का भी अपना व्यक्तित्व एवं इच्छा होती है और ये अपने सदस्यों से उसी तरह भक्ति की मांग करते हैं जिस प्रकार कि राज्य अपने सदस्यों से करता है। लास्की ने लिखा है कि **"राज्य मानव की सामुदायिक प्रवृत्तियों को समाप्त नहीं करता .... कोई भी समुदाय मेरे समूचे जीवन के लिए कानून का निर्माण नहीं कर सकता।"** वहुलवादी सम्प्रभुता को न तो निरपेक्ष मानते हैं, न असीमित और न अविभाज्य। लिण्डसे ने कहा है कि "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।" लास्की ने लिखा है कि " राजनीतिक दर्शन के लिए प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को वैध बनाना असम्भव है।

मूल्यांकन—ऑस्टिन का सम्प्रभुता का सिद्धान्त आधुनिक प्रजातांत्रिक लोक-कल्याणकारी अवधारणाओं से मेल नहीं खाता। यह आर्थिक, सामाजिक एवं राज-नीतिक शक्तियों की उपेक्षा करता है। फिर भी यह वैधानिक दृष्टि से स्पष्ट एवं तर्कसंगत है।

समीक्षा प्रश्न

1. सम्प्रभुता की परिभाषा दीजिये और इसके लक्षणों (विशेपताओं) का विवेचन कीजिए। (Raj. 1979)
2. सम्प्रभुता को परिभाषित कीजिए। कानूनी एवं राजनीतिक प्रभुता के मध्य अन्तर को भी स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1980)
3. ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। वहुलवादियों ने उस पर किस प्रकार आक्षेप किए हैं ? (Raj. 1981, 84, Suppl. 1984)
4. ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्वन्धी सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (Raj. Suppl. 1986)
5. सम्प्रभुता क्या है ? सम्प्रभुता के प्रकारों को समझाइये। (Raj. 1985)
6. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये :—
   (i) तथ्यतः एवं विधितः सम्प्रभुता।(Raj. 1980, 84, Suppl. 1984)

और 'यदि प्रभुता की सम्पूर्ण कल्पना का परिचय कर दिया जाय तो यह राज्य-विज्ञान के लिए स्थायी हित का कार्य होगा।''

गेटेल ने बहुलवाद के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है, ''बहुलवादी इस बात से इनकार करते हैं कि राज्य असाधारण संगठन है। उनका मत है कि अन्य समुदाय भी समान रूप में महत्त्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार के समुदाय अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसी प्रकार प्रभु हैं जिस प्रकार राज्य अपने उद्देश्य के लिए प्रभु है। वे इस बात पर बल देते हैं कि राज्य अपने अन्तर्गत कतिपय समूहों के विरुद्ध अपनी इच्छा को सक्रिय रूप देने के अयोग्य है। वे इस बात से इनकार करते हैं कि राज्य द्वारा बल प्रयोग का अधिकार उसे किसी प्रकार का श्रेष्ठ अधिकार प्रदान करता है। वे सब समूहों के समान अधिकार पर जोर देते हैं जो अपने सदस्यों की वफादारी के पात्र हैं और जो समाज में बहुमूल्य कार्यों को पूर्ण करते हैं। फलस्वरूप प्रभुता बहुत-से समुदायों द्वारा अधिकृत होती है। यह अविभाज्य इकाई नहीं है; राज्य सर्वोच्च या असीमित नहीं है।''

बहुलवादी अवधारणा का विकास--उन्नीसवीं शताब्दी तक राज्य की सम्प्रभुता सर्वोच्च एवं निरपेक्ष मानी जाती थी। उस समय तक यह सिद्धान्त इतना प्रचलित था कि कार्ल मार्क्स जैसे समाजशास्त्रियों ने भी उसकी निन्दा नहीं की। परन्तु अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वभाविक था, क्योंकि वह राज्य को निरंकुश एवं निरपेक्ष शक्तियाँ प्रदान करता है।

(i) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होते-होते जब राज्य के कार्यों और उसके स्वरूप में परिवर्तन होना शुरू हुआ अर्थात् जब राज्य ने पुलिस राज्य से ''लोक-सेवी'' और 'लोक-कल्याणकारी'' राज्य का स्वरूप ग्रहण किया तो सत्ता के विकेकेन्द्रीकरण पर बल दिया जाने लगा। विकेन्द्रीकरण की ने धारणा बहुलवादी विचारधारा को पुष्ट किया ।

(ii) **ए. जे. पेन्टी, ए. आर. औरेज, एस. जी. हॉब्सन तथा जी. डी. एच. कोल** जैसे श्रेणी समाजवादियों ने मध्ययुग की गिल्ड व्यवस्था को, जिसमें गिल्ड स्वायत्तता का उपयोग करते थे, स्थापित करने तथा उन्हें स्वायत्तता प्रदान करने पर बल दिया।

(iii) विज्ञान की असाधारण गति के कारण विशाल कारखानों की स्थापना हुई, जिन्होंने श्रमिक संघों को जन्म दिया।

(iv) प्रजातन्त्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की भावना के विकास के साथ विश्व के राज्य एक-दूसरे के निकट आने लगे थे।

14

सम्प्रभुता बहुलवादी सिद्धान्त

(Sovereignty--Pluralistic Theory)

अर्थ (Meaning)–बहुलवाद अद्वैतवाद(एकत्ववाद है--Monism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। यह सम्प्रभुता के अद्वैतवादी या परम्परागत सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। बहुलवादी अद्वैतवादी की इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि सम्प्रभुता निरपेक्ष, निश्चित, असीमित, अदेय, अविभाज्य और सर्वव्यापी है। वे इससे सहमत नहीं कि राज्य नागरिकों से निरपेक्ष भक्ति प्राप्त करता है। वे इसे स्वीकार नहीं करते कि सम्प्रभु के आदेश कानून हैं या कानून सम्प्रभु की इच्छा मात्र है। वे अद्वैतवादियों के अमर्यादित सम्प्रभुता के सिद्धान्त को हानिकारक मानते हैं।

बहुलवादी राज्य को पूर्णतः नष्ट करना नहीं चाहते। वे राज्य को बनाये रखना चाहते हैं, परन्तु वे उसे एक **"समुदाय या कम्यून"** का **दर्जा प्रदान करना चाहते हैं**। वे राज्य को अन्तिम निर्णायक मानते हुए भी उसकी सर्वोच्चता और अनन्यता का खण्डन करते है। उनकी धारणा है कि समाज में विद्यामान भिन्न-भिन्न संघ, समुदाय आदि उसी प्रकार से स्वाभाविक हैं जिस प्रकार से राज्य स्वाभाविक है। इन विविध समुदायों का अपना व्यक्तित्व और इच्छा होती है। बहुलवादी राज्य की केन्द्रीकृत सत्ता का विरोध करते हैं। जैसाकि **लास्की** ने कहा है कि **"समाज संघीय है अतः अधिकार सत्ता भी संघीय होनी चाहिए।"** बहुलवादी कानून को सम्प्रभु की इच्छा या आदेश मात्र नहीं मानते। वे कानून को राज्य से स्वतन्त्र, परे और ऊपर मानते हैं। ये कानून को "सामाजिक सुदृढ़ता" और "सामाजिक विवेक की भावना मानते हैं।

बहुलवादी इस बात का दावा करते हैं कि सम्प्रभुता का अद्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो गया है। जैसाकि ए. डी. लिण्डसे ने लिखा है कि **"यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।"** बार्कर का मत है कि **"कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के सिद्धान्त से अधिक व्यर्थ तथा शुष्क नहीं।"** लास्की का मत है कि "राजनीतिक दर्शन के लिए प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को वैध बनाना सम्भव नहीं है"

उपर्युक्त सब तत्त्वों ने मिलकर एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसे राजनीति शास्त्र में बहुलवाद के नाम से जाना जाता है।

बहुलवाद के लेखक—बहुलवाद के प्रमुख लेखक हैं—**ऑटो वान गीयर्क, एफ. डब्ल्यू मेटलैण्ड, जे. नेविल फिगिस, एच. जे. लास्की, ए. डी. लिण्डसे, अर्नेस्ट बार्कर, लिग्वो ड्विग्वी, क्रेव, मिस एम. पी. फॉलेट, जे. पाल बांकोर, एमिल दुर्खीम आदि।**

सर्वप्रथम आटो **वान गीयर्क और एफ. डब्ल्यू. मेटलैण्ड** ने यह बताने का प्रयास किया कि विविध समुदाय, जो समाज में विद्यमान होते हैं, वे मनुष्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। वे काल्पनिक नहीं होते। प्रत्येक समुदाय का अपना व्यक्तित्व, संगठन, चेतना तथा उपयोगिता होती है। उनकी धारणा है कि प्रत्येक समुदाय राज्य से स्वतन्त्र होता है। परिवार और चर्च जैसे समुदाय तो राज्य से पूर्व थे। मेटलैण्ड का मत है कि राज्य किसी दृष्टि से अन्य समुदायों से बढ़कर नहीं होता। राज्य की भूमिका प्रमुख है परन्तु एकमात्र नहीं।

गीयर्क, मेटलैण्ड और फिगिस का मत है कि सामन्तवादी मध्यकालीन समाज बहुलवादी था। फिगिस ने अपनी रचना "आधुनिक राज्य में गिरजे" में गिरजाघरों की स्वायत्तता की ओर संकेत करके बहुलवादी संगठन की पुष्टि की है। श्रम संघवादी केन्द्रीकृत व्यवस्था के घोर विरोधी हैं। श्रेणी समाजवादी व्यावसायिक प्रजातन्त्र चाहते हैं। **पाल बांकोर और दुर्खीम** ने "वृत्तिगत स्वायत्त-व्यवस्था का समर्थन किया है।" **ड्विग्वी** ने अपनी रचनाओं में यह बताने का प्रयास किया है कि सम्प्रभु विधियों का आधार अथवा स्रोत नहीं। **क्रेब** ने "सामाजिक विवेक की भावना" को विधि का आधार स्वीकार किया है।

लास्की ने अपनी रचनाओं में विशेषकर, "**सम्प्रभुता की समस्या विषयक अध्ययन**" और "**राजनीति का व्याकरण**" में सत्ता के नैतिक पक्ष अर्थात् उसके नैतिक औचित्य पर बल दिया है। लास्की ने व्यक्ति को साध्य स्वीकार किया है, साधन नहीं। **लास्की** ने लिखा है कि "**मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात में ही उचित है।**" "जिस राज्य के प्रति मेरी भक्ति है वह वही राज्य हो सकता है जिसमें मैं अपनी नैतिक पूर्णता प्राप्त कर सकता हूँ.........हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति दृढ़निष्ठ होना है।"

बहुलवाद के सिद्धान्त—बहुलवाद के सिद्धान्त निम्न हैं—

1. **राज्य एक समुदाय है**—बहुलवादी राज्य की निरपेक्ष, असीमित, अविभाज्य एवं सर्वव्यापी सम्प्रभुता में विश्वास नहीं करते। उनकी धारणा है कि सम्प्रभुता विभाजित हो सकती है और यह वस्तुतः समाज में विद्यमान विविध समुदायों या संघों में बंटी होती है।

बहुलवादियों की धारणा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसकी अनेक एवं विविध आवश्यकतायें होती हैं। अतः वह इनकी पूर्ति के लिए सामाजिक,

आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, औद्योगिक, व्यावसायिक आदि संघों या समुदायों का निर्माण करता है। बहुलवादियों का कहना है कि ये समुदाय या संघ उसी प्रकार स्वाभाविक होते हैं जिस प्रकार कि राज्य। इन समुदायों की भी अपनी पृथक्-पृथ इच्छायें होती हैं। ये समुदाय भी अपने सदस्यों से उसी प्रकार भक्ति की माँग कर हैं जिस प्रकार राज्य अपने सदस्यों से भक्ति की माँग करता है। परिवार और च जैसे समुदायों का निर्माण तो राज्य से पूर्व हुआ है। लास्की ने लिखा है कि "रा में मानव की समस्त संस्था-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का अन्त नहीं हो जाता।" "समा को अपनी प्रकृति में आवश्यक रूप से संघीय मानना चाहिए।" "समुदाय उसी अ में वास्तविक है जिस अर्थ में राज्य।" मेरे समूचे व्यक्तित्व के लिए कोई एक संस नियम निर्माण नहीं कर सकती। "हम इस विशिष्ट समुदाय (राज्य) को कोई वि महत्व नहीं देते।"

बहुलवादी राज्य को सर्वोच्च संस्था नहीं मानते। उनके अनुसार रा "समकक्षों में एक" या "समकक्षों में प्रथम है।" व्यावसायिक संघों के महत्व प प्रकाश डालते हुए पाल बांकोर लिखता है कि राज्य में दो प्रकार की सम्प्रभुता हो चाहिये—एक राज्य और दूसरी व्यावसायिक संघों की। एमिल दुर्खीम की धारा है कि आर्थिक जीवन इतना विशिष्ट हो गया है कि उसका नियन्त्रण करना राज्य क शक्ति से बाहर है। लास्की की धारणा है कि समुदायों के दृढ़निष्ठ प्रतिरोध सामने राज्य निर्बल सिद्ध होता है। अनेक उदाहरण देते हुए लास्की लिखता है "उस सिद्धान्त में क्या वैधता है जो ऐसे सरकारी अधिकारी में प्रभुत्व के गुण आर पित करता है जिसे गैर सरकारी समुदायों के दबाव से ऐसी नीतियाँ स्वीकार कर पड़ती हैं जिनका वह विरोधी है।" राज्य के ऊपर अनेक प्रकार के श्रमिक संघ मजदूरों की सभाओं, व्यावसायिक पुरुषों, किसानों, बैंकरों, राजनीतिक दलों, दब समूहों, लॉबियों, आन्दोलनकारियों आदि का प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः राज्य नीतियां इन सबसे प्रभावित होती हैं।

बहुलवादी राज्य को एक समुदाय मानते हैं जो विशेष कार्यों को सम्प करने के लिए विद्यमान है। परन्तु बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता पर प्रहार क हुए भी अराजकतावादियों की भाँति राज्य को पूर्णतः नष्ट करना नहीं चाहते। राज्य को अन्तिम-निर्णायक, नियामक और समन्वयकर्ता के रूप में बनाये रख चाहते हैं। उदाहरणतः गीयर्क के लिए राज्य "सर्वोच्च प्रभुत्व सम्पन्न संस्था पॉल बांकोर के लिए राज्य "सामान्य हितों तथा राष्ट्रीय एकता का एकमात्र प्रति निधि" है। फिगिस राज्य को "समाजों का समाज" मानता है। लिण्डसे के लि राज्य "संगठनों का संगठन" है। बार्कर लिखता है कि "राज्य एक आवश्यक मे जोल स्थापित करने वाली सत्ता बना रहेगा।" लास्की ने लिखा है कि "कानू दृष्टि से कोई इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य में कोई ऐसा अ

होता है जिसकी सत्ता असीम होती है।" मिस फॉलेट ने लिखा है कि "अन्य समुदायों का सदस्य होते हुये भी मेरी आत्मा राज्य में निवास करती है।"

2. कानून औचित्य की भावना है—बहुलवादी अद्वैतवादियों की इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि राज्य कानून का निर्माता है और वह सम्प्रभु का आदेश है। बहुलवादी अद्वैतवादियों की इस धारणा को हानिकारक मानते हैं। बहुलवादियों के अनुसार राज्य तथा कानून भिन्न हैं। कानून राज्य से ऊपर तथा स्वतन्त्र है। जैसाकि कोकर ने लिखा है कि "कानून राज्य से स्वतन्त्र, ऊपर और व्यापक होता है।" ड्विग्वी ने लिखा है कि "कानून राजनीतिक संबंधों पर निर्भर नहीं करते। वे आचरण के ऐसे नियम हैं जो समाज में रहने वालों को मान्य होते हैं।" वे "सामाजिक मनोविज्ञान की उपज हैं और समाज की भौतिक, मानसिक तथा नैतिक आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं।" "कानून संगठित तथा अनुशासित सामाजिक जीवन की भावना है।" कानून "सामाजिक सुदृढ़ता" की भावना है। ड्विग्वी लिखता है कि "व्यक्ति कानूनों की अनुपालना इसलिये नहीं करते कि उनका निर्माण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य ने किया है बल्कि इसलिए करते हैं कि कानून की अनुपालना न करने से उनका सामाजिक जीवन नष्ट हो जायेगा। सामाजिक सुरक्षा ही कानून की स्वीकृति है।" दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन की आवश्यकता का आभास, आचरणयुक्त जीवन व्यतीत करने की इच्छा, पारस्परिक लेन-देन अथवा भाईचारे की भावना, सामान्य उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं की अनुभूति आदि तत्त्व कानून के मुख्य स्रोत एवं उनकी अनुपालना का अधिकार हैं।

3. राज्य आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि से सीमित है—बहुलवादी अद्वैतवादियों के इस कथन को अव्यावहारिक बताते हैं कि राज्य की सम्प्रभुता आन्तरिक एवं बाह्य क्षेत्र में अमर्यादित है बहुलवादियों का कहना है कि आन्तरिक क्षेत्र में राज्य की सम्प्रभुता व्यक्ति के अधिकारों, संघों एवं समुदायों के क्षेत्राधिकारों, जनमत और संविधान आदि से सीमित है। राज्य समाज के प्रचलित रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं की, जो लोगों की औचित्य भावना पर आधारित है, उल्लंघना या उपेक्षा नहीं कर सकता। बाह्य दृष्टि से राज्य दूसरे राज्यों के अधिकारों से सीमित है। बहुलवादी कहते हैं कि राज्य शून्य में जीवन व्यतीत नहीं करता बल्कि वह दूसरे राज्यों के साथ मिलकर व्यवहार करता है और उनसे लेन-देन करता है। ये पारस्परिक सम्बन्ध राज्य की सीमाओं को निर्धारित करते हैं। बहुलवादियों की धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं अन्तर्राष्ट्रीय आचरण विश्व शान्ति एवं भाईचारे की भावना के विकास के लिये आवश्यक है। अणु-युग में आत्मरक्षा की आवश्यकतायें भी राज्य को दूसरे राज्यों के साथ मिलकर रहने के लिए बाध्य करती हैं। आज विश्व में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी विद्यमान है जिसके आदेशों एवं सुझावों की सरलता से उपेक्षा नहीं जा सकती। राज्य को विश्व जनमत की भावनाओं का आदर करना पड़ता है।

आलोचना—बहुलवादी सिद्धान्तों की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. **अव्यावहारिक**—बहुलवाद एक आन्दोलन है विचारधारा नहीं। इसने राज्य की सम्प्रभुता पर प्रहार करने का प्रयास किया है परन्तु विचारधारा के अभाव में यह किसी सिद्धान्त का रूप ग्रहण नहीं कर सका। बहुलवादियों ने यह बताने का प्रयास नहीं किया कि उनके विचारों को कैसे व्यावहारिक बनाया जा सकता है। अतः यह अव्यावहारिक है। आश्चर्य यह है कि जिन्होंने सम्प्रभुता को आगे के दरवाजे से निकालने का प्रयास किया है उन्होंने इसे पीछे के दरवाजे से वापस अन्दर ले लिया है। लास्की ने स्वीकार किया है कि **"प्रत्येक राज्य में कोई न कोई शक्ति होती है जो असीमित होती है।"** मिस फॉलेट ने कहा है कि **"अन्य संघों का सदस्य होते हुए भी मेरी आत्मा राज्य में निवास करती है।"** जब राज्य को अन्तिम निर्णायक या समन्वयकर्त्ता के रूप में शक्ति प्रदान करना आवश्यक है तो चाहे हम उसे किसी नाम से क्यों न पुकारें वह अन्तिम निर्णायक रहेगा। सम्प्रभुता का अद्वैतवादी सिद्धान्त राज्य को वस्तुतः यही निर्णायक शक्ति प्रदान करता है।

2. **राज्य शक्ति निरंकुशता को जन्म नहीं देती**—बहुलवादियों की यह धारणा सत्य नहीं कि हर प्रकार के राज्य में राज्य शक्ति राज्य की स्वेच्छाचारिता को जन्म देती है। यह कथन सर्वसत्तावादी एवं अधिनायकवादी राज्यों के लिये सही हो सकता है परन्तु जनमत पर आधारित लोककल्याणकारी प्रजातान्त्रिक राज्यों के लिये सही नहीं। लोक कल्याणकारी प्रजातान्त्रिक राज्यों में व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर किया जाता है और उसकी स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित रखा जाता है। प्रजातान्त्रिक राज्यों में नागरिक मूल अधिकारों का उपयोग करते हैं। संकटकाल में इन्हें मर्यादित किया जा सकता है परन्तु यह राष्ट्र की सुरक्षा के लिये होता है। इस तथ्य को कभी भुलाया नहीं जा सकता कि राज्य की शक्ति का प्रयोग वस्तुनिष्ठ ढंग से होता है व्यक्तिनिष्ठ ढंग से नहीं।

3. **हानिकारक एवं विनाशकारी**—यदि बहुलवादियों के इस सुझाव को स्वीकार कर लिया जाये कि समाज में विद्यमान विविध समुदाय राज्य के समकक्ष हैं और सम्प्रभुता इनमें विभाजित है तो समाज में अव्यवस्था और अराजकता फैल जायेगी जो राज्य और समुदाय दोनों को नष्ट कर देगी। राज्य की सर्वोच्च शक्ति एक ऐसा तत्त्व है जो समुदायों के क्षेत्राधिकार को निश्चित करती है, उनमें उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करती है, उनमें समन्वय उत्पन्न करती है तथा समाज में शान्ति और न्याय की व्यवस्था करती है। **राज्य की सर्वोच्च शक्ति का कोई विकल्प नहीं। बहुलवादी समुदायों की जिस स्वायत्तता की बात करते हैं, उसी स्वायत्तता की रक्षा के लिये राज्य की सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता होती है।** राज्य व्यक्ति, समूह, समुदाय, संस्था आदि को अपनी-अपनी सीमाओं में बनाये रख

कर व्यवस्था बनाये रखता है। राज्य विवादों को सुलझाता है। जैसाकि बार्कर ने कहा है कि **"हम धर्म, संघ या व्यावसायिक संघों की महत्ता को कितना ही क्यों न मानें तो भी हमें राज्य को उच्च शक्ति के रूप में पर्याप्त अधिकार देना होगा। विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में सामंजस्य और सन्तुलन स्थापित करने का काम राज्य ही कर सकता है।"**

आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में राज्य अनेक सेवायें प्रदान करता है। इन्हें कोई समुदाय प्रदान नहीं कर सकता। राज्य सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का प्रयास करता है, रोजगार की व्यवस्था करता है, विकास के लिए योजनाओं का निर्माण करता है, कीमतों को नियन्त्रित करता है, आदि। राज्य एकता उत्पन्न करने वाली संस्था है। राज्य की नागरिकता सर्वव्यापी है, वह वर्गीय या व्यावसायिक नहीं होती।

4. स्वतन्त्रता के लिए घातक—बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता पर प्रहार करके व्यक्ति की जिस स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना चाहते हैं वह वस्तुतः सुरक्षित होने के स्थान पर असुरक्षित एवं अनिश्चित हो जाती है। जैसाकि **ए. ई. जिमरन** ने कहा है कि "जो व्यक्ति राज्य की निरंकुशता की बात करते हैं वे इस सरल सत्य की उपेक्षा करते हैं कि समीप के पड़ौसी के अत्याचार के समान कोई दूसरा अत्याचार नहीं है। समुदाय जितना ही छोटा होगा उतना ही आपके जीवन और कार्यों पर कड़ा नियन्त्रण होगा।"

मूल्यांकन या महत्त्व—उपर्युक्त कमजोरियों के बावजूद बहुलवादियों ने राजनीतिक चिन्तन की अमूल्य सेवायें की हैं। उन्होंने समुदायों, सामाजिक समूहों एवं संघों के महत्त्व पर प्रकाश डालकर समाज में उनकी आवश्यकता और उपयोगिता पर बल दिया है। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि सम्प्रभुता का कानूनी दृष्टिकोण लोकहितों के लिए हानिकारक हो सकता है और विविध समुदायों के अभाव में सामाजिक जीवन अरुचिकर एवं फीका हो जाएगा। बहुलवादियों ने अद्वैतवादियों की कमजोरियों और सत्ता के केन्द्रीयकरण के दोषों को बताकर समाज की मूल्यवान सेवा की है। उन्होंने विधि के व्यापक अर्थ और आधार को प्रस्तुत किया है। इस तरह बहुलवादियों ने आधुनिक लोक कल्याणकारी, प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकृत व्यवस्था को पुष्ट किया है।

समीक्षा प्रश्न

1. बहुलवाद की व्याख्या कीजिये। सम्प्रभुता की अवधारणा के विरुद्ध इसके तर्क क्या हैं? (Raj. 1986, Suppl. 1983)

15

अधिकार और कर्त्तव्य

(Rights and Duties)

(अ) अधिकार

अर्थ, स्वरूप एवं परिभाषा—मानव केवल जीना ही नहीं चाहता बल्कि वह एक अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहता है। अच्छे जीवन के लिए उसे कुछ सुविधाओं की जरूरत होती है। इन सुविधाओं को ही राजनीतिक शब्दावली में अधिकार कहते हैं। अधिकारों के अभाव में व्यक्ति सभ्य जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता और समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में कोई भूमिका नहीं निभा सकता।

अधिकार कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे व्यक्ति राज्य या समाज से अलग रह कर उपयोग कर सकता है। उसे समाज और राज्य का सदस्य होने पर ही अधिकार प्राप्त होते हैं। उससे बाहर उसे कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। प्रकृति मानव को केवल "शक्तियाँ" प्रदान करती है अधिकार नहीं। **अधिकार मानव की सामाजिक प्रकृति के परिणाम हैं।** सुविधाओं के सन्दर्भ में ही अधिकारों के दावे को स्वीकार किया जा सकता है।

अधिकार कोई 'स्वार्थ हित' नहीं। इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से नहीं। यह ऐसी निःस्वार्थ इच्छा है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने पास रखता है और जिसका उपयोग वह सामान्य कल्याण के उद्देश्य से करता है। अधिकार उस कर्त्तव्य की ओर संकेत करता है जो समाज के कल्याण के लिए है और जिसकी पूर्ति व्यक्ति करता है। अधिकार कर्त्तव्यों की मांग करते हैं। उदाहरणतः यदि समाज या राज्य व्यक्ति को जीवन की सुरक्षा प्रदान करता है तो उसे भी दूसरे के जीवन को असुरक्षित नहीं बनाना चाहिये।

अधिकारों की प्रकृति और क्षेत्र इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य का स्वरूप कैसा है? यदि राज्य का स्वरूप उदार और लोकतांत्रिक है तो उसमें नागरिक अधिकारों के प्रति आदर भाव होगा और उनकी अभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्र साधन

उपलब्ध होंगे। यदि राज्य का स्वरूप अधिनायकवादी या सर्वसत्तावादी है तो उसमें नागरिक अधिकारों का प्रायः अभाव होगा, भले ही वहाँ अधिकारों का ढोंग क्यों न रचा जाय। लास्की ने लिखा है कि **"राज्य जिस प्रकार के अधिकारों को बनाये रखता है उनसे उसका स्वरूप पहचाना जा सकता है।"**

अधिकारों की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. हालैंड के शब्दों में, "समाज की सम्मति और शक्ति द्वारा दूसरों के कार्यों को प्रभावित करने की क्षमता को अधिकार कहते हैं।"

2. वाइल्ड के शब्दों में, "कतिपय कार्यों को करने की स्वतन्त्रता के औचित्य-पूर्ण दावे को अधिकार कहते हैं।"

3. ग्रीन के शब्दों में, "अधिकार एक ऐसी शक्ति है जो सामान्य कल्याण में सहायक होने से मांगी और स्वीकार की जाती है।"

4. ऑस्टिन के शब्दों में, "दूसरों से कार्य करवाना या उन्हें सहनशील बनाये रखने की व्यक्ति की क्षमता को अधिकार कहते हैं।"

5. लास्की के शब्दों में, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में सामान्यतः कोई व्यक्ति अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को पाने की आशा नहीं कर सकता।"

6. मैंक्कन के शब्दों में, "अधिकार सामाजिक कल्याण की कुछ लाभदायक परिस्थतियाँ हैं जो नागरिकों के यथार्थ विकास के लिए अनिवार्य हैं।"

7. बोसांके के शब्दों में, "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।

8. सालमण्ड के शब्दों में, "उचित नियम के द्वारा सुरक्षित हितों को अधिकार कहते हैं।"

स्पष्ट है कि **अधिकार व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण मांगें नहीं हैं। ये उसकी न्यायोचित मांगें हैं जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है। ये ऐसी सामाजिक सुविधायें हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति अपने विकास के साथ सामाजिक कल्याण की पूर्ति करता है।**

अधिकारों की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

1. अधिकार समाज की उत्पत्ति । हैं प्राकृतिक अधिकारों जैसी कोई चीज नहीं। समाज से बाहर व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं।

2. अधिकार व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण मांगें नहीं । ये उसकी न्यायोचित मांगें हैं।

3. अधिकार व्यक्ति और समाज दोनों के कल्याण के लिए हैं। व्यक्ति को वे अधिकार प्रदान नहीं किये जा सकते जो दूसरों के लिए हानिकारक हैं।

4. अधिकारों की कार्यान्विति के लिए समाज की स्वीकृति और राज्य की शक्ति की आवश्यकता होती है।

5. कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में ही अधिकार विद्यमान हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

6. अधिकार स्थायी नहीं होते बल्कि विकासशील होते हैं। इनका स्वरूप और क्षेत्र सभ्यता के विकास के साथ बदलता रहता है।

7. अधिकार निश्चित होते हैं अर्थात् उन्हें परिभाषित किया जा सकता है। मूल अधिकारों का स्वरूप वाद-योग्य होता है।

8. अधिकार असीमित नहीं होते। उनका आधार सामाजिक सदाचार और औचित्य होता है।

अधिकारों के प्रकार

अधिकार मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं (i) नैतिक अधिकार और (ii) वैधानिक अधिकार।

(i) **नैतिक अधिकार** (Moral Rights)—नैतिक अधिकार व्यक्ति के नैतिक जीवन और नैतिक आचरण से सम्बन्ध रखते हैं। इनके पीछे समाज, जनमत, प्रथा, लोकाचार या औचित्य की अनुमति होती है। इनके पीछे राज्य या विधि की शक्ति नहीं होती। न्यायालय इन्हें लागू नहीं करती और इनकी उल्लंघना करने पर कोई शारीरिक, धन सम्बन्धी या अन्य किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता। समाज इनकी उल्लंघन करने वाले का बहिष्कार कर सकता है परन्तु उसे शारीरिक दण्ड नहीं दे सकता। उदाहरणतः माता-पिता द्वारा बच्चों का पोषण, उनकी सुरक्षा, शिक्षा-दीक्षा, आदि तथा वृद्धावस्था में बच्चों द्वारा माता-पिता की देख-भाल एक दूसरे के नैतिक अधिकार हैं। यदि माता-पिता या बच्चे एक दूसरे की देखभाल नहीं करते तो इसके कारण किसी को दण्ड नहीं दिया जा सकता।

(ii) **वैधानिक अधिकार** (Legal Rights)—वैधानिक अधिकारों को राज्य स्वीकार करता है। इन्हें विधियों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। इन्हें न्यायालय लागू करती है। जैसाकि **लीकॉक** ने कहा है कि "वैधानिक अधिकार एक विशेषाधिकार है जिसे नागरिक अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त करता है। राज्य की सर्वोच्च सत्ता उसे यह अधिकार प्रदान करती है और वही सत्ता इस अधिकार को सुरक्षित रखती है।" वैधानिक अधिकार की उल्लंघना करने पर दण्ड दिया जा सकता है।

वैधानिक अधिकारों को दो भागों में बांटा जा सकता है : (A) राजनीतिक अधिकार, (B) नागरिक या सामाजिक अधिकार।

(A) **राजनीतिक अधिकार** Political Rights)—राजनीतिक अधिकार व्यक्ति को राज्य का नागरिक होने से प्राप्त होते हैं। इनके माध्यम से नागरिक राज्य के कार्यों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भाग ले सकता है। ये नागरिक को राज्य के शासन

में साझेदार बनाते हैं। ये लोकतन्त्र के मूल आधार हैं। इनके अभाव में लोकतांत्रिक शासन विद्यमान नहीं हो सकता।

नागरिकों के राजनीतिक अधिकार मुख्यतः निम्न हैं—

1. मताधिकार—मताधिकार नागरिकों का सर्वोत्तम राजनीतिक अधिकार है। अपने मतों की अभिव्यक्ति से नागरिक शासकों की नीतियों के पक्ष या विपक्ष में मत प्रकट कर सकते हैं। प्रतिनिधि शासन में प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये मताधिकार एक अनिवार्य आवश्यकता है। लेखक इस बात पर एकमत नहीं कि मताधिकार वयस्क हो या कि इसे सम्पत्ति, शिक्षा, सामाजिक स्तर या करों की अदायगी आदि पर आधारित किया जाये। **जे० एस० मिल** जैसे लेखक मताधिकार के लिये शिक्षा और करों की अदायगी की योग्यताओं पर बल देते हैं परन्तु वर्तमान समय में सभी देशों में सार्वजनिक वयस्क मताधिकार ही विद्यमान है। सभी देशों में जाति, वर्ग, लिंग, सम्पत्ति, भाषा, क्षेत्र या अन्य किसी आधार पर भेदभाव किये बिना सभी को वयस्क मताधिकार प्राप्त होता है। कुछ देशों में 21 वर्ष की आयु वाले स्त्री-पुरुष को वयस्क माना जाता है, कुछ में 20 वर्ष वालों को और कुछ में 18 वर्ष वालों को ही वयस्क माना जाता है। विदेशियों, नाबालिगों, अपराधियों, दिवालियों, पागलों को मताधिकार प्राप्त नहीं होता।

2. निर्वाचन लड़ने का अधिकार—निर्वाचन लड़ने का अधिकार मताधिकार का ही उप-अधिकार है। निर्वाचन लड़ने के लिये प्रत्येक देश में आयु और शिक्षा सम्बन्धी कुछ न्यूनतम योग्यतायें निर्धारित की जाती हैं। यह इसलिये किया जाता है कि पूर्णतः अयोग्य और अनभिज्ञ व्यक्ति विधान मण्डल के सदस्य न बन सकें।

3. सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार—सार्वजनिक पदों पर किसी एक व्यक्ति, परिवार, वर्ग या समूह का विशेषाधिकार नहीं होता। सभी सार्वजनिक पद सभी नागरिकों के लिये समान रूप से खुले रहते हैं। अनिवार्य योग्यतायें होने पर कोई भी नागरिक बिना किसी भेदभाव के उन्हें प्राप्त कर सकता है।

4. प्रार्थना पत्र देने का अधिकार—लोकतन्त्र में इस अधिकार का अत्यधिक महत्त्व है। इसके माध्यम से नागरिक जहां अपने कष्टों और शिकायतों को शासन तक पहुंचा सकते हैं वहां शासन अपनी नीतियों और प्रोग्रामों के सम्बन्ध में नागरिकों की प्रतिक्रियायें जान सकता है। इससे दोहरा लाभ होता है। एक तो लोकतन्त्र के "स्वामियों" को अपने विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है और दूसरे नीतियों को जनहित में ढालना सम्भव होता है। शासन और लोगों के चिन्तन में एकरूपता होने से सामाजिक अस्थिरता उत्पन्न नहीं होती।

5. आलोचना करने का अधिकार—लोकतान्त्रिक शासन आलोचना पर आधारित शासन होता है। आलोचना के माध्यम से शासन की नीतियों की कमियों को प्रकाश में लाया जा सकता है; विरोध को संगठित किया जा सकता है तथा उदासीन शासन को सक्रिय एवं कुशल बनाया जा सकता है।

6. निवास का अधिकार—प्रत्येक नागरिक को राज्य के किसी क्षेत्र या भाग में रहने का अधिकार होता है। यदि किसी नागरिक की किसी स्थान विशेष पर उपस्थिति सार्वजनिक शान्ति या सुरक्षा के लिये खतरा होती है तो राज्य उसे वह स्थान छोड़ने के लिये कह सकता है। विदेशियों को राज्य में स्थायी निवास का अधिकार नहीं होता।

7. सुरक्षा का अधिकार—जब कोई नागरिक किसी दूसरे देश में भ्रमण या किसी अन्य कार्य के लिये जाता है और उसे वहां कोई क्षति पहुँचती है तथा वहां की सरकार उसे कोई संरक्षण प्रदान नहीं करती तो वह अपने राज्य से सुरक्षा की मांग कर सकता है।

(B) सामाजिक अधिकार या नागरिक स्वतन्त्रताएँ—नागरिक अधिकार या स्वतन्त्रतायें व्यक्ति के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। राजनीतिक अधिकारों और नागरिक अधिकारों में मुख्य अन्तर यह है कि जहां राजनीतिक अधिकार नागरिकों के मताधिकार, सार्वजनिक पद की प्राप्ति अथवा राज्य के कार्यों में साझेदारी से सम्बन्धि होते हैं, वहां नागरिक अधिकार नागरिकों के "निजी अधिकारों" से सम्बन्धित होते हैं जो उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हैं। इन्हें सभ्य, स्वतन्त्र, लोकतान्त्रिक राज्यों के अभिन्न अंग समझा जाता है। **इनके अभाव में व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है, समाज की प्रगति कुण्ठित हो जाती है और सत्य का गला घुट जाता है—**

नागरिक अधिकारों की पूर्ण सूची तैयार करना कठिन है। सभ्यता के विकास के साथ इसके स्वरूप एवं क्षेत्र में परिर्तवन होता रहता है। प्रमुख नागरिक अधिकार या स्वतन्त्रतायें निम्न हैं।

1. जीवन का अधिकार—जीवन का अधिकार सर्वोत्तम महत्त्व का अधिकार है। यह मौलिक आधारभूत अधिकार है। यह व्यक्ति को अपने जीवन, शरीर, शरीरांगों आदि का उपयोग करने का आश्वासन देता है। यदि व्यक्ति का जीवन सुरक्षित न हो तो उसके शेष सभी अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं। यही कारण है कि आधुनिक राज्य अपनी विधियों द्वारा व्यक्ति को जीवन सुरक्षा का आश्वासन देते हैं। जीवन के अधिकार में आत्मरक्षा का अधिकार शामिल है। आत्मा रक्षा के लिये प्रयोग की गई हिंसा दण्डनीय अपराध नहीं। परन्तु आत्महत्या दण्डनीय अपराध है।

2. परिवार का अधिकार—परिवार वंश परम्परा और मानव जाति को बनाये रखने के लिये अति आवश्यक है। यह व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि, उसकी आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसमें नैतिक एवं सामाजिक गुणों के विकास के लिये युगों-युगों से महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था रही है। अतः सभी राज्यों में परिवार के अधिकार को स्वीकार किया जाता है। इसमें

विवाह, सन्तानोत्पत्ति, बच्चों के पालन-पोषण के अधिकार शामिल हैं। जीवन-साथी के चयन में भी नागरिकों को स्वतन्त्रता होती है परन्तु बहु-विवाह, द्विपत्नी या द्विपतित्व प्रथाओं, विवाह-विच्छेद, बच्चों की अभिरक्षा, पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा आदि को राज्य नियन्त्रित कर सकता है।

3. समानता का अधिकार—समानता मानव जाति की महान उपलब्धि और प्रजातन्त्र की आधारशिला है। समानता का अर्थ है कि सभी व्यक्ति राज्य के कानून के समक्ष समान हैं और सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त है। किसी व्यक्ति का पद या स्थिति कुछ भी हो कानून की दृष्टि में सभी समान हैं। **दूसरे** राज्य कानून द्वारा धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग, जन्म स्थान या अन्य किसी आधार पर नागरिकों में कोई भिन्नता नहीं करता। सार्वजनिक सेवाओं एवं पदों के द्वार बिना किसी भेद-भाव के सभी नागरिकों के लिये खुले रहते हैं। **तीसरे,** सभी को सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त हो अर्थात् समाज में अस्पृश्यता और जाति भेद की भिन्नतायें न हों और उनके पास इतने आर्थिक साधन अवश्य हों कि वे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिये दूसरों की दया पर निर्भर न रहें। व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन होना चाहिये।

4. स्वतन्त्रता का अधिकार—स्वतन्त्रता व्यक्ति की मूल्यवान सम्पत्ति है। इसके अभाव में व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता और व्यक्ति समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में कार्य नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता का अधिकार केवल जीवन और निजी स्वतन्त्रता की मांग नहीं करता। यह उन सभी साधनों की स्वतन्त्रता की मांग करता है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकता है तथा उनका प्रसार कर सकता है। इसमें भाषण, अभिव्यक्ति, लेखनी, समाचार-पत्रों, चित्रपट, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि की स्वतन्त्रता शामिल है। इसमें सार्वजनिक सभाओं, जुलूसों, प्रदर्शनों आदि की स्वतन्त्रता शामिल है। इनमें संघ-समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता शामिल है। इसमें स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने, राज्य के किसी भाग में बस जाने एवं किसी कारोबार को अपनाने की स्वतन्त्रता शामिल है। परन्तु व्यक्ति की ये स्वतन्त्रतायें असीमित नहीं होतीं। राज्य सुरक्षा, व्यवस्था, शिष्टता, नैतिकता आदि के नाम पर इन्हें मर्यादित कर सकता है।

5. समुदाय एवं संघ बनाने की स्वतन्त्रता—व्यक्ति स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। वह मिलकर कार्य करता है। वह उन लोगों से मिलकर कार्य करता है जिनसे उसके विचार और हित मिलते हैं। राज्य एक समुदाय है परन्तु वह व्यक्ति की पूर्ण सामुदायिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति नहीं करता। अतः व्यक्ति अपने सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, धार्मिक आदि हितों की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न समुदायों, संघों आदि का निर्माण करता है। परन्तु राज्य अनैतिक, विध्वंसकारी एवं राष्ट्रविरोधी संघों के निर्माण की स्वतन्त्रता नहीं दे सकता।

6. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—धार्मिक स्वतंत्रता व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार किसी धर्म को अपनाने, उसका प्रचार करने, उसके लिये संस्थाओं का निर्माण करने आदि की स्वतंत्रता प्रदान करती है। राज्य धर्म को व्यक्ति का "निजी क्षेत्र" समझता है और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता एवं तटस्थता की नीति अपनाता है परन्तु धार्मिक स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि धार्मिक स्वतंत्रता की आड़ में धर्म अनैतिकता या वैमनस्य पैदा करे। जब कभी धर्म सामाजिक उत्पात पैदा करता है या ऐसी स्थितियां पैदा करता है कि सामाजिक नैतिकता, सार्वजनिक स्वास्थ्य या सार्वजनिक कल्याण में बाधा पड़ती है तो राज्य सर्वदा ऐसे कार्य को मर्यादित करने के लिये अपने आपको स्वतंत्र समझता है।

7. सम्पत्ति का अधिकार—यह अधिक नागरिकों को सम्पत्ति के अर्जन, धारण और खर्च करने का अधिकार देता है। यह नागरिकों को सम्पत्ति के स्वामित्व और उससे उत्पन्न होने वाले लाभों को प्राप्त करने का अधिकार देता है। नागरिक सम्पत्ति को रख सकते हैं, बेच सकते हैं; गिरवी रख सकते हैं, पट्टे पर दे सकते हैं, उसका आदान-प्रदान कर सकते हैं, उसे उपहार में दे सकते हैं, उसके सम्बन्ध में इच्छा-पत्र लिख सकते हैं, उसका हस्तान्तरण कर सकते हैं तथा उसके उत्तराधिकार को निश्चित कर सकते हैं, आदि।

सम्पत्ति के अधिकार की धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि सम्पत्ति जीवित रहने के लिये आवश्यक शर्त है। यह आत्मसिद्धि और आत्म-अभिव्यक्ति का साधन है। यह कार्य की प्रेरणा का स्रोत, परोपकार का साधन और आनन्द प्राप्ति का आधार है।

सम्पत्ति जहां सुख, समृद्धि और प्रेरणा का स्रोत है वहां यह शोषण, अन्याय भिन्नता और विषमता का साधन भी है। यही कारण है कि जहां साम्यवादी देशों में सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व होता है वहां लोकतान्त्रिक समाजवादी राज्यों में उस पर नियन्त्रण रहता है।

8. कार्य का अधिकार—कार्य करने का अधिकार व्यक्ति के जीवन के अधिकार का ही एक उप अधिकार है। कार्य के अभाव में व्यक्ति उन चीजों से वंचित रह जाता है जिनसे उनके व्यक्तित्व की सिद्धि होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को कोई विशेष कार्य प्राप्त करने का अधिकार है परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि व्यक्ति को उसकी योग्यताओं एवं क्षमताओं के अनुरूप कार्य प्राप्त हो। उसे वह कार्य प्राप्त हो जो उसकी अभिरुचि के रूप है। उसे कार्य के लिये न्यूनतम मजदूरी या 'पर्याप्त वेतन' भी प्राप्त होना चाहिये।

कार्य का अधिकार जीवन के अस्तित्व के लिये आवश्यक होने पर भी इसे सभी राज्यों में नागरिकों के अधिकार पत्र में स्वीकार नहीं किया गया। केवल सोवियत संघ का संविधान ही व्यक्ति के कार्य के अधिकार को स्वीकार करता है।

वहां कार्य करना एक कर्त्तव्य है। वहां यह कहावत प्रसिद्ध है कि "जो कार्य नहीं करता उसे भोजन प्राप्त करने का अधिकार भी नहीं।" इटली और जापान जैसे देशों में कार्य के अधिकार को स्वीकार किया गया है परन्तु वहां बेरोजगारी की समस्या गम्भीर है। भारत में कार्य करने का अधिकार नागरिकों का मूल अधिकार नहीं। यहां इसे राज्य के नीति निदेशक तत्वों में लिखा गया है जो वादयोग्य नहीं हैं।

9. अनुबन्ध का अधिकार—सामान्य हित में दूसरों के साथ मिलकर कार्य करना सभ्य जीवन की विशेषता है। अतः राज्य नागरिकों के इस अधिकार को स्वीकार करता है कि नागरिक स्वतन्त्रतापूर्वक पारस्परिक हित में अनुबन्ध या समझौते करें। परन्तु नागरिकों का यह अधिकार निरपेक्ष नहीं। राज्य ऐसे अनुबन्धों की स्वतन्त्रता नहीं दे सकता जो अनैतिक या समाज के लिए हानिकारक हैं या एक पक्ष की असहाय स्थिति का परिणाम है।

10. शिक्षा का अधिकार—शिक्षा मानसिक भोजन है जिसके अभाव में व्यक्ति अपने सामाजिक और नागरिक कार्यों को भांली-भाति नहीं कर सकता। जैसाकि लास्की ने कहा है कि **"जो नागरिक शिक्षित नहीं वह निश्चय ही दूसरों का दास रहेगा। वह अपने सहकर्मियों को आश्वस्त नहीं कर सकता, वह उन मार्गों का समुचित निर्देशन नहीं कर सकता जो उसमें श्रेष्ठ योग्यता पैदा कर सकते हैं, वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण उत्कर्ष नहीं कर सकता····वह रचनात्मक जीवन का निर्वाह नहीं कर सकता।"** शिक्षा के अभाव में व्यक्ति राज्य के कार्यों में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता, राजनीतिक समस्याओं को समझ नहीं सकता; शासन की रचनात्मक आलोचना नहीं कर सकता, निर्वाचनों में प्रत्याशियों का सही चयन नहीं कर सकता आदि। जे. एस. मिल ने ठीक कहा है कि **"सार्वजनिक मताधिकार से पूर्व सार्वजनिक शिक्षा के द्वार सभी के लिए खुले होने चाहिये।"** शिक्षा व्यक्ति में निडरता, साहस और सहनशीलता उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। यही कारण है कि आधुनिक राज्यों में शिक्षा की व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है। प्रारम्भिक शिक्षा प्रायः निःशुल्क होती है। उच्च शिक्षा के लिए भिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियों, अनुदान आदि की व्यवस्था की जाती है।

मूल अधिकार

अर्थ एवं स्वरूप—मूल अधिकारों को नागरिकों के विकास के लिए अति आवश्यक समझा जाता है। ये वे नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रतायें हैं जिन्हें राज्य के संविधान में उल्लिखित किया जाता है। **ये संविधान का अभिन्न अंग होने से पवित्र होते हैं।** शासन का कोई अंग इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। **ये निषेधाज्ञायें होती हैं जो शासन की शक्तियों को मर्यादित करती हैं।** न्यायालय मूल अधिकारों की सुरक्षा करता है और अभिलेख एवं निषेधाज्ञायें जारी करके शासन को किसी कार्य को करने या न करने के लिए कह सकता है।

नागरिकों के अन्य अधिकारों की भाँति मूल अधिकार भी अमर्यादित नहीं होते। राज्य सामान्य हित में या शान्ति और सुरक्षा के लिए इन्हें मर्यादित कर सकता है परन्तु **मर्यादायें न्यायोचित ही हो सकती हैं।** सामान्यतः आपात स्थिति या अन्य विशिष्ट स्थिति में ही इन्हें मर्यादित किया जाता है। सामान्य स्थिति में इन पर कोई मर्यादायें नहीं लगाई जातीं। यदि कोई कार्यपालिका आदेश या व्यवस्थापिका का कानून नागरिकों के मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।

मूल अधिकारों की विशेषतायें—मूल अधिकारों की प्रमुख विशेषतायें निम्न होती हैं—

1. ये नागरिकों की मूल आवश्यकतायें हैं। इन्हें मूल अधिकारों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

2. ये संविधान द्वारा प्रदत्त एवं सुरक्षित होते हैं। इन्हें संविधान में उल्लिखित किया जाता है।

3. ये निषेधाज्ञायें हैं जो राज्य की पुलिस शक्ति को मर्यादित करती हैं।
4. इनका कार्यपालिका या व्यवस्थापिका अतिक्रमण नहीं कर सकती।
5. इनका अतिक्रमण होने पर नागरिक न्यायालय का संरक्षण ले सकते हैं।
6. इनकी सुरक्षा हेतु न्यायालय लेख जारी कर सकता है।

7. इनमें संशोधन के लिए संविधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है।

8. इन्हें आपात स्थिति में मर्यादित किया जा सकता है।

मूल अधिकारों की अवधारणा का विकास—मूल अधिकारों की आवधारणा का विकास उदारवादी और लोकतांत्रिक अवधारणाओं के साथ हुआ है इसका विकास संविधानवाद, विधि का शासन और उत्तरदायी शासन की भावना के विकास के साथ हुआ है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि सत्ता मर्यादित होनी चाहिये और उसके दुरुपयोग के विरुद्ध उपचार उपलब्ध होने चाहिये।

आधुनिक लोकतांत्रिक सरकारें प्रतिनिधि सरकारें होती हैं। प्रतिनिधि सरकारें विधान मण्डल में बहुमत पर आधारित होती हैं और बहुमत सुदृढ़ राजनीतिक दलों की मांग करता है। यह सम्भावना कि सत्तारूढ़ दल बहुमत के नशे में सत्ता का दुरुपयोग कर सकता है अथवा निरंकुश प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे सकता है और नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रताओं के साथ खिलवाड़ कर सकता है अतः। संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख होना चाहिये जिनका न तो कार्यपालिका और न व्यवस्थापिका उल्लंघन कर सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश में अल्पसंख्यकों की समस्या गम्भीर होती है और उन्हें आश्वासन देने की आवश्यकता होती है।

अतः अल्पसंख्यकों को यह आश्वासन देने के लिए कि उनके अधिकार संविधान द्वारा सुरक्षित हैं, उन्हें संविधान में लिपिबद्ध कर दिया जाता है ।

क्या व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार होना चाहिए ?

लेखकों में इस प्रश्न पर एक मत का अभाव है कि क्या व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार होना चाहिये ? **वोदां, हॉब्स,, और फिल्मर** जैसे निरपेक्ष सम्प्रभुता के सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि व्यक्ति को राजाज्ञाओं की पालना करनी चाहिये अन्यथा व्यक्ति पुनः प्राकृतिक अवस्था में अर्थात् असुरक्षित एवं अव्यवस्थित अवस्था में पहुँच जायेंगे । दूसरी ओर, **व्यक्तिवादी जान लॉक, उदार आदर्शवादी टी. एच. ग्रीन, बहुलवादी लास्की और अहिंसावादी गांधी** जैसे लेखकों का मत है कि जब तक शासक राज्य के नैतिक उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं अर्थात् जब तक शासकों की नीतियां एवं राजाज्ञायें सामान्य कल्याण के लिए हैं और वे जन इच्छा की अभिव्यक्ति करती हैं तब तक व्यक्ति या समाज को राजाज्ञाओं की उल्लंघना करने का कोई अधिकार नहीं। यदि राजाज्ञायें सामान्य कल्याण के विपरीत हैं और शासकों या वर्गीय हितों की पूर्ति करती हैं तो व्यक्ति और समाज दोनों को उनके विरुद्ध विद्रोह करने का नैतिक अधिकार और कर्त्तव्य दोनों है ।

लॉक ने अपनी रचना "शासन पर द्वितीय निबन्ध" में लिखा है कि "यदि कोई व्यक्ति समाज या व्यक्ति समूह के अधिकारों को नष्ट करने की चेष्टा और योजना बनाता है, यहां तक कि यदि उस समाज के विधायक भी इतने मूर्ख या दुष्ट हो जायें कि वे लोगों की स्वतन्त्रताओं और सम्पत्तियों का अपहरण करने लगें तो समाज अपने आपको बचाने के लिए सर्वोच्च शक्ति सतत् अपने पास रखता है ।" **लॉक** की धारणा है कि लोग अनुबन्ध द्वारा जिस शक्ति को अपने शासकों को हस्तान्तरित करते हैं वह शासन संचालन की शक्ति है जो एक विश्वास, ट्रस्ट या धरोहर है और जब कभी शासक लोगों के साथ विश्वासघात करते हैं तो लोग अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं । लॉक के अनुसार लोगों का बहुमत इस बात का निर्णय करेगा कि शासन भ्रष्ट है या नहीं अर्थात् शासन न्यायोचित है या नहीं । **लॉक** लिखता है कि शक्ति का औचित्य यह है कि वह व्यक्तियों के नैतिक अधिकारों को मान्यता दे । जब वह ऐसा नहीं करती तो निरंकुश एवं अत्याचारी शासक को पदच्युत करने का अधिकार लोगों के पास है । **लॉक** इस बात पर बल देता है कि भ्रष्ट शासकों को पदच्युत करने के लिए संवैधानिक साधनों का प्रयोग करना चाहिये परन्तु यदि भ्रष्ट शासक अपने आपको सत्ता में बनाये रखने के लिए लोगों के विरोध को हिंसक साधनों से दबाते हैं तो लोगों को ऐसे शासकों से बचने के लिए हिंसक साधनों का प्रयोग करना चाहिये ।

ग्रीन की धारणा है कि यदि राज्य अपना नैतिक उद्देश्य पूरा कर रहा है तो उनके विरुद्ध व्यक्ति के किसी अधिकार को स्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु

जहां कानून सार्वजनिक हितों की उल्लंघना करते हैं और एक गुट के हितों की सुरक्षा करते हैं तो वहां नागरिकों को न केवल कानून का विरोध करने का अधिकार है वल्कि कर्त्तव्य भी है। **ग्रीन** की धारणा है कि प्रतिरोध वाध्य नहीं, यह न्याय है और केवल सार्वजनिक हित में न्याय है। ग्रीन लिखता है कि जो लोग प्रतिरोध करते हैं उन्हें निश्चित सामाजिक भलाई को वताना पड़ता है जो उनके प्रतिरोध से उत्पन्न होती है। **ग्रीन** कहता है कि "सम्भवतः राज्य जो करता है वह ठीक ही करता है क्योंकि उसके पास युगों-युगों का संचित अनुभव है; उसके कार्यों में त्रुटि की संभावना नहीं। अतः व्यक्तियों को थोड़े से हितों की प्राप्ति के लिए युगों के संचित अनुभव का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये।" परन्तु ग्रीन इस सम्वन्ध में भी विल्कुल स्पष्ट है कि यदि विशेष परिस्थितियां विद्यमान हैं तो व्यक्ति को कानूनों की उल्लंघना करने में ही सन्तोष होना चाहिये। **ग्रीन** लिखता है कि "जहां आदेश की वैधता पर शंका है; जहां इसे खण्डित करने के साधन उपलव्ध नहीं हैं, जहां प्रशासन का सारा ढांचा ही इतना बुरा हो गया है कि स्वार्थी हितों के कारण दूषित वन गया है, जहां ऐसे दूषित शासन के निरन्तर वने रहने से अस्थाई अराजकता अच्छी है तो इन परिस्थितियों में ही प्रशासन की उल्लंघना करनी चाहिये।" इस तरह **ग्रीन शासन के पथभ्रष्ट होने पर अर्थात् उसके अन्यायी, अत्याचारी और दमनकारी होने पर व्यक्ति को प्रतिरोध का अधिकार देता है।**

अहिंसक गांधी और वहुलवादी लास्की का मत है कि व्यक्ति का सर्वोत्तम कर्त्तव्य अपनी आत्मा के प्रति सच्चा होना है। **गांधीजी** ने कहा है कि "हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपनी अन्तःआत्मा के प्रति शुद्ध होना है।" "यह हमारे पुरुषत्व के विरुद्ध है कि हम उन नियमों का पालन करें जो हमारी आत्मा के विरुद्ध हैं।" **गांधीजी** लिखते हैं कि "मैं राज्य के कानूनों का सम्मान करता हूँ परन्तु मैं उच्चतम कानून—अन्तःआत्मा की आवाज—की पालना करता हूं।" **लास्की** की धारणा है कि राज्य और कानून दोनों का मूल उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना है और यदि वे इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते तो उन्हें व्यक्ति की भक्ति की आशा नहीं रखनी चाहिए।

आलोचना और प्रतिरोध लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की कसौटी है। इसमें लोगों को निर्वाचनों के माध्यम से उस शासन को अपदस्थ करने का वैधानिक अधिकार होता है जो उसके नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहती है। संक्षेप में, **व्यक्ति को सार्वजनिक कल्याण और नैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजाज्ञाओं का प्रतिरोध करने का अधिकार है।**

लोकतान्त्रिक और समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिकारों का स्वरूप

लोकतांत्रिक और समाजवादी (मार्क्सवादी, साम्यवादी) राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिकारों की धारणा, प्रकृति, स्वरूप और क्षेत्र में भिन्नता पायी जाती

है। उदाहरणतः लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में अधिकारों की धारणा व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के महत्त्व, गौरव और प्रतिष्ठा पर आधारित होती है। दूसरी ओर, समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में अधिकारों की धारणा समाज और उसके हित एवं गौरव पर आधारित होती है। **दूसरे**, जहां समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों को लोकतान्त्रिक व्यवस्था के मूल आधार स्वीकार किया जाता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्राकृतिक और स्वाभाविक समझा जाता है वहाँ समाजवादी व्यवस्था में समानता, यदि वहां समानता विद्यमान होती है, शक्तिशाली शासन के प्रति समान अधीनता की समानता है।[1] समाजवादी व्यवस्था "व्यक्ति के किन्हीं प्राकृतिक, स्वाभाविक या अहरणीय अधिकारों को स्वीकार नहीं करती। यहां आलोचना और विरोध प्रायः अनुपस्थित होता है। **तीसरे**, लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अधिकार किसी अवधारणा से चिपके हुए नहीं होते। नागरिक किसी भी अवधारणा के आधार पर अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्था में अधिकार समाजवादी अवधारणा से मर्यादित होते हैं अर्थात् नागरिक अधिकारों का उपयोग समाजवादी व्यवस्था को स्थिर, सुदृढ़ और सुरक्षित रखने के लिए कर सकते हैं, उसके विरुद्ध नागरिकों को कोई अधिकार नहीं होते। **चौथे**, लोकतान्त्रिक व्यवस्था विधि के शासन, संविधानवाद, उत्तरदायित्व की भावना और स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायालयों पर आधारित होती है। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्था इन्हें बुर्जुआ व्यवस्थायें कहकर अस्वीकार करती हैं। **पांचवें** लोकतान्त्रिक व्यवस्था जहां नागरिक अधिकारों पर बल देती है वहां समाजवादी व्यवस्था नागरिक कर्त्तव्यों पर बल देती है।

लोकतान्त्रिक और समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिकारों के स्वरूप में पाई जाने वाली मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

1. नागरिक बनाम आर्थिक स्वतन्त्रता—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिकों की नागरिक स्वतन्त्रताओं पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें नागरिकों की भाषण, अभिव्यक्ति, संघ और समूह बनाने की स्वतन्त्रताओं पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें प्रेस स्वतन्त्र होता है। इसमें आलोचना और विरोध को स्वीकार किया जाता है; इसमें नागरिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित हो सकते हैं। इसमें सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया जाता है। दूसरी ओर, **समाजवादी व्यवस्था में नागरिकों के आर्थिक अधिकारों पर बल** दिया जाता है। इसमें नागरिकों को कार्य, विश्राम और सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इसमें समाजवाद विरोधी विचारों को पनपने की

---

1. See Corry. J. A. and Hodgetts. J. E. ; Democratic Government and Politice P. 61,

स्वतन्त्रता नहीं दी जाती। इसमें नागरिक समाजवाद विरोधी संगठनों का निर्माण नहीं कर सकते।

2. **अवधारणा में अन्तर**—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अधिकारों को किसी अवधारणा के साथ नहीं जोड़ा जाता और न ही उन्हें किसी अमुक विचारधारा को अपनाने के लिए कहा जाता है। इसमें नागरिक किसी विचारधारा को अपना सकते हैं, किसी का खण्डन कर सकते हैं और किसी के विकास के लिए संगठन बना सकते हैं। इसमें यदि नागरिकों पर कोई प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं तो वे शान्ति, व्यवस्था और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए ही लगाये जाते हैं। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्था में नागरिकों के अधिकारों को समाजवादी अवधारणा से जोड़ा जाता है और उन्हें समाजवादी विचारधारा को सुदृढ़ एवं विकसित करने के लिए कहा जाता है। इसमें समाजवाद विरोधी तत्त्वों को देशद्रोहिता की संज्ञा दी जाती है। इसमें विरोधियों को श्रमिक शिविरों में भेज दिया जाता है या उन्हें देश-निकाला दे दिया जाता है।

3. **अधिकारों और कर्त्तव्यों के स्वरूप में अन्तर**—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिक अधिकारों का संविधान में उल्लेख किया जाता है, परन्तु उसमें नागरिक कर्त्तव्यों का सामान्यतः उल्लेख नहीं किया जाता। कर्त्तव्यों को अधिकारों में अन्तर्निहित समझा जाता है। उदाहरणतः यदि लोकतान्त्रिक संविधान नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करता है तो वह नागरिकों से यह अपेक्षा भी करता है कि वे दूसरे नागरिकों के इसी प्रकार के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करें। इसी तरह यदि राज्य नागरिकों के जीवन की रक्षा करता है तो नागरिकों का यह स्वाभाविक कर्त्तव्य समझा जाता है कि वे युद्ध या आक्रमण की स्थिति में सेना में भरती होकर या अन्य किसी तरीके से राज्य की सुरक्षा करें। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था में संविधान में नागरिक अधिकारों के साथ उनके कर्त्तव्य का उल्लेख किया जाता है। ब्रेझनेव संविधान के **अध्याय 7** का शीर्षक ही "नागरिकों के मूल अधिकार, स्वतन्त्रतायें एवं कर्त्तव्य है।"

4. **संगठनात्मक अधिकारों में अन्तर**—लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में सैनिक और हिंसक संगठनों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के संगठनों, संघों एवं समूहों के निर्माण का अधिकार होता है। इसमें नागरिक भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों, आर्थिक एवं श्रमिक संघों, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समूहों और सामाजिक समुदायों का निर्माण कर सकते हैं। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्था में नागरिक सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से तो संगठित हो सकते हैं, परन्तु उन्हें भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले राजनीतिक दलों के निर्माण का अधिकार नहीं होता। उदाहरणतः

सोवियत संघ में केवल साम्यवादी दल को राजनीतिक रूप में संगठित होने का अधिकार है।

5. उद्देश्यों एवं साधनों में अन्तर—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकारों की व्यवस्था तो होती है परन्तु इसमें उन साधनों का आश्वासन नहीं दिया जाता जिनसे विकास सम्भव होता है। उदाहरणतः इसमें भाषण और विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तो होती है परन्तु आर्थिक एवं शिक्षा की स्वतन्त्रता का आश्वासन नहीं होता जिसमें नागरिक स्वतन्त्रतायें वास्तविक बन सकती हैं। यही कारण है कि इसमें बेरोजगारी, दरिद्रता और निरक्षरता के कारण नागरिक स्वतन्त्रतायें मिथ्या बनकर रह जाती हैं। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्थ में नागरिकों को आर्थिक स्वतन्त्रताओं का आश्वासन होता है। उन्हें वे साधन भी प्रदान किये जाते हैं जिनमें वे स्वतन्त्रतायें सार्थक बन सकती हैं। उदाहरणतः यदि सोवियत संघ अपने नागरिकों को कार्य का आश्वासन देता है तो वह यह व्यवस्था भी करता है कि सभी को कार्य प्राप्त हो।

6. अधिकारों की सुरक्षा व्यवस्था में अन्तर—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है और जब कभी व्यवस्थापिका या कार्यपालिक नागरिक अधिकारों पर अतिक्रमण करती है तो न्यायपालिका नागरिकों को संरक्षण प्रदान कर सकती है। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था में नागरिकों अधिकारों की सुरक्षा के लिए कोई स्वतन्त्र या निष्पक्ष व्यवस्था नहीं होती। इसमें न्यायालय नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्थापित नहीं किये जाते बल्कि समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करने और उसके शत्रुओं को दण्डित करने के लिए स्थापित किये जाते हैं। इसमें न्यायालय संविधान की सुरक्षा या व्याख्या नहीं करता।

7. सम्पत्ति की धारणा में अन्तर—लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया जाता है। इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति को कार्य की प्रेरणा का स्रोत, व्यक्ति के विकास का आधार, बुढ़ापे या असहाय अवस्था का सहारा ओर परोपकारिता की भावना के विकास के लिए आवश्यक समझा जाता है। दूसरी ओर, सम्माजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाज में शोषण, अन्याय और अत्याचार का आधार समझा जाता है। इसमें सम्पत्ति का सामाजीकरण कर दिया जाता है।

अधिकारों के सिद्धान्त

अधिकारों के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

1. प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त
(Theory fo Natural Rights)

अर्थ—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत की मान्यता है कि अधिकार राज्य से स्वतन्त्र और पूर्व हैं; व्यक्ति अधिकारों को राज्य या किसी अन्य मानवीय संस्था से

[illegible] नहीं करता। वह इन्हें प्रकृति से प्राप्त करता है। ये उसके जन्मसिद्ध, स्वाभाविक एवं प्राकृतिक अधिकार हैं। जैसाकि हेकर ने लिखा है कि, "व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं; वे उसके जन्म से ही अपरिवर्तनीय हैं और जीवन पर्यन्त उन्हें हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।"

प्राकृतिक अधिकारों के सामान्य लक्षण—सी० ई० एम० जोड ने अपनी रचना "राजनीतिक तथा नैतिकता के दर्शन के निर्देश" में प्राकृतिक अधिकारों के निम्न लक्षण बताये हैं—

(1) समाज या व्यवस्थित जीवन की स्थापना से पूर्व भी लोगों का जीवन था जिसे प्राकृतिक अवस्था कहा जा सकता है।

(2) प्राकृतिक अवस्था में लोगों के कुछ अधिकार थे। इस विषय में विचारकों में एकमत का अभाव है कि ये अधिकार क्या और कितने थे। लॉक के अनुसार ये अधिकार जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से सम्बन्धित थे।

(3) प्राकृतिक अधिकार साध्य स्वरूप हैं। य उन्नत जीवन की वे अनिवार्य दशायें हैं जिनके अभाव में व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जायेगा।

(4) समाज या राज्य का निर्माण इन अधिकारों की रक्षा हेतु हुआ है अर्थात् समाज या राज्य एक कृत्रिम अर्थात् मानव निर्मित संस्था है। अधिकार समाज या राज्य द्वारा निर्मित नहीं होते। व्यक्ति समाज में प्रवेश करते समय इन्हें उसी प्रकार अपने साथ ले आता है जिस प्रकार लकड़हारे जंगल से घर लौटते समय अपनी पीठ पर लकड़ियों की गठरी ले आते हैं।

(5) यदि समाज या राज्य इन अधिकारों का संरक्षण या पोषण नहीं करता तो लोगों को विद्रोह करने का अधिकार है।

प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करने वाले लेखक एवं घोषणाएँ---प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन अनेक दार्शनिकों ने किया है। **ग्रीस में स्टाइक दार्शनिक** प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक थे। **रोमन लेखकों** का मत था कि सभी मानव प्रकृति द्वारा उत्पन्न जीवन के कुछ सामान्य नियमों के अधीन हैं जिन्हें वे प्राकृतिक नियम कहते थे। **सिसरो** ने लिखा है कि "संसार में एक सार्वजनिक और विश्व-व्यापी नियम है जो बुद्धि और विवेक के अनुसार व्यक्तियों और प्रकृति में समान रूप से देखा जा सकता है। प्राकृतिक नियम व्यक्तियों और ईश्वर दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं क्योंकि सभी विवेकशील हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त पर्याप्त महत्त्व रखता है, विशेषकर उस स्थिति में जब विश्व में सभी प्राणियों में समानता और भ्रातृत्व की भावना का विकास हो रहा है।" **मध्य युग** में प्राकृतिक अधिकारों के विकास में रुकावट पैदा हो गई थी। **चर्च के समर्थक** दैवी कानूनों और चर्च के कानूनों की बात करते थे, प्राकृतिक कानूनों की नहीं।

प्राकृतिक अधिकारों के समर्थकों में लॉक प्रमुख है। उसने अपनी रचना **'शासन पर दो निबन्ध'** में स्पष्ट लिखा है कि "मानवीय अन्तःप्रेरणाओं में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति सर्वोत्तम प्रवृत्ति है और जो कुछ भी इसकी सुरक्षा के लिए बुद्धि-संगत है वही प्राकृतिक कानूनों के अनुसार विशेषाधिकार है।" **लॉक** लिखता है कि "व्यक्ति प्रकृति से स्वतन्त्र और समान है" अर्थात् "विवेक और बुद्धि ही उसे इस बात का ज्ञान देती है कि वह किसी व्यक्ति के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति का अतिक्रमण न करे।" **लॉक** सम्पत्ति के अधिकार को इतना महत्त्व देता है कि वह इसे अन्य सभी प्राकृतिक अधिकारों के समान मानता है और समाज को उसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व सौंपता है। **लॉक** लिखता है कि **"व्यक्तियों के समाज में प्रवेश करने का कारण ही अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।"**

ए. आर. लार्ड ने अपनी रचना **"राजनीति के सिद्धान्त"** में लिखा है कि "प्राकृतिक अधिकार, मानवीय या किसी अन्य व्यवस्था द्वारा स्वीकृत, वे सुविधायें हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए वाँछनीय हैं.........वाँछित व्यवस्था वही है जिसमें सर्वांगीण विकास सुलभ हो।" **थॉमस पेन** का मत है कि "स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा और दमन का प्रतिरोध करने का अधिकार प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित है..........ये ऐसे अधिकार हैं जिन्हें सृष्टि के समय ही ईश्वर ने मानव को समर्पित कर दिये थे।" **अमरीकी स्वतन्त्रता की घोषणा** में कहा गया है कि "सब (व्यक्ति) जन्म से स्वतन्त्र हैं। उन्हें ईश्वर से कुछ अदेय अधिकार प्राप्त हैं।" **फ्रांस की संविधान सभा ने 1789** में मानव के अधिकारों की घोषणा में मानव के "प्राकृतिक, अहरणीय और पवित्र अधिकारों" की बात कही है। **संयुक्त राष्ट्र संघ** की महासभा द्वारा 1948 के **मानव अधिकारों के सार्वभौम घोषणा-पत्र** में जिन 30 मानव अधिकारों की घोषणा की गई है वे प्राकृतिक अधिकारों के अनुरूप हैं। प्राकृतिक अधिकारों को देशों के संविधान में वर्णित नागरिक के मूल अधिकारों में भी देखा जा सकता है।

आलोचना (Criticism)—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के प्रमुख आलोचकों में उपयोगितावादी-व्यक्तिवादी जर्मी बेन्थम, रूढ़िवादी एडमण्ड बर्क और उदार आदर्शवादी टी. एच. ग्रीन हैं। **जर्मी बेन्थम** के अनुसार "प्राकृतिक अधिकार अस्पष्ट, भावुक, मिथ्या, अनुचित और अनुपयोगी हैं।" उसके लिए अधिकार सम्प्रभुता के परिणाम हैं अर्थात् अधिकारों का स्रोत प्रकृति नहीं, सम्प्रभु या प्रभुसत्ता हैं। **बेन्थम** प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के स्थान पर अधिकारों के वैध सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है कि "ईश्वर प्रदत्त, स्वतः सिद्ध तथा शाश्वत प्राकृतिक अधिकार भले ही तत्त्वज्ञान की सूझ हों परन्तु वे हमारे यथार्थ राजनीतिक

जीवन के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं।"[1] बर्क की धारणा है कि अधिकारों का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन से है। अतः उनकी दार्शनिक व्याख्या अनुचित है। उसका कहना है कि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में अतीत, परम्पराओं, ऐतिहासिक अनुभूतियों, पूर्वजों के कार्यो आदि की उपेक्षा है। वह उन अधिकारों को निकृष्ट मानता है जिनका उद्देश्य अनन्य परम्पराओं, स्थापित व्यवस्थाओं, सर्वसम्मत विधियों तथा पुरातन आदर्शों को नष्ट करना है। **टी. एच. ग्रीन** ने प्राकृतिक अधिकारों के विरुद्ध तीन आपत्तियाँ की हैं। **प्रथम,** यह सिद्धान्त संकुचित व्यक्तिवाद पर आधारित है। **दूसरे,** यह राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है। **तीसरे,** इसमें लोकहित और कर्त्तव्य-निर्वाह की भावनाओं का अभाव है। **ग्रीन** की मान्यता है कि जहाँ अधिकारों का आदर्शात्मक और नैतिक स्वरूप है वहाँ उनका सामाजिक स्वरूप भी है। अधिकार सामाजिकता की उत्पत्ति है अर्थात् समाज का सदस्य होने से ही व्यक्ति को अधिकार प्राप्त होते हैं। वह उनका उपयोग समाज कल्याण की भावना से करता है जिसमें उसका स्वयं का कल्याण निहित है। स्वयं का हित और परहित की सम्यक् अनुभूति तथा तदनुसार कार्य करने का संकल्प अधिकारों का आधार है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं—

1. अस्पष्ट—प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त अस्पष्ट है। पहले तो यह स्पष्ट नहीं कि इसका अर्थ मानव की प्रकृति से है या कि विश्व की प्रकृति से। दूसरे, लेखकों में एक मत का अभाव होने के कारण प्राकृतिक शब्द की सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। कुछ का कहना है कि प्राकृतिक शब्द प्रारम्भिक अवस्था अर्थात् अविकसित अवस्था को अभिव्यक्त करता है। अरस्तू जैसे लेखकों का मत है कि यह विकास और विकासशीलता को अभिव्यक्त करता है अर्थात् यह एक सृजनात्मक शक्ति है, यह विश्व का उर्वर सिद्धान्त है। कुछ का मत है कि यह आदर्श सिद्धान्त है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या शाश्वत को अभिव्यक्त करता है। प्राकृतिक अधिकारों की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें होने के कारण भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं और 'प्रकृति' के अर्थों में भिन्नता के साथ ही प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या बदल जाती है।

2. प्राकृतिक अधिकारों की सूची तैयार करना कठिन—प्राकृतिक अधिकारों की कोई सुनिश्चित सूची तैयार करना कठिन है। उदाहरणतः समानता और स्वतन्त्रता की लोकतान्त्रिक और समाजवादी व्यवस्थायें भिन्न-भिन्न हैं। जहाँ पूँजीवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में सम्पत्ति को मानव का स्वाभाविक गुण माना जाता है जो उसके कार्य की प्रेरणा का स्रोत और परोपकारी भावनाओं के विकास का

---

1. देखिए जोशी, कृष्णचन्द : राजनीति शास्त्र (ओरिएण्ट लागमन लि.) पृ. 178।

आधार है वहाँ समाजवादी व्यवस्थाओं में व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण, अन्याय और अत्याचार का आधार है। **दूसरे**-**अरस्तू** जैसे दार्शनिक के लिए दास और दास प्रथा प्राकृतिक थी वहाँ आज इसकी भर्त्सना की जाती है। **तीसरे**, समानता के अधिकार को सभ्य जगत ने स्वीकार कर लिया है फिर भी विश्व में रंग भेद की समस्या गम्भीर है।

3. अनुचित—प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त अनुचित है। यह स्वीकार करना कठिन है कि समाज का सदस्य बनने से पूर्व व्यक्ति के पास प्राकृतिक अधिकार थे। प्रकृति मानव को जो चीज प्रदान करती है वह 'शक्ति' है, अधिकार नहीं। अधिकार समाज की पूर्व कल्पना करते हैं। जैसाकि **गिलक्राइस्ट** ने लिखा है कि **"अधिकारों की उत्पत्ति इस तथ्य से होती है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है।"** **बोसांके** ने लिखा है कि **"अधिकार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तथा राज्य द्वारा लागू की गई माँगें हैं।"** अधिकारों की कार्यान्विति के लिए अधिकार सत्ता का होना आवश्यक है। **वाइल्ड** ने लिखा है कि "विधि अधिकारों की सृष्टि नहीं करती परन्तु उन्हें स्वीकार करती है और इस तरह उन्हें सुरक्षित रखती है।"

4. कर्त्तव्यों की उपेक्षा—प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त व्यक्ति के अधि-[illegible]ो बात तो करता है परन्तु उसके कर्त्तव्यों की उपेक्षा करता है। कर्त्तव्यों [illegible]ाव में अधिकारों के उच्छृंखल होने का भय रहता है। अधिकारों में कर्त्तव्य [illegible]निहित हैं। वे एक सिक्के के दो पहलू हैं; उन्हें पृथक् करना कठिन है।

5. राज्य की उपेक्षा—प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राज्य को एक [illegible] संस्था मानता है जबकि यह एक स्वाभाविक, नैसर्गिक और प्राकृतिक संस्था [illegible] **अरस्तू** लिखता है कि राज्य इस रूप में प्राकृतिक है कि उसके बिना और उसके बाहर मानव अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी प्राकृतिक अधिकारों का ऐतिहासिक महत्त्व है। इन्होंने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के क्षेत्र में एकता, आशा और सक्रिय संगठन को प्रोत्साहन दिया है। ये निरंकुशता और उत्पीड़न से छुटकारा पाने के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों के लिए आदर्श और प्रेरक रहे हैं। इनके नाम पर विश्व की दलित मानवता राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, समानता आदि की माँग करती रही है।

2. अधिकारों का वैध सिद्धान्त
(The Legal Theory of Rights)

अर्थ—अधिकारों के वैध सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार न तो स्वतः सिद्ध हैं जैसाकि प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक मानते हैं और न ये परम्परा की वपौती हैं जैसाकि अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त का समर्थन करने वाले मानते हैं। **इसकी धारणा है कि अधिकारों का मूल स्रोत राज्य है** जो विधि द्वारा अधिकारों

को उत्पन्न, परिभाषित एवं निश्चित करता है, उनका क्षेत्र निर्धारित करता है, उनकी व्याख्या एवं पोषण करता है, उनके उपयोग का आश्वासन देता है, उनकी सुरक्षा के लिए व्यवस्था करता है और उन्हें नियमित, नियन्त्रित एवं परिवर्तित करता है। इसका समर्थन करने वाले हॉब्स, ऑस्टिन, हालैण्ड, बेन्थम जैसे लेखकों का मत है कि सम्प्रभुता राज्य का अनिवार्य, स्थायी और सर्वोच्च लक्षण है। विधि सम्प्रभु का आदेश है। विधि की परिधि से परे या विधि के विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। व्यक्ति के अधिकार विधि द्वारा सुरक्षित एवं मर्यादित हैं। यह ठीक कहा गया है कि "राज्य के विरुद्ध अधिकारों को रखना मानो व्यक्ति को सर्वथा अधिकार विहीन बनाना है।"

अधिकारों के वैध सिद्धान्त के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

(i) अधिकार जन्मजात या स्वयं सिद्ध नहीं।

(ii) अधिकार निरपेक्ष या अन्तर्निहित नहीं हैं, ये सापेक्ष हैं।

(iii) अधिकारों का आधार राज्य निर्मित विधियाँ हैं।

(iv) अधिकारों का स्वरूप एवं क्षेत्र राज्य की विधियों द्वारा मर्यादित है।

(v) राज्य के विरुद्ध व्यक्तियों को कोई अधिकार नहीं।

आलोचना—इस सिद्धान्त की बहुलवादियों और आदर्शवादियों ने कटु आलोचना की है। बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता पर प्रहार करते हैं। उनके अनुसार राज्य एक समुदाय है और व्यक्ति को अधिकार राज्य की सदस्यता से प्राप्त नहीं होते बल्कि समाज में विद्यमान भिन्न-भिन्न समुदायों की सदस्यता से भी प्राप्त होते हैं। बहुलवादी राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार करते हैं। **लास्की** की धारणा है कि राज्य अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता, वह उन्हें केवल मान्यता प्रदान करता है। **टी. एच. ग्रीन** बेन्थम के इस कथन को स्वीकार नहीं करता कि "अधिकार विधि की उपज है।" **ग्रीन के अनुसार, "अधिकार नैतिकता की उपज है, विधि की नहीं; जिस मान्यता से ग्रीन सम्बन्धित है वह व्यवस्थापिका नहीं, सामान्य नैतिक चेतना है।"**

वैध अधिकारों के सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं—

1. दार्शनिकता का अभाव—यह सिद्धान्त अधिकारों के दार्शनिक स्वरूप को व्यक्त नहीं करता। यह इस बात की तो व्याख्या करता है कि व्यक्ति को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त हैं परन्तु यह इस बात की व्याख्या नहीं करता कि राज्य की विधियों में जिन अधिकारों को स्वीकार किया गया है, क्या वे स्वीकार करने योग्य हैं या नहीं।

2. संकीर्ण दृष्टिकोण—यह सिद्धान्त विधि को अधिकारों का एक मात्र स्रोत मानता है जबकि अनुभव यह सिद्ध करता है कि नैतिकता और प्रथायें भी अधिकारों के प्रमुख स्रोत हैं। **सालमण्ड** ने ठीक लिखा है कि "**यदि हम माता-पिता की बुढ़ापे में या दु:खी एवं डूबते हुए व्यक्ति की सहायता न करें तो यह एक भयंकर एवं भ्रमपूर्ण**

स्थिति होगी।" यदि राज्य दुराचरण को मान्यता भी प्रदान कर दे तो वह अधिकार की श्रेणी में नहीं आता। प्रथाएँ कानून का मूल आधार हैं। वस्तुतः प्राचीन कानून प्रथाओं पर ही आधारित थे। आज भी कानून या राज्य के कार्य प्रथाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते। **वाइल्ड** ने लिखा है कि, **"अधिकारों का अस्तित्व स्वतः रहता है चाहे उसे वैध स्वरूप प्राप्त हो या न हो।"**

3. **निरंकुशता का भय**—राज्य को अधिकारों का एक मात्र स्रोत मान लेना खतरे से खाली नहीं। यह जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है वहाँ यह राज्य को निरंकुश भी बना सकता है। व्यक्ति को पूर्णतः राज्य की दया का पात्र बना देना और उसे अत्याचारी विधियों के प्रतिरोध के अधिकार से वंचित रखना खतरनाक है।

4. अधिकारों के पोषण के लिए केवल राज्य शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिए औचित्य की आवश्यकता होती है। **बोसांके** ने लिखा है कि "अधिकारों में वैधानिक और नैतिक दोनों तत्त्व शामिल होने चाहिए।" अधिकारों के अस्तित्व के लिए मानव समाज के सदस्यों में आदत, स्वभाव, रुचि और परम्परा की आवश्यकता है। भले और बुरे में अन्तर देखने की हमारी दृष्टि ही अधिकारों का आधार है।

5. अधिकारों का स्वरूप स्थायी नहीं होता, वह परिवर्तनशील होता है जो समय, परिस्थिति और सभ्यता के स्तर के साथ परिवर्तित होता रहता है।

3. अधिकारों का समाज कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त
(The Social Welfare Theory of Rights)

अर्थ—अधिकारों के समाज कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार समाज की उत्पत्ति हैं। अतः उसका उपयोग समाज के उच्चतम उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होना चाहिए। अधिकारों का उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों को सुखी बनाना है, अतः अधिकारों का प्रयोग इस भाँति होना चाहिए कि समाज कल्याण की वृद्धि हो। अधिकार सामान्य भलाई हेतु दी गई सुविधायें हैं। सामाजिक उपयोगिता के अभाव में अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं।

अधिकारों के समाज कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं—**रास्को पाउण्ड, चैफी, बेन्थम, मिल, लास्की** आदि। लास्की, पाउण्ड और चैफी का मत है कि समाज कल्याण की शर्तों के रूप में राज्य अधिकारों का समर्थन करता है। अतः प्राकृतिक अधिकारों, विधियों और प्रथाओं को समाज कल्याण के समक्ष आत्म—समर्पण करना चाहिए। **बेन्थम** ने अधिकारों का समर्थन **'उपयोगिता'** और **'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख'** के सिद्धान्त के आधार पर किया है। वह कहता है कि विधि निर्माण के समय विधायक को इन दोनों सिद्धान्तों पर बल देना चाहिए अर्थात् विधायक को उन्हीं विधियों का निर्माण करना चाहिए जिनसे अधिकतम

व्यक्तियों को सुख मिलता हो। वेन्थम कहता है कि जो वस्तुएँ व्यक्ति को सुख देती हैं और जिनसे उसका दुःख कम होता है वे उसके अधिकार बन जाती हैं। उपयोगितावादियों ने राज्य के कार्यों को आंकने के लिए "उपयोगिता" रूपी मानक प्रदान किया है। लॉस्की ने अधिकारों के 'उपयोगी' स्वरूप को स्वीकार किया है। वह लिखता है कि "सामाजिक उपयोगिता के अभाव में अधिकार अर्थहीन हैं।" एक अन्य स्थान पर लास्की ने लिखा है कि "सामान्य कल्याण के विरुद्ध मेरे कोई अधिकार नहीं।"

आलोचना—समाज कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनाएँ निम्न हैं—

1. अस्पष्ट और अनिश्चित—यह सिद्धान्त अस्पष्ट एवं अनिश्चित है। "समाज कल्याण", "उपयोगिता" और "अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख" को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। यदि संख्यात्मक बहुमत, प्रतिनिधि सदनों और "लोकमत" को समाज कल्याण मान लिया जाये तो इतिहास उन घटनाओं से भरपूर है जहाँ संख्यात्मक बहुमत ने अल्पसंख्यकों का दमन किया, प्रतिनिधि सदनों ने अत्याचारी विधियाँ पारित की और 'लोकमत' भ्रमजाल-मात्र बनकर रह गये।

2. निरंकुशता पनपने का भय—इतिहास इस बात का साक्षी है कि शासकों ने समाज कल्याण के नाम पर अपनी सत्ता को सुदृढ़ किया तथा राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यवस्था के नाम पर अपनी ही निर्दोष जनता पर अमानुषिक अत्याचार किये। केवल अधिनायकवादी या मार्क्सवादी राज्यों में ही नहीं, लोकतान्त्रिक राज्यों में भी समाज कल्याण के नाम पर व्यक्तियों के अधिकारों का ह्रास हुआ है। उदाहरणतः हिटलर ने लाखों यहूदियों को गैस-चेम्बर में राख कर दिया; याह्या खां ने अपने ही नागरिकों पर पूर्वी पाकिस्तान में (जो अब बांगला देश है) अत्याचार किये और उन्हें शरणार्थी बना दिया; भारत में 1975–77 की आपात-स्थिति के दौरान निर्दोष नागरिकों पर निर्मम अत्याचार ढाये गये।

3. इस सिद्धान्त की त्रुटि यह है कि यह इस बात की तुलना नहीं करता कि व्यक्तिगत कल्याण और सामाजिक कल्याण में संघर्ष हो सकता है और यदि दोनों में कोई संघर्ष है तो उसे दूर कैसे किया जा सकता है। वाइल्ड ने ठीक लिखा है कि, "यदि अधिकारों की उत्पत्ति सामाजिक स्वीकृति से होती है तो व्यक्ति के पास प्रार्थना करने का अधिकार भी नहीं रहेगा और उसे विवश होकर समाज की मनमानी इच्छा पर निर्भर रहना पड़ेगा।"

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी इस सिद्धान्त की अच्छाई यह है कि यह समाज कल्याण को प्राथमिकता देता है और उन विधियों के निर्माण पर बल देता है जो समाज कल्याण में वृद्धि करती है। इस सिद्धान्त ने राज्य के स्वरूप को बदल

दिया है। आधुनिक राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य है, पुलिस राज्य नहीं। इस सिद्धान्त का यह पहलू औचित्यपूर्ण एवं सन्तोषजनक है।

4. अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त
(The Historical Theory of Rights)

अर्थ—अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार इतिहास की उपज हैं अर्थात् अधिकार ऐतिहासिक विकास के परिणाम हैं। व्यक्ति जिन स्वतन्त्रताओं का उपयोग सामाजिक रीति-रिवाजों, प्रथाओं, लोकाचारों आदि के कारण करता है, वे समय पाकर उसके अधिकार बन जाते हैं। **प्रो. रिची** ने कहा है कि "वे अधिकार जिन्हें लोग सोचते हैं कि उन्हें अवश्य प्राप्त होने चाहिए। वे जिन्हें प्राप्त करने के आदी हो गये हैं या जिन्हें प्राप्त करना परम्परा बन गई है तथा प्राचीन कानून हैं।"

इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि युगों-युगों से पीढ़ी दर पीढ़ी, व्यक्ति ने सामान्य हित की अनेक परम्पराओं का विकास किया है जो अलिखित नियमों के रूप में सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर बन गये हैं। इन्हें प्रथागत अधिकार या प्रथागत कानून कहते हैं। ये सामाजिक, राजनीतिक और संवैधानिक सम्बन्धों को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित करते हैं। उदाहरणतः इंगलैण्ड की संसदात्मक शासन प्रणाली प्रथाओं पर आधारित है। इन्हें संवैधानिक परम्पराओं की संज्ञा दी जाती है। बर्क का मत है कि "जहाँ फ्रांस की राज्य क्रान्ति व्यक्तियों के निरपेक्ष अधिकारों पर आधारित थी वहां इंगलैण्ड की 1688 की रक्तहीन क्रान्ति अंग्रेजों के प्रथागत अधिकारों पर आधारित थी। वस्तुतः इंगलैण्ड का सम्पूर्ण संवैधानिक इतिहास "स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष है।" इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह मत है कि प्राकृतिक अधिकारों के पीछे प्रथाओं की स्वीकृति होती है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं—

1. सभी अधिकार प्रथाओं की उपज नहीं होते—व्यक्ति आज जिन अधिकारों का उपयोग करते हैं, वे सभी प्रथाओं से उत्पन्न नहीं हुए। बहुत-से अधिकार ऐसे हैं जैसे जीविकोपार्जन का अधिकार, सामाजिक न्याय प्राप्त करने का अधिकार, कानून के समक्ष समानता का अधिकार, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार आदि जिनका स्रोत प्रथा नहीं बल्कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधियाँ हैं। यदि प्रथाओं को अधिकारों का एकमात्र स्रोत मान लिया जाये तो समाज की गतिशीलता नष्ट हो जायेगी और वांछित सुधारों को कार्यान्वित करना कठिन हो जायेगा। अधिकारों का प्रमुख स्रोत विधियाँ हैं, प्रथायें नहीं।

2. प्रगति एवं सुधार में बाधक—इतिहास में अनेक ऐसी प्रथायें विद्यमान रही हैं जो न तो विवेक संगत हैं और न बुद्धि संगत। कुछ प्रथायें घातक भी रही हैं, जैसे यूनान में दास प्रथा, भारत में अस्पृश्यता और यूरोप तथा दक्षिणी अफ्रीका

में रंगभेद नीति। अमरीका में नीग्रोस को संवैधानिक समानता होते हुए भी सामाजिक समानता प्राप्त नहीं हो सकी। इस प्रकार की प्रथायें निश्चित ही विनाशकारी हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति के कुछ अधिकार ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं। ये अधिकार रीति-रिवाजों और प्रथाओं में निहित हैं।

5. अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त
(The Idealist Theory of Rights)

अर्थ—इस सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार '**आन्तरिक विकास की वाह्य परिस्थितियाँ हैं।**" व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ अनुकूल वाह्य परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। अधिकार वे अनुकूल परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें राज्य उत्पन्न करता है। **क्रास** (Krause) ने कहा है कि "अधिकार समस्त वाह्य अवस्था है जो बौद्धिक जीवन के लिए आवश्यक है। यह अधिकारों को नैतिक दृष्टि से देखता है और उन्हें व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ जोड़ देता है। यह राज्य को रहस्यमयी सीमाओं तक पहुँचा देता है। **हीगल** ने कहा है कि "राज्य पृथ्वी पर ईश्वरीय स्वरूप है।" क्योंकि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर बल देता है, अतः इसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी कहते हैं और क्योंकि यह अमूर्त एवं आध्यात्मिक धारणाओं पर भी आधारित है, अतः इसे आदर्शवादी सिद्धान्त भी कहते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त के समर्थकों, विशेषकर **क्रास और टी. एच. ग्रीन** की धारणा है कि "अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें व्यक्ति का नैतिक विकास सम्भव है और व्यक्ति यह विकास समाज के सदस्य के रूप में करता है, उससे बाहर या उसके विरुद्ध नहीं।" जैसाकि **ग्रीन** ने लिखा है कि "आत्मा केवल अपनी भलाई नहीं सोचती; वह दूसरों के साथ सम्बन्धों में अपनी भलाई सोचती है।" समाज व्यक्ति की माँगों को ठीक उसी प्रकार मान्यता देता है जिस प्रकार वह समाज के अन्य सदस्यों की माँगों को मान्यता देता है। इस तरह सामान्य चेतना पर आधारित माँगें वे माँगें हैं जिन्हें समाज पहले ही स्वीकार कर चुका है और वे माँगें जो समाज स्वीकार कर चुका है, तब मान्य होती हैं जब राज्य उन्हें लागू कर देता है। इस तरह यह सिद्धान्त अधिकारों की नैतिक और लोकतान्त्रिक भावनाओं से प्रेरित है और अधिकारों के वैधानिक पहलू की अपेक्षा उनके नैतिक पहलू पर अधिक बल देता है। **काण्ट** ने लिखा है कि "व्यक्ति को दूसरे के उद्देश्य का साधन नहीं समझना चाहिए।"

अधिकारों के आदर्श सिद्धान्त के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. अधिकार व्यक्ति की समाज से वह माँग है जो उसके विकास के लिए अनिवार्य है।

2. यह मांग तभी अधिकार का रूप धारण करती है जब समाज इसे स्वीकार कर लेता है। सामाजिक स्वीकृति के अभाव में व्यक्ति की मांग अधिकार नहीं हो सकती।

3. व्यक्ति की मांग सार्वजनिक कल्याण की भावना से प्रेरित होती है जिसमें उसका स्वयं का कल्याण निहित है।

4. समाज द्वारा स्वीकृत मांगें तभी सार्थक होती हैं जब राज्य शक्ति द्वारा इनकी रक्षा करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लेता है।

आलोचना—इस सिद्धांत की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं:—

1. उन सब परिस्थितियों या आवश्यकताओं को इंगित करना कठिन है जो व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यकतायें व्यक्तिनिष्ठ वस्तुयें हैं जिनसे किसी सामान्य सिद्धांत की स्थापना नहीं की जा सकती। एक व्यक्ति की आवश्यकतायें दूसरे व्यक्ति से मेल भी नहीं खातीं।

2. यह राज्य को रहस्यमयी सीमाओं तक पहुँचा कर उसे निरंकुश बना देता है। **हीगल** के आदर्शवाद ने **जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी** जैसे अधिनायकों को जन्म दिया था। उन्होंने जातीय या राष्ट्रीय हितों के नाम पर व्यक्ति के हितों और स्वतन्त्रताओं का बलिदान दे दिया था। यह व्यक्ति से निर्बाध भक्ति की माँग करता है जो खतरनाक हो सकती है।

3. यह इस बात को समझ नहीं सका कि व्यक्तिगत कल्याण और समाज कल्याण में संघर्ष हो सकता है और यदि संघर्ष है तो उसमें समन्वय कैसे स्थापित किया जायेगा।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी इस सिद्धान्त की मूल देन यह है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर बल देता है। इसकी यह धारणा सत्य के निकट है कि मानव व्यक्तित्व से सभी अधिकार उत्पन्न होते हैं।

(ब) कर्त्तव्य

अर्थ (Meaning)—किसी कार्य को करने या न करने के दायित्व को कर्त्तव्य कहते हैं। इस अर्थ में कर्त्तव्य के दो रूप हैं—(i) सकारात्मक कर्त्तव्य और (ii) नकारात्मक कर्त्तव्य। जब किसी कर्त्तव्य की पालना से सामान्य हित या कल्याण की वृद्धि होती है तो उसे सकारात्मक कर्त्तव्य कहते हैं। उदाहरणत: राजाज्ञाओं की पालना, राज्य के प्रति निष्ठा, करों का भुगतान, शांति और व्यवस्था बनाये रखने में सार्वजनिक पदाधिकारियों की सहायता आदि नागरिक के सकारात्मक कर्त्तव्य हैं। दूसरी ओर, जब नागरिक राज्य की निषेधाज्ञाओं का पालन करता है तो उसे नकारात्मक कर्त्तव्य कहते हैं। उदाहरणत: जब राज्य नागरिक को किसी दूसरे

नागरिक के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से मना करता है और नागरिक इसका पालन करते हैं तो उसे नकारात्मक कर्त्तव्य कहते हैं।

कर्त्तव्यो के प्रकार—अधिकारों की भांति कर्त्तव्य भी दो प्रकार के हैं : (i) नैतिक और (ii) वैधानिक। नैतिक **कर्त्तव्यों** को व्यक्ति नैतिकता के आधार पर स्वीकार करता है तथा उनका पालन करता है। इन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्रदान नहीं की जाती। इनके पीछे समाज की नैतिक शक्ति होती है, राज्य की पशु शक्ति नहीं। इनकी उपेक्षा या उल्लंघना होने पर राज्य व्यक्ति को दण्डित नहीं करता। उदाहरणत: दूसरों का आदर करना, बड़ों की आज्ञाओं का पालन करना, सच बोलना, आदि व्यक्ति के नैतिक कर्त्तव्य हैं। **वैधानिक कर्त्तव्य** के पीछे राज्य की पशु शक्ति होती है। नागरिक इनकी उपेक्षा या उल्लंघना नहीं कर सकते। इन्हें राज्य की विधियों द्वारा लागू किया जाता है। इनकी उल्लंघना करने पर राज्य दण्ड दे सकता है। उदाहरणत: करों का समय पर भुगतान करना नागरिकों का वैधानिक कर्त्तव्य है।

नागरिकों के मुख्य कर्त्तव्य निम्न हैं—

(A) **राज्य के प्रति कर्त्तव्य**—नागरिकों के राज्य के प्रति प्रमुख कर्त्तव्य निम्न हैं—

1. राज्य के प्रति कर्त्तव्य—राज्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखना, उसके प्रति विश्वासघात न करना, उसकी स्वाधीनता की रक्षा करना आदि नागरिक के सर्वोत्तम कर्त्तव्य हैं। उदाहरणत: युद्ध और बाह्य आक्रमण की स्थिति में देश की रक्षा करना, सेना में भर्ती होना, सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना; अपराधियों को खोजने में, रोगों के उन्मूलन में, अनैतिक, असामाजिक और विघटनकारी प्रवृत्तियों के दमन में सार्वजनिक पदाधिकारियों की सहायता करना; भ्रष्टाचार को दूर करने में राज्य की सहायता करना, दीवानी और फौजदारी मुकदमों में सही गवाही देना तथा न्यायालय के समक्ष सही तथ्यों को प्रस्तुत करना और न्याय व्यवस्था में सहायता देना, आदि नागरिक के कर्त्तव्य हैं। यदि नागरिकों में योग्यता है और उन्हें निमन्त्रण दिया जाता है तो सार्वजनिक पदों को प्राप्त करना, बच्चों को शिक्षित करना, आसपास के वातावरण को स्वच्छ रखना, निर्धनों की सहायता करना भी नागरिक के कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों की पालना से राज्य सुरक्षित और स्थिर रहते हैं।

2. कानूनों के प्रति भक्ति—नागरिकों की राज्य के कानूनों के प्रति भक्ति स्वाभाविक होनी चाहिए बाध्यकारी नहीं। भक्ति जितनी मात्रा में स्वाभाविक होगी राज्य में उतनी मात्रा में शांति और व्यवस्था का वातावरण रहेगा। यदि भक्ति बाध्यकारी है या भय पर आधारित है तो वह सतत् नहीं रहेगी। राजाज्ञा की अवज्ञा करने वालों को दण्डित किया जाना चाहिए। अवज्ञा एक भयानक रोग है जो अव्यवस्था, अराजकता और अनुशासनहीनता को पैदा करता है।

3. मताधिकार का सही प्रयोग—मताधिकार केवल अधिकार ही नहीं, यह कर्त्तव्य भी है। यह एक धरोहर है, एक विश्वास है जिसका प्रयोग राष्ट्रीय हित में और समाज कल्याण के लिए होना चाहिए, वर्ग, जाति या दल के हित में नहीं। नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वह मताधिकार का समुचित प्रयोग करें और निर्वाचनों में ऐसे प्रतिनिधियों का निर्वाचन करें जो सामाजिक भावनाओं से ओत-प्रोत हों

4. करों का भुगतान—कोई भी शासन धन के अभाव में कार्य नहीं कर सकता। अतः नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे करों का सही भुगतान करें ताकि राज्य लोक-कल्याणकारी योजनाओं को कार्यान्वित कर सके।

(B) स्वयं के प्रति कर्त्तव्य—नागरिकों का प्रथम कर्त्तव्य तो स्वयं के प्रति है। उन्हें अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना चाहिए। जितनी मात्रा में नागरिक स्वावलम्बी, चरित्रवान और आत्मसंयमी होंगे उतनी मात्रा में राज्य स्वावलम्बी, सुदृढ़ और व्यवस्थित होगा।

(C) परिवार, समुदाय एवं ग्राम के प्रति कर्त्तव्य—व्यक्ति परिवार का सदस्य होता है। वह अपना जीवन समुदाय में व्यतीत करता है। वह ग्राम का निवासी होता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह परिवार को समृद्धिशाली बनाये, समुदाय को उसके अन्धविश्वासों से छुटकारा दिलाये और ग्रामवासियों की सेवा करे। व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने तुच्छ हितों को समाज के हितों पर न्यौछावर कर दें।

(D) समानता के प्रति कर्त्तव्य—व्यक्ति का मानव जाति के प्रति कर्त्तव्य है कि वह विश्व बन्धुत्व की भावनाओं का विकास करे, युद्ध की विचारधारा का अंत करने में सहयोग दे और राज्यों की स्वतन्त्रता के लिए साम्राज्यवाद और रंग-भेद का विरोध करे आदि।

अधिकार और कर्त्तव्य में सम्बन्ध

अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इन्हें पृथक् करना इन्हें खण्डित करना है। यदि कहीं अधिकार हैं पर कर्त्तव्य नहीं तो अधिकारों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा क्योंकि फिर वहाँ जो वस्तु विद्यमान होगी वह अधिकार नहीं "शक्ति" होगी और शक्ति अधिकार नहीं। दूसरी ओर, यदि कहीं कर्त्तव्य हैं पर अधिकार नहीं तो वहाँ "दासत्व" का बोलबाला होगा जो मानव के विकास और समाज की समृद्धि के लिए हानिकारक होगा।

अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक गाड़ी के दो पहिये, एक सिक्के के दो पहलू, एक पदार्थ के दो पार्श्व, एक प्राण और दो शरीर हैं। दोनों एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं।

दोनों का चोली-दामन का साथ है। दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अधिकारों में कर्त्तव्य शामिल हैं। दोनों सह-सम्बन्धित हैं। कर्त्तव्यों के अभाव में अधिकार अर्थहीन हैं। कर्त्तव्य अधिकार की पूर्वदशा है। जैसाकि **महात्मा गांधी** ने कहा है कि "यदि हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तो अधिकार हमें स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। यदि कर्त्तव्यों की उपेक्षा करके अधिकारों के पीछे दौड़ते हैं तो बालू की भीत' की भांति के हमसे बचकर निकल जायेंगे। जितना हम उनका पीछा करेंगे उतना ही वे हमसे दूर भाग जायेंगे" **वाइल्ड** ने लिखा है कि **"कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का महत्त्व है।" लास्की का मत है कि "मेरे अधिकार में आपका कर्त्तव्य निहित है" डॉ. श्रीनिवास शास्त्री का मत है कि "अधिकारों का अन्त कर्त्तव्यों में होता है।" डॉ. बेनीप्रसाद** का मत है "अधिकार शुद्ध रूप से व्यक्तिगत विषय नहीं हो सकते। तत्वतः वे सहकारी हैं। सहकारिता से ही वे अस्तित्व में लाये जाते हैं और सहकारिता से ही उन्हें जीवित रखा जाता है...अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं-दोनों सामाजिक हैं। दोनों साथ-साथ रहते हैं।"

अधिकार और कर्त्तव्य का सह-अस्तित्व स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिये अनिवार्य है। यदि ऐसा न हो तो समाज में अव्यवस्था और अराजकता फैलने का भय रहता है। देखने में दोनों एक-दूसरे के विपरीत नजर आते हैं परन्तु दोनों एक हैं। उदाहरणतः ऐसा दिखाई देता है कि मेरा अधिकार दूसरों की कीमत पर है और मेरा कर्त्तव्य दूसरों के लाभ के लिए है परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि दोनों मानव की सामाजिक प्रकृति के परिणाम हैं। दोनों में कोई विरोध नहीं और दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं। यदि राज्य मुझे अधिकार प्रदान करता है तो वह उनकी रक्षा भी करता है। अधिकारों में यह निहित है कि दूसरे नागरिक मेरे अधिकारों का अतिक्रमण न करें और वे उनका सम्मान करें, क्योंकि राज्य दूसरे व्यक्तियों को भी वही अधिकार देता है जो मुझे प्रदान करता है अतः मुझे भी दूसरे व्यक्तियों के उन्हीं अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

अधिकार और कर्त्तव्य की पारस्परिक निर्भरता को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

1. अधिकारों का सामाजिक स्वरूप—अधिकारों का स्वरूप सामाजिक है एकाकी नहीं। व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप में अधिकार प्राप्त होते हैं। समाज से बाहर या समाज के विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। शून्य या प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं होते। प्रकृति व्यक्ति को शक्ति प्रदान करती है अधिकार नहीं। अधिकारों की कल्पना दूसरों के सन्दर्भ में की जा सकती है और दूसरों का सन्दर्भ ही कर्त्तव्यों को जन्म देता है।

2. अधिकारों का नैतिक उद्देश्य—अधिकारों का उद्देश्य नैतिक है स्वार्थ-सिद्धि नहीं। उन्हें इसलिए प्रदान किया जाता है कि व्यक्ति उनका प्रयोग उचित ढंग

से और समाज कल्याण की भावना से करे। व्यक्ति को अधिकार इसलिए नहीं दिये जाते कि वह अपने स्वार्थों को पूरा करे। उसे अधिकार आत्म विकास और समाज कल्याण के लिए दिये जाते हैं। व्यक्ति को अपने अधिकारों का उपयोग इस भाँति करना चाहिए कि उसका और समाज दोनों का कल्याण हो और दोनों अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त कर सकें। इस तरह अधिकारों का एक नैतिक उद्देश्य है। **लास्की** ने ठीक लिखा है कि 'यदि मुझे ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त होनी चाहिए कि मैं अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त कर सकूँ तो मेरा भी यह कर्त्तव्य है कि मैं वैसा बनूँ। यदि मुझे दूसरों के आक्रमण से सुरक्षा की आवश्यकता है तो मेरा भी यह कर्त्तव्य है कि मैं दूसरों पर आक्रमण न करूँ। यदि मुझे शिक्षा का लाभ प्राप्त होना चाहिए तो मेरा भी यह कर्त्तव्य है कि शिक्षा से जो मुझे लाभ प्राप्त होते हैं, मैं उनका प्रयोग इस भांति करूँ कि सामान्य कल्याण में वृद्धि हो।"[1] **हाब्हाउस** ने लिखा है कि "**अधिकार और कर्त्तव्य समाज कल्याण की सामंजस्यपूर्ण जीवन की शर्तें हैं। इस कल्याण में समाज के प्रत्येक सदस्य का दोहरा सम्बन्ध है। उसका उस कल्याण में एक भाग है। यह भाग उसके अधिकार हैं। उसे उस कल्याण में अपना योगदान भी देना है। यह योगदान उसके कर्त्तव्य हैं।**"

3. **पारस्परिक निर्भरता**—अधिकार सामाजिक और पारस्परिकता के परिणाम हैं। मेरे अधिकार दूसरे के कर्त्तव्य हैं और दूसरे के अधिकार मेरे कर्त्तव्य हैं। उदाहरणतः यदि मुझे जीवन का अधिकार है तो मेरा भी यह कर्त्तव्य है कि मैं दूसरों के जीवन का आदर करूँ; यदि मुझे भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है तो मुझे दूसरों की स्वतन्त्रता का आदर करना चाहिये। मुझे इसलिए दूसरों को सताना नहीं चाहिये या उन पर आक्रमण नहीं करना चाहिए कि उन्होंने ऐसे विचार व्यक्त किये हैं जो मेरे विचारों से मेल नहीं खाते।

4. **दोनों राज्य द्वारा सुरक्षित**—अधिकार और कर्त्तव्य दोनों की व्यवस्था राज्य करता है, दोनों को राज्य सुरक्षित करता है और उल्लंघना होने पर राज्य दण्ड देता है। यदि यह सत्य है, जैसाकि **लास्की** ने कहा है कि "राज्य की पहचान उन अधिकारों से की जा सकती है जिन्हें वह बनाये रखता है," तो यह भी सत्य है कि कर्त्तव्य की पालना में अर्थात् राज्य के प्रति निष्ठा और उसके कानूनों के प्रति भक्ति में ही राज्य स्थिर रहते हैं। यदि राज्य मेरे अधिकारों में दूसरों के हस्तक्षेप को निषिद्ध करता है तो दूसरों के अधिकारों में मेरे हस्तक्षेप को भी निषिद्ध करता है।

यह कल्पना व्यर्थ है कि किसी स्थिति में भी कर्त्तव्यों के अभाव में अधिकारों को प्राप्त किया जा सकता है। कर्त्तव्य अधिकार की पूर्व दशा है और किसी को समाज-विरोधी आचरण करने का कोई अधिकार नहीं। **लास्की** का मत है कि

---

1. Laski, H, J.: Grammer of Politics p. 94.

"समाज में मेरा योगदान मेरा व्यक्तिगत योगदान होना चाहिए वरन् वह कोई योगदान नहीं।...मेरा योगदान चाहे कुछ भी रूप ले, यह आवश्यक है कि मैं यह समझ लूँ कि मुझे जो अधिकार प्राप्त हुए हैं वे इसलिए प्राप्त हुए हैं कि मैं कुछ कर्त्तव्यों का पालन कर रहा हूँ। जो कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता वह अधिकारों का उपयोग भी नहीं कर सकता, जैसाकि जो व्यक्ति कार्य नहीं करता उसे रोटी खाने का अधिकार भी नहीं मिलना चाहिये।"

समीक्षा प्रश्न

1. अधिकारों का क्या अर्थ है? अधिकारों के प्रमुख प्रकारों का संक्षेप में परीक्षण कीजिए। (Raj. Suppl. 1979)
2. अधिकारों के विभिन्न सिद्धांत कौन से हैं? आप किस सिद्धान्त को सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं और क्यों? (Raj. Suppl. 1983)
3. अधिकारों व कर्त्तव्यों का आपसी सम्बन्ध विस्तृत रूप से समझाइये। (Raj. 1981)
4. अधिकारों का क्या अर्थ है? अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त एवं प्राकृतिक सिद्धान्त का परीक्षण कीजिये। (Raj. 1980)
5. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—
   (i) नागरिक अधिकार (Raj. Suppl. 1985)
   (ii) प्राकृतिक अधिकार (Raj. 1982, Suppl. 1986)
   (iii) राजनीतिक अधिकार (Raj. 1986)

16

अवधारणायें-विधि और न्याय

(Concept—Law and Justice)

(अ) विधि

परिचय (Introduction)—विधि सम्प्रभुता का साधन है। यह अनुशासित एवं व्यवस्थित जीवन की प्रथम शर्त है। जैसाकि **मैकाइवर** ने लिखा है कि "विधि के अभाव में व्यवस्था बनी नहीं रह सकती और व्यवस्था के अभाव में व्यक्ति भटक जाते हैं और उन्हें ज्ञान नहीं रहता कि उन्हें कहाँ जाना है और क्या करना है।"

विधि शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। **शब्द** उत्पत्ति की दृष्टि से विधि, जिसका अंग्रेजी रूपान्तर **"लॉ"** है, **ट्यूटानिक शब्द "लैग"** से निकला है जिसका अर्थ है "ऐसी चीज जो स्थिर या समान रूप से बनी रहे अर्थात् विधि को एकरूपता के अर्थो में प्रयोग किया जाता है। उदाहरणतः प्रकृति का यह नियम है कि पानी हमेशा नीचे की ओर बहता है, विधि की एकरूपता को अभिव्यक्त करता है। **विज्ञान के क्षेत्र में** विधि का अर्थ अपरिवर्तनीय नियमों से है जैसे गुरुत्वाकर्षण का नियम, गति का नियम आदि। **नीतिशास्त्र में** विधिको नैतिक आचरण के नियम समझा जाता है जैसे सत्,-असत्, अच्छाई-बुराई, अहिंसा-हिंसा के नियम। **सामान्य भाषा में** विधि को व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे सामाजिक आचरण के सामान्य कानून, दैवी कानून, प्राकृतिक कानून आदि। राजनीतिशास्त्र केवल उन्हीं कानूनों को स्वीकार करता है जिन्हें राज्य द्वारा बनाया जाता है और उनकी अनुपालना कराई जाती है।

विधि को चाहे किन्हीं अर्थों में प्रयुक्त किया जाये **इसका केन्द्रीय विषय या विचार है "नियन्त्रण"**। समाज में यह मानव व्यवहार से सम्बन्धित है। यह ऐसा नियन्त्रण है जो व्यक्ति-व्यक्ति से, राज्य-राज्य से, व्यक्ति-व्यक्ति समूहों से, समूह-समूह से, व्यक्ति-राज्य से, राज्य-व्यक्तियों-अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों आदि से सम्बन्धित होता है। विधि व्यापक है परन्तु सर्वव्यापी नहीं। उदाहरणतः आचरण के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जैसे पहरावे का ढंग, पारिवारिक शिष्टाचार, शैली, मनःस्थिति, धार्मिक संस्कार आदि जिन्हें विधि नियन्त्रित या निर्धारित नहीं कर सकती।

परिभाषा (Definitio1)—विधि को भिन्न-भिन्न अर्थों में परिभाषित किया गया है। अरस्तू के अनुसार विधि "वह बौद्धिकता है जिसमें मनोविकार लेशमात्र भी नहीं है।" **स्टाइक दार्शनिक** सत्-असत् का निर्देश करने वाले तथा विश्व के नियमित स्वरूप का बोध कराने वाले विवेक को विधि कहते थे। **ईसाई धर्म मनीषी** विधि को तत्त्वतः ईश्वरीय संकल्प तथा अनुकम्पा का परिणाम मानते थे। **बोदां, ऑस्टिन और बैन्थम** के अनुसार विधि निश्चित सर्वश्रेष्ठ मानव का आदेश है। ऑस्टिन ने कहा है कि "विधि, उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है।" **ड्विग्दी और क्रेब** के अनुसार विधि 'सामाजिक चेतना' या 'सामाजिक सुदृढ़ता' की अभिव्यक्ति है। **डीन एडवर्ड एच. लेवी** के लिए "विधि नियमों का एक समूह है जो न्याय और मानव व्यवहार को नियमित करने वाले मानवीय नियमों से सम्बन्धित है।"

विधि की कुछ अन्य परिभाषायें निम्न हैं—

1. **हालैंड** के शब्दों में, "विधि व्यक्ति के वाह्य कार्यों के साधारण नियम है जिसे राज सत्ता द्वारा लागू किया जाता है।"

2. **विल्सन** के शब्दों में, "विधि स्थिति, विचार एवं स्वभाव का वह अंश है जिसे सरकार की शक्ति लागू करती है।"

3. **ग्रीन** के शब्दों में, "विधि अधिकारों और कर्त्तव्यों की वह व्यवस्था है जिसे राज्य लागू करता है।"

4. **सिजविक** के शब्दों में, "विधियां वे सामान्य आदेश हैं जिनके द्वारा समाज के सदस्यों का आचरण निश्चित किया जाता है और जिनकी पालना न करने पर सरकार दण्ड देती है।"

विधि के लक्षण—विधि के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. विधि प्रधानतः सामान्य नियम है।
2. विधि नागरिक समाज में लागू होती है।
3. विधि का निर्माण सर्वोच्च प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति या संस्था द्वारा होता है।
4. विधि पशु बल के आधार पर अपनी आज्ञाओं की पालना करा सकती है; अवज्ञा होने पर विधि दण्ड दे सकती है।
5. विधि व्यक्ति के वाह्य आचरण को नियन्त्रित करती है।
6. विधि का निर्माण अनुशासन एवं व्यवस्थित सामाजिक जीवन की प्राप्ति के लिये होता है।

विधि के स्रोत

'विधि के स्रोत' का अर्थ केवल उसके उद्गम स्थल से नहीं होता। इसका अर्थ उन सभी साधनों से होता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसके निर्माण में सहायक हैं। राज्य की भांति कानून भी इतिहास की उपज है। यह विकास के भिन्न-

भिन्न स्तरों से गुजरता है। इसके विकास में मुख्यतः निम्न तत्त्वों ने योगदान दिया है—

1. **परम्परायें अथवा रीति-रिवाज**—परम्परायें कानून के प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। प्राचीन समय में जब कानून लिखित नहीं होता था तो विवादों का निपटारा परिवार, वंश या कबीले की रूढ़ियों या प्रथाओं के अनुसार होता था। इस तरह **परम्परायें सामाजिक आचरण के वे नियम हैं जो सामाजिक जीवन को नियमित एवं व्यवस्थित करते हैं।**

परम्परायें निर्मित नहीं होतीं, ये विकसित होती हैं। इनका विकास समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार होता है। इनका विकास अंधविश्वास घटनावश या उपयोगिता के आधार पर हो सकता है।

प्राचीन समय में राज्यों के कानून रीति-रिवाजों का संग्रह मात्र थे। उदाहरणत: **बेबीलोनिया में हेमूराबी की संहिता, ग्रीस-ड्रेको और सोलन की संहिता रोमन की ट्वैल्व टेबल्स, भारत में स्मृतियां** सम्बन्धित समाजों के रीति-रिवाजों का संग्रह मात्र थी। जब राज्य रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लेता है तो वे कानून का रूप धारण कर लेती हैं और उन्हें प्रथागत कानून कहा जाता है। इंगलैण्ड में प्रथागत कानूनों का आज भी अत्यधिक महत्त्व है। इंगलैण्ड की संसदात्मक प्रणाली प्रथाओं पर ही आधारित है।

अभिसमयों की अनुपालना सहज प्रवृत्ति में होती है और कोई भी राज्य उनकी अवहेलना नहीं करता। उनकी अवहेलना विद्रोह को जन्म दे सकती है।

2. **धर्म** (Religion)– धर्म कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। वस्तुतः प्रथागत कानूनों के पीछे धर्म ही प्रेरक शक्ति रहा है। धर्म की स्वीकृति के अभाव में प्रथा का कोई महत्त्व नहीं होता। **बेबिलोनिया के हेमूराबी** ने अपनी संहिता को 'दैवी उपहार' की संज्ञा दी थी।

धर्म व्यक्तिगत आचरण एवं व्यवस्थित जीवन को नियंत्रित करता है। धार्मिक अनुशास्तियों को 'ईश्वरीय विवेक कहा जाता है'। इन्हें धार्मिक पुस्तकों में लिपिबद्ध किया जाता है जो व्यक्ति के व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक व्यवहार को निर्देशित करती है। **हिन्दुओं में मनुस्मृति, मुसलमानों में कुरान, ईसाइयों में बाइबिल ऐसी ही पुस्तकें हैं।** इनकी अनुपालना दैवी दण्ड के भय से होती है।

3. **न्यायिक निर्णय** (Case Law or Judicial Decisions)—न्यायिक निर्णय कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इसे **नजीर या दृष्टान्त** कहा जाता है। प्राचीन समय में विवादों का निर्णय बुद्धिमान व्यक्ति करते थे और उनके द्वारा दिये गये निर्णयों को जब उसी प्रकार के दूसरे विवादों में लागू किया जाता था तो उसे दृष्टान्त कहते थे। आज भी उच्च न्यायालय के निर्णय जब निम्न न्यायालय द्वारा लागू किये जाते हैं तो उसे **"निर्णितानुसरण"** (Stare decisis) कहते हैं।

न्यायाधीश न्यायिक निर्णय द्वारा कानूनों के अस्पष्ट और अंतर्निहित अर्थों को स्पष्ट करते हैं। ऐसा करते समय वे कानूनों की व्याख्या करते हैं और निर्णय विधि के रूप में कानून का निर्माण करते हैं।

4. **वैज्ञानिक टीकायें** (Scientific Commentaries)--वैज्ञानिक टीकायें कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। टीकायें "निर्णय" नहीं होतीं और वे विधि का निर्माण नहीं करतीं। वे तार्किक विवेचना द्वारा विधि के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या करती हैं, विधि के अर्थ एवं महत्त्व को स्पष्ट करती हैं और न्याय, औचित्य एवं समाज कल्याण की भावना के आधार पर उनकी त्रुटियों की ओर इशारा कर उन्हें दूर करने के सुझाव प्रस्तुत करती हैं। वैज्ञानिक टीकायें कानून को गत्यात्मक और समाजोपयोगी बनाती हैं।

प्राचीन समय से ही वैज्ञानिक टीकायें न्यायप्रशासन में सहायक रही हैं और न्यायालयों ने इनका आदर किया है। उदाहरणतः **प्राचीन यूनान में सोलन, रोम में गेयस, भारत में मनु** आदि प्रसिद्ध विधि-वेत्ता रहे हैं। **ब्रिटेन में ब्लैकस्टोन की सम्पत्तियों** ने कानूनी संहिताओं में बड़े सुधार किये हैं। **कैंट, कोक, हॉल** आदि की टीकाओं ने कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारतवर्ष में मिताक्षारा और दायभाग, मुसलमानों में **फतवा-ए-आलमगीरी** प्रसिद्ध वैज्ञानिक टीकाओं के उदाहरण हैं।

5. **साम्या** (Equity)--साम्या का अर्थ है "**नैतिक न्याय**"। जब न्यायाधीश सुनिश्चित विधियों के अभाव में या अपर्याप्तता की स्थिति में किसी मुकदमे का निर्णय प्राकृतिक न्याय, सामान्य न्याय बुद्धि, नैतिक न्याय, सत्य, निष्पक्षता और औचित्य के आधार पर करता है तो उसे साम्या कहते हैं। सत्य, प्राकृतिक न्याय और औचित्य कानून के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। ये कठोरता को शिथिल और लचीला बनाते हैं। साम्या वर्तमान कानून की व्यवस्था कर सकती है तथा उसे परिवर्तित कर सकती है और उसका स्थान ले सकती है। प्राचीन काल में **प्राकृतिक कानून** और रोम काल में **'ईस जेण्टियम'** साम्या के दूसरे नाम थे।

6. **व्यवस्थापिका** (Legislature)—आधुनिक समय में व्यवस्थापिका और उसके द्वारा निर्मित की गई विधियां ही कानून का मूल स्रोत हैं। इसने कानून के अन्य स्रोतों को निरर्थक बना दिया है। **सर हेनरी मेन** ने कहा है कि "सभ्य समाज में व्यवस्थापिका ही कानून का प्रमुख स्रोत है। प्रशासनिक नियमों एवं निर्देशों का प्रभाव कानूनों की भांति होता है परन्तु उन्हें व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के अधीन ही बनाया जाता है।" **वुडरो विल्सन** ने कहा है कि **कानून बनाने के सब स्रोत धीरे-धीरे एक महान, गहरे एवं विस्तृत विधान स्रोत में मिलते जा रहे हैं।"**

7. **आवश्यकतायें** (Needs)—कानून के चाहे कितने ही लिखित या अलिखित स्रोत क्यों न हों, इसका मूल स्रोत जन जीवन की वे आवश्यकतायें, संकल्प और आदर्श हैं, जिन्हें कोई जन समूह प्राप्त करना चाहता है। विधान मण्डल, न्यायालय और प्रशासन इन्हीं की अभिव्यक्ति करते हैं।

विधि के सिद्धान्त

विधि के सिद्धान्त निम्न हैं—

A. **विश्लेषणात्मक सिद्धान्त** (Analytical School of Law)—इसे विधि का **वस्तुपरक सिद्धान्त** भी कहते हैं। यह राज्य के निरंकुशतावादी एवं आदर्शवादी दर्शन पर आधारित है। इसके जनक प्लेटो और सन्त थॉमस एक्विनास हैं। बोदां, काण्ट, मैक्यावली, हॉब्स, बेन्थम, टी० ऐफ० हॉलैण्ड, विलोबी आदि लेखकों ने भी इसका समर्थन किया है। परन्तु इसका प्रमुख समर्थक जॉन आस्टिन है जिसने अपनी रचना **"न्यायशास्त्र पर भाषण"** (Lectures on Jurisprudence) में इसकी विशद् व्याख्या की है। इसकी **प्रमुख** विशेषतायें निम्न हैं—

1. विधि का निर्माण किसी मूर्त एवं निश्चित श्रेष्ठ मानव द्वारा होता है। इसका निर्माण किसी अमूर्त या अदृश्य शक्ति द्वारा नहीं होता।

2. विधि आदेश है जिसे उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया जाता है। आदेश होने से यह मानव व्यवहार, आचरण या व्यक्तियों को नियमित करता है। इसकी उल्लंघना दण्ड को निमन्त्रण देती है।

3. विधि की अनुपालना बल प्रयोग या उसके प्रयोग के भय पर निर्भर करती है।

4. विधि यथार्थ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन को संचालित करती है। इसके उद्देश्य लौकिक हैं, पारलौकिक नहीं। यह यथार्थ जीवन से संबंधित, है किसी सम्भाव्य या आदर्शवादी जीवन से नहीं।

यह विधि के ऐतिहासिक विकास को स्वीकार नहीं करता। यह विधि पर परम्पराओं, औचित्य, न्याय या नैतिकता के प्रभाव को स्वीकार नहीं करता। इसका कहना है कि विधि सामाजिक शक्तियों का परिणाम नहीं। यह निश्चित सर्वश्रेष्ठ मानव अर्थात् शासक या विधानमण्डल द्वारा निर्मित होती है।

आलोचना—इसकी मुख्य आलोचनायें निम्न हैं—

1. यह विधि के केवल औपचारिक विश्लेषण से सम्बन्धित है। यह विधि के नैतिक औचित्य और सामाजिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करता है।

2. यह पशु बल को विधि की पालना का आधार मानता है जबकि विधि की पालना के लिए पशु बल से अधिक जन-स्वीकृति या सहमति की आवश्यकता होती है। जन-सहमति विधि को स्थायित्व प्रदान करती है।

3. विधि आदेश मात्र नहीं। जैसाकि **मैकाइवर** ने कहा है कि "विधि आदेश नहीं, बल्कि आदेश के बिल्कुल विपरीत है। विधि को आदेश मात्र मानना राज्य कार्य में अव्यवस्था पैदा करना है।"

4. यह विधि का विकासवादी सिद्धान्त नहीं। यह उसका रूढ़िवादी सिद्धान्त है। यह इस ओर ध्यान ही नहीं देता कि विधि को जीवन के साथ परिवर्तित होना पड़ता है। जैसाकि सेत ने कहा है कि "ऑस्टिन ने जनमत के प्रभाव को निषेधात्मक माना है जबकि तथ्यतः जनमत सकारात्मक होता है।"

5. लोकतान्त्रिक, संसदीय या संघीय राजनीतिक व्यवस्था में निश्चित सर्वश्रेष्ठ मानव को ढूँढना कठिन है।

आलोचनाओं के बाद भी यह सिद्धान्त गलत या मिथ्या नहीं। यह मानवीय सम्बन्धों को सुनिश्चित करने में सहायक है।

B. **ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical School of Law)**—यह सिद्धान्त विश्लेषणात्मक सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। जहां विधि का विश्लेषणात्मक सिद्धान्त विधि को निश्चित एवं सर्वश्रेष्ठ मानव का आदेश मानता है वहां विधि का ऐतिहासिक सिद्धान्त इसे विकास का परिणाम मानता है जिसमें ऐतिहासिक शक्तियों और सामाजिक प्रक्रियाओं का योगदान होता है। समाज की धार्मिक, नैतिक और आर्थिक शक्तियां, रीति-रिवाज, रूढ़ियां और प्रथायें विधि का आधार हैं। गेटेल ने कहा है कि **"विधि विधि-निर्माताओं की इच्छाओं की उत्पत्ति नहीं बल्कि अनेक सदियों से होने वाले क्रमिक विकास का फल है।"**

विधि के ऐतिहासिक सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं—**मॉण्टेस्क्यू, सर हेनरीमेन फ्रेडरिक वॉन सेविगनी, फ्रेडरिक पॉलक, एफ. डब्ल्यू. मेटलैण्ड** आदि। **सर हेनरी** ने अपनी **रचना "प्राचीन विधि"** में विधि के ऐतिहासिक स्रोतों एवं परम्पराओं की प्रधानता पर प्रकाश डाला है। **सेविगनी** ने अपनी रचना **"विधि निर्माण तथा न्याय शास्त्र के प्रयोग"** में विधि को विकासमान और गत्यात्मक कहा है।

विधि के ऐतिहासिक सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

1. विधि के दो स्रोत हैं—औपचारिक और भौतिक। जहां निश्चित श्रेष्ठ मानव विधि का औपचारिक आधार है वहां समाज के रीति-रिवाज, परम्परायें आदि उसके भौतिक आधार हैं। रीति-रिवाजों और परम्पराओं को राज्य की स्वीकृति मिल जाने पर वे विधि का रूप ग्रहण कर लेती हैं। **सेविगनी का मत है कि "राज्य विधि का निर्माता नहीं; वह उसे मान्यता देने तथा परिवर्तित करने वाली संस्था है।"**

2. विधि किसी निश्चित, श्रेष्ठ मानव का आदेश मात्र नहीं। यह जनशक्ति का अंग है। विधि पशु बल पर नहीं बल्कि जन सहमति पर निर्भर करती है। जैसाकि जेन ने कहा है कि **"आज तक विधि का शासन सर्वदा इसलिये विद्यमान रहा है कि उसके पीछे सर्वसम्मत मौन स्वीकृति रही है।"**

3. विधि विकासमान और गत्यात्मक है। यह जीवन का जड़ या स्थायी

नियम नहीं है। यह समय के अनुसार परिवर्तित एवं संशोधित होती रहती है। जैसाकि **सेविगनी** ने कहा है कि "भाषा की भांति विधि कभी ठहरती नहीं। इसका जन-जीवन के विलास के साथ विकास होता है और जन-जीवन की शक्ति के साथ इसकी शक्ति बढ़ती है।"

4. विधि सापेक्ष है। जैसाकि **माण्टेस्क्यू** ने कहा है कि "सब विधियाँ सापेक्ष हैं।" मानव का जीवन बहुमुखी है और अनेक आवश्यकतायें, विभिन्न परिस्थितियाँ तथा विभिन्न सामाजिक व्यवस्थायें विधि के अनुरूप और स्वभाव को प्रभावित करती हैं।

आलोचना—यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह विधि में सुधार या संशोधन को सन्देह की दृष्टि से देखता है। इस बात की उपेक्षा करता है कि हो सकता है कि भूतकालीन अनुभव वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल न हो। जैसाकि **गेटेल** ने कहा है "इसमें भूत के लिए विशेष श्रद्धा होने एवं जानबूझ कर सुधार करने में अविश्वास के कारण अनुदार होने की प्रवृत्ति है।"

यह सिद्धान्त इतिहास पर आवश्यकता से अधिक बल देता है और उसके दार्शनिक पहलू की उपेक्षा करता है।

आलोचनाओं के बाद भी यह सिद्धान्त विधि के अध्ययन को उचित परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास करता है। इसने विधि के वैधानिक विश्लेषण के लिए पृष्ठभूमि प्रदान की है। जैसाकि **लार्ड ब्राइस** ने कहा है कि "सब प्रकार की विधि अतीत और वर्तमान के बीच प्रथाओं और वैधानिक परम्पराओं के बीच एक प्रकार का समझौता है। अतः वैधानिक विश्लेषण केवल ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही सम्भव है।"

C. **समाजशास्त्रीय सिद्धान्त** (Sociological Theory of Law)—यह सिद्धान्त विधि को 'सामाजिक जीवन की 'नियमित अभिव्यक्ति' मानता है। विधि के रूप में सामाजिक मूल्य, आदर्श, परम्परायें, विश्वास, महत्त्वाकांक्षायें आदि अभिव्यक्त होती हैं। विधि सामाजिक शक्तियों का शिशु है जो समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती है। इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं—**डीन पाउण्ड, वार्ड, ड्रिग्वी, क्रेब, होम्स, लास्की** आदि। **कार्ल मार्क्स** को भी विधि के **समाजशास्त्रीय** सिद्धान्त का समर्थक कहा जा सकता है, क्योंकि उसने इस विचार को प्रस्तुत किया है कि समाज के आर्थिक आधारों में परिवर्तन से विधियों में परिवर्तन होता है।

विधि के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

1. विधि सम्प्रभु द्वारा निर्मित नहीं होती। इनका निर्माण सामाजिक आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामाजिक शक्तियों द्वारा स्वतः होता है।

2. राज्य के किसी कार्य की वैधता उसके स्रोत पर नहीं बल्कि उसके उद्देश्य पर निर्भर करती है। उसका औचित्य उसकी वैधता है।

3. विधि राज्य से सर्वोच्च, परे और स्वतन्त्र है। **लास्की** लिखता है कि जिन लोगों ने 1642 में चार्ल्स प्रथम, 1789 में फ्रेंच राजतन्त्र और 1917 में जार

का विरोध किया उन्होंने राजाज्ञा की अवहेलना की परन्तु वे कानून के प्रति निष्ठावान थे जो राज्य से ऊपर व परे है। लोग स्वीकृति द्वारा कानून को वैध बनाते हैं। वे इसे इसलिए स्वीकार करते हैं कि वह उनकी इच्छाओं को संतुष्ट करता है।

4. विधि की पालना दण्ड के भय के कारण नहीं बल्कि "सामाजिक एकता की भावना' एवं सामाजिक विवेक' से होती है। जैसाकि ड्विग्वी ने लिखा है कि सामाजिक सुदृढ़ता' की भावना ही विधि की पालना का आधार है।

D. दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory of Law)—यह सिद्धान्त विधि के विश्लेषण और ऐतिहासिक सिद्धान्तों से भिन्न है। यह विधि के नैतिक पहलू से सम्बन्धित है उसके विश्लेषणात्मक या ऐतिहासिक पहलुओं से नहीं। यह विधि को उचित और अनुचित के रूप में देखता है। यह उसके मूर्त रूप के स्थान पर उसके अमूर्त रूप पर बल देता है। यह विधि को भावी आदर्श की प्रेरणा के रूप में देखता है। यह उसे भूत या वर्तमान के रूप में नहीं देखता। जैसाकि कोहलर ने कहा कि "विधि की आवश्यकतायें संस्कृति की आवश्यकतायें हैं।" इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं **जोसेफ, कोहलर, रुडोल्फ स्टैमलर; हंस कैल्सन** आदि। **कैल्सन** का मत है कि "विधि एक ही मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति है।" **कैल्सन** के लिए "न्यायशास्त्र मूल्यों का ज्ञान है।"

आलोचना—यह सिद्धान्त विधि को कल्पना का क्षेत्र बनाता है वास्तविकता का नहीं। यह तथ्यों का अवलोकन, तुलना या पर्यवेक्षण नहीं करता है। यह अनुदारवादी है क्योंकि इसमें परिवर्तन की सम्भावना नहीं। यह मानव जीवन के नैतिक पक्ष पर बल देता है। यह संघर्षशील, युद्धरत जीवन की उपेक्षा करता है।

E. **तुलनात्मक सिद्धान्त** (Comparative School of Law)—यह सिद्धान्त विधि को यथार्थ जीवन के सन्दर्भ में देखता है। यह उचित विधि के निर्माण हेतु भूत और वर्तमान विधियों का तुलना पर बल देता है। यह सिद्धान्त व्यापक है। इसमें विधियों की तुलना करते समय देश-विदेश की राजनीति और सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है और उनके अनुभवों से लाभ उठाया जाता है। इसका दोष यह है कि यह 'मूल्यों' की उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त भावी परिवर्तन या सुधार के लिए कोई पुष्ट आधार प्रदान नहीं करता।

अच्छी विधि के गुण—विधि के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये भिन्न-भिन्न सिद्धान्त आंशिक रूप से ही सत्य हैं। एक अच्छी विधि में निम्न गुणों का होना आवश्यक है—

1. विधि विकासात्मक और गत्यात्मक होनी चाहिये।
2. विधि व्यापक एवं सापेक्षतः स्थायी होनी चाहिये।
3. विधि समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिये।
4. विधि निष्पक्ष और समभावपूर्ण होनी चाहिये। विधि सभी पर समान रूप से लागू होनी चाहिये।

5. विधि यथासम्भव निर्देशात्मक होनी चाहिये आदेशात्मक नहीं।

6. विधि जन-सहमति पर आधारित होनी चाहिये।

7. विधि लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है अतः उसे सामाजिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिये।

विधि के प्रकार

विधि के प्रमुख प्रकारों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
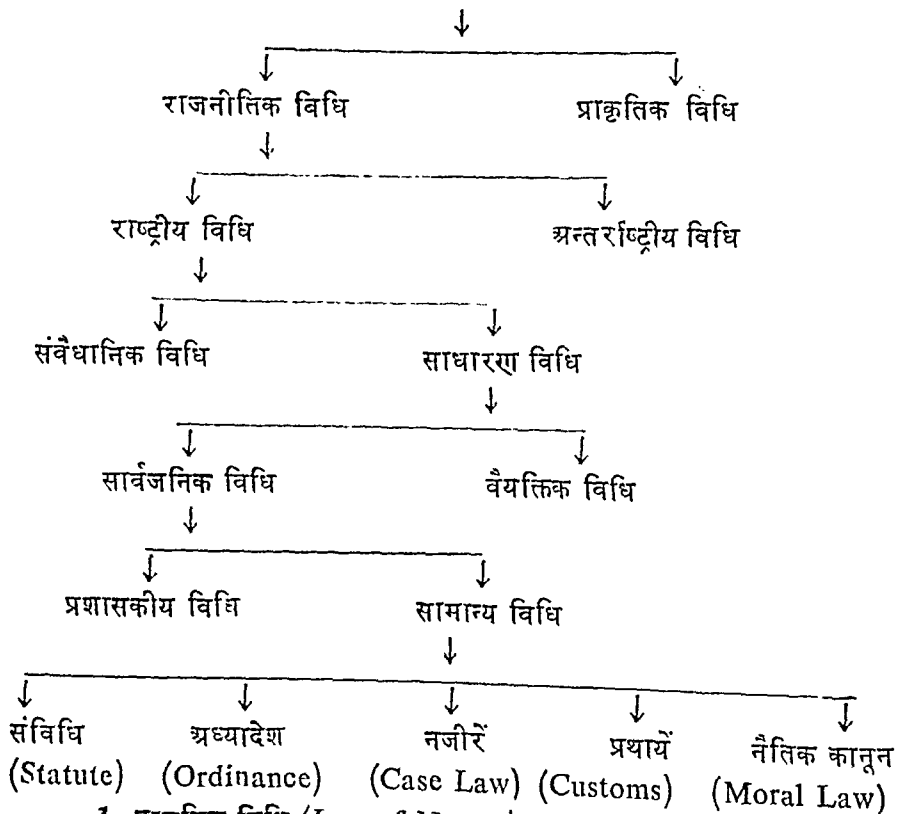
1. प्राकृतिक विधि (Law of Nature)—इसकी रचना मानव नहीं करता बल्कि प्रकृति करती है। यह विधि सारी प्रकृति पर शासन करती है। यह अमूर्त, नैसर्गिक, दैवी चेतना या विश्वव्यापी आदर्श है। मानव अपने विवेक या अन्तर्दृष्टि से इसका पता लगाता है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक विधि "ऐसा उपदेश या सामान्य नियम है जिसे विवेक द्वारा जाना जाता है और उन कार्यों को करने से मना करता है जो उसके लिए विनाशकारी हैं।" मानवीय विधियाँ प्राकृतिक विधि

1. मैकाइवर विधि के वर्गीकरण में प्रथाओं को विधि की कोटि में नहीं रखता, ऑस्टिन अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि की कोटि में नहीं रखता; अनेक लेखक प्राकृतिक कानून को विधि नहीं मानते।

का विकृत या अपूर्ण रूप हैं। मानवीय विधियाँ प्राकृतिक विधियों के जितनी अनुरूप होंगी उतनी ही वे सार्थक होंगी। अतः प्राकृतिक विधि मानवीय आचरण की कसौटी है। अल्थूशियस, हूकर तथा ग्रोशियस की धारणा है कि प्राकृतिक विधियाँ मानवीय व्यवहार को अनुशासित करती हैं। न्यायालय भी प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त का प्रयोग मुकदमों में करता है।

2. राष्ट्रीय विधि (National Law)—यह राष्ट्रीय जीवन को नियमित एवं व्यवस्थित करती है। यह राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों अथवा व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों को नियमित करती है। इसका क्षेत्र राज्य की सीमाओं तक सीमित होता है। यह राज्य में रहने वाले सभी लोगों और संस्थाओं पर लागू होती है। इसकी पालना अनिवार्य है। इसकी अवज्ञा दण्ड को निमन्त्रण देती है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Internatioal Law)—यह राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करती है। जैसाकि ओपेनहाइम ने लिखा है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यवहार के वे नियम हैं जिनको सभ्य राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार में मानते हैं।"** लारेंस के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि **"वे नियम हैं जो सभ्य राज्यों के सामान्य और सामूहिक आचरण को उनके पारस्परिक व्यवहार में निर्धारित करते हैं।"**

ऑस्टिन जैसे लेखक अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि नहीं मानते। ऑस्टिन इसे "स्वीकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता" कहता है। हॉलैण्ड का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को केवल शिष्टाचार के नाते विधि की संज्ञा दी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रीय विधि की तरह किसी राज्य सत्ता द्वारा न निर्मित होती है न कार्यान्वित की जाती है। यह प्रभावशाली एवं सक्रिय नहीं होती है। यह सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों की दया पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय विधि के पीछे बल प्रयोग का भय रहता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पास न दांत होते हैं न पंजे। इसका प्रभाव राष्ट्रों की सहमति, राष्ट्रीय हित, युद्ध या आणविक संहार के भय पर निर्भर करता है।

4. संवैधानिक विधि (Constitutional Law)—इसे मूल विधि भी कहते हैं। इसके द्वारा राज्य शासित होता है। यह शासन के ढांचे, शासनांगों की शक्तियों, नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों, नागरिकों के पारस्परिक एवं नागरिकों के शासन के साथ सम्बन्धों को निर्धारित करती है। संवैधानिक विधि और साधारण विधि में अन्तर यह है कि साधारण विधि संवैधानिक विधि के अधीन होती है और संवैधानिक विधि में परिवर्तन करने के लिए विशेष प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। संवैधानिक विधि का आधार लिखित या अलिखित संविधान होता है।

5. साधारण विधि (Ordinary Law)—संवैधानिक विधि के अतिरिक्त शेष सब विधियाँ साधारण विधियाँ कहलाती हैं। साधारण विधि का निर्माण सामान्यतः व्यवस्थापिका करती है यद्यपि धर्म, परम्परायें, नजीरें आदि भी इसके आधार हो सकते हैं। साधारण विधि नागरिकों के आचरण को नियन्त्रित करती है। यह सविधि, अध्यादेश या नजीर का रूप ले सकती है।

6. सार्वजनिक विधि (Public Law)—यह व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को निर्धारित करती है। यह नागरिक को इस प्रकार का निर्देश देती है कि वह सार्वजनिक क्षेत्र में किस प्रकार का व्यवहार करे। चोरी-डकैती, नर-हत्या, धोखा आदि से सम्बन्धित विधियां सार्वजनिक विषयों के उदाहरण हैं।

7. व्यक्तिगत विधि (Private Law)—यह व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करती है। इसका व्यक्ति के सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके उदाहरण हैं सम्पत्ति को खरीदने व बेचने सम्बन्धी विधि, ऋण-संबंधी विधि, दीवानी विधि आदि।

8. प्रशासनिक विधि (Administrative Law)—इसका सम्बन्ध प्रशासन और प्रशासन के कर्मचारियों तथा उनके साधारण नागरिकों के साथ सम्बन्धों से होता है। जैसाकि **डायसी** ने कहा है कि "प्रशासनिक विधि राज्य के सभी कर्मचारियों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को निश्चित करती है।" इसका निर्माण संसदीय तथा संवैधानिक विधि की सामान्य मर्यादा के अधीन शासन के विभागों द्वारा नियमों के रूप में होता है। फ्रांस, इटली और स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में प्रशासनिक विधि के साथ प्रशासनिक न्यायालय भी विद्यमान हैं।

विधि और नैतिकता में सम्बन्ध

(A) **विधि और नैतिकता में संबंध**—विधि और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ और गहरा है कि इसके अध्ययन बिना अवैध और अनैतिकता की सीमाओं को स्पष्ट करना कठिन है। आज की अवैधता कल की अनैतिकता हो सकती है और इसके विपरीत भी। इसी प्रकार आज की वैधता कल की नैतिकता हो सकती है और नैतिकता को राज्य की स्वीकृति मिल जाने पर वह वैधता का रूप धारण कर लेती है।

यूनानी लेखक—प्लेटो और अरस्तू—विधि और नैतिकता में कोई भेद नहीं करते थे। उनके लिए राज्य एक नैतिक संस्था है। राज्य 'मानव आत्मा' की उत्पत्ति है। प्लेटो राज्य को व्यक्ति की आत्मा का बड़ा रूप मानता है। उसके अनुसार, "श्रेष्ठ राज्य वह है जो सद्गुण में व्यक्ति के निकट है" अर्थात् श्रेष्ठ राज्य वह है जिसमें व्यक्ति के शरीर जैसी एकता पाई जाती है। **अरस्तू** की धारणा है कि "राज्य का उद्भव जीवन की आवश्यकताओं के लिये हुआ परन्तु उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।" **विलसन** लिखता है कि "विधि देश की नैतिक उन्नति का दर्पण है।" **टी. एच. ग्रीन, हैरल्ड जे. लॉस्की और क्रैब** ने भी विधि के नैतिक पक्ष पर बल दिया है। प्राचीन भारत में 'धर्म' शब्द को विधि और नैतिकता दोनों अर्थों में लिया जाता था। मनु के धर्मशास्त्र में विधि और नैतिकता दोनों का विवेचन है।

विधि और नैतिकता दोनों की उत्पत्ति सामाजिक जीवन के अनुभवों के फलस्वरूप हुई है। दोनों समाज में व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करना चाहते

हैं। दोनों सार्वजनिक हित को प्राप्त करना चाहते हैं। दोनों व्यक्ति को अच्छा बनाना चाहते हैं। एक व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में श्रेष्ठ बनाना चाहता है और दूसरा उसे नागरिक के रूप में श्रेष्ठ बनाना चाहता है। जहां नैतिकता व्यक्ति को सद्गुण का पाठ पढ़ाकर उसे सद्व्यवहार और सदाचरण की शिक्षा देती है वहां विधि उसे वैधानिकता का पाठ पढ़ाकर अच्छे नागरिकों की शिक्षा देती है। इस तरह दोनों के उद्देश्यों में एकरूपता है। दोनों व्यक्तियों में सामाजिकता या कल्याण की भावना का विकास करना चाहते हैं। किसी लेखक ने ठीक कहा हैं कि "विधि को देखकर हम लोगों की नैतिकता का पता लगा सकते हैं।"

विधि और नैतिकता दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि नैतिकता विधि को औचित्य प्रदान कर उसे पुष्ट करती है तो विधि नैतिकता के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती है। विधि नैतिकता उत्पन्न नहीं करती, परन्तु वह उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर उसके मार्ग को प्रशस्त कर सकती है। यदि व्यक्ति अनैतिक है तो राज्य सद्गुणी नहीं हो सकता। तभी तो कहा जाता है कि विधि वह दर्पण है जिसमें नैतिकता के दिग्दर्शन होते हैं। दूसरी ओर, विधि की पालना उसके नैतिक स्वरूप पर निर्भर करती है। यदि विधि नैतिकता में सहायक नहीं या विधि नैतिकता की उपेक्षा करती है तो उस विधि के प्रति भक्ति उतनी ही मात्रा में स्वाभाविक नहीं होगी। विधि और नैतिकता में जितनी निकटता होगी भक्ति उतनी ही स्वाभाविक होगी। इनमें जितनी दूरी होगी, विधि की उल्लंघना की संभावना उतनी होगी। विधि की पालना दण्ड के भय के कारण नहीं होती बल्कि इस विश्वास से होती है कि वह नैतिकता, विवेक और सामान्य अच्छाई पर आधारित है।

विधि नैतिकता के परिवर्तन या सुधार में सहायक हो सकती है। उदाहरणतः भारतीय संविधान अस्पृश्यता को समाप्त करता है। प्रत्येक लोक कल्याणकारी राज्य मे विधि द्वारा आर्थिक और सामाजिक शोषण को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

(B) विधि और नैतिकता में भिन्नता—विधि और नैतिकता में विषय, अनुशास्तियों और निश्चयात्मकता के भेद पाये जाते हैं। य भेद निम्न हैं—

(i) विषय वस्तु का भेद—विधि और नैतिकता के विषय में भेद हैं। विधि का सम्बन्ध व्यक्ति के वाह्य कार्यो से है उसके आन्तरिक विचारों, उद्देश्यों या प्रयोजनों से नहीं है। विधि व्यक्ति के वाह्य आचरण और कार्यों को नियन्त्रित करती है। विधि का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के एक भाग से है उसके समूचे जीवन से नहीं। दूसरी ओर, नैतिकता व्यक्ति के समूचे जीवन से सम्बन्धित है। यह उसके वाह्य और आन्तरिक कार्यों और उद्देश्यों से सम्बन्धित है। यह व्यक्ति के केवल वाह्य आचरण को नियंत्रित नहीं करती बल्कि आंतरिक प्रेरणाओं और

भावनाओं को भी नियन्त्रित करती है। यही कारण है कि जो कार्य वैधानिक दृष्टि से अवैध नजर नहीं आते वे नैतिक दृष्टि से अनैतिक होते हैं। उदाहरणतः झूँठ बोलना, ईर्ष्या-द्वेष करना या क्रोध करना अनैतिक कार्य हैं, परन्तु जब तक कोई व्यक्ति झूँठ बोलकर किसी दूसरे व्यक्ति को धोखा नहीं देता वह अवैध कार्य करने का दोषी नहीं होता। इसी प्रकार क्रोध तब तक अवैध नहीं जब तक व्यक्ति इसके वशीभूत होकर दूसरे को हानि नहीं पहुँचाता।

(ii) **अनुशास्तियों का भेद**—विधि के पीछे राज्य की शक्ति होती है। उसकी पालना पशु बल या उसके प्रयोग के भय के कारण होती है। विधि की उल्लंघना करने पर शारीरिक या वित्तीय दण्ड दिया जा सकता है। दूसरी ओर नैतिकता के पीछे समाज की शक्ति होती है। उसकी पालना स्वाभाविक या सामाजिक एकता की भावना से होती है। उसकी उल्लंघना करने पर कोई शारीरिक या वित्तीय दण्ड नहीं दिया जा सकता। नैतिकता के नियमों की उल्लंघना करने से अधिक से अधिक सार्वजनिक निन्दा या सामाजिक बहिष्कार हो सकता है।

(iii) **निश्चयात्मकता**—विधि स्पष्ट, सुसंगत और निश्चित होती है जबकि नैतिकता अस्पष्ट; अनिश्चित और विवादास्पद होती है। जहाँ विधि व्यापक, सार्वजनिक और वस्तुनिष्ठ होती है, वहां नैतिकता व्यक्तिनिष्ठ होती है। **मैकाइवर** ने कहा है कि "विधि सबके लिए एक होती है परन्तु नैतिकता, आचरण व स्वभाव की अभिव्यक्ति होने से, प्रत्येक के लिए भिन्न-भिन्न होती है।"

विधि का निर्माण उपयोगिता के मानदण्ड के आधार पर होता है। यह सापेक्ष होती है। इसका निर्माण एक निश्चित निकाय (व्यवस्थापिका) के द्वारा होता है, इसे एक निश्चित निकाय ही (कार्यपालिका) लागू करती है और एक निश्चित निकाय ही (न्यायापालिका) इसकी व्याख्या करती है तथा इसकी वैधता-अवैधता को निर्धारित करती है। दूसरी ओर, नैतिकता अच्छाई और औचित्य के निरपेक्ष आदर्श निर्धारित करती है। यह उचित-अनुचित, अच्छाई-बुराई के मानदण्ड निर्धारित करती है। यह हो सकता है कि जो अवैध हो वह अनैतिक न हो और जो अनैतिक है वह अवैध न हो। उदाहरणत: बड़े नगरों में दायीं ओर गाड़ी चलाना अवैध है परन्तु अनैतिक नहीं। दूसरी ओर, घुड़दौड़ पर दाव लगाना अनैतिक है अवैध नहीं।

संक्षेप में विधि नैतिकता के पूर्ण धरातल को छू नहीं सकती। नैतिकता को वैधता का जामा पहनाना नैतिकता को नष्ट करना है। राज्य द्वारा प्रदत्त नैतिकता कोई नैतिकता नहीं होती। नैतिकता अन्त:आत्मा की वस्तु है। यह विश्वास की चीज है।

(ब) न्याय

अर्थ और प्रकृति (Meaning and Nature)—जब से व्यक्ति ने समाज और उसकी संस्थाओं के बारे में चिन्तन करना शुरू किया है तब से न्याय अवधारणा

दार्शनिकों के चिन्तन का विषय रही है। इस पर भी इसकी कोई निश्चित और सार्वकालिक परिभाषा देना सरल नहीं। इसका कारण यह है कि जहां प्लेटो, अगस्टाइन, थॉमस एक्विनास जैसे दार्शनिकों ने इसे पूर्ण या निरपेक्ष (absolute) सिद्धान्त के रूप में देखा है जो अपरिवर्तनीय, अटल और निश्चित है वहां अरस्तू; बेन्थम और मिल जैसे दार्शनिकों ने इसे एक सापेक्ष (relative) सिद्धान्त के रूप में देखा है जो समय, परिस्थिति तथा सामाजिक व्यवस्था के अनुसार परिवर्तित होता है। इसके अनुसार न्याय सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक आचरण के नियमों के आधार पर निश्चित होता है। दूसरे, न्याय स्वयं में एक स्वतन्त्र अवधारणा नहीं। इसे धर्म, नैतिकता, समानता, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि अवधारणाओं के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। यही कारण है कि न्याय अवधारणा राजनीति शास्त्र, दर्शनशास्त्र, विधि शास्त्र, नीतिशास्त्र आदि शास्त्रों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रत्येक ने सामाजिक विषयों या प्रश्नों को न्याय की कसौटी पर कसने का प्रयास किया है। तीसरे, न्याय अवधारणा का सम्बन्ध मूल्यों, औचित्य और आदर्शों (Values, Legitimacy and Ideals) से है। जब कोई विरोधी अथवा असहयोगी किसी व्यवस्था को अन्यायी समझकर उसका विरोध करता है अथवा उसके साथ असहयोग करता है तो वह अपने विरोध अथवा असहयोग के औचित्य को न्याय पर आधारित करता है। व्यक्तियों, कबीलों और वंशों के पारस्परिक झगड़ों, राज्यों के आन्तरिक उपद्रवों एवं क्रान्तियों तथा युद्धों का यही आधार रहा है।

न्याय को मुख्यतः निम्न दो अर्थों में प्रकट किया जाता है :—

1. **व्यापक अर्थ**—प्लेटो और अरस्तू दोनों ने न्याय को व्यापक अर्थों में प्रकट किया है। दोनों ने न्याय को व्यक्ति और समाज के सभी आचरणों के नियंत्रक के रूप में देखा है। फिर भी दोनों के दृष्टिकोणों में कुछ अन्तर है।

प्लेटो के लिए न्याय "सद्गुण" (Virtue) या "सदाचार" (Righteousness) है। यह नैतिकता, अच्छाई और नीति-परायणता है। इस अर्थ में न्याय शाश्वत सत्य है। इसके नियम, सत्य की भांति, अपरिवर्तनीय, अटल और निश्चित हैं। यह समाज में न्याय-अन्याय, अच्छाई बुराई, धर्म-अधर्म, सदाचार-दुराचार आदि के नियमों, मूल्यों और आचरणों के मापने का यन्त्र है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के दो रूप हैं—(अ) व्यक्तिगत और (ब) सामाजिक। **न्याय का व्यक्तिगत रूप** वह है जब व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा में विद्यमान विवेक, उत्साह और क्षुधा (Reason, Spirit and Appetite) के तीन गुणों में समन्वय या सन्तुलन स्थापित करने में सफल होता है। प्लेटो इसे ही मानवीय सद्गुण कहता है। जब यह समन्वय या सन्तुलन बिगड़ जाता है तो

धर्मान्धता और कामान्धता का विकास होता है। **न्याय का सामाजिक रूप** वह है जब समाज (राज्य) के तीन वर्गों अर्थात् दार्शनिकों, सैनिकों और उत्पादक वर्गों में सन्तुलन बना रहता है। जब प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी प्राकृतिक योग्यताओं, क्षमताओं और प्रशिक्षण के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करता है, उसी में निपुणता और कुशलता प्राप्त करता है तथा दूसरे वर्ग के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है तो राज्य में न्याय निवास करता है। प्लेटो इस प्रकार के राज्य को नीतिपरायण कहता है। **प्लेटो** के अनुसार "अपने स्थान के कार्यों को अपनी योग्यता के अनुसार करना और दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना न्याय है।" प्लेटो का विश्वास है कि राज्य में न्याय "**अवशेष**" (residue) में निवास करता है। यह व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों में तालमेल है।

अरस्तू ने भी न्याय की अवधारणा को व्यापक अर्थों में देखा है। अरस्तू और प्लेटो की अवधारणा में अन्तर यह है कि जहां प्लेटो की धारणा में न्यायपूर्ण या शाश्वत सत्य है और सत्य की भांति इसके नियम अपरिवर्तनीय, अटल और निश्चित हैं वहां अरस्तू की धारणा में न्याय सापेक्ष सत्य है और इसके नियम समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। **अरस्तू** का मत है कि समय के साथ-साथ समाज के मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है। अतः सामाजिक परिस्थितियों एवं मूल्यों के अनुसार न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित, अच्छाई और बुराई को निश्चित किया जाना चाहिये।

अरस्तू ने अपनी रचना **एथिक्स** (Ethics) में न्याय को दो भागों में बांटा है: (i) सामान्य न्याय और (ii) विशिष्ट न्याय। **सामान्य न्याय** "सम्पूर्ण अच्छाई" है। यह नैतिक गुण है; यह सद्गुण (Virtue in action); यह सार्वजनिक भलाई है। इसमें व्यक्ति केवल स्वयं की भलाई या अच्छाई का चिन्तन नहीं करता बल्कि अप ने पड़ोसी और दूसरों की भलाई और अच्छाई का भी चिन्तन करता है। **विशिष्ट न्याय** सम्पूर्ण अच्छाई का ही एक हिस्सा है। सामान्य न्याय और विशिष्ट न्याय में यथार्थता (वस्तुतः) कोई अन्तर नहीं। यदि कोई अन्तर है तो वह केवल क्षेत्र का है। जहाँ सामान्य न्याय का क्षेत्र व्यापक है, वहाँ विशिष्ट न्याय का क्षेत्र संकुचित है। विशिष्ट न्याय अच्छाई के किसी विशिष्ट स्वरूप को ही प्रकट करता है विशिष्ट न्याय विधि (कानून) से सम्बन्धित है। यह सामाजिक व्यवहार संहिता है। यह आनुपातिक समानता है।

अरस्तू ने विशिष्ट न्याय को पुनः दो भागों में बांटा है—(i) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) और (ii) सुधारात्मक न्याय (Rectificatory Justice)

वितरणात्मक न्याय का सम्बन्ध राज्य के पदों, सम्मानों, पुरस्कारों और अन्य लाभों के वितरण से है। अरस्तू इसे आनुपातिक न्याय भी कहता है अर्थात्

राज्य में पदों या लाभों का वितरण समानता के आधार पर नहीं बल्कि सद्गुण अर्थात् योग्यता और क्षमता के आधार पर होना चाहिये। अरस्तू का मत है कि वितरणात्मक न्याय ही असमानों में समानता निश्चित करता है और यह तत्त्व ही राज्य को स्थायित्व प्रदान करता है। यदि उच्च पदों पर किसी एक वर्ग विशेष की बपौती हो तो राज्य में असमानता विद्यमान हो जाने से असन्तोष, संघर्ष और क्रान्ति जन्म ले सकते हैं। अरस्तू इस बात को स्वीकार करता है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं में योग्यता और क्षमता की कसौटी भिन्न-भिन्न हो सकती है परन्तु श्रेष्ठ राज्य वही है जिसमें आनुपातिक न्याय विद्यमान हो। **सुधारात्मक न्याय** का सम्बन्ध नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों से है। इसका राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसका सम्बन्ध व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर करना या इन्हें सुधारना है। इसका मूल उद्देश्य नागरिकों के जीवन, सम्पत्ति और स्वतंत्रता की रक्षा करना है।

अरस्तू ने सुधारात्मक न्याय को पुनः दो भागों में बांटा है—(i) **ऐच्छिक** और (ii) **अनैच्छिक**। जब राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक समझौतों की उल्लंघना को दण्डित करता है तो इसे ऐच्छिक सुधारात्मक न्याय कहते हैं और जब राज्य व्यक्ति को हत्या, डकैती, मारपीट आदि के लिये दण्डित करता है तो इसे अनैच्छिक सुधारात्मक न्याय कहते हैं। इसमें व्यक्ति किसी व्यक्तिगत समझौते की उल्लंघना तो नहीं करता, परन्तु अपराध द्वारा सार्वजनिक हानि करता है।

अरस्तू ने न्याय के अन्य दो रूप भी बताये हैं (i) **निरपेक्ष या पूर्ण न्याय** और (ii) **राजनीतिक न्याय**। **निरपेक्ष न्याय** का सम्बन्ध किसी विशेष समुदाय या जाति से नहीं होता बल्कि पूर्ण मानव जाति से होता है। यह मानवीय न्याय है जो एक मानव को दूसरे मानव के साथ आचरण का तरीका बताता है। यह सार्वदेशीय और सार्वकालिक है। **राजनीतिक न्याय** का सम्बन्ध किसी एक राजनीतिक समुदाय के नागरिकों में पाये जाने वाले न्याय से है। इसका क्षेत्र व्यापक है। इसमें अरस्तू द्वारा वर्णित न्याय के सभी रूप शामिल हैं। अरस्तू का मत है कि वही राजनीतिक समुदाय श्रेष्ठ समुदाय है जिसमें सामान्य न्याय, विशिष्ट न्याय और निरपेक्ष न्याय के रूप विद्यमान होते हैं।

अरस्तू ने राजनीतिक न्याय को पुनः दो भागों में बांटा है—(i) प्राकृतिक न्याय और (ii) कानूनी न्याय। **प्राकृतिक न्याय** शाश्वत सिद्धान्तों पर आधारित है। ये शाश्वत सिद्धान्त सर्वत्र विद्यमान हैं। ये सार्वकालिक और सार्वदेशीय हैं। ये किसी की स्वीकृति या अस्वीकृति पर निर्भर नहीं करते। राज्य चाहे तो इन्हें अपनी व्यवस्था में स्थान दे सकता है। **कानूनी न्याय** राजनीतिक समुदाय अर्थात् राज्य के विधायकों द्वारा विवेक के आधार पर निश्चित किया जाता है।

2. **संकीर्ण अर्थ**—यह न्याय का कानूनी दृष्टिकोण है। यह न्यायालय द्वारा

प्रदान किया गया न्याय है। अरस्तू ने इसे विशिष्ट न्याय की संज्ञा दी है। यह कानूनी न्याय है। इसमें न्याय एक प्रक्रिया (process) है। इसमें यह देखा जाता है कि क्या व्यक्ति के साथ न्याय हो रहा है या नहीं ? इसमें यह देखा जाता है कि कानून बनाने वाली संस्थायें वैधानिक हैं या नहीं, कानून न्यायोचित है या नहीं, व्यक्ति कानून के समक्ष समान है या नहीं, व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त है या नहीं ? इस कानूनी न्याय में संविधान, विधानमण्डल, न्यायालय, निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायिक प्रक्रिया आदि तत्त्व न्याय के आवश्यक अंग समझे जाते हैं।

न्याय की परिभाषा (Definition of Justice)—न्याय की कोई सुनिश्चित और सार्वकालिक परिभाषा देना कोई सरल कार्य नहीं। फिर भी दार्शनिकों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। न्याय की मुख्य परिभाषायें निम्न हैं :

1. **सी. आर्के** के अनुसार, "न्याय की अवधारणा का एक विशेष प्रयोग समाज की संस्थाओं, विशेषकर इनकी कानूनी, राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं, का मूल्यांकन करना है। हम अपनी कार्यकारिणी धारणाओं को समाज की इन्हीं संस्थाओं से प्राप्त करते हैं और इन्हीं पर इनका प्रयोग करते हैं।"

2. **जॉन राल्स** के अनुसार, "एक सामाजिक व्यवस्था का न्याय मुख्यतः इस बात पर आधारित है कि समाज में मूलभूत अधिकार और कर्त्तव्य कैसे हैं और समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आर्थिक अवसर और सामाजिक परिस्थितियां कैसी हैं।" एक अन्य स्थान पर **राल्स** ने कहा है कि "जिस प्रकार सत्य विचार की व्यवस्थाओं का प्रथम सद्गुण है उसी प्रकार सामाजिक संस्थाओं का प्रथम सद्गुण न्याय है।"

3. **ह्यूम** के अनुसार, "न्याय के उदय का एक मात्र आधार सार्वजनिक उपयोगिता है।"

4. **जे. रीस** के अनुसार, "न्याय एक मांग करता है कि यदि दो व्यक्ति समान हैं तो उन्हें समान हिस्सा मिलना चाहिए, यदि वे असमान हैं तो उनका हिस्सा असमान होना चाहिए परन्तु यह असमानता उसकी असमानता के अनुपात में होनी चाहिए।"

5. **समाजशास्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोष के अनुसार**, "न्याय वह क्रियाशील प्रक्रिया है जिसके माध्यम से उस चीज को रोका जाता है अथवा उपचार प्राप्त किया जाता है जिससे अन्याय के भाव उत्तेजित होते हैं।"

न्याय के विविध पहलू

न्याय के विविध पहलू मुख्यतः निम्न हैं—

1. **कानूनी न्याय** (Legal Justice)—यह न्याय राज्य के कानूनों पर आधारित होता है। इसे न्यायालय द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके मुख्य अर्थ अग्रलिखित हैं—

(a) **कानून युक्तियुक्त (न्यायोचित) हो**—इसका अर्थ है कि कानून बनाने वाली संस्था उचित हो और बनाये गये कानून न्यायोचित हों। न्यायालय को कानून की जाँच करने का अधिकार भी होना चाहिए। यदि न्यायालय कानून को संविधान की धाराओं के विपरीत समझे तो उसे अवैधानिक घोषित कर रद्द करने का अधिकार होना चाहिए। अमरीका और भारत की सर्वोच्च न्यायालय को इस प्रकार का अधिकार प्राप्त है।

(b) **कानून के समक्ष समानता**—इसका अर्थ है कि सभी व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के कानून के समक्ष समान हों। व्यक्तियों में धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग, जन्म स्थान या किसी अन्य आधार पर कोई भिन्नता न हो। परन्तु कानून के समक्ष समानता का यह अर्थ नहीं कि राज्य का प्रत्येक कानून सार्वलौकिक होना चाहिए अथवा राज्य "उचित वर्गीकरण" नहीं कर सकता। राज्य विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्त के लिए विशेष कानूनों का निर्माण कर सकता है। राज्य 'उचित वर्गीकरण' कर सकता है, परन्तु वह वर्गीय या साम्प्रदायिक कानून का निर्माण नहीं कर सकता। कानून के समक्ष समानता का यही अर्थ है कि राज्य कानून द्वारा समान परिस्थितियों वाले व्यक्तियों में भिन्नता नहीं कर सकता।

(c) **कानून का समान संरक्षण**—इसकी दो आवश्यकतायें हैं—(i) न्यायिक प्रक्रिया सरल हो और (ii) न्याय सस्ता हो। सभी प्रकार के व्यक्ति, धनी और निर्धन कानून के संरक्षण का तभी लाभ उठा सकते हैं, अर्थात् न्यायालय से उपचार प्राप्त कर सकते हैं, यदि न्यायिक प्रक्रिया इन दो आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

(d) **स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय**—न्याय तभी स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो सकता है जब वे न्यायालय स्वतन्त्र और निष्पक्ष हों जिनके द्वारा न्याय प्रदान किया जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि न्यायालय कार्यपालिका से स्वतन्त्र हों, न्यायाधीशों की सेवाओं की शर्तें ऐसी हों कि वे बिना भय के और स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करें, न्यायाधीशों की नियुक्ति और विमुक्ति का तरीका निष्पक्ष हो, उनके वेतन अच्छे हों एवं उनका कार्यकाल लम्बा हो।

2. राजनीतिक न्याय (Political Justice)—इसका अर्थ है कि राज्य के नागरिकों की राज्य के कार्यों और प्रभुसत्ता में समान साझेदारी हो। इसका अर्थ है कि सभी को समान मताधिकार प्राप्त हो, प्रत्येक के मत का समान मूल्य हो और सार्वजनिक पद सभी नागरिकों के लिए समान रूप से खुले हों। विचारों की भिन्नता या अन्य किसी आधार पर नागरिकों में कोई भिन्नता नहीं होनी चाहिए।

3. सामाजिक न्याय (Social Justice)—इसका अर्थ है कि सामाजिक स्तर पर व्यक्ति को समान समझा जाये और उनमें ऊँच-नीच अथवा छुआ-छूत का कोई भेद न हो। इसका अर्थ है कि सभी को बिना किसी भेद-भाव के विकास के

अवसर उपलब्ध हों और किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त न हो। इसका अर्थ है कि सभी को समान सामाजिक अधिकार प्राप्त हों।

4. आर्थिक न्याय (Economic Justice)—इस सम्बन्ध में दो विचार हैं। एक विचार उदारवादियों का है और दूसरा विचार मार्क्सवादी-साम्यवादियों का है। उदारवादी व्यक्ति को अकेला छोड़ देना चाहते हैं। ये प्रतिबन्ध और नियन्त्रण की नीति को व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक मानते हैं। ये समाज कल्याण के लिए सम्पत्ति पर नियन्त्रण की बात तो करते हैं परन्तु उसका राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण नहीं चाहते। दूसरी ओर, मार्क्सवादी-साम्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था और सम्पत्ति को ही समाज में वर्ग भेद, अन्याय और शोषण के लिए उत्तरदायी मानते हैं। अतः ये सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं। साम्यवादी समाज में आर्थिक न्याय के सिद्धान्त का आधार होगाः "प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार।"

दीवानी और फौजदारी न्याय

दीवानी और फौजदारी न्याय में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. आघात में अन्तर—अपकार (Wrongs) दो प्रकार के होते हैं: (i) व्यक्तिगत अपकार (Private Wrong) और (ii) सार्वजनिक अपकार (Public Wrong)। व्यक्तिगत अपकार व्यक्ति विशेष के दीवानी (नागरिक) अधिकारों की उल्लंघना से सम्बन्धित होता है। इसका प्रभाव व्यक्ति विशेष पर पड़ता है और इससे व्यक्ति विशेष की ही हानि होती है। इसका सामान्यतः समाज पर प्रभाव नहीं पड़ता। सार्वजनिक अपकार सार्वजनिक अधिकारों और कर्त्तव्यों की उल्लंघना से सम्बन्धित होता है। इसका प्रभाव समूचे समाज पर पड़ता है। इससे समूचे समाज की हानि होती है। यह कानून द्वारा निषिद्ध कार्यों की श्रेणी में आता है। इसीलिए इस अपकार को अपराध (Crime) की संज्ञा दी जाती है। दीवानी अपकार दीवानी क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं, जबकि सार्वजनिक अपराध फौजदारी क्षेत्र में आते हैं।

2. उद्देश्यों में अन्तर—दीवानी कार्यवाही का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों को लागू करना होता है जबकि फौजदारी कार्यवाही का उद्देश्य अपराधी को दंडित करना होता है। दीवानी अपकार व्यक्तिगत अपकार होने से व्यक्ति विशेष ही इसके लिए उपचार की मांग करता है परन्तु सार्वजनिक अपराध के लिए राज्य का कोई प्राधिकृत अधिकारी, सामान्यतः अभियोक्ता (Prosecutor) अभियुक्त (अपराधी) पर दोषारोपण करता है।

3. प्रकृति और परिणामों में अन्तर—दीवानी कार्यवाही अपनी प्रकृति में उपचारी (remedial) है जबकि फौजदारी कार्यवाही अपनी प्रकृति में दण्डनीय (Penal) है। जब दीवानी कार्यवाही सफल हो जाती है तो इसमें वादी को कुछ उपचार प्राप्त हो सकता है: क्षतिपूर्ति, ऋण की अदायगी, आज्ञप्ति (d cree)

निषेधाज्ञा (injunction), निर्दिष्ट प्रकार के कार्यों की पूर्ति, पुनर्स्थापना आदि। जब फौजदारी कार्यवाही सफल हो जाती है तो अपराधी को दण्डित किया जाता है। यह दण्ड मृत्यु दण्ड, कारावास दण्ड या अर्थदण्ड कुछ भी हो सकता है।

4 प्रवर्तन (अपील) के भिन्न-भिन्न तरीके—दीवानी आरोपों की जांच दीवानी न्यायालयों में और फौजदारी अपराधों की जांच सत्र न्यायालयों में की जाती है। उच्च न्यायालयों में जहाँ अपीलों की सुनवाई एक ही प्रकार की न्यायालय करती है वहां दोनों प्रकार के विवादों में साक्षी की प्रकृति भिन्न-भिन्न हो सकती है।

दीवानी और फौजदारी मामलों में उपर्युक्त भिन्नताओं का व्यावहारिक महत्त्व होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के क्षेत्र को आच्छादित (over-lap) करते हैं इसके मुख्य उदाहरण निम्न हैं—

1. सभी सार्वजनिक अपराध फौजदारी नहीं होते और सभी फौजदारी अपराध सार्वजनिक अपराध नहीं होते। उदाहरणतः करों को अदा न करना अथवा राज्य के साथ किये गये समझौतों की उल्लंघना करना सार्वजनिक अपराध में गिने जाते हैं क्योंकि इनमें राज्य एक पीड़ित पक्ष (aggrieved Party) होता है परन्तु इन अपराधों के लिए दीवानी उपचार ही प्राप्त किये जा सकते हैं। दूसरी ओर विवाह सम्बन्धी अपराधों की सुनवाई न्यायालय तभी करती है जब व्यक्ति इसके लिए याचिका प्रस्तुत करता है।

2. अनेक ऐसे अपराध हैं जिनके लिए दीवानी और फौजदारी (दण्डनीय) दोनों उपचार प्राप्त हो सकते हैं। उदाहरणतः किसी भी भूमि में अनाधिकार प्रवेश (trespass) ऐसा फौजदारी अपराध है जिसके लिए दुष्कृत (torts) में क्षतिपूर्ति भी उपलब्ध है।

फौजदारी न्याय अथवा दण्ड की आवश्यकता

दण्ड एक बुराई है फिर भी दण्ड सामाजिक जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। व्यक्ति की समाज विरोधी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए समाज में शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए तथा अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को लागू करने के लिए दण्ड की आवश्यकता होती है। दण्ड के अभाव में व्यक्ति की दूषित प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना कठिन होता है।

फौजदारी न्याय अथवा दण्ड का प्रयोग

दण्ड तभी दिया जाना चाहिये जब अपराध किया गया हो। इसका प्रयोग तभी होना चाहिये जब किसी अन्य बड़ी बुराई का निराकरण होता है अन्यथा दण्ड नहीं देना चाहिये। जैसाकि **बेन्थम** ने कहा है कि जहां दण्ड 'निराधार' है अर्थात् जहां दण्ड किसी बुराई को नहीं रोकता, वहां दण्ड कभी नहीं देना चाहिए। जहां दण्ड 'अनावश्यक' है अर्थात् जहां बुराई स्वयं समाप्त हो गई है या दण्ड

के बिना ही रोकी जा सकती है वहाँ भी दण्ड नहीं देना चाहिए। जहाँ दण्ड प्रभाव-शून्य है अर्थात् जहां दण्ड के प्रयोग से बुराई को रोका नहीं जा सकता वहाँ भी दण्ड नहीं देना चाहिए। जहाँ दण्ड अलाभकारी है अर्थात् जहाँ दण्ड उस बुराई से, जिसे वह रोकता है, अधिक बुराई पैदा करता है वहाँ भी इसे नहीं देना चाहिए।

दण्ड, जैसाकि **पैटन** ने कहा है, स्वयं में साध्य नहीं। यह साध्य की प्राप्ति के लिए साधन है। उसका प्रयोग, जैसाकि **बैन्थम** ने कहा है, समुदाय का हित है। दण्ड देते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(i) अनुपात—दण्ड अपराध के अनुपात में होना चाहिए अर्थात् दण्ड की मात्रा न तो अपराध की मात्रा से बहुत अधिक और न उससे बहुत कम होनी चाहिए। उदाहरणतः साधारण अपराध के लिए कठोर दण्ड अनुचित है और गम्भीर अपराध के लिए साधारण दण्ड अलाभकारी है।

(ii विवेक—दण्ड विवेक पर आधारित होना चाहिए अर्थात् दण्ड निर्धारित करते समय अपराधी द्वारा पहुँचाई गई हानि, अपराधी की मंशा, अपराधी के पूर्व के अपराध, अपराधी की भौतिक परिस्थितियाँ, हानि से प्रभावित होने वाले लोगों की संख्या, अपराध की प्रवृत्ति, अपराधी की आयु तथा मनोदशा आदि तत्त्वों को ध्यान में रखना चाहिये।

(iii) निष्पक्षता—दण्ड निश्चित एवं निष्पक्ष होना चाहिये। इसे कभी दलीय व्यक्तियों या क्षतिग्रस्त व्यक्तियों के हाथों में नहीं होना चाहिये। यदि दण्ड दलीय व्यक्तियों के हाथों होगा तो उसके पक्षपातपूर्ण होने का भय रहता है; यदि यह क्षतिग्रस्त व्यक्तियों के हाथ में होगा तो बदले की भावना विद्यमान रहेगी।

(iv) मानवता—दण्ड अमानुषिक, क्रूर या निर्दयी नहीं होना चाहिये। इसका उद्देश्य मानव की नैतिक प्रवृत्तियों को उभारना होना चाहिये ताकि अपराधी अपने आपको सुधार सके और नैतिक जीवन व्यतीत कर सके।

दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त

दण्ड के सम्बन्ध में मुख्यतः निम्न सिद्धान्त पाये जाते हैं—

(i) प्रतिकारात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)—यह सिद्धान्त "**बदले की भावना**" पर आधारित है। इसकी धारणा है कि अपराधी को अपराध के अनुपात में दण्डित किया जाना चाहिये। उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की टांग तोड़ता है तो दण्ड के रूप में उसकी टांग तोड़ देनी चाहिये। इसे **"जैसे को तैसा," "अदले का बदला"** या **'आंख के बदले आँख'** और **"दाँत के बदले दाँत"** का सिद्धान्त भी कहा जाता है। यह सिद्धान्त पिछड़ी हुई, अशिक्षित एवं असभ्य समाजों में विद्यमान रहा है। इससे क्षतिग्रस्त व्यक्ति को आत्मतुष्टि करने का अवसर मिलता है। परन्तु धीरे-धीरे यह धारणा समाप्त हो गई और यह भावनायें विकसित होने लगीं कि अपराधी व्यक्ति के प्रति अपराध नहीं करता बल्कि

समाज के प्रति अपराध करता है। काण्ट और हीगल इस विचार के समर्थक थे। यही कारण है कि आज दण्ड क्षतिग्रस्त व्यक्ति के हाथ में नहीं होता बल्कि राज व्यवस्था का अभिन्न अंग होता है। आज दण्ड को निवारक और सुधारक के रूप में देखा जाता है, प्रतिशोध के रूप में नहीं।

(ii) **प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त** (Deterrent Theory)—यह सिद्धान्त "भय" या "डर" पर आधारित है। इसकी धारणा है कि किसी अपराध के लिए कठोर दण्ड निर्धारित करके व्यक्ति को अपराध करने से रोकना चाहिये अर्थात् दण्ड की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए डर पैदा करना चाहिये। इसके अनुसार दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता कि अपराध हुआ है बल्कि इसलिए दिया जाता है कि भविष्य में अपराध न हो। जैसाकि ग्रीन ने कहा है कि "दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को अपराध के लिए दण्ड देना नहीं है बल्कि उन व्यक्तियों के हृदय में डर पैदा करना है जो उसे करने की इच्छा रखते हैं।" इस तरह दण्ड, जैसाकि सामण्ड ने कहा है "अपराधी के प्रयोजन (motive) पर प्रभाव डालता है।" बैन्थम ने दण्ड के सार्वजनिक स्वरूप पर बल दिया है ताकि इसका दर्शकों पर प्रभाव पड़े। प्राचीन और मध्ययुग में दण्ड भयावह था और बर्बर भी। उदाहरणतः अपराधियों को खुले स्थान पर फांसी दी जाती थी, कोड़े लगाये जाते थे, उबलते तेल या पानी में डाल दिया जाता था, दीवार में जिन्दा चुन दिया जाता था, खाल खींच ली जाती थी, आदि।

दण्ड का निवारक सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि भावी प्रभाव की आशा से दण्ड को उग्र बनाना अनुचित है। यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त के विपरीत है।

(iii) **निरोधात्मक सिद्धान्त** (Preventive Theory)—यह सिद्धान्त **'निरोध'** या **'रुकावट'** पर आधारित है। इसकी मान्यता है कि अपराधी के मार्ग में रुकावट पैदा करके अर्थात् उसे कारागार में डाल देने से उसे पुनः अपराध करने से रोका जा सकता है। यह सिद्धान्त अपराधी की अपराध करने की क्षमता को समाप्त करने पर बल देता है। **यह अपराधी को शारीरिक दृष्टि से अशक्त बना देना चाहता है।** मृत्यु दण्ड, आजीवन कारावास अथवा अन्य प्रकार का कारावास, पद से बर्खास्तगी, लाइसेन्स समाप्त करने के आदेश, निर्वाचन में अयोग्यता सम्बन्धी आदेश, ये सब निरोधात्मक दण्ड के रूप हैं। जहाँ मृत्यु दण्ड और आजीवन कारावास निरोधात्मक दण्ड के उग्र रूप हैं वहाँ अन्य प्रकार के निरोधात्मक दण्ड इसके साधारण रूप हैं।

इस सिद्धान्त की त्रुटि यह है कि यह अपराधी के प्रति उदारनीति नहीं अपनाता और उसके सुधार में विश्वास नहीं करता। **दूसरे** यह सिद्धान्त अभ्यस्त अपराधियों (Habitual offenders) और बाल अपराधियों (Juveniles), पहली

बार अपराध करने वाले अपराधियों तथा भावावेश में अपराध करने वाले अपराधियों में कोई भेद नहीं करता।

(iv) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—यह सिद्धान्त **अपराधी के सुधार पर आधारित है। यह अपराध को एक रोग और अपराधी को एक रोगी मानता है।** यह अपराधी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना चाहता है। यह दण्ड को एक उपचार मानता है। इसकी मान्यता है कि अपराधी को इस प्रकार दण्डित किया जाना चाहिए कि उसके अन्तःकरण में अपने अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाये और वह पश्चाताप करे कि ऐसा अपराध समाज विरोधी है ताकि वह भविष्य में अपराध न करे। यह सिद्धान्त कारावास के स्थान पर सुधारालय स्थापित करना चाहता है। **बैन्थम** ने अपराधी को सुधारने के लिए **"पेनोप्टिकन"** योजना को प्रस्तुत किया था जिसे "बदमाशों को ईमानदार बनाने वाली चक्की" की संज्ञा दी गई है। यह सिद्धान्त मृत्यु दण्ड की कल्पना नहीं करता। इस सिद्धान्त का गुण यह है कि यह बाल अपराधियों और पहली बार अपराध करने वाले अपराधियों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाता है।

इस सिद्धान्त की त्रुटि यह है कि यह अपराध को सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम मानता है जबकि कुछ व्यक्ति स्वभाव से क्रूर, दुश्चरित्र, कुकर्मी और अपराधी प्रवृत्ति के होते हैं। **दूसरे**; यदि प्रत्येक अपराध को रोग मानकर बन्दीगृहों को सुधारालयों में परिवर्तित कर दिया जाय तो विधि पालन की दृष्टि से इसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं।

दण्ड के सम्बन्ध में उपर्युक्त कोई भी सिद्धान्त पूर्णतः सत्य नहीं। यद्यपि प्रत्येक में सत्य का कुछ अंश पाया जाता है। दण्ड का वह सिद्धान्त श्रेष्ठ है जो एक साथ प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक, निरोधात्मक और सुधारात्मक हो।

क्या मृत्युदण्ड उचित है? मृत्युदण्ड के सम्बन्ध में लेखकों में एकमत का अभाव है। कुछ का मत है कि मृत्युदण्ड जघन्य कार्य होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है। इसको समाप्त करने से अपराध की भावना को बढ़ावा मिलेगा तथा सामाजिक सुरक्षा एवं व्यवस्था खतरे में पड़ जायेगी। **बैन्थम** ने मृत्युदण्ड को उपयोगिता की दृष्टि से देखा है। वह लिखता है कि इस बात की क्या गारण्टी है कि अपराधी को मृत्यु दण्ड न देने से वह हत्या नहीं करेगा? यदि मृत्यु-दण्ड से ही उपयोगिता के उद्देश्यों की पूर्ति होती है तो मृत्यु दण्ड देना चाहिए क्योंकि इस स्थिति में अपराधी का जीना समाज के लिए बोझ होता है। ऐसे अपराधी का मरना समाज और अपराधी दोनों के लिए हितकर है।

मृत्यु-दण्ड के विरोधियों की धारणा है कि यह एक दूषित प्रथा है जो अपराध को कम नहीं करती। इनकी धारणा है कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि निवारक के रूप में इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं। अतः इसे

समाप्त कर देना चाहिये। स्विट्जरलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि देशों में मृत्यु-दण्ड समाप्त कर दिया गया है। अन्य देशों में यह विषय विचाराधीन है।

समीक्षा प्रश्न

1. विधि किसे कहते हैं ? इसके विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिए।
(Raj. Suppl. 1985)
2. विधि और नैतिकता के सम्बन्धों एवं भेदों का वर्णन कीजिए।

17

अवधारणायें-स्वतन्त्रता और समानता

(Concepts—Liberty and Equality)

(अ) स्वतन्त्रता

परिचय (Introduction)—स्वतन्त्रता मानव जीवन का एक विशेष गुण है। यह उसकी प्रेरणा का स्रोत है। यह उसकी प्रवृत्ति है। इसकी प्राप्ति के लिए मानव सर्वदा संघर्षशील रहा है। यद्यपि अधिकारों के रूप में स्वतन्त्रता आधुनिक समय की देन है, परन्तु यह किसी न किसी रूप में सर्वदा विद्यमान रही है। **सुकरात और प्लेटो** बौद्धिक तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। **स्टॉइक** और **एपिक्यूरियन** व्यक्ति को आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र समझते थे। **पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलनों में** व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की झलक मिलती है। पुनर्जागरण ने सोफिस्टों के इस उद्देश्य को पुनर्जीवित कर दिया था कि "मानव सभी वस्तुओं का मानदण्ड है।" **मिल्टन** का मत है कि "निरंकुशता का विरोध करना व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है।" **माण्टेस्क्यू** ने स्वतन्त्रता को अपना सर्वोत्तम राजनीतिक आदर्श बना लिया था।

स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए मानव ने उत्पीड़न, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सर्वदा संघर्ष किया है। उदाहरणतः इंगलैंड निवासियों ने स्टुअर्ट वंश की निरंकुशता के विरुद्ध विद्रोह किया; अमरीका निवासियों ने जार्ज तृतीय के शासन के विरुद्ध संघर्ष किया; फ्रांसीसियों ने लुई XVI के विरुद्ध संघर्ष किया। दो विश्व युद्ध "प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखने" के लिए लड़े गये थे। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय अन्दोलनों के पीछे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना रही है। **पैट्रिक हेनरी** के शब्द अमरीकी स्वतन्त्रता के आधार स्तम्भ थे—"**मुझे स्वतन्त्रता दीजिए या मृत्यु।**" **फ्रांसीसी क्रान्ति** की प्रेरणा शक्ति इन शब्दों में थी, '**स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व।**" भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में श्री **बाल गंगाधर तिलक** के ये शब्द चिरस्मरणीय हैं "**स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।**" लोकतान्त्रिक राज्यों में स्वतन्त्रता को मूल्यवान वस्तु समझा जाता है।

अर्थ, प्रकृति एवं परिभाषा (Meaning Nature and Definition)—स्वतन्त्रता व्यक्ति, समूह, संगठन, राष्ट्र या राज्य के लिए एक मूल्यवान वस्तु है।

इसके अभाव में व्यक्ति, संगठन और राज्य अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भी इसके अर्थों के सम्बन्ध में एक मत नहीं पाया जाता।

स्वतन्त्रता के विविध अर्थ—'समाजवाद' और 'समानता' की भाँति 'स्वतन्त्रता' शब्द का भी अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कुछ इसे स्वयं साध्य मानते हैं और कुछ के लिए यह साध्य की प्राप्ति के लिए साधन मात्र है। कुछ के लिए यह एक "वांछनीय तत्व" है। कुछ के लिए यह "प्रतिबन्ध, दासता या निरंकुशता से मुक्ति है। कुछ इसे किसी कार्य को करने की स्वतन्त्रता के रूप में लेते हैं। कुछ इसे प्राकृतिक अधिकारों के निर्बाध उपयोग के रूप में लेते हैं। कुछ 'पसन्द के चयन' को ही स्वतन्त्रता कहते हैं। कुछ इसे विशेषाधिकारों के रूप में लेते हैं। कुछ इसे स्वतन्त्र भाषण, अभिव्यक्ति, विचरने, समूह व संगठन बनाने की स्वतन्त्रता के रूप में लेते हैं। कुछ इसे स्वतन्त्र प्रतियोगिता कहते हैं, आदि।

स्वतन्त्रता का नकारात्मक अर्थ—स्वतन्त्रता को दो अर्थों में अभिव्यक्त किया जाता है (i) **नकारात्मक** और (ii) **सकारात्मक**। **नकारात्मक रूप** में इसे शब्द उत्पत्ति के रूप में देखा जाता है। **'लिबर्टी'** शब्द की उत्पत्ति **लैटिन भाषा के लिबर (Liber)** शब्द से हुई है जिसका अर्थ है–**'बन्धनहीनता'** या **'मर्यादाओं का अभाव'**। जब स्वतन्त्रता पर किसी बाह्य सत्ता की मर्यादायें न हों तो उसे स्वतंत्रता कहते हैं। यह स्वतन्त्रता का निरपेक्ष रूप है जिसमें व्यक्ति किसी बाह्य सत्ता से प्रभावित हुए बिना संकल्प करता है। इस संकल्प को कार्यान्वित करने की क्षमता को स्वतन्त्रता कहते हैं। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के समर्थकों, विशेषकर हॉब्स और रूसो ने प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति द्वारा उपयोग की जाने वाली स्वतन्त्रता को इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है। जैसाकि हॉब्स ने कहा है कि **"स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों के अभाव से है।"** रूसो ने भी लिखा है कि **"व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु वह सर्वदा जंजीरों (बन्धनों) में जकड़ा रहता है।"** अर्थात् व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है, परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसकी स्वतन्त्रता का ह्रास होता जाता है।

व्यक्तिवाद के समर्थकों, विशेषकर जे. एस. मिल, ने स्वतन्त्रता को 'बन्धन-हीनता' के रूप में देखा है। उसने "व्यक्ति की स्वयं पर प्रभुता को स्वतन्त्रता की संज्ञा दी है।" अर्थात् व्यक्ति को "अपने पर छोड़ देना चाहिए।" मिल व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बांटता है–**स्व-विषयक एवं पर विषयक** कार्य। मिल पर-विषयक क्षेत्र में समाज या राज्य को प्रतिबन्ध की आज्ञा देता है परन्तु स्व-विषयक कार्यों में अर्थात् उस क्षेत्र में जहाँ व्यक्ति के कार्यों का प्रभाव उस पर ही होता है, वह प्रतिबन्ध को बुराई मानता है। मिल की धारणा है कि व्यक्ति की मानसिक, बौद्धिक व नैतिक शक्तियों का विकास स्वतन्त्र वातावरण में ही सम्भव है। मिल अन्तःकरण, विचारों, धर्म, प्रकाशन, व्यवसाय, दूसरों से मिलकर कार्य करने आदि क्षेत्रों में व्यक्ति की निर्बाध स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है।

स्वतन्त्रता का सकारात्मक अर्थ—स्वतन्त्रता के सकारात्मक रूप का समर्थन करने वाले इसके नकारात्मक स्वरूप को भ्रामक मानते हैं। इनका कहना है कि स्वतन्त्रता को अनियन्त्रित रूप से स्वीकार करना उच्छृंखलता और अराजकता को जन्म देना है। हार्बर्ट स्पेन्सर, डी. एच. कोल, एच. जे. लास्की, मैकेन्जी, टी. एच. ग्रीन, लार्ड एक्टन, पेन आदि लेखकों ने स्वतन्त्रता को सकारात्मक अर्थों में स्वीकार किया है। इन लेखकों ने स्वतन्त्रता के सामाजिक पहलू पर बल दिया है जैसाकि स्पेन्सर ने लिखा है कि "प्रत्येक व्यक्ति वह करने को स्वतन्त्र है जिसकी वह इच्छा करता है, यदि वह किसी अन्य व्यक्ति की समान स्वन्त्रता का हनन नहीं करता।" फ्रांसीसी क्रांन्तिकारियों द्वारा स्वीकार की गई मानव अधिकारों की घोषणा में भी स्वतन्त्रता के सकारात्मक स्वरूप को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार "स्वतन्त्रता प्रत्येक कार्य को करने की शक्ति है जो किसी दूसरे को हानि नहीं पहुँचाती।" टी. एच. ग्रीन के अनुसार "स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने या उन वस्तुओं के उपयोग करने की सकारात्मक शक्ति है जो करने या उपयोग करने योग्य हैं और जो कुछ भी हम करते या उपयोग करते हैं वो हम दूसरों के साथ मिलकर करते हैं।' पेन के अनुसार, "स्वतन्त्रता उन बातों को करने का अधिकार है जो दूसरों के अधिकारों के विरुद्ध नहीं।" लास्की के अनुसार, "स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाये रखने की उत्सुकता है जिसमें व्यक्तियों को अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि का अवसर हो।"

स्वतन्त्रता का सही अर्थ—स्वतन्त्रता का नकारात्मक रूप जहां स्वतन्त्रता के व्यक्तिगत पहलू पर बल देता है वहाँ उसका सकारात्मक रूप उसके सामाजिक पहलू पर बल देता है। स्वतन्त्रता के नकारात्मक रूप को स्वीकार करना हानिकारक भी है और खतरनाक भी; क्योंकि व्यक्ति की ऐसी इच्छायें हो सकती हैं जिन्हें समाज स्वीकार नहीं कर सकता। उदाहरणतः समाज व्यक्ति की आत्महत्या, हत्या, सामाजिक उत्पात, साम्प्रदायिकता, जुआ, शराब या अन्य सामाजिक कुरीतियों की स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं कर सकता। अतः इन सामाजिक बुराइयों को नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। सामाजिक हित में इनके दमन की भी आवश्यकता है। दूसरे, व्यक्ति अकेले में स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता। वह दूसरों के सन्दर्भ में ही स्वतन्त्रता का उपयोग करता है। उसकी सामाजिकता उसे स्वतन्त्रता प्रदान करती है तथा उसकी सुरक्षा करती है। बार्कर ने ठीक कहा है कि मिल "रिक्त स्वतन्त्रता एवं सारहीन व्यक्तिवाद का ही पैगम्बर रहा।"

यह विचार मिथ्या है कि प्रत्येक प्रतिबन्ध बुराई है अथवा व्यक्ति की स्वतन्त्रता में प्रत्येक हस्तक्षेप स्वतन्त्रता की कटौती है। प्रतिबन्ध तभी हानिकारक है जब वह आत्म-सिद्धि में बाधक हो। यदि प्रतिबन्ध आत्म सिद्धि अर्थात् व्यक्ति के सर्वोत्तम रूप की प्राप्ति और विकास में सहायक है तो प्रतिबन्ध स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बल्कि सहायक है। मैकेन्ज़ी ने ठीक कहा है कि "स्वतन्त्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों के अभाव को नहीं कहते बल्कि अयुक्तियुक्त प्रतिबन्धों के स्थान पर

युक्तियुक्त प्रतिबन्धों की स्थापना को स्वतन्त्रता कहते हैं ।" लास्की ने लिखा है कि "यदि कानून यह कहे कि मैं अपने बच्चों को पढ़ाऊँ तो मुझसे मेरी स्वतन्त्रता छीनी नहीं जा रही । ऐतिहासिक अनुभव ने हमारे लिए ऐसे नियम बना दिए हैं जो समुचित जीवन की सुविधा देते है । उनको पालन करने के लिए विवश करना व्यक्ति को परतन्त्र करना नहीं । जब भी आचार-व्यवहार के ऐसे मार्गों को जो सामान्य हित में न हों, प्रतिबन्धित करना आवश्यक हो जाये तो उनका स्वच्छन्द कार्य क्षेत्र से हटाया जाना स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं समझा जाना चाहिए ।" सीले ने भी कहा है कि "स्वतन्त्रता अति शासन का विरोधी है ।" ग्रीन ने ठीक कहा है कि "सामाजिक सन्दर्भ में ही स्वतन्त्रता की कल्पना की जा सकती है। उसके बाहर अथवा उसके विरुद्ध स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती ।" स्वतन्त्रता का सकारात्मक स्वरूप ही उसके सही अर्थ को अभिव्यक्त करता है ।

स्वतन्त्रता के प्रकार

स्वतन्त्रता के प्रमुख प्रकार निम्न हैं —

1. प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—यह स्वतन्त्रता राज्य या अन्य किसी मानवीय संस्था से प्राप्त नहीं होती, इसे प्रकृति से प्राप्त किया जाता है। यह स्वतन्त्रता राज्य अथवा समाज से स्वतन्त्र एवं पूर्व है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित है। यह उसके जन्म से ही अपरिवर्तनीय है। व्यक्ति इसका हस्तान्तरण नहीं कर सकता ।

सामाजिक अनुबन्धवादी लेखक इसके मूल समर्थक रहे हैं। लॉक ने लिखा है कि व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की स्वतन्त्रताओं का उपयोग करता था। लॉक लिखता है कि "मानवीय अन्तःप्रेरणाओं में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति सर्वोत्तम प्रवृत्ति है और जो कुछ भी उसकी सुरक्षा के लिए बुद्धिसंगत है वह प्राकृतिक कानूनों के अनुसार उसका विशेषाधिकार है ।" **लॉक** व्यक्ति को "प्रकृति से स्वतन्त्र और समान" मानता है। उसका मत है कि व्यक्तियों के **समाज में प्रवेश करने का कारण ही अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।"** लॉक राज्य को व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं देता। **हर्बर्ट स्पेन्सर** प्राकृतिक स्वतन्त्रता को व्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रता मानता है। **वॉल्टेयर ने** लिखा है कि व्यक्ति को "स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और कानून की सुरक्षा का समान अधिकार है और किसी सभ्य समाज को उन्हें वापस लेने का अधिकार नहीं ।"

2. निजी स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—इस स्वतन्त्रता के माध्यम से व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतन्त्रता का उपयोग करता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि यदि समाज को व्यक्ति के उन कार्यों पर नियन्त्रण करने का अधिकार है जो दूसरों को प्रभावित करते हैं तो समाज भी व्यक्ति के निजी क्षेत्र में आने वाले कार्यों को नियन्त्रित नहीं कर सकता। जिन क्षेत्रों में व्यक्ति के प्रयासों के परिणाम उन पर ही प्रभाव डालते हैं उनमें उसे पसन्दगी की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

Buti

उदाहरणतः वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, परिवार, धर्म आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ व्यक्ति को निजी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और राज्य को इनमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लोकतान्त्रिक देशों में नागरिकों की निजी स्वतन्त्रता का अत्यधिक महत्त्व होता है। उन्हें अपने विचारों, पसन्द और मूल्यों के अनुसार जीवन-यापन करने की स्वतन्त्रता होती है।

जे. एस. मिल निजी स्वतन्त्रता का प्रमुख समर्थक रहा है। उसने विचारों की अभिव्यक्ति और व्यवसाय की स्वतन्त्रता को भी निजी स्वतन्त्रता के क्षेत्र में लिया है।

4. नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—इसे नागरिक स्वतन्त्र एवं सभ्य समाज का सदस्य होने से प्राप्त करता है। इसे समाज स्वीकार करता है और राज्य मान्यता प्रदान करता है। यह लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आधार है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। लोकतान्त्रिक संविधान में इसे नागरिकों के मूल अधिकारों के रूप में लिखा जाता है। इसके प्रमुख उदाहरण निम्न हैं—

(i) जीवन की स्वतन्त्रता।
(ii) भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।
(iii) प्रेस एवं प्रकाशन की स्वतन्त्रता।
(iv) शान्तिपूर्ण एवं बिना हथियारों के इकट्ठा होने की स्वतन्त्रता।
(v) समुदाय एवं संघ बनाने की स्वतन्त्रता।
(vi) स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने की स्वतन्त्रता।
(vii) निवास की स्वतन्त्रता।
(viii) सम्पत्ति अर्जन, धारण एवं व्यय की स्वतन्त्रता।
(ix) व्यवसाय, कारोबार एवं व्यापार की स्वतन्त्रता।

नागरिक स्वतन्त्रतायें; अन्य स्वतन्त्रताओं की भाँति, निरपेक्ष या असीमित नहीं होतीं। निरपेक्ष नागरिक स्वतन्त्रताओं की कल्पना करना मिथ्या है। अनियन्त्रित स्वतन्त्रतायें समाज और व्यक्ति दोनों के लिए हानिकारक हैं। अतः राज्य सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिष्टाचार, नैतिकता आदि के नाम पर इन्हें प्रतिबन्धित कर सकता है। परन्तु प्रतिबन्ध उचित ही हो सकते हैं अनुचित नहीं हो सकते।

4. राजनैतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—इसके माध्यम से नागरिक बिना किसी भेद-भाव के राज्यों के कार्यों में सक्रिय भाग ले सकते हैं। यह राज्य के कार्यों में नागरिकों की साझेदारी है। यह "राजनीतिक लोकतन्त्र" है। यह जैसाकि गिलक्राइस्ट ने कहा है, "व्यवहार में प्रजातन्त्र का पर्यायवाची है।" लीकॉक इसे 'संवैधानिक स्वतन्त्रता" कहता है। यह नागरिक स्वतन्त्रता की पूरक है। इसके अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता अर्थहीन हो जाती है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता शासन के उत्तरदायित्व को वास्तविक बनाने में सहायक है। यह नागरिकों को अकेले या सामूहिक रूप से अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता है। इसमें विरोध या विमत को संगठित करने की स्वतन्त्रता शामिल है। लास्की ने कहा है कि, "राजनीतिक स्वतन्त्रता राज्य के मामलों में सक्रिय होने की शक्ति है, यह सार्वजनिक कार्यों के सार तत्वों में मस्तिष्क के स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने की शक्ति है; यह बिना किसी बाधा के सामान्य सामूहिक अनुभवों में अपने अनुभवों का योगदान देने की शक्ति है। यह बिना किसी बाधा के सत्ता के स्थानों पर पहुँचने की शक्ति है।" राजनीतिक स्वतन्त्रता में सार्वजनिक वयस्क मताधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार, आलोचना या विरोध करने का अधिकार शामिल है।

अधिनायकवादी और लोकतन्त्रवादी राज्यों में प्रमुख भेद यह है कि जहाँ अधिनायक राज्यों में राजनीतिक स्वतन्त्रतायें नाम मात्र की होती हैं और विरोध या विमत प्रायः अनुपस्थित होता है वहाँ लोकतान्त्रिक राज्यों में राजनीतिक स्वतन्त्रतायें वास्तविक और विरोध सुदृढ़ होता है।

लास्की ने राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविक बनाने के लिए दो आवश्यकताओं पर बल दिया है —(i) नागरिकों का शिक्षित होना और (ii) समाचारों की सही एवं निष्कपट उपलब्धि।

5. **आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)**—इसके माध्यम से व्यक्ति अपने आपको भय और अभाव से सुरक्षित समझता है। यह बेरोजगारी, अपर्याप्तता और कल की चिन्ता से मुक्ति दिलाती है। यह शोषण, अन्याय और गम्भीर आर्थिक विषमताओं से मुक्ति चाहती है। यह माँग करती है कि व्यक्ति को अपने आर्थिक प्रयासों का लाभ मिले और उसके जीविकोपार्जन के साधन दूसरे की इच्छा पर निर्भर नहीं रहें। यह कुछ को ऐश्वर्य और विनोद की सुविधायें देने से पूर्व सबकी अनिवार्यता एवं प्राथमिक आवश्यकतायें पूरा करना चाहती है।

आर्थिक स्वतन्त्रता आर्थिक प्रजातन्त्र की माँग करती है। यह, जैसाकि लास्की ने कहा है, उद्योग में प्रजातन्त्र की माँग करती है। इसका अर्थ है कि श्रम को एक वस्तु न समझा जाये बल्कि एक "सामाजिक उपयोगिता" समझा जाये। श्रमिक को, जैसाकि **श्रम संघवादी** कहते हैं, 'मजदूरी' नहीं बल्कि 'प्रतिफल' प्राप्त हो और मजदूर को मानव समझा जाये, उसे "कोल्हू का बैल" न समझा जाए। इसका अर्थ है कि श्रमिक की उद्योग प्रबन्ध में साझेदारी हो, उसके लिए कार्य सुरक्षित हो, उसके लिए कार्य के घंटे निश्चित हों, उसे पर्याप्त फल प्राप्त हो और उसे बुढ़ापे और असहाय अवस्था में आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो। आर्थिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्र प्रतियोगिता की नहीं बल्कि उसके नियमन और नियन्त्रण की माँग करती है; यह सम्पत्ति के असीमित अधिकार की नहीं बल्कि सीमित अधिकार की माँग करती है।

आर्थिक स्वतन्त्रता राजनीतिक स्वतन्त्रता की पूरक है। आर्थिक सुरक्षा के अभाव में व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है, उसकी क्षमताओं का ह्रास होता है और वह समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में कार्य नहीं कर सकता। **जी. डी. एच. कोल** ने कहा है कि "आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता मिथ्या है।" **स्टालिन** ने भी कहा है कि, **"एक भूखे, बेरोजगार के लिए निजी स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं। सच्ची स्वतन्त्रता वहीं सम्भव है जहाँ शोषण, बेरोजगारी, भिखमँगी या कल की चिन्ता की समस्या नहीं है।"**

राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविक बनाने के लिए न्यूनतम आर्थिक, स्वतन्त्रता अनिवार्य है अन्यथा राजनीतिक स्वतन्त्रता धनवानों की अनुचर बनकर रह जायेगी। उदाहरणतः एक दरिद्र, असहाय और भूखे व्यक्ति के लिए मताधिकार का कोई महत्त्व नहीं होता। उसकी प्राथमिक आवश्यकता भूख है जिसे मिटाने के लिए वह मताधिकार की सौदेबाजी कर सकता है अर्थात् उसे बेच सकता है। आर्थिक साधनों के अभाव के कारण एक निर्धन व्यक्ति कभी निर्वाचित होने की कल्पना नहीं कर सकता। एक निरक्षर और अनभिज्ञ व्यक्ति नीतियों की आलोचना करने, न्यायालय का संरक्षण प्राप्त करने, अच्छे अधिवक्ता की सेवायें प्राप्त करने, जमानत की सुविधायें आदि प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

6. धार्मिक स्वतन्त्रता (Religious Liberty)—यह अंतःकरण की स्वतन्त्रता है। यह व्यक्ति को स्वेच्छा से किसी धर्म को मानने, उस पर आचरण करने और उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता देती है। इसमें धर्म के संस्कारों और रीतियों की स्वतन्त्रता शामिल है। व्यक्ति किसी धर्म के संस्कारों, व्यवहारों, समारोहों और पूजा के तरीकों को अपना सकता है, धार्मिक प्रयोजनों के लिए धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और उनका पोषण कर सकता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता धर्म निरपेक्ष राज्य की माँग करती है। यह ऐसे राज्य की माँग करती है जिसका अपना कोई धर्म न हो, जो धर्म के नाम पर नागरिकों में किसी प्रकार की भिन्नता न करे, किसी धर्म विशेष के अनुयायियों को संरक्षण प्रदान न करे या दण्डित न करे, धर्म को निजी क्षेत्र का विषय समझकर धार्मिक मामलों को व्यक्ति पर छोड़ दे, जो सभी धर्मों को समान समझे और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाये।

धार्मिक स्वतन्त्रता निरपेक्ष नहीं होती। जब कभी धर्म सामाजिक उत्पात पैदा करता है या ऐसे संस्कारों को पनाह देता है जो हानिकारक हैं तो राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य, समाज कल्याण और सुधार के नाम पर धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है।

7. सामाजिक स्वतन्त्रता (Social Liberty)—इसका अर्थ है कि समाज में धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग, जन्म-स्थान, भाषा या अन्य किसी आधार पर व्यक्तियों में कोई भेद-भाव न किया जाये। इसका अर्थ है कि सभी को विकास के समान

अवसर प्राप्त हों, सभी को कानून के समक्ष समान समझा जाये और सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो।

8. **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National Liberty)**—इसका अर्थ है बाह्य नियन्त्रण से मुक्ति। व्यक्ति की भांति राष्ट्र भी स्वतन्त्रता की कल्पना करते हैं और जब वे इसे प्राप्त कर लेते हैं तो स्वतन्त्र राज्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उपनिवेशवादी शक्तियों के विरुद्ध चलाये गये राष्ट्रीय आन्दोलनों का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सम्प्रभुता का विशेष गुण है। इसका महत्त्व इसलिए अधिक है कि व्यक्ति की अन्य सभी स्वतन्त्रतायें इस स्वतन्त्रता पर निर्भर करती हैं।

9. **नैतिक स्वतन्त्रता (Moral Liberty)**—इसका सम्बन्ध व्यक्ति के नैतिक चरित्र से है अर्थात् व्यक्ति के औचित्यपूर्ण व्यवहार से है। जब व्यक्ति सद्गुणों से प्रभावित होकर कार्य करता है तो उस व्यक्ति को नैतिक रूप से स्वतन्त्र माना जाता है परन्तु जब वह स्वार्थ, लोभ, क्रोध, घृणा आदि दुर्गुणों के वशीभूत होकर कार्य करता है तो उसे नैतिक दृष्टि से परतन्त्र माना जाता है।

स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक शर्तें

स्वतन्त्रता के समुचित उपयोग के लिए मुख्यतः निम्न शर्तों की आवश्यकता होती है—

1. **सतत् जागरूकता (Eternal Vigilance)**—स्वतन्त्रता की सर्वोत्तम शर्त नागरिकों की सतत् जागरूकता है। यदि नागरिक अपनी स्वतन्त्रता के प्रति जागरूक हैं तो निरंकुश से निरंकुश शासन भी उन्हें इससे वंचित नहीं कर सकता। यदि नागरिक उदासीन हैं या अपनी असहाय स्थिति के कारण अकर्मण्य हैं तो उदार से उदार शासन भी उनकी रक्षा नहीं कर सकता। यदि नागरिक स्वयं स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु तत्पर नहीं तो कोई संविधान या न्यायालय उसकी रक्षा नहीं कर सकता। **बायरन** ने ठीक ही कहा है कि, **"सतत् जागरूकता स्वतन्त्रता की कीमत है।"**

2. **निडरता एवं साहस (Fearlessness and Courage)**—नागरिकों की निडरता और साहस भी स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है क्योंकि एक लोकतान्त्रिक शासन भी नागरिक स्वतन्त्रताओं का गला घोंट सकता है, विरोध का दमन कर सकता है और विमत को समाप्त कर सकता है। नागरिकों में आतंक और दमन का सामना करने का साहस होना चाहिए। नागरिकों की बुजदिली और स्वार्थ स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। **पेरिक्लीज** ने एथेन्सवासियों को कहा था कि **"साहस स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है।"**

3. **लोकतान्त्रिक भावनायें (Democratic Attitudes)**—स्वतन्त्रता नागरिकों तथा उनके संगठनों में, विशेषकर राजनैतिक दलों में, लोकतान्त्रिक भावनाओं और आचरण की माँग करती है। लोगों में स्वशासन और स्वाभिमान

की दृढ़ इच्छा होनी चाहिये; उनमें व्यक्ति के गौरव के प्रति आस्था होनी चाहिए। **पिनॉक और स्मिथ** ने कहा है कि यदि "**शताब्दियों का भार इतना अधिक नहीं है कि वह व्यक्तिगत आरम्भन और राजनीतिक सक्रियतावाद की आज्ञा नहीं देता तो प्रजातन्त्र (और उसके साथ स्वतन्त्रता) कभी फलित नहीं हो सकता।**"[1] स्वतन्त्रता कोई कृत्रिम वस्तु नहीं जिसे बाहर से थोपा जा सके; यह अन्तःआत्मा से उत्पन्न होती है।

4. लोकतान्त्रिक शासन (Democratic Government)—स्वतन्त्रता के लिए लोकतान्त्रिक शासन अनिवार्य है। सर्वसत्तावादी या अधिनायकवादी शासन स्वतन्त्रता के घोर शत्रु हैं। इस प्रकार के शासन नागरिकों की किन्हीं स्वाभाविक या अहरणीय स्वतन्त्रताओं में विश्वास नहीं करते। लोकतान्त्रिक शासन नागरिकों की इच्छा और सहमति पर आधारित होते हैं। अतः इस प्रकार के शासन ही स्वतन्त्रताओं का पोषण कर सकते हैं।

5. विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति (Absence of Privileges)—विशेषाधिकारों का स्वतन्त्रता से कोई मेल नहीं। जैसाकि **लास्की** ने कहा है कि "समाज के किसी भाग को यदि विशेषाधिकार प्राप्त हैं तो लोक स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकते।" विशेषाधिकार जहाँ विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति एवं वर्ग में अहम् और उद्दण्डता की भावना पैदा करते हैं वहाँ उससे वंचित व्यक्ति एवं वर्ग में निराशा और हीनता की भावना पैदा करते हैं।

6. आर्थिक समानता (Economic Equality)—स्वतन्त्रता न्यूनतम आर्थिक समानता की माँग करती है। यदि समाज में गम्भीर आर्थिक विषमतायें हैं तो स्वतन्त्रता धनाढ्यों की कठपुतली मात्र बनकर रह जायेगी। जैसाकि **लॉस्की** ने कहा है कि "जहाँ कुछ लोग अमीर और गरीब हैं, शिक्षित और अशिक्षित हैं वहाँ सदैव स्वामी-दास के सम्बन्ध पाये जाते हैं।"

स्वतन्त्रता समान अवसर की माँग करती है। कम से कम किसी व्यक्ति के रोजगार या जीविकोपार्जन के साधन दूसरे की मर्जी पर निर्भर नहीं रहने चाहिए।

7. निष्पक्षता एवं निर्वैयक्तिकता (Impartiality and Impersonality)—यद्यपि राज्यों के कार्यों में पूर्ण निष्पक्षता और निर्वैयक्तिकता होना सम्भव नहीं। फिर भी राज्यों के कार्यों में पक्षपात की भावना जितनी कम होगी स्वतन्त्रता उतनी ही सुरक्षित रहेगी। **माण्टेस्क्यू** ने ठीक लिखा है कि "स्वतन्त्रता की रक्षा और हनन प्रधानतः कानून के अभाव और उसके द्वारा दिये गये दण्ड की मात्रा पर निर्भर करती है।"

8. संविधानवाद (Constitutionalism)—संविधानवाद स्वतन्त्रता की आत्मा है। किसी राज्य में संविधानवाद की भावना जितनी सुदृढ़ होगी स्वतन्त्रता

---

1. Pennock & Smith : Political Science : An Introduction p. 285.

उतनी समुचित होगी। संविधानवाद निरंकुश शासन का शत्रु है। संविधानवाद निम्न बातों की माँग करता है—

(a) **लिखित संविधान**—संविधान की लिखित धारायें जितनी स्पष्ट होंगी स्वतन्त्रता के लिए खतरा उतना ही कम होगा।

(b) **मूल अधिकार**—संविधान में वर्णित नागरिकों के मूल अधिकार स्वतन्त्रता की सर्वोत्तम गारण्टी है। यह जहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की सीमायें निर्धारित करती है वहाँ नागरिकों को स्वतन्त्रता का आश्वासन भी देती है।

(c) **विधि का शासन**---संविधानवाद में शासन विधि का होता है, व्यक्ति का नहीं। इसमें विधि सर्वोच्च होती है, सभी विधि के अधीन होते हैं, कोई विधि से ऊपर, स्वतन्त्र या परे नहीं होता। किसी व्यक्ति का पद या स्थिति कुछ भी हो सभी विधि के अधीन होते हैं। सभी विधि के समक्ष समान होते हैं और सभी को विधि का समान संरक्षण प्राप्त होता है। विधि की उल्लंघना करने पर ही किसी व्यक्ति को उसके जीवन, स्वतन्त्रता या सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है अन्यथा नहीं। विधि का शासन निरंकुश शासन पर प्रहार करता है और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है।

(d) **सीमित एवं उत्तरदायी शासन**—संविधान शासनांगों की शक्तियों को मर्यादित करता है। जब कार्यपालिका या व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों का अतिक्रमण करती है तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है। संसदात्मक लोकतन्त्र उत्तरदायी शासन होता है। कोई भी संसदीय बहुमत किसी अल्पसंख्यक के हितों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

(e) **स्वतन्त्र न्याय पालिका**—स्वतन्त्र न्यायपालिका को स्वतन्त्रता का प्रहरी समझा जाता है। न्यायपालिका संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करती है और नागरिकों के मूल अधिकारों की गारण्टी के रूप में कार्य करती है। अतः न्यायपालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रखना चाहिए; न्यायाधीशों के पद को सुरक्षित रखना चाहिए; उनके लिए अच्छे वेतनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(f) **शक्ति पृथक्करण एवं विकेन्द्रीकरण**—स्वतन्त्रता शक्ति पृथक्करण की माँग करती है। यह शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की मांग करती है। शक्तियों का केन्द्रीयकरण स्वतन्त्रता के लिए खतरा उत्पन्न करता है। **लार्ड एक्टन** ने कहा है "शक्ति भ्रष्ट करती है और निरपेक्ष शक्ति निरपेक्ष रूप से भ्रष्ट करती है।" सत्ता का जितना अधिक विकेन्द्रीकरण होगा स्वतन्त्रता उतनी सुरक्षित रहेगी।

9. **प्रेस की स्वतन्त्रता**—प्रेस विचारों की अभिव्यक्ति, समाचारों के प्रकाशन और विरोध प्रकट करने का साधन है। अतः स्वतन्त्र प्रेस स्वतन्त्रता का मूल

आधार है। यदि प्रेस पर सरकारी नियन्त्रण अथवा वह साम्प्रदायिक या वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व करता है तो वह स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता। निष्कपट समाचारों के लिए प्रेस का स्वतन्त्र होना आवश्यक है।

10. जनमत—जनमत स्वतन्त्रता का आधार है क्योंकि जनमत ही सभी नागरिक स्वतन्त्रताओं की घोषणाओं के पीछे अन्तिम शक्ति है।

11. शान्ति—स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए वाह्य और आन्तरिक शान्ति आवश्यक है। युद्ध, क्रान्ति, आक्रमण या उपद्रव शक्ति के केन्द्रीयकरण को जन्म देते हैं और शक्तियों का केन्द्रीकरण स्वतन्त्रता का हनन करता है।

कानून और स्वतन्त्रता

कानून और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी विचार पाये जाते हैं। **एक विचार** व्यक्तिवादियों, अराजकतावादियों और श्रमसंघवादियों का है जो कानून को स्वतन्त्रता का भक्षक मानता है। **दूसरा विचार** आदर्शवादियों और समाजवादियों का है जो कानून को स्वतन्त्रता का पोषक एवं रक्षक मानता है। इसकी मान्यता है वास्तविक स्वतन्त्रता का उपयोग कानूनों की परिधि में रहकर ही किया जा सकता है।

(A) कानून और स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी मानने वाले विचार—**व्यक्तिवादी** यथेच्छाचारिता (अहस्तक्षेप) की नीति में विश्वास करते हैं। उनकी धारणा है कि व्यक्ति को अकेला छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह अपने निजी हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। **व्यक्तिवादी बन्धनहीन स्वतन्त्रता के पक्ष में है।** उनका मत है कि कानूनों की मात्रा जितनी अधिक होगी स्वतन्त्रता की मात्रा उतनी ही कम होगी। **फ्रीमेन** ने कहा है कि "शासन का सर्वोत्तम रूप शासन का अभाव है।"

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि राज्य इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपूर्ण है, उसमें स्वार्थ और अपराध की भावना है। जैसाकि **विलोवी** ने कहा है कि "मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के लिए ही राज्य सत्ता की आवश्यकता है।" **स्पेन्सर** ने भी लिखा है कि "राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध की भावना विद्यमान है।" व्यक्तिवादी राज्य को बुराई इसलिए मानते हैं कि प्रत्येक कानून या नियम जो राज्य द्वारा बनाया जाता है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करता है। अतः व्यक्तिवादी राज्य को केवल पुलिस कार्य ही सौंपना चाहते हैं। जैसाकि स्पेन्सर ने लिखा है कि "**मैं केवल सुरक्षा के लिए राज्य के साथ बीमा करता हूँ, किसी अन्य चीज के लिए नहीं।**"

व्यक्तिवादी प्रतिबन्ध की नीति को समाज और व्यक्ति दोनों के लिए हानिकारक समझते हैं। उनकी धारणा है कि प्रतिबन्ध से व्यक्ति की योग्यताओं का दमन होता है, अन्तःप्रेरणा और आत्मनिर्भरता नष्ट होती है; कार्य करने की प्रवृत्ति,

स्वावलम्बन तथा निर्णय लेने की शक्ति का ह्रास होता है, उत्तरदायित्व की भावना निर्बल होती है, चरित्र पंगु बनता है, व्यक्ति निरुद्यमी और आलसी बनता है। संक्षेप में, प्रतिबन्ध व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध करते हैं।

जे. एस. मिल जैसे व्यक्तिवादी विचारों, आर्थिक प्रतियोगिताओं और कार्य के क्षेत्र में, व्यक्ति को निर्बाध स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। **मिल** लिखता है कि "यदि सम्पूर्ण समाज का एक विचार है और केवल एक व्यक्ति ही विरोधी विचारधारा का है तो मानव जाति के लिए उसे शान्त रखना उसी प्रकार न्यायसंगत नहीं होगा जिस प्रकार यदि वह व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने पर दूसरे व्यक्तियों को चुप करा दे।"

अराजकतावादी व्यक्तिवादियों से भी दो कदम आगे बढ़ जाते हैं और राज्य को अनावश्यक बुराई कहते हैं। उनकी धारणा है कि राज्य एक दूषित संस्था है जो अनुपयुक्त, अनावश्यक, अवांछनीय और अस्वाभाविक है। उनका कहना है कि राज्य युद्ध, हिंसा, अन्याय, शोषण, असमानता, अत्याचार आदि को बढ़ावा देता है। **बेकुनिन** का मत है कि "राज्य कुछ लोगों को अत्याचारी एवं अहंकारी और बहुसंख्यक लोगों को सेवक या पराधीन बना देता है।" **क्रोपोटकिन** का मत है कि कानून या तो अनावश्यक है या हानिप्रद। **गॉडविन** का विश्वास है कि "विधि निर्माण लगभग सभी देशों में धनवानों के पक्ष में तथा निर्धनों के विपक्ष में होता है।"

श्रमसंघवादी लेखक भी राज्य विरोधी हैं। उनका विश्वास है कि "जिस प्रकार चीता अपने धब्बों में परिवर्तन नहीं कर सकता उसी प्रकार राज्य अपने बुर्जुआ स्वरूप में परिवर्तन नहीं कर सकता।"

(B) कानून और स्वतन्त्रता को परस्पर निर्भर मानने वाले विचार—कानून और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में दूसरा विचार आदर्शवादी लेखकों और प्रजातान्त्रिक समाजवादियों का है। इनके लिए राज्य एक धनात्मक अच्छाई है और व्यक्ति राज्य में ही स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है। **हीगल** ने राज्य को "पृथ्वी पर ईश्वरीय रूप" माना है। **बोसांके** राज्य को स्वतन्त्रता का पर्यायवाची मानता है। **ग्रीन** की धारणा है कि कानून ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करता है जिसमें व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव है। **लॉक** की धारणा है कि "जहाँ कानून नहीं वहाँ स्वतन्त्रता नहीं।" **रूसो** का मत है कि "वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो अपने समाज की इच्छाओं का पालन करता है।" **हॉकिंग** का मत है कि व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है उसे उतनी ही सीमा तक शासन की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।" **विलोबी** का मत है कि "जहाँ कानून नहीं होता वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं होती।"

(C) कानून और स्वतन्त्रता में सही सम्बन्ध—कानून और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये उपर्युक्त दोनों विचार अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। राज्य न तो

आवश्यक बुराई है जैसाकि व्यक्तिवादी मानते हैं और न अनावश्यक बुराई है जैसाकि अराजकतावादी मानते हैं। राज्य शोषण का यन्त्र भी नहीं जैसाकि समाजवादी, मार्क्सवादी या श्रमसंघवादी मानते हैं। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण है, जैसाकि, आदर्शवादी और समाजवादी कहते हैं, कि राज्य का प्रत्येक कानून स्वतन्त्रता की वृद्धि या सुरक्षा करता है। **राज्य के कानून, स्वतन्त्रता के लिए रक्षक हैं या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि कानून की प्रकृति क्या है, उनका उद्देश्य क्या है, वे किन लक्ष्यों की पूर्ति करते हैं और नागरिकों को उनकी समीक्षा तथा आलोचना करने की स्वतन्त्रता है या नहीं। लास्की** ने ठीक लिखा है कि **"बाधायें उन लोगों के निश्चयों पर आधारित होनी चाहिए जिन पर वे प्रभाव डालती हैं। यदि मुझे इस बात का ज्ञान है कि जो व्यवस्थायें लागू की गई हैं वे मेरी जांच या आलोचना के क्षेत्र से बाहर या परे हैं तो मैं निस्सन्देह परतन्त्र होऊँगा।"** कानून द्वारा लगाया गया प्रतिबन्ध तभी हानिकारक है जब वह व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध करता है। यह उस समय असत् प्रतीत होता है जब यह आत्मिक समृद्धि के जीवन को नष्ट करता है। यह उस समय कष्टकारी एवं उत्तेजना पैदा करने वाला होता है जब इसे संकीर्ण, स्वार्थी और वर्गीय हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। यदि कानून का उद्देश्य व्यक्ति की शक्तियों को मुक्त करना है या रचनात्मक प्रवृत्तियों की वृद्धि करना है, या आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को दूर करना है तो कानून न केवल स्वतन्त्रता के रक्षक होंगे बल्कि उसकी वृद्धि में सहायक भी होंगे। जैसाकि **लास्की** ने लिखा है कि "ऐतिहासिक अनुभव ने हमारे लिए ऐसे नियम बना दिये हैं जो समुचित जीवन की सुविधा देते हैं। उनका पालन करने के लिए विवश करना व्यक्ति को परतन्त्र करना नहीं है। जब भी आचार-व्यवहार के ऐसे मार्गों को, जो सामान्य हित में न हों, प्रतिबन्धित करना आवश्यक हो तो उनका स्वच्छन्द कार्य क्षेत्र से हटाया जाना स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं समझा जाना चाहिये।"

लोक कल्याणकारी राज्य और कानूनों द्वारा स्वतन्त्रता की सुरक्षा

लोक-कल्याणकारी राज्य में कानून मुख्यत: निम्न रूप से स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं—

1. कानून न्याय और दण्ड की व्यवस्था कर शान्तिमय सामाजिक जीवन को सम्भव बनाते हैं। कानून ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं जिसमें सामाजिक जीवन सम्भव होता है।

2. कानून स्वतन्त्रता के अतिक्रमण को रोकते हैं।

3. संवैधानिक कानून शासन के अनुचित एवं अवैध अतिक्रमण से स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं।

4. कानून शोषण, अन्याय, आर्थिक विषमताओं जैसी निर्दयी स्थितियों को दूर करने का प्रयास करते हैं। कानून अत्यधिक सम्पत्ति की सीमायें निर्धारित करके, उद्योगों में कार्य के घण्टे निश्चित करके, न्यूनतम वेतन निर्धारित करके तथा अन्य आर्थिक और सामाजिक सुविधायें प्रदान करके विषमताओं को दूर करने का प्रयास करते हैं।

5. कानून व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास की समुचित सुविधायें प्रदान करते हैं।

6. कानून रोजगार, अनिवार्य शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करते हैं जो स्वतन्त्रता में सहायक होती हैं।

7. कानून छुआछूत, साम्प्रदायिकता आदि विषमताओं को दूर कर सामाजिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाते हैं।

सक्षेप में, कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि उचित कानूनों की व्यवस्था में ही उचित स्वतन्त्रता का उपयोग सम्भव है।

(ब) समानता

अर्थ एवं प्रकृति—स्वतन्त्रता की भांति समानता भी प्रजातन्त्र का एक महान आदर्श है। इस पर भी इसकी स्पष्ट व्याख्या करना कठिन है। इसे निरपेक्ष रूप से कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता और समाजवाद की भाँति समानता शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। जितने अर्थों में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है उतना ही इसका व्यापक रूप सामने आता है। **जी. सारतोरी** ने कहा है कि "समानता के इतने पहलू और निहित अर्थ हैं कि सभी दृष्टिकोणों से परखने के बाद भी यह महसूस होता है कि इसे पूर्णतः समझा नहीं गया"।[1]

समानता को मुख्यतः निम्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है—

1. व्यक्ति प्रकृतिशः समान हैं—समानता का एक अर्थ यह है कि सभी व्यक्ति समान पैदा होते हैं और प्रकृति उन्हें समान रखना चाहती है। **फ्रांसीसी** क्रान्ति के समान फ्रांस को राष्ट्रीय सभा ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया था जब उसने कहा था कि अधिकारों के सम्बन्ध में व्यक्ति स्वतन्त्र और समान पैदा होते हैं और निरन्तर ऐसे बने रहते हैं।" **अमरीकी स्वतन्त्रता** की घोषणा ने भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया था जब उसने कहा था कि "हम इस सत्य को स्वयं सिद्ध समझते हैं कि सभी व्यक्तियों को समान उत्पन्न किया गया है।" परन्तु समानता के सम्बन्ध में यह विचार अपूर्ण है क्योंकि न तो प्रकृति सभी को समान पैदा करती है और न पैदा होने के समय सभी की परिस्थितियाँ समान होती हैं। प्रकृति से ही कुछ व्यक्ति बौद्धिक शक्तियाँ लेकर पैदा होते हैं और कुछ भौतिक शक्तियाँ, कुछ कुशाग्र बुद्धि होते हैं और कुछ मन्द बुद्धि; कुछ शारीरिक दृष्टि से

1. Sartori G. : Democratic Theory P. 326.

सुदृढ़ होते हैं और कुछ दुर्बल; कुछ आकार में सुन्दर होते हैं और कुछ कुरूप। प्रकृति ही कुछ को सद्गुणों से विभूषित करती है और कुछ को दुर्गुणों से। इस तरह प्रकृति से ही व्यक्तियों में गुणों, योग्यताओं और क्षमताओं में असमानता होती है। जन्म से भी व्यक्ति समान नहीं होते। जन्म के समय में व्यक्तियों की परिस्थितियाँ असमान होती हैं। कुछ धनाढ्य परिवार में पैदा होते हैं, कुछ मध्यम परिवार में और कुछ निर्धन परिवार में। कुछ को जन्म से ही ऐसी सुविधायें प्राप्त होती हैं कि वे अपने सर्वोत्तम रूप को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं जबकि अधिकांश को वे सुविधायें ही उपलब्ध नहीं होतीं कि वे अपनी क्षमताओं और व्यक्तित्व का विकास कर सकें। लास्की ने ठीक कहा है कि **"अवसर पैतृक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं"**[1]

2. समानता एकरूपता नहीं समानता का अर्थ एकरूपता नहीं है और विभिन्नताओं का अर्थ असमानता नहीं। जैसाकि लास्की ने कहा है कि जब तक व्यक्तियों में अभाव, बुद्धि और आवश्यकता के भेद हैं एक रूपता हो नहीं सकती। यदि एक गणितज्ञ को वैसा ही व्यवहार मिले जैसाकि एक ईंटकार को तो समाज का उद्देश्य आरम्भ में ही नष्ट हो जायेगा। निरपेक्ष समानता न तो सम्भव है और न वांछनीय। विश्व के किसी सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन ने निरपेक्ष समानता की मांग नहीं की।

3. समानता एक खास समतलीकरण है—समानता का अर्थ एक "खास समतलीकरण" है। इसका अर्थ है कि समाज में कोई व्यक्ति ऐसी स्थिति में न हो कि वह अपने पड़ौसी से इतना ऊँचा उठ जाय कि यह प्रक्रिया उसकी नागरिकता में बाधा का रूप ले ले। इसका अर्थ है कि मेरे सर्वोत्कृष्ट रूप की सिद्धि इस प्रकार हो कि दूसरे लोगों को इसी प्रकार की सिद्धि सम्भव हो। इसका अर्थ है कि सामाजिक शक्तियों में ताल-मेल हो कि मेहनत के भाग में और उसके द्वारा प्राप्त लाभ के भाग में एक सन्तुलन रहे। इसमें यह निहित है कि भले ही मेरा मत किसी दूसरे के मुकाबले हल्का हो परन्तु जब निर्णय किया जाये तो इसका ध्यान रखा जाय।"

4. विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति—समानता का अर्थ है कि किसी व्यक्ति, वर्ग, हित, जाति या धर्म के लिए कोई विशेषाधिकार न हो। विशेषाधिकार असमानता के आधार और संघर्ष के कारण रहे हैं। विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति समानता है। इसका अर्थ है कि राजनीतिक क्षेत्र में मेरा विचार दूसरे विचार के समान हो। एक व्यक्ति के एक मत का सिद्धान्त इसी समानता को अभिव्यक्त करता है। इसका अर्थ है कि मुझे राज्य के किसी पद को प्राप्त करने का अधिकार है। यदि लोग मुझे उसके लिए पसन्द करते हैं। यदि किसी व्यक्ति को पद प्राप्त करने से रोका जाता है तो समानता का हनन होता है।

---

1. "Opportunity is a matter of parental circumstance" Laski, Herold j. : Grammar of politics, p. 154-155

5. **अवसर की पर्याप्तता**—समानता का अर्थ है कि पर्याप्त अवसरों का मार्ग सभी व्यक्तियों के लिए प्रशस्त रहे। पर्याप्त अवसरों का अर्थ समान अवसरों से नहीं है। इसका अर्थ है कि "प्रतिभा" प्रोत्साहन के अभाव के कारण नष्ट नहीं हो जाय।" उदाहरणतः यदि कुछ बच्चे स्कूल भूखे आते हैं तो वे शिक्षा से वह लाभ नहीं उठा सकते जो भरपेट आते हैं। जैसाकि डायसी ने कहा है कि "मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं यदि मेरे पड़ोसी को उस अधिकार के कारण रोटी भी प्राप्त नहीं होती।" समानता इस बात की मांग करती है कि कुछ की विशिष्ट इच्छाओं की पूर्ति होने से पूर्व सबकी न्यून अनिवार्य आवश्यकतायें पूरी हों।

समानता के प्रकार

समानता के मुख्य प्रकार निम्न हैं—

1. **नागरिक समानता**—नागरिक समानता को वैधानिक समानता भी कहते हैं। इसका अर्थ है कि सभी नागरिक कानून के समक्ष समान हों और सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। जैसाकि **बार्कर** ने कहा है कि **"राज्य अपनी उपस्थिति में सभी वैध व्यक्तियों से समान व्यवहार करता है। राज्य वैध व्यक्तित्व को उच्च या निम्न श्रेणी प्रदान नहीं करता।"**[1] इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे उसका पद या स्थिति कुछ भी हो, कानून से ऊपर या परे नहीं और किसी को बिना कानून की उल्लंघना किये दण्डित नहीं किया जा सकता। **नागरिक समानता विधि के शासन की मांग करती है।**

विश्व के आधुनिक संविधानों में नागरिक समानता सभी व्यक्तियों को प्राप्त होती है। उदाहरणतः भारत में धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग, जन्म स्थान या अन्य किसी आधार पर व्यक्तियों में कोई भिन्नता नहीं की जाती। परन्तु फ्रांस जैसे देशों में जहां प्रशासनिक कानून और प्रशासनिक न्याय की व्यवस्था है वहां वैधानिक समानता में कुछ अपवाद पैदा हो जाते हैं।

2. **राजनीतिक समानता**—इसका अर्थ है कि राज्य के सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के राज्य के कार्यों में भाग लेने की समानता हो अर्थात् सभी नागरिकों को धर्म, जाति, लिंग, नस्ल, सम्पत्ति, शिक्षा या अन्य किसी आधार पर भेदभाव किये बिना मताधिकार प्राप्त हो, निर्वाचन में खड़ा होने और किसी सार्वजनिक पद को प्राप्त करने का अधिकार हो। यह समानता प्रजातन्त्र की आधारशिला है। परन्तु इस समानता का यह अर्थ नहीं कि सभी नागरिकों का समान 'राजनीतिक प्रभाव' हो। सभी नागरिकों का समान राजनीतिक प्रभाव होना सम्भव नहीं होता। नागरिकों में धन, योग्यता, कुशाग्र बुद्धि की भिन्नतायें राजनीतिक प्रभाव में भिन्नताएं पैदा कर देती हैं।

---

1. Barker, E : Principles of Social and Political Theory, p. 140

3. सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का अर्थ है कि कोई व्यक्ति सामाजिक आधार पर असमर्थ न हो और किसी दूसरे को कोई विशेषाधिकार प्राप्त न हो। सभी को समाज में समान महत्त्व प्राप्त हो और सभी को सामाजिक विकास से समान अवसर प्राप्त हों। व्यक्ति व्यक्ति में धर्म, जाति, प्रजाति, नस्ल या लिंग के आधार पर कोई भिन्नता न हो। सामाजिक समानता को सामाजिक न्याय की संज्ञा दी जाती है।

विश्व के प्रायः सभी संविधान अपने देश में रहने वालों को सामाजिक न्याय का आश्वासन देते हैं। उदाहरणतः भारतीय संविधान के आमुख में भारत में रहने वाली सभी जातियों को सामाजिक न्याय का आश्वासन दिया गया है।

4. प्राकृतिक समानता—संविदावादी लेखकों ने प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति की प्राकृतिक समानता की बात कही है। फ्रेंच क्रान्तिकारी काल की राष्ट्रीय सभा और अमरीकी स्वतन्त्रता की घोषणा में प्राकृतिक समानता की बात कही गयी है। परन्तु प्रकृति सभी को समान पैदा नहीं करती। प्रकृति से ही व्यक्ति गुणों, योग्यताओं, क्षमताओं, शालीनता, प्रतिभा, शक्ति, विचारों आदि में असमान होते हैं।

5. आर्थिक समानता—सामाजिक, नागरिक और राजनीतिक समानता का महत्त्व तभी है जब व्यक्तियों को आर्थिक समानता प्राप्त हो। आर्थिक समानता का अर्थ धन या सम्पत्ति के समान वितरण से नहीं। धन का समान वितरण न तो सम्भव है और न व्यावहारिक। जब तक व्यक्तियों के गुणों, योग्यताओं, क्षमताओं और आवश्यकताओं में भिन्नतायें पायी जाती हैं तब तक धन की भिन्नतायें विद्यमान रहेंगी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धन की भिन्नताओं के कारण समाज में शोषण और असहाय व्यवस्था विद्यमान रहे। राज्य का यह सर्वोत्तम कर्त्तव्य है कि वह धन में पाई जाने वाली गम्भीर आर्थिक विषमताओं का निवारण करे अन्यथा प्रजातान्त्रिक शासन भी आडम्बर और धोखा मात्र बनकर रह जायेगा। जैसाकि लास्की ने कहा है कि **जिस राज्य में थोड़े-से धनी हैं और असंख्य दरिद्र हैं वहाँ-सदैव ऐसी सरकार का विकास होगा जिसका प्रयोग धनिक वर्ग उन सुख सुविधाओं के लिए करेगें जो उनकी सम्पत्ति से उत्पन्न होती हैं।**" आर्थिक समानता के लिए यह आवश्यक है कि धन का संचय कुछ हाथों में न हो। धन का वितरण जितना व्यापक होगा लोगों में आर्थिक समानता उतनी अधिक पाई जायेगी।

आर्थिक समानता का यह अर्थ नहीं कि वेतनों में भिन्नता न हो। श्रम के लिए दिये जाने वाले मूल्य की दरों में विविधता होना स्वाभाविक है। कुशलता, दक्षता, योग्यता और विकास इस भिन्नता की माँग करते हैं। परन्तु वेतनों की दरों में भिन्नतायें इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि कोई व्यक्ति उन भिन्नताओं के कारण असमान प्रभाव डालने की क्षमता रखता हो। दुर्भाग्य से आज कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने प्रभाव का प्रयोग अपने गुण या कार्यों के कारण नहीं करते बल्कि अपने स्वामित्व के कारण करते हैं। आर्थिक समानता इस बात की माँग करती है

कि कुछ लोगों की विशेष मांगों को पूरा करने से पूर्व सबकी आवश्यक मांगों की पूर्ति की जाय। व्यक्तियों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में भिन्नताओं को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब समूचे समुदाय ने समानता का कुछ न्यूनतम आधार प्राप्त कर लिया हो।

आर्थिक समानता अधिकांशतः आनुपातिक समस्या है। यह न्यूनतम पर्याप्तता की समस्या है। यह सामाजिक न्याय की समस्या है। सभी को खाने पीने और आश्रय की आवश्यकता है और इन आवश्यकताओं की पूर्ति कार्य के अनुरूप हो सकती है। परन्तु किसी को ऐश्वर्य की सुविधायें दूसरे की अनिवार्य आवश्यकताओं की कीमत पर प्राप्त नहीं होनी चाहिए। सभी की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद भिन्नताओं को कार्य के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। पर्याप्तता की सीमा तक सभी की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। जैसाकि लास्की ने कहा है कि "कुछ के पास फालतू होने से पूर्व सबके पास पर्याप्त होना चाहिए।"

आर्थिक समानता अवसर की पर्याप्तता की मांग करती है अर्थात् सभी को कार्य का आश्वासन होना चाहिए और किसी के जीविकोपार्जन के साधन दूसरे की सनक पर निर्भर नहीं करने चाहिए। सभी को पर्याप्त वेतन मिलना चाहिए। कार्य के घण्टे निश्चित होने चाहिए, सभी को विश्राम प्राप्त होना चाहिए, सभी को बुढ़ापे या अन्य असहाय स्थिति में आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन होना चाहिए। संक्षेप में, उद्योग में स्वशासन होना चाहिए। श्रमिकों की केवल उत्पादन में ही नहीं बल्कि प्रबन्ध में भी साझेदारी होनी चाहिए।

राजनीतिक समानता तभी यथार्थ हो सकती है जब आर्थिक समानता प्रदान की जाय अन्यथा राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की अनुचर मात्र बनकर रह जायेगी। इसीलिए अरस्तू ने प्रजातन्त्र और निर्धनों द्वारा शासन के मध्य अल्पतन्त्र और धनिकतन्त्र के समीकरण की ओर इशारा किया था। आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए संघर्ष रोमन इतिहास की कुंजी है, यही इंगलैण्ड के कृषि सम्बन्धी असन्तोष की जड़ में है। यह जोन बाल के उपदेशों में है, मोर के यूटोपिया में है और हेरिंग्टन की ओशियाना में है। "कम्युनिस्ट घोषणा पत्र" में मार्क्स ने यही चेतावनी दी थी कि धन का केन्द्रीकरण "हरणकर्त्ताओं का हरण" कर लेगा। तभी तो लास्की ने कहा है कि "सम्पत्ति राज्य के अधीन होनी चाहिए अन्यथा सम्पत्ति राज्य पर हावी हो जायेगी।" साम्यवादी देशों में सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व है, प्रजातान्त्रिक समाजवादी देशों में राज्य सम्पत्ति का नियमन करता है।

स्वतन्त्रता और समानता

स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी—स्वतन्त्रता और समानता के सम्बन्ध में दो परस्पर विचार पाये जाते हैं। एक विचार डी. टॉकविल, लार्ड एक्टन और बेनीदितो क्रोस जैसे लेखकों का है। इनकी धारणा है कि स्वतन्त्रता

और समानता परस्पर विरोधी विचार हैं; दोनों एक दूसरे के विपरीत है; दोनों समुचित ढंग से इकट्ठे नहीं रह सकते। इस विचार के मानने वालों की धारणा है कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान पैदा होते हैं और राज्य कानूनों द्वारा उन्हें कृत्रिम रूप से समान बनाना प्राकृतिक स्वतन्त्रता और प्राकृतिक कानून की उल्लंघना करना है। जैसाकि **लार्ड एक्टन** ने कहा है कि **"समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा ने स्वतन्त्रता की आशा को व्यर्थ बना दिया है।"** **क्रोस** स्वतन्त्रता और न्याय को परस्पर विरोधी मानता है। **मैकाइवर** की धारणा है कि एक निश्चित सीमा के परे स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं। **मैकाइवर** का मत है कि यदि यान्त्रिक या कृत्रिम साधनों द्वारा समानता प्राप्त कर ली जाय तो यह अधिनायक तन्त्र और सर्वसत्तावाद को जन्म देती है। साम्यवादी राज्यों में पाई जाने वाली तथाकथित समानता इस बात की द्योतक है।

स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक—दूसरा विचार स्वतन्त्रता और समानता में कोई विरोध नहीं समझता। इसकी धारणा है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसकी मान्यता है कि एक के विद्यमान होने से, दूसरे का अस्तित्व सम्भव है। उदाहरणतः नागरिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता का तभी महत्त्व है यदि आर्थिक समानता हो। आर्थिक समानता के अभाव में अन्य सब स्वतन्त्रतायें निरर्थक बनकर रह जाती हैं। इस विचार के मूल समर्थक हैं,—**लास्की, टानी, पोलार्ड, आशीर्वादम आदि**। **टानी** का मत है कि **"समानता की प्रचुर मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं बल्कि उसके लिए आवश्यक है।"** **लास्की** की धारणा है कि 'यदि स्वतन्त्रता का अर्थ मानव भावना की अभिव्यक्ति में शक्ति का विस्तार है तो असमान लोगों के समाज में यह कम ही मिलती है। जहाँ कहीं धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित होते हैं वहां सर्वदा स्वामी-दास देखने को मिलते हैं। **पोलार्ड** का मत है कि "स्वतन्त्रता की समस्या का एक ही हल है कि यह समानता में स्थित रहती है।"

स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानने वाले लेखक वस्तुतः दोनों शब्दों को गलत अर्थों में इस्तेमाल करते हैं। ये लेखक स्वतन्त्रता को 'यथेच्छाचारिता' के रूप में इस्तेमाल करते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता की यह कल्पना पुरानी पड़ गई है। यह अव्य वहारिक है। अनियन्त्रित स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता और अराजकता को जन्म देती है। आर्थिक क्षेत्र में अनियन्त्रित स्वतन्त्रता प्रतियोगिता, अन्याय शोषण, आदि बुराइयों को जन्म देती है। स्वतन्त्रता कोई निरपेक्ष धारणा नहीं। इसे सामाजिक सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। व्यक्ति का 'अहम' 'सामाजिक अहम' है। अतः उसकी स्वतन्त्रता को व्यापक सामाजिक हितों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। सामाजिक हितों के विरुद्ध व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती।

समानता की निरपेक्ष कल्पना व्यर्थ है । निरपेक्ष समानता न तो सम्भव हैं और न वांछनीय । निरपेक्ष समानता, योग्यता और कुशलता पर प्रहार करती है । यह अनावश्यक है । समानता को सापेक्ष रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है । यह एक "खास समतलीकरण" है जिसमें सभी को नागरिक, सामाजिक, राजनीतिक दृष्टिकोण से समान समझा जाता है । आर्थिक दृष्टि से इसका अर्थ है कि कुछ की विशिष्ट इच्छाओं की पूर्ति तभी हो सकती है जब सबकी न्यून प्रारम्भिक इच्छायें पूर्ण हो गई हों । समानता विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति और सब के लिए पर्याप्त अवसरों की माँग करती है ।

स्वतन्त्रता और समानता दोनों प्रजातन्त्र के आदर्श हैं । दोनों में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है । दोनों ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की क्षमताओं को मुक्त करने के साधन हैं । यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता है तो समानता की न्यून मात्रा स्वतन्त्रता के वास्तविक उपयोग के लिए आवश्यक है । इस तरह स्वतन्त्रता के अभाव में समानता का कोई मूल्य नहीं और समानता के अभाव में स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं । **हर्बर्ट ए. डीयन** ने ठीक लिखा है कि "**स्वतन्त्रता में समानता अन्तर्निहित है; स्वतन्त्रता और समानता में कोई संघर्ष नहीं और न ही ये पृथक् हैं; ये एक ही आदर्श के दो भिन्न-भिन्न तथ्य हैं ।**" यही कारण है कि आधुनिक लोकतान्त्रिक संविधानों में न केवल स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है बल्कि समानता को लाने का प्रयास भी किया जाता है । उदाहरणतः भारतीय संविधान का अध्ययन III यदि नागरिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रताओं का द्योतक है तो अध्याय IV सामाजिक और आर्थिक समानता का द्योतक है । **रोडी, एण्डरसन और क्रिस्टल** ने ठीक लिखा है कि "प्रजातान्त्रिक नीति समानता को प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने को रहती है । वह आज इस भ्रम में नहीं कि शाब्दिक समानता सम्भव है या वांछनीय है ।"

समीक्षा प्रश्न

1. "कानून और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी मान्यतायें हैं ।" इस कथन के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए । (Raj. 1983)
2. स्वतन्त्रता शब्द को समझाइए । यह कथन कहाँ तक सही है कि "कानून स्वतन्त्रता की आवश्यक शर्त है ?" (Raj 1985)
3. "स्वतन्त्रता" की व्याख्या कीजिए और इस कथन की विवेचना कीजिए कि 'नियन्त्रण स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है ।" (Raj. Suppl. 1984)
4. इस मत की विवेचना कीजिए कि कानून और स्वतंन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं । (Raj. Suppl. 1983)
5. नागरिक स्वतन्त्रता के नकारात्मक व सकारात्मकरूपों से आप क्या समझते है ? उदाहरण सहित बताइए । (Raj. 1981)

6. "कानून एवं स्वतन्त्रता एक-दूसरे के प्रतिकूल हैं ।" विवेचन कीजिए । (Raj. 1980)

7. "निरन्तर सतर्कता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है ।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए स्वतन्त्रता की रक्षा के विभिन्न उपायों का वर्णन कीजिए । (Raj. 1979)

8. इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए कि सामाजिक समानता एवं आर्थिक न्याय के संरक्षण की स्थिति में ही राजनीतिक स्वतन्त्रता सार्थक होती है। (Raj. 1978)

9. स्वतन्त्रता और समानता के सम्बन्ध पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए । (Raj. 1986,Suppl. 1986)

10. "समानता एवं स्वतन्त्रता एक दूसरे के पूरक हैं" पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए । (Raj. 1987)

11. "स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी मान्यताएँ हैं ।" इस कथन के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए । (Ajmer, 1988)

12. "निरन्तर सतर्कता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है ।" इस कथन की आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए । (Ajmer, 1988)

18

अवधारणायें-शक्ति, सत्ता और उनके सम्बन्ध

(Power, Authority and Their Relationship)

A. शक्ति

शक्ति एवं राजनीति (Power and Politics)--शक्ति मानव जीवन की आवश्यकता है। यह राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन की अनिवार्य शर्त है। इसे राजनीतिक एवं सामाजिक दोनों क्षेत्रों से पृथक नहीं किया जा सकता। नियन्त्रण के रूप में यह सुरक्षा, शान्ति, व्यवस्था, न्याय, स्वतन्त्रता आदि के लिए आवश्यक है।

शक्ति अवधारणा का विकास---शक्ति अवधारणा का विकास बीसवीं शताब्दी में अमेरिका के **शिकागो समुदाय** द्वारा किया गया। फिर भी यह प्राचीन समय के लेखकों के चिन्तन का विषय रही है। **टेसीटस, पॉलिबियस थ्यूसीडाइड्स** आदि ने इसकी वास्तविकता को समझ लिया था। **थ्रेसीमेक्स** का मत था कि, "शक्तिशाली का हित" ही 'सही' अर्थात् 'उचित' है और 'न्याय' वही है जो "शासकों के हित" में है। **मैकियावली** का सारा राजनीतिक चिन्तन इस विचार के इर्द-गिर्द घूमता है कि शासक को येन-केन प्रकारेण शक्ति को एकत्रित करना चाहिए, उसे बनाये रखना चाहिए तथा उसकी वृद्धि एवं विस्तार करना चाहिए। **हॉब्स** ने अपनी रचना **लेविअाथन** में शक्ति प्राप्त करने की इच्छा को मानव की **"निरन्तर बने रहने वाली इच्छा"** को स्वीकार किया है, "जिसका अन्त मृत्यु में होता है।" उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहासकार **ट्रीश्चे** और दार्शनिक **नीत्श्चे** ने शक्ति और उसकी लालसा के गुणों का बखान किया है। बीसवीं शताब्दी में **ऐरिक कॉफमैन** ने शक्ति को राज्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। उसका मत है कि राज्य का मूल उद्देश्य **"शक्ति का विकास, वृद्धि और प्रदर्शन है।"** वह कहता है कि राज्य शक्ति का दावा करता है, उसे निश्चयपूर्वक प्रकट करता है, उसे बनाये रखना चाहता है, उसका विकास करना चाहता है एवं उसके सर्वोत्तम स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। उसका मत है कि युद्ध में ही राज्य का सही रूप प्रकट होता है और विजयी युद्ध ही इस बात का अन्तिम मापदण्ड निश्चित करता है कि कौनसा राज्य सही है।

बीसवीं शताब्दी के सर्वसत्तावादी, अधिनायकवादी एवं प्रजातन्त्रवादी लेखकों एवं नेताओं ने शक्ति राजनीति पर बल दिया है और राज्य के लिए शक्ति के गुणों का बखान किया है। जहाँ मेरियम, केटलिन, लासवैल, रसल आदि लेखकों ने आन्तरिक राजनीति में शक्ति के महत्त्व पर बल दिया है वहाँ मार्गेन्थो, केप्लान आदि लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। मार्गेन्थो ने लिखा है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, सभी राजनीति की भाँति, शक्ति के लिए संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, शक्ति सर्वदा तात्कालिक उद्देश्य होता है।"**

राजनीति के खेल में शक्ति मूल तत्त्व है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। वेकर ने कहा है कि **"राजनीति शक्ति से अपृथकनीय है।"** लासवैल और कैप्लान का मत है कि **"शक्ति की अवधारणा सारे राजनीति शास्त्र में सम्भवतः अत्यधिक मूलभूत है। राजनीतिक प्रक्रिया शक्ति का निर्धारण, वितरण एवं प्रयोग है।"** केटलिन का मत है कि राजनीति **"शक्ति का विज्ञान है।"** मैकाइवर का मत है कि **"समस्त गति, सभी सम्बन्ध, सभी प्रक्रियायें, सभी व्यवस्था और प्रकृति में घटित होने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है।"** बायर्सटेड का मत है कि **"शक्ति समाज की आधारभूत सुव्यवस्था का सहारा है। जहाँ सुव्यवस्था है वहाँ शक्ति का अस्तित्व अवश्य पाया जाता है। शक्ति प्रत्येक संगठन के पीछे है और प्रत्येक संरचना को बनाये रखती है। शक्ति के अभाव में न कोई संगठन हो सकता है न सुव्यवस्था।"**

क्या शक्ति भ्रष्ट करती है? (Does Power Corrupt?)—शक्ति के सम्बन्ध में प्रायः यह भ्रम विद्यमान है, जैसा कि लार्ड एक्टन ने कहा है कि "शक्ति भ्रष्ट करती है और निरपेक्ष शक्ति निरपेक्ष रूप से भ्रष्ट करती है।" कुछ परिस्थितियों में यह भ्रम सही हो सकता है और कतिपय व्यक्ति शक्ति प्राप्त करके, विशेष रूप से जब उनके पास निरपेक्ष शक्ति आ जाती है, भ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि शक्ति शुद्ध भी करती है और उत्तरदायित्व की भावना को भी बढ़ाती है। शक्ति उच्च मूल्य भी है जो अच्छे शासन के लिए आवश्यक है। नियन्त्रण के रूप में शक्ति एक आवश्यक तत्त्व ही नहीं बल्कि वाँछनीय एवं नैतिक तत्त्व भी है। केटलिन का मत है कि "केवल नैतिक तटस्थता के रूप में ही नहीं बल्कि कुछ मात्रा में सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भी शक्ति वास्तविक मूल्यवान वस्तु है जो प्रशंसा के योग्य है।" केटलिन ने शक्ति के धार्मिक पहलू को भी प्रस्तुत किया है। उसका कहना है कि "ईश्वर का सर्वशक्तिमान होना कहीं उसकी नेहमत तो नहीं।" राजनीति की उचित समस्या शक्ति से दूर भागना नहीं बल्कि इस बात को सुनिश्चित करना है कि शक्ति सही प्रकार के व्यक्ति के हाथों में हो।

शक्ति का केन्द्रीकरण व्यक्ति की पहलकदमी के लिए उसी प्रकार हानिकारक है जिस प्रकार आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण अहम् और क्रूरता को जन्म देता है। रसल राज्य शक्ति के विस्तार को आन्तरिक और वाह्य दोनों क्षेत्रों के लिए हानिकारक मानता है। यह उन्हें हानि पहुँचाती है जो इसका प्रयोग करते हैं और उन्हें भी जिन पर इसका प्रयोग किया जाता है। रसल का मत है कि "जिन व्यक्तियों को शक्ति की आदत पड़ जाती है वे विदेशी सरकारों के साथ मैत्रीपूर्ण वार्तालाप के लिए विशिष्ट रूप से उपयोगी नहीं होते।" "शक्ति की आदत प्रतिस्पर्द्धा की भावना को सुदृढ़ करती है। जिस राज्य में शक्ति केन्द्रित होती है वह उस राज्य से अधिक लड़ाकू होता है जिसमें शक्ति बिखरी हुई रहती है।"

शक्ति के आयाम (Dimensions of Power)—शक्ति के मुख्य आयाम निम्न हैं—

(i) वास्तविक शक्ति (Substantive Power)—राजनीति शास्त्र के परम्परागत दृष्टिकोण को अपनाने वाले लेखकों का मत है कि शक्ति औपचारिक होती है। यह संरचनात्मक और सुसंगठित होती है। शक्ति पद में निहित होती है व्यक्ति विशेष में नहीं। परन्तु शक्ति के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण अपूर्ण है, क्योंकि शक्ति पद और व्यक्ति दोनों में निहित होती है। यदि व्यक्ति कुशल और अनुभवी है तो वह अपनी औपचारिक शक्तियों को व्यवहार में बढ़ा सकता है और यदि वह अकुशल है तो वह औपचारिक शक्तियों को व्यवहार में कम कर देगा।

(ii) उपकरण के रूप में शक्ति (Power as Instrument)—शक्ति उपकरण के रूप में कार्य करती है। यह पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक निश्चित तरीका है। यह तरीका बल प्रयोग और सहमति दोनों पर आधारित होता है। केवल बल प्रयोग पर आधारित शक्ति चिरस्थायी नहीं होती। शक्ति का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही चिरस्थायी तत्त्व है। शक्ति की पहचान बल प्रभुत्व व सैनिक शक्ति से नहीं की जाती बल्कि सहयोग, विश्वास, भक्ति, आदत, उदासीनता आदि से की जाती है। केटलिन ने लिखा है कि **"सहयोग भी शक्ति का रूप है जिसकी संरचना अधिक सूक्ष्म और जटिल है परन्तु जो प्रभुत्व से अधिक स्थाई है।"**

(iii) सम्बन्ध के रूप से शक्ति (Power as Relation)—व्यवहारवादियों का मत है कि शक्ति कोई स्थिर तत्त्व नहीं, यह एक गतिशील प्रक्रिया है। यह समय, परिस्थिति, आवश्यकता, स्थान, समाज आदि से सम्बन्धित कल्पना है। दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। कार्ल जे. फ्रेडरिक ने लिखा है कि शक्ति "उसके प्रयोगकर्त्ता और उसके अनुयायियों के मध्य नियन्त्रण सम्बन्ध स्थापित करती है।" शक्ति कभी निरपेक्ष नहीं होती, यह सर्वदा सापेक्ष होती है।

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)—शक्ति एक जटिल शब्द है। इसके अनेक अर्थ हैं। यह एक "बहुपक्षीय तत्त्व" है। इसे मुख्यतः अग्रलिखित अर्थों में प्रयोग किया जाता है—

(i) **प्रभाव प्रक्रिया के रूप में**—राबर्ट ए. डाहल, हेरल्ड डी. लासवेल और रोवे (Rowe) ने शक्ति को प्रभाव प्रक्रिया के रूप में प्रयोग किया है अर्थात् **मानवीय आचरण में परिवर्तन लाने की क्षमता को शक्ति कहते हैं।** जितनी मात्रा में कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह दूसरे व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों के आचरण में परिवर्तन ला सकता है वह उतना ही शक्तिशाली माना जाता है।

(ii) **बल प्रयोग के रूप में**—शक्ति को 'बल प्रयोग', 'अवपीड़न' तथा दमन के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके आदेशों की अवहेलना या विरोध कठोर हानि या दण्ड को निमन्त्रण देता है। **भारतीय साहित्य में कौटिल्य ने राजनीति को 'दण्ड शक्ति' माना है।**

(iii) **नियन्त्रण के रूप में**—मार्गेन्थो और केटलिन ने शक्ति को 'नियन्त्रण' के रूप में प्रयोग किया है। इस अर्थ में शक्ति सत्ता और स्वतन्त्रता की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है और समाज में व्यवस्था को सुनिश्चित करती है। इस अर्थ में शक्ति सामाजिक और राजनीतिक संगठन का आधार है।

(iv) **सामान्य प्रवृत्ति के रूप में**—शक्ति को सामान्य प्रवृत्ति के रूप में प्रयोग किया जाता है अर्थात् शक्ति को एकत्रित करना एकत्रित करके उसे सुदृढ़ एवं संगठित करना, उसकी वृद्धि एवं विस्तार करना, मानव एवं उसकी संस्थाओं की सामान्य प्रवृत्ति है। जब व्यक्ति एक बार शक्ति को एकत्रित कर लेता है तो वह भय या दबाव के अतिरिक्त इसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। इसकी लालसा का अन्त मृत्यु में होता है। हॉब्स ने शक्ति को इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है।

(v) **सम्भावना के रूप में**—शक्ति को सम्भावना के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति के पास शक्ति है वह इसका प्रयोग करेगा बल्कि यह सम्भावना कि वह इसका प्रयोग कर सकता है उसमें दूसरे के कार्यों को नियन्त्रित करने की क्षमता पैदा कर देता है और दूसरे उसके अनुयायी बन जाते हैं। **शक्ति के प्रयोग की सम्भावना इतनी कारगर सिद्ध होती है कि विरोध के बावजूद यह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकती है।**

(vi) **संकल्प के रूप में**—विशिष्ट इच्छा या उद्देश्य की प्राप्ति का संकल्प व्यक्ति में शक्ति पैदा कर देता है।

(vii) **निहित अर्थों के रूप में**—ड्यूविन का मत है कि "संगठित अन्तः-क्रियाओं की व्यवस्थाओं के पीछे जो शक्ति होती है वह उसकी निहित शक्ति है।"

(viii) **साझेदारी के रूप में**—लासवेल ने शक्ति को साझेदारी या अन्तः व्यक्तिगत सम्बन्ध कहा है। जिन नीतियों को लागू किया जाता है या जिन नीतियों को जारी रखने के लिए दूसरों को कहा जाता है उन पर निर्णय लेना होता है और निर्णय लेने और उसे लागू करने में दूसरों की साझेदारी की आवश्यकता होती है। यही शक्ति की साझेदारी अथवा अन्तःव्यक्तिगत सम्बन्ध है।

(ix) सहमति और सहयोग के रूप में—सहमति और सहयोग समाजों, संगठनों और समूहों के अस्तित्व और शक्ति के आधार हैं। यह प्राचीन कहावत है कि एकता, विशेषकर जो सहमति और सहयोग की भावना पर आधारित है, संगठन की शक्ति है।

(x) मूल्य के रूप में—'सही', 'सत्य' और 'न्याय' ऐसे मूल्य हैं जो महान् शक्ति के प्रतीक हैं। यह विश्वास कि अमुक नीति या निर्णय या कानून या आदेश सही है असंख्य लोगों को उसका अनुयायी बना देता है, उनमें समर्थन के भाव पैदा कर देता है। दूसरी ओर, यह विश्वास कि अमुक निर्णय या कानून या आदेश गलत है, असंख्य लोगों में पीड़न और दमन के बाद भी, विरोध की भावनायें पैदा कर देता है। भारतीय संस्कृति में "सत्यमेव जयते" का वाक्यांश सत्य की विजय का प्रतीक है। यह सत्य के अनुयायियों में ऐसी शक्ति पैदा कर देता है जिसका कोई अन्त नहीं। सत्य, बल प्रयोग व वास्तविक शक्ति से पृथक् रहकर भी, असीमित शक्ति का प्रतीक है। पास्कल ने शक्ति को न्याय के अर्थों में प्रयोग किया है। चार्ल्स एस. पेयर्स ने कहा है कि "सत्य और न्याय अक्षरशः विश्व में शक्तिशाली शक्तियां हैं।

परिभाषा—शक्ति की मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं—

1 बर्ट्रेण्ड रसल के शब्दों में, "शक्ति इच्छित प्रभावों की उपज है।"

2. लासवेल के शब्दों में, शक्ति, "प्रभाव के प्रयोग की विशिष्ट स्थिति है। यह इच्छित नीतियों के विरोध होने पर वास्तविकता या भय पर आधारित कठोर हानियों की सहायता से दूसरों की नीतियों को प्रभावित करने की प्रक्रिया है।"

3. टॉनी के शब्दों में, शक्ति "दूसरे व्यक्तियों या समूहों के आचरण को जैसा कोई व्यक्ति चाहता है, परिवर्तित करने की व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की क्षमता है।"

4. कार्ल जे. फ्रेडरिक के शब्दों में, "शक्ति एक प्रकार का मानवीय सम्बन्ध है।"

5. राबर्ट बायर्सटेड के शब्दों में, "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

6. आर. एम. मैकाइवर के शब्दों में, "शक्ति व्यक्तियों या व्यवहारों को नियन्त्रित, विनियमित या निर्देशित करने की क्षमता है।"

7. पिफनर एवं शेरवुड के शब्दों में, शक्ति "आदेश की क्षमता है।"

8. अर्नोल्ड ब्रेशट के शब्दों में, शक्ति "ऐसी योग्यता है जो अपनी इच्छा को लागू कर सकती है और किसी विरोधी इच्छा को विफल कर सकती है।"[1]

---

1. Power is "the ability to get one's own will done and opposing will frustrated." Brecht, Arnold : Political Theory. The Foundation of Twentieth Century Political Thought. p. 346.

9. हॉब्स के शब्दों में, शक्ति "भावी वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने का वर्तमान साधन है।"

शक्ति की आवश्यक शर्तें (Conditions essential for Power)—शक्ति कुछ शर्तों की पूर्व कल्पना करती है। ये मुख्यतः निम्न हैं—

(i) **व्यक्तियों अर्थात् अनुयायियों की आवश्यकता**—शक्ति के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। वस्तुएँ और विचार स्वयं में शक्ति नहीं होते। उन्हें शक्ति में परिवर्तित करने के लिए उसकी तलाश करने वालों को व्यक्तियों अर्थात् अनुयायियों को ढूँढना पड़ता है जो उन वस्तुओं या विचारों को मूल्यवान समझते हैं और बदले में उसके आदेशों की पालना करते हैं।

(ii) **अन्य शक्तियों की आवश्यकता**—शक्ति अन्य शक्तियों की पूर्व कल्पना करती है जैसे धन या सम्पत्ति, युद्ध-सामग्री (शस्त्रास्त्र), नागरिक सत्ता, मतों पर प्रभाव, धार्मिक सत्ता आदि। अन्य शक्तियों की विशेषता यह है कि इनमें से किसी एक को दूसरे के अधीन नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक अपने में पूर्ण है।

(iii) **औचित्य की आवश्यकता**—शक्ति औचित्य की माँग करती है। प्रभाव, अस्तित्व और शक्ति औचित्य पर निर्भर करते हैं। बल या दमन थोड़े समय के लिए सहमति प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु शक्ति तभी चिरस्थायी रह सकती है जब वह जन सहमति पर आधारित हो और उसका लक्ष्य जनहित हो।

(iv) **शक्ति संचयन की आवश्यकता**—शक्ति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि इसे एकत्रित किया जाय बल्कि यह भी आवश्यक है कि एकत्रित करने के बाद इसे सुदृढ़ एवं संगठित किया जाये।

शक्ति के स्रोत (Sources of Power)—शक्ति के मुख्य स्रोत निम्न हैं—

1. **बल**—इसका प्रयोग या इसके प्रयोग का भय व धमकी।

2. **प्रतिष्ठा या सत्ता**—यह वैधानिक या अन्य किसी प्रकार की हो सकती है। सामाजिक स्तर, परिस्थिति, सार्वजनिक पद शक्ति के स्रोत हैं।

3. **आर्थिक या भौतिक साधन व प्राप्तियाँ**—ये इसके धारक या स्वामी को बाजार से कोई चीज खरीदने की शक्ति प्रदान करते हैं।

4. **निजी आकर्षण, सम्मोहन, करिश्मा, प्रेम आदि**—शक्ति के ये स्रोत अन्य अनेक स्रोतों पर निर्भर करते हैं। उदाहरणतः बाह्य तोहफों में सुन्दरता, मानसिक योग्यताओं में ज्ञान, बुद्धि, कुशलता, सार्वजनिक कार्यों में वीरोचित कार्य जैसे खेलों या कलाओं में प्रसिद्धि, निजी सौम्यता, नम्रता एवं जीवन के परोपकारी ढंग जैसे बुद्ध, ईसा और गांधी का जीवन आदि।

5. **विश्वास, भक्ति, आदत, उदासीनता, हित** आदि भी शक्ति के स्रोत हैं।

6. **विचारों की शक्ति**—बल विचारों का थोड़े समय के लिए दमन कर सकता है, परन्तु अन्तिम विजय विचारों की होती है। चार्ल्स एस. पेयर्स ने कहा है कि "सत्य और न्याय अक्षरशः विश्व में शक्तिशाली शक्तियाँ हैं।"

7. संगठन एवं उसका आकार—यह कहावत प्रसिद्ध है कि संगठन में शक्ति होती है। लोगों का समूह संगठित होकर अपनी शक्ति में वृद्धि करता है। श्रमिक संघ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। राज्य स्वयं भी एक राजनीतिक संगठन है। संगठन के आकार में भी शक्ति होती है।

शक्ति के प्रकार (Kinds of Power)—शक्ति के मुख्य प्रकार निम्न हैं—

1. व्यवहार परिवर्तन के आधार पर गोल्ड हेमर एवं एड्वर्ड शिल्स ने शक्ति के तीन प्रकार बताये हैं—(a) बल, (b) प्रभुत्व (c) चालाकी। जब व्यक्ति दूसरों को भौतिक शक्ति के आधार पर प्रभावित करता है तो वह बल का प्रयोग करता है; जब वह अपने व्यक्तित्व से दूसरों को प्रभावित करता है तो उसे प्रभुत्व कहा जाता है और जब वह अपने चातुर्य, छल, जोड़-तोड़ आदि से प्रभावित करता है तो उसे चालाकी कहते हैं।

2. औचित्य के आधार पर—मैक्सवैबर ने शक्ति के तीन प्रकार बताये हैं—(a) वैधानिक, (b) परम्परागत, और (c) करिश्मावादी। वैधानिक शक्ति संविधान या कानून द्वारा निश्चित होती है। यह औपचारिक, संरचनात्मक एवं संगठनात्मक होती है। परम्परागत शक्ति परम्परा पर निर्भर करती है। इसका आधार समाज की कोई परम्परा या रूढ़ि होती है। करिश्मात्मक शक्ति व्यक्ति के गुणों या करिश्मे पर निर्भर करती है।

3. बायर्सटेड ने शक्ति के चार प्रकार बताये हैं (a) अदृश्य एवं दृश्य शक्ति। शक्ति स्वयं में अदृश्य होती है। परन्तु बल और सत्ता उसके दृश्य रूप हैं। (b) दमनात्मक एवं अदमनात्मक शक्ति बल शक्ति का दमनात्मक रूप है, प्रभाव उसका अदमनात्मक रूप है। (c) औपचारिक एवं अनौपचारिक शक्ति। औपचारिक शक्ति संविधान या कानून द्वारा निश्चित की जाती है जो पद में निहित होती है। यह संरचनात्मक या संगठनात्मक होती है। अनौपचारिक शक्ति निजी सम्बन्धों में निहित होती है। यह व्यक्तिगत सम्बन्धों पर निर्भर करती है। औपचारिक शक्ति पद प्रधान है और व्यक्ति गौण है जबकि अनौपचारिक शक्ति में व्यक्ति प्रधान है और पद गौण। (d) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शक्ति। जब शक्ति का धारक शक्ति का स्वयं प्रयोग करता है तो उसे शक्ति का प्रत्यक्ष रूप कहते हैं और जब शक्ति का धारक शक्ति का प्रयोग अपने अधीनस्थ व्यक्तियों द्वारा कराता है तो उसे शक्ति का अप्रत्यक्ष रूप कहते हैं।

4. मूल्यों के आधार पर—शक्ति को दो भागों में बाँटा जाता है: सकारात्मक शक्ति और नकारात्मक शक्ति। जब शक्ति का प्रयोग उचित उद्देश्यों के लिए उचित ढंग से किया जाता है तो उसे सकारात्मक शक्ति कहते हैं। यह जनहित में जन सहमति पर आधारित होती है। दूसरी ओर, जब शक्ति का प्रयोग अनुचित ढंग से अनुचित उद्देश्यों के लिए किया जाता है तो उसे नकारात्मक शक्ति कहते हैं। कभी-कभी नकारात्मक शक्ति को जनहित का आवरण पहनाया जाता है, परन्तु वह

चिरस्थायी नहीं होती। नकारात्मक शक्ति सदा बल प्रयोग और दमन पर आधारित होती है जबकि सकारात्मक शक्ति इच्छा और सहमति पर आधारित होती है।

5. सम्भाव्य एवं वास्तविक शक्ति (Potential and Actual Power)—राबर्ट ए. डाहल ने शक्ति के दो अन्य प्रकार बताये हैं जिन्हें वह सम्भाव्य और वास्तविक शक्ति कहता है। **सम्भाव्य शक्ति** व्यक्ति या संस्था की वह शक्ति है जिसका प्रयोग वह कर सकता है, परन्तु जिसका प्रयोग वह पूर्णतः करता नहीं। **वास्तविक शक्ति** वह है जिसका प्रयोग नियन्त्रण के लिए किया जाता है।

6. शक्ति प्रवाह या दिशा की दृष्टि से शक्ति के तीन प्रकार बताये जाते हैं : (a) एकपक्षीय, (b) द्वि-पक्षीय और (c) बहुपक्षीय। शक्ति के द्वि-पक्षीय और बहुपक्षीय रूपों को "सौदागिरी" कहा जाता है।

7. केन्द्रीकरण के आधार पर शक्ति के तीन प्रकार हैं : (a) केन्द्रित, (b) विकेन्द्रित और (c) विसारित। केन्द्रित शक्ति में शक्ति एक व्यक्ति, स्थान या केन्द्र में केन्द्रित होती है। विकेन्द्रित शक्ति में शक्ति अनेक अधीनस्थ परन्तु स्वायत्त केन्द्रों में विकेन्द्रित होती है। शक्ति का विसारित रूप अस्पष्ट होता है। यह बिखरा (फैला) हुआ होता है।

8. क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति को प्रादेशिक (क्षेत्रीय), प्रान्तीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बाँटा जाता है।

9. मात्रा के आधार पर शक्ति राज्यों को "महा" (Super), "मध्यम" और "निम्न" श्रेणियों में बांटती है।

10. प्रयोग और परिणाम के आधार पर शक्ति को इच्छित और अनिश्चित रूपों में बाँटा जाता है।

शक्ति का प्रयोग एवं सीमायें (Use and Limitations of Power)—शक्ति का प्रयोग समर्थन पर निर्भर करता है। यह समर्थन समय, परिस्थिति, आवश्यकता, समाज या देश के अनुसार बदलता रहता है। शक्ति के प्रयोग में मूल्यों और उद्देश्यों का अत्यधिक महत्त्व होता है। ये मूल्य और उद्देश्य ही शक्ति के प्रयोग की सफलता की कुंजी है। जहाँ इसका आधार जन सहमति है, जहाँ इसका उद्देश्य जनहित है, जहाँ इसके प्रयोग का तरीका संवैधानिक है वहाँ इसकी सफलता निश्चित है। शक्ति के प्रयोग का औचित्य उसकी सफलता की कुन्जी है। दूसरी ओर, जहाँ इसके मूल्य व उद्देश्य औचित्यपूर्ण नहीं, वहाँ विफलता निश्चित है।

शक्ति प्रयोग के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं—पुरस्कृत करने के लिए, दण्ड देने के लिए, आर्थिक लाभ या हानि पहुँचाने के लिए। यह प्रतिशोधात्मक हो सकती है और सुधारात्मक भी। यह पिटाई, जेल, जुर्माना, अपदस्थीकरण, निन्दा या अपमान का रूप ले सकती है।

शक्ति का प्रयोग कभी निरपेक्ष या असीमित नहीं होता। यह सर्वदा सापेक्ष होता है। शक्ति के प्रयोग की सीमायें होती हैं जो इतिहास, परम्परा, सहमति, स्वीकृति, राजनीतिक विकास, नैतिकता, दबाव आदि पर निर्भर करती है। ये सीमायें शक्ति प्रयोगकर्त्ता की क्षमता, उद्देश्यों, पारस्परिक सम्बन्धों, प्रतियोगिता, कार्य-पद्धतियों आदि पर निर्भर करती है।

B प्रभाव

अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition)—शक्ति एवं प्रभाव राजनीतिक विश्लेषण की प्रमुख अवधारणायें है, परन्तु दोनों समान नहीं। जब शक्ति से "बल प्रयोग", "अवपीड़न", "दण्ड" और दमन को निकाल दिया जाता है तो वह प्रभावी बन जाती है। प्रभाव एक बल रहित तत्त्व है। यह अनुनय है, यह आग्रह है। शक्ति की भाँति प्रभाव औपचारिक, संस्थागत या संरचनात्मक नहीं होता, यह अनौपचारिक और व्यक्तिनिष्ठ होता है। प्रभाव आपसी प्रक्रिया है जो सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। प्रभाव में आज्ञा, आदेश, बाध्यता या भय नहीं होता। यह आदेशात्मक नहीं होता; यह सहमति और सहकारिता पर निर्भर करता है। इसमें नैतिकता होती है, नम्रता होती है, निवेदन होता है। यह वाद-विवाद, बातचीत, समझाने-बुझाने पर निर्भर करता है। इसमें प्रचार का सहारा लिया जा सकता है। यह शक्ति नहीं सम्भाव्य शक्ति होता है: यह दृश्य नहीं अदृश्य होता है; यह प्रकट नहीं गुप्त होता है। दबाव समूहों और प्रचारकों द्वारा जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है, वह प्रभाव है क्योंकि इसे गुप्त रूप से प्रयोग किया जाता है।

रावर्ट ए. डाहल के अनुसार, "प्रभाव पारस्परिक सम्बन्धों की प्रक्रिया है।" इसमें एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ताओं को किसी ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वे अन्यथा नहीं करेंगे।

बचराज और बारज के अनुसार, "प्रभाव व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया है।" इनका मत है कि "एक व्यक्ति निश्चित क्षेत्र में उस सीमा तक दूसरे पर प्रभाव रखता है जिस सीमा तक वह दूसरे व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भय दिखाये बिना मार्ग परिवर्तन के लिए विवश कर दे।"

प्रभाव की प्रकृति (Nature of Influence)—प्रभाव को प्रायः पारस्परिक सम्बन्धों की प्रक्रिया माना जाता है। परन्तु यह व्यक्तियों की मानसिक स्थिति को नियंत्रित करने की क्षमता भी है। यह केवल मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत तत्त्व नहीं। यह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि तत्त्वों में भी अन्तर्निहित होता है।

राजनीति प्रक्रिया एवं राजनीतिक विश्लेषण में प्रभाव नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह राजनीतिक या शासकीय निर्णय निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से भागीदार बनें। यह निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया को

निश्चित कर सकता है उसे दिशा प्रदान कर सकता है। उदाहरणतः किसी देश में अल्पसंख्यक वर्ग निर्णय-निर्माण में भागीदार नहीं होते फिर भी ये बहुसंख्यकों द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों की दिशा को प्रभावित करते हैं और अपने हितों की रक्षा करते हैं। इसी आधार पर प्रभाव को "प्रजातन्त्र का हृदय" कहा जाता है।

प्रभाव केवल तत्कालीन परिस्थितियों तक सीमित नहीं होता। इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि यह निरन्तर बना रहे। किसी भविष्य की समरूप परिस्थिति में इसका बना रहना आवश्यक है। इसे सम्भाव्य प्रभाव कहते हैं।

राजनीतिक जीवन का विवेचन तभी हो सकता है जब प्रभावों में तुलना की जाये अर्थात् भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं के प्रभावों की तुलना के बिना राजनीतिक जीवन का विवेचन कठिन है। उदाहरणतः प्रजातन्त्र और अधिनायक तन्त्र में भेद करने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों और नेताओं के सापेक्ष प्रभाव का अनुमान लगाया जाये। राज्यों के वर्गीकरण की अरस्तू की योजना का मूल अर्थ यही था कि प्रभावों को मापा जा सकता है, उनकी तुलना की जा सकती है। अतः किसी राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण करने से पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक है कि उस व्यवस्था में कौन प्रभावशाली है—एक, कुछ या अनेक।

प्रभाव सदा असमान होता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है कि प्रभाव के पास राजनीतिक साधनों का अभाव हो या उन साधनों पर उसका असमान नियन्त्रण हो; उनमें विशेष ज्ञान का अभाव हो; जिन कार्यों पर वह प्रभाव डालना चाहता है वे अधिक या कम महत्त्वपूर्ण हों; उसके पास सम्पत्ति, समृद्धि आदि की सुविधाओं का अभाव हो; उसके अनुभव, उद्देश्य प्रेरणायें पृथक् हों; उसकी तैयारी, शिक्षा-दीक्षा असमान हो आदि।

प्रभाव मापन की समस्या (Problem of Measurement of Influence)-प्रभाव की सबसे बड़ी समस्या इसके मापने की है। सिद्धान्त में प्रभाव के अस्तित्व और दिशा को निश्चित किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार में यह जानना कठिन है कि कौन किसको प्रभावित करता है और कितना प्रभावित करता है। मापने की इस कठिनाई के कारण प्रभाव अस्पष्ट होता है।

सम्भाव्य बनाम वास्तविक प्रभाव (Potential versus Actual Influence)—रार्बट ए. डाहल का मत है कि प्रभावों की विभिन्नताओं का वर्णन करना या उन्हें मापना एक चीज है, परन्तु उन्हें स्पष्ट करना या उनकी व्याख्या करना या उन्हें समझना कोई दूसरी चीज है। जिन कारणों से कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से निर्णय के कुछ क्षेत्रों में अधिक प्रभावित होता है, वे मुख्यतः तीन हैं—(i) कुछ कर्त्ताओं के पास दूसरों की तुलना में अधिक राजनीतिक साधन होते हैं; (ii) समान राजनीतिक साधन होने पर भी कुछ कर्त्ता दूसरों की तुलना में उनका अधिक प्रयोग करते हैं, (iii) कुछ कर्त्ता उन राजनीतिक साधनों को प्रभावकारी ढंग से प्रयोग

करते हैं। कुछ प्रभाव की उच्च मात्रा को एकत्रित कर लेते हैं और कुछ यह सोचते रहते हैं कि क्या राजनीतिक प्रभाव का प्रयोग करना लाभकारी होगा।

राबर्ट ए. डाहल—निर्णय के क्षेत्र में किसी विशिष्ट कर्त्ता के भूत या वर्तमान प्रभाव, उसके सम्भाव्य प्रभाव और उसके अधिकतम सम्भाव्य प्रभाव में भी भिन्नता करता है। उसकी धारणा है कि किसी अमुक क्षेत्र में एक कर्त्ता का वर्तमान प्रभाव, उसके अधिकतम सम्भाव्य प्रभाव से कम होता है अर्थात् जहाँ सम्भाव्य प्रभाव अधिक हो सकता है वहाँ वास्तविक प्रभाव नगण्य हो सकता है। क्लॉस नौर का मत है कि किसी देश की युद्ध शक्ति उतनी अधिक हो जायेगी जितना अधिक उसके नागरिकों को निजी स्वार्थों को त्यागने की प्रेरणा दी जायेगी।

बल प्रयोग एवं अनुनय (Coercion and Persuasion)—क्या 'बल प्रयोग' और 'अनुनय' एक ही चीज है ? इस सम्बन्ध में दो विचार हैं। एक विचार यह है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों में चालाकी या चातुर्य से प्रभावित किया जाता है और उद्देश्य की प्राप्ति की जाती है। दूसरा विचार यह है कि 'बल प्रयोग' और "अनुनय" एक चीज नहीं, दोनों में अन्तर है क्योंकि इनके बारे में हम भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचते व अनुभव करते हैं। उदाहरणतः कोई डकैत हमारे सीने पर पिस्तौल रखकर हमारी धन राशि को प्राप्त करता है और दूसरा अनुनय द्वारा, पत्र-व्यवहार द्वारा, विनय, निवेदन या नैतिकता के आधार पर किसी परोपकारी कार्य के लिए उसी धनराशि को प्राप्त करता है। परन्तु दोनों स्थितियों में समान धन की हानि होने पर भी हमारा दृष्टिकोण एक के प्रति एक प्रकार का होता है और दूसरे के प्रति दूसरे प्रकार का होता है।

प्रभाव के स्रोत (Sources of Influence)—प्रभाव के अनेक स्रोत हो सकते हैं जैसे सम्पत्ति, स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यक्तिगत आकर्षण, कुशलता आदि। प्रभाव उन उद्देश्यों, साधनों और क्रियाविधियों पर भी निर्भर करता है जिनके लिए उसका प्रयोग किया जाता है। राजनीतिक प्रभाव में सहायकों एवं साधनों की कुशलता और विरोधियों का प्रभाव पड़ता है।

प्रभाव एवं शक्ति—एक तुलनात्मक अध्ययन (Influence and Power—A comparative study) प्रभाव में शक्ति और शक्ति में प्रभाव निहित होता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बचराच और बारज ने कहा है कि "दोनों बौद्धिक और सम्बन्धात्मक हैं; दोनों एक दूसरे को सुदृढ़ करते हैं; दोनों औचित्यपूर्ण होने से प्रभावशाली होते हैं। दोनों व्यवहार में परिवर्तन करते हैं। अनेक बार तो यह जानना कठिन होता है कि अमुक व्यक्ति या व्यक्तियों में व्यवहार परिवर्तन शक्ति प्रयोग के फलस्वरूप हुआ या कि प्रभाव के प्रयोग के फलस्वरूप हुआ।" अनेक स्थितियों में प्रभाव होने से शक्ति में वृद्धि होती है और अनेक में शक्ति से प्रभाव बढ़ता है। उदाहरणत: श्री लाल बहादुर शास्त्री के प्रभाव में वृद्धि प्रधान मन्त्री पद की शक्ति प्राप्त होने से हुई जबकि पं. जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव के कारण

प्रधानमन्त्री पद की शक्ति में वृद्धि हुई। अनेक बार शक्ति होने पर भी प्रभाव नहीं होता और अनेक बार शक्ति न होने पर भी प्रभाव होता है। उदाहरणतः मार्च 1977 के छठे चुनाव के समय श्रीमती इन्दिरा गांधी के पास शक्ति थी परन्तु प्रभाव नगण्य हो गया था जिससे उनकी चुनाव में हार हुई। दूसरी ओर, श्री जयप्रकाश नारायण के पास शक्ति नहीं थी फिर भी भारतीय जनमानस पर उनका प्रभाव अत्यधिक था और चुनाव में जनता पार्टी की विजय हुई।

असमानतायें (Dissimilarities)—प्रभाव और शक्ति दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं। दोनों में उद्देश्य, साधनों और दिशाओं की भिन्नतायें पाई जाती हैं। दोनों में मुख्य भिन्नतायें निम्न हैं—

1. शक्ति दमनात्मक है प्रभाव अनुनयात्मक है—शक्ति में बल और पीड़न विद्यमान होने से यह दमनात्मक होती है। इसमें कठोर भौतिक आज्ञायें विद्यमान होती हैं। इसकी प्रकृति बाध्यकारी होती है। जिस व्यक्ति या संस्था पर इसका प्रयोग होता है उसके पास इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं होता। दूसरी ओर, प्रभाव अनुनयात्मक होने से मनोवैज्ञानिक और स्वेच्छापूर्ण होता है। इसमें आग्रह, विनय और नैतिकता का पुट होता है। जब इसका प्रयोग होता है तो प्रभावित व्यक्ति के पास अनेक विकल्प होते हैं। वह इसे स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता है।

2. शक्ति स्वतन्त्रात्मक है, प्रभाव सम्बन्धात्मक है—शक्ति का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप में बना रह सकता है। इसके अस्तित्व को कोई व्यक्ति स्वीकार करे या न करे इसमें अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने की क्षमता होती है। विरोध होने पर भी शक्ति तात्कालिक उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती है। दूसरी ओर, प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है। इसकी सफलता अर्थात् इसमें उद्देश्यों की प्राप्ति व्यक्तियों या संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। इसका प्रयोग प्रभावित किये जाने वाले व्यक्ति की इच्छा और सहमति पर निर्भर करता है।

3. शक्ति अप्रजातान्त्रिक है, प्रभाव अप्रजातान्त्रिक है—शक्ति स्वभाव से अप्रजातान्त्रिक होती है क्योंकि यह प्रति शक्ति को जन्म देती है। दूसरी ओर, प्रभाव प्रजातन्त्र का 'हृदय' है। इसकी पालना इच्छा पर निर्भर होने से यह पूर्णतः प्रजातान्त्रिक है। प्रजातन्त्र का आधार सहमति है और प्रभाव सहमति पर निर्भर करता है।

4. शक्ति सीमित होती है, प्रभाव असीमित—शक्ति भौतिक शक्ति और आज्ञाओं पर आधारित होती है अतः इसकी सीमायें होती हैं। शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो इसे अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रभाव की आवश्यकता होती है। दुर्बल होते ही शक्ति का प्रभाव कम हो जाता है। दूसरी ओर, एक बार प्रभाव हो जाने से इसकी सीमायें नहीं रहतीं। जब तक सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध बने

रहते हैं तब तक इनका खुलकर प्रयोग किया जा सकता है। उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

5. **शक्ति वाह्य और प्रभाव आन्तरिक तत्त्व है**—शक्ति सभ्यता और संस्कृति का बाह्य तत्त्व है जबकि प्रभाव आन्तरिक तत्त्व है। सामाजिक और राजनीतिक संगठन के लिए आवश्यक होते हुए भी शक्ति-प्रयोग सभ्य समाज का प्रतीक नहीं; यह बर्बर और असभ्य समाज का प्रतीक है। शक्ति का प्रयोग निश्चित, सीमित और विशिष्ट होता है जबकि प्रभाव व्यक्तिनिष्ठ और अस्पष्ट होता है।

प्रभाव और सत्ता (Influence and Authority)—प्रभाव और सत्ता पर्यायवाची शब्द नहीं। इनमें अनेक भिन्नतायें हैं। उदाहरणतः प्रभाव अनौपचारिक असंस्थागत एवं असीमित होता है; सत्ता औपचारिक, संस्थागत और सीमित होती है; प्रभाव गुप्त और अस्पष्ट होता है; सत्ता निश्चित होती है; प्रभाव व्यक्तिनिष्ठ होता है, सत्ता वस्तुनिष्ठ होती है। प्रभाव में प्रभावक अनुनय, बातचीत, प्रचार एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों का प्रयोग करता है। प्रभावक और प्रभावित व्यक्ति में उद्देश्यों और मूल्यों की समानता होने से फल मिलता है। सत्ता में वरिष्ठता-कनिष्ठता; उच्चतर-निम्नतर, प्राधिकारी–अधीनस्थ आदि के प्रश्न विद्यमान होते हैं। कनिष्ठ, निम्नतर और अधीनस्थ अपने उच्च प्राधिकारियों की आज्ञाओं का पालन बिना वाद-विवाद के करता है। यही इसका आचरण है।

सत्ता स्वतन्त्र कारक है। यह अपने आप में कोई अधिकार या शक्ति न होते हुए भी यह इनके बिना रह सकती है। सत्ता प्राप्त कर एक अयोग्य एवं प्रभावहीन व्यक्ति भी आदेश देने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। प्रभाव और सत्ता के भेद को नेता और शासक के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। नेता का प्रभाव उसके नेतृत्व की योग्यता है। शासक की सत्ता औपचारिक और संस्थागत है। यह सत्य है कि कोई शासक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण उन शक्तियों का प्रयोग करने लगता है जो उसकी औपचारिक शक्तियां नहीं होतीं। उदाहरणतः अमरीकी राष्ट्रपति अपने व्यक्तित्व के कारण ही कांग्रेस के सदस्यों का समर्थन प्राप्त कर सकता है। अन्यथा उसे कांग्रेस में विरोध का सामना करना पड़ता है।

C. सत्ता (प्राधिकार)

सत्ता किसी भी व्यवस्था या संगठन के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इसे संगठन की "आत्मा" कहा जाता है। संगठन का रूप चाहे परिवार की भांति लघु हो या अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भांति विश्वव्यापी हो, सत्ता सर्वदा किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सत्ता राजनीतिक प्रक्रियाओं (जैसे शक्ति, प्रभाव, नेतृत्व आदि) का मूल मन्त्र है। इसके माध्यम से समन्वय, विनिश्चय निर्माण, पदक्रम, अनुशासन, प्रत्यायोजन आदि प्रक्रियायें सम्भव होती हैं।

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)—सत्ता, (अथॉरिटी) शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द 'आक्टोरिटास' से हुई है जिसका अर्थ है

बढ़ाना। सत्ता वह गुण है जो इच्छा, संकल्प या पसन्द को विवेक के साथ जोड़कर उसका विस्तार करती है। रोम में इसका प्रयोग सीनेट करती थी। जब सीनेट सार्वजनिक सभाओं के संकल्पों को स्वीकृति प्रदान करती थी तो यह कहा जाता था कि कानूनों को आक्टोरिटास अर्थात् सत्ता प्राप्त हो गई है। इस स्वीकृति के मिलने पर कानूनों को रोम की परम्पराओं के अनुरूप में समझा जाता था जो धर्म और देवी-देवताओं के अनुकूल समझे जाते थे।

अरस्तू ने रेटॉरिक (Rhetoric) को सत्ता के रूप में प्रयोग किया था जब कभी तार्किक प्रमाण नहीं दिये जा सकते और राजनीति में यह अक्सर होता है, तो तर्कों को सत्ता पर आधारित करना चाहिए। अरस्तू के अनुसार रेटॉरिक "किसी भी विषय पर अनुनय के सम्भावित साधनों को ढूँढ़ने की क्षमता है।" हॉब्स और रूसो जैसे विचार रखने वाले लेखक "सम्प्रभु की इच्छा को कानून का स्रोत मानते हैं।" परन्तु स्टोइक्स जैसे विचार रखने वाले लोगों का आज भी मत है कि "कानून को सत्ता प्रदान करने में तर्क अर्थात् विवेक या बुद्धि का निर्णायक महत्त्व होता है।" कार्ल जे. फ्रेडरिक ने कहा है कि "जिसे केवल संकल्प, इच्छा या प्राथमिकता के आधार पर चाहा जाता है उसके औचित्य को तार्किक प्रक्रिया द्वारा सिद्ध करने की क्षमता को सत्ता कहते हैं।" बर्ट्रेण्ड डी जुवैनेल के अनुसार, सत्ता **"व्यक्ति की वह योग्यता है जिसके द्वारा वह अपने प्रस्तावों को स्वीकार करता है।"**

सत्ता को अनेक अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है। इसे व्यक्ति या कार्यालय की सम्पदा माना गया है; इसे संचार का गुण माना गया है; इसे उच्च अधिकारी और अधीनस्थ के सम्बन्धों में प्रकट किया जाता है अर्थात् सत्ता अधीनस्थों के व्यवहार को प्रत्यक्षतः प्रभावित करने का अधिकार है। सत्ता में 'अनुपालना की आशा' और 'अनुपालना की इच्छा' होती है। हर्बर्ट ए. साइमाँ ने कहा है कि **"सत्ता निर्णय लेने की शक्ति है जो दूसरे के कार्यों का पथ प्रदर्शन करती है। यह दो शक्तियों में—उच्च और अधीनस्थ में—सम्बन्ध है। उच्च अधिकारी इस आशय से निर्णय लेता है और उन्हें संचालित करता है कि उन्हें अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जायेगा। अधीनस्थ इस प्रकार के निर्णयों की आशा करता है और उसका व्यवहार उनके द्वारा निश्चित होता है।"** सत्ता को "संस्थागत अधिकार" या "संस्थागत शक्ति" माना जाता है। बायर्सटेड ने कहा है कि सत्ता "शक्ति के प्रयोग का संस्थागत अधिकार है; यह स्वयं शक्ति नहीं है।" बीच का मत है कि "दूसरे के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने का औचित्यपूर्ण अधिकार" सत्ता है। युनेस्को ने 1955 के एक प्रतिवेदन में सत्ता को वह शक्ति माना है जो "स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात और औचित्यपूर्ण हो।"

सत्ता की प्रकृति या सत्ता के सम्बन्ध में सिद्धान्त (Nature of Authority : Theories regarding Authority)—सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार पाये जाते हैं। एक विचार कानूनी या औपचारिक है। दूसरा विचार

व्यावहारिक है। पहला विचार सत्ता को अनन्य और दूसरा उसे सापेक्ष या सम्बन्धात्मक मानता है। पहले विचार के समर्थक हैं मैक्सवेबर, मलिनोवस्की आदि। दूसरे के समर्थक हैं—लासवेल, केटलिन, आमण्ड, ईस्टन, लिपसैट, डाहल, हर्बर्ट ए. साइमों आदि। कानूनी या औपचारिक विचार मानने वालों का मत है कि सत्ता संगठन या व्यवस्था में होती है सत्ता के धारक अर्थात् व्यक्ति में नहीं। सत्ता का धारक तो सत्ता का क्रियाशील प्रतीक होता है। इस विचार के समर्थकों का कहना है कि सत्ता धारक की बुद्धि, योग्यता, श्रेष्ठता या दृष्टि अपने अधीनस्थ से चाहे न्यून ही क्यों न हो फिर भी वह आदेश-निर्देश देने की स्थिति में होता है। मैकाइवर इसे ही "शासन का जादू" कहता है। कानूनी विचार रखने वाले सत्ता को संगठन से पृथक् नहीं करते और उसे पद से जुड़ा हुआ मानते हैं। सत्ता में आदेश और दण्ड या पुरस्कार देने की क्षमता होती है।

दूसरा विचार व्यवहारवादी लेखकों का है जो सत्ता के औपचारिक और अनौपचारिक दोनों पहलुओं पर बल देते हैं। इनकी धारणा है कि औपचारिक व्यवस्थाएँ या संगठन अनौपचारिक व्यवस्थाओं या संगठनों को जन्म देते हैं; औपचारिक सम्बन्ध अनौपचारिक सम्बन्धों को जन्म देते हैं और अनौपचारिक सम्बन्ध औपचारिक सम्बन्ध में परिवर्तन लाने की क्षमता रखते हैं। उदाहरणतः किसी औद्योगिक संगठन में श्रमिक संघों और उनके नेताओं की सत्ता और स्थिति। व्यवहारवादी विचारधारा रखने वाले लेखक सत्ता में व्यक्तिगत सम्बन्धों की उपेक्षा नहीं करते जैसा कि कानूनी विचारधारा रखने वाले लेखक करते हैं। व्यवहारवादियों का कहना है कि दण्ड पर आधारित सत्ता क्षणिक रहती है जबकि सहमति और अनुनय तथा संगठन के उद्देश्यों एवं मूल्यों की अनुरूपता सत्ता को सफल एवं स्थाई बनाती है। साइमों सत्ता को आदेश में नहीं अनुनय और सहमति में निहित मानता है। जब तक अधीनस्थ आदेशों को समझते नहीं तथा उन्हें संगठन के उद्देश्यों के अनुरूप नहीं मानते वे उनकी अनुपालना नहीं करते। सत्ता का कानूनी दृष्टिकोण जहाँ तनाव पैदा करता है वहाँ व्यवहारवादी दृष्टिकोण उसका समाधान प्रस्तुत करता है। डाहल उस सत्ता को अपूर्ण मानता है जो केवल शक्ति पर आधारित होती है। सत्ता में प्रभाव अथात् नैतिकता होनी चाहिए।

सत्ता के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों विचार अपूर्ण हैं। यदि सत्ता को केवल कानूनी, औपचारिक, संगठनात्मक या संरचनात्मक माना जाये तो उसका लचीलापन और व्यावहारिकता नष्ट हो जाती है और यदि उसे केवल व्यवहारगत माना जाय तो इसमें आज्ञापालन कराने एवं दण्ड देने का अभाव हो जाता है। सत्ता दोनों विचारों का मिला-जुला रूप है। सत्ता गतिशील होने से भी प्रभावकारी होती है। सत्ता संस्थागत, औचित्यपूर्ण और स्वीकृत शक्ति होनी चाहिए।

बचराच और बारज ने सत्ता को 'संचार के गुण' के रूप में अभिव्यक्त किया है। इनकी धारणा है कि सत्ता में 'युक्ति के विस्तार' की सम्भावना होती है अर्थात् युक्ति को बुद्धिसंगत बनाया जा सकता है।

सत्ता मूल्य निरपेक्ष नहीं होती। इसमें मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व होता है। मूल्यों में परिवर्तन के कारण इसमें उतार-चढ़ाव होता है। क्रान्ति सत्ता को अपदस्थ नहीं करती बल्कि एक के स्थान पर दूसरे को सत्ता प्रदान करती है। मूल्यों और विश्वासों में परिवर्तन से सत्ता का ह्रास होता है।

सत्ता के आधार या स्रोत (Basis or Sources of Authority)—सत्ता के अनेक आधार हो सकते हैं जैसे विश्वास, औचित्यपूर्णता, विचारों की एकरूपता, विभिन्न अनुशास्तियाँ, अधीनस्थों की प्रकृति, बाह्य दबाव या पर्यावरण का दबाव, आन्तरिक संरचनायें, संविधान, प्रत्यायोजित अधिकार एवं शक्तियाँ, विशेषज्ञता या तकनीकी कुशलता जैसे डॉक्टर, अध्यापक, वकील, पत्रकार आदि की सत्ता, मौन ज्ञान, निजी गुण आदि।

सत्ता की सीमायें (Limitations of Authority)—सत्ता निरपेक्ष या असीमित नहीं होती। यह सापेक्ष और सीमित होती है। इसका प्रयोग मनमाने ढंग से या बिना उद्देश्य के नहीं किया जा सकता। सत्ता पर अनेक प्रकार की सीमायें कार्य करती हैं। इनमें मुख्य हैं आन्तरिक, बाह्य, प्राकृतिक, उद्देश्य एवं प्रक्रिया की सीमायें। संस्कृति, मूल्य, परम्परायें रूढ़ियाँ, नैतिकता आदि भी सत्ता पर सीमाओं का कार्य करती हैं। संविधान, कानून, नियम, उपनियम, और राजनीतिक परिस्थितियाँ भी सत्ता पर सीमाओं का कार्य करती हैं। सत्ता का प्रयोग पर्यावरण में होता है, अतः आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण का प्रभाव भी सत्ता पर पड़ता है। सत्ता व्यक्तिगत सम्बन्धों की योग्यता है, अतः प्राणीशास्त्रीय सीमायें भी इसके प्रयोग पर सीमा का कार्य करती हैं।

सत्ता के प्रकार (Kinds of Power)—सत्ता के अनेक प्रकार हैं। **मैक्स-वैबर** ने इसके तीन प्रकार बतायें हैं—**(i) परम्परा** अर्थात् जिसका प्रयोग होता रहा हो; **(ii) युक्तियुक्त कानून**। मैक्सवैबर इसे ही सत्ता का मुख्य प्रकार मानते हैं। यह वह कानून या नियम होता है जिसे अधीनस्थ औचित्यपूर्ण समझता है; **(iii) करिश्मात्मक**। यह व्यक्तिगत प्रभाव पर आधारित होती है। सत्ता के अन्य अनेक प्रकार भी हैं जैसे विशेष ज्ञान या तकनीकी ज्ञान की सत्ता (डॉक्टर, अध्यापक, वकील, पत्रकार आदि); संवैधानिक सत्ता, इसे कानूनी सत्ता भी कहा जाता है; सत्ता क्षेत्रीय, प्रान्तीय और राष्ट्रीय भी होती है; सत्ता राजनीतिक एवं प्रशासनिक भी होती है; शासन के अगों के आधार पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्याय-पालिका की सत्ता भी होती है।

सत्ता, शक्ति, प्रभाव और औचित्य में सम्बन्ध—सत्ता, शक्ति प्रभाव और औचित्य राजनीतिक विश्लेषण की मूल अवधारणायें हैं परन्तु ये एक-दूसरे के समानार्थक नहीं। इसमें मुख्य अन्तर निम्न हैं—

(a) सत्ता एवं शक्ति (Power and Authority)—सत्ता और शक्ति को प्रायः एक समझा जाता है। कभी-कभी तो इन शब्दों को एक-दूसरे के स्थान पर

इस्तेमाल किया जाता है। सामान्य भाषा में इन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना भी कठिन है। राजनीतिक संगठनों में "सत्ता और शक्ति में निरन्तरता" स्थापित की जाती है परन्तु दोनों शब्दों को एक समझना भ्रमपूर्ण है। यह भ्रम अंशतः इसलिए उत्पन्न होता है कि सत्ता को शक्ति-धारक या पद-धारक के रूप में देखा जाता है जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि सत्ता शक्ति होना तो दूर, वह शक्ति का एक प्रकार भी नहीं। कार्ल जे. फ्रेडरिक ने कहा है कि "सत्ता शक्ति की एक प्रकार नहीं बल्कि यह एक ऐसी वस्तु है जो शक्ति के साथ चलती है। यह व्यक्तियों और वस्तुओं में एक गुण है जो उनकी शक्ति में वृद्धि करती है; यह ऐसी वस्तु है जो शक्ति को उत्पन्न करती है परन्तु स्वयं शक्ति नहीं।"

सत्ता और शक्ति में एक अन्य अन्तर भी है। शक्ति का अस्तित्व सत्ता के अभाव में सम्भव है, परन्तु सत्ता के अभाव में इसका दीर्घकालीन अस्तित्व सम्भव नहीं। दूसरी ओर, सत्ता बल (शक्ति) के अभाव में भी विद्यमान रह सकती है और उसका आदर किया जाता है। अध्यापक, डॉक्टर आदि सत्ता का इस्तेमाल करते हैं बल (शक्ति) का नहीं। उनकी सत्ता का आधार उनका श्रेष्ठ ज्ञान, अन्तर्दृष्टि और अनुभव होता है। ये सब सम्भाव्य को अभिव्यक्त करते हैं और राजनीति में सम्भाव्यता का अत्यधिक महत्त्व होता है। कार्ल जे. फ्रेडरिक ने कहा है कि "सम्भाव्य राजनीति को शासित करता है।"

शक्ति बल प्रयोग का यन्त्र है। इसका भौतिक प्रभाव पड़ता है। यह दमनात्मक होती है और विरोध के बावजूद भी विद्यमान रह सकती है और प्रभावपूर्ण हो सकती है। उदाहरणतः विजयी शक्ति के आधार पर विजेता पर अपनी इच्छा थोपता है। कुछ समय बाद जब विजयी को जनमानस की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो वह शक्ति सत्ता का रूप ग्रहण कर लेती है। सत्ता सहमति या स्वीकृति पर आधारित होती है और शक्ति से अधिक प्रभावी और स्थाई होती है।

शक्ति असंस्थागत, असाधनात्मक, परिस्थितिजन्य और अनिश्चित होती है परन्तु सत्ता संस्थागत, साधनात्मक और निश्चित होती है। सत्ता का रूप कानूनी है जबकि शक्ति सामान्य रूप से कानून से परे होती है।

शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता, परन्तु सत्ता संस्थागत एवं निश्चित होने से प्रत्यायोजित की जा सकती है। सत्ता के अन्तर्गत अनेक सत्तायें होती हैं जिसे पदानुक्रम कहा जाता है।

शक्ति में स्वविवेक का अभाव होता है यह स्वेच्छाचारी सत्ता हो सकती है। सत्ता में स्वविवेक होता है। यह स्वेच्छाचारी नहीं होती। इसका प्रयोग परम्पराओं, रीति-रिवाजों और नियमों के अनुसार होता है।

(b) सत्ता एवं प्रभाव (Authority and Influence)—सत्ता और प्रभाव दोनों व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रियायें हैं, परन्तु दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं। दोनों में मुख्य भेद अग्रलिखित हैं—

1. सत्ता औपचारिक, निश्चित और विशिष्ट होती है, प्रभाव अनौपचारिक, अनिश्चित और व्यापक होता है।

2. सत्ता के आदेशों की अनुपालना बिना तर्क-वितर्क या विचार-विमर्श के होती है, प्रभाव में अनुनय, विचार-विमर्श और नैतिकता होती है।

3. सत्ता और प्रभाव दोनों सम्बन्धात्मक होते हैं, परन्तु सत्ता में जहाँ सत्ताधारी और अधीनस्थ का प्रश्न जुड़ा हुआ होता है वहाँ प्रभाव में प्रभावक और प्रभावित का प्रश्न होता है। प्रभाव में यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन किसको प्रभावित करता है, परन्तु सत्ता में यह स्पष्ट होता है कि अधीनस्थ उच्च अधिकारी से प्रभावित हो रहा है।

4. सत्ता वस्तुनिष्ठ होती है, प्रभाव व्यक्तिनिष्ठ और मनोवैज्ञानिक होता है।

5. सत्ता की सार्थकता शक्ति, प्रभाव, नेतृत्व आदि के साथ प्रकट होती है प्रभाव भावात्मक होने से शक्तिशाली और सुदृढ़ होता है। प्रभाव सत्ता और बल (दमन) की दरारों को भरता है।

(c) **सत्ता एवं औचित्य** (Authority and Legitimacy)—सत्ता और औचित्य को समान समझा जाता है। जैसाकि **टी. डी. वेल्डन** ने अपनी रचना **"वोकेबुलेरी ऑफ पॉलिटिक्स"** में कहा है कि **सत्ता शक्ति का उचित प्रयोग है।** उसने सत्ता की परिभाषा यह दी है "सत्ता सम्बन्धित व्यक्तियों की सामान्य स्वीकृति द्वारा शक्ति का प्रयोग या शक्ति के प्रयोग की क्षमता है।" यह सत्य है कि औचित्य-पूर्ण शासन के पास सत्ता होती है परन्तु कोई व्यक्ति स्टालिन या श्रीमती इन्दिरा गांधी की भाँति भी हो सकता है जिसके शब्द अथवा कार्य उसके अनुयायियों के लिए साधिकार हों परन्तु जिनमें औचित्य का अभाव हो। सत्ताधारी के पास दमन का शस्त्रागार हो सकता है परन्तु उसकी प्रभावशीलता दमन पर नहीं औचित्य-पूर्णता पर निर्भर करेगी।

D. औचित्यपूर्णता

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)—औचित्यपूर्णता राजनीतिक विश्लेषण की एक महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय अवधारणा है। **यह एक ऐसी विशेषता है जो संरचनाओं, कार्यविधियों, कार्यों, निर्णयों, नीतियों, पदाधिकारियों और नेतृत्व को औचित्य प्रदान करता है, इन्हें न्यायसंगत बनाती है तथा इन्हें सम्मान (आदर) प्रदान करती है।** यह स्वयं में कोई मूल्य नहीं बल्कि यह एक ऐसी मानवीय आवश्यकता है जो शक्ति को शक्ति प्रदान करती है, सत्ता को पुष्ट करती है, शासक को शासन करने का अधिकार देती है, प्रभाव को तार्किक औचित्य और प्राधिकार को नैतिक आधार प्रदान करती है। इसके अभाव में शक्ति केवल बल मात्र बनकर रह जाती है और शासक शासन करने के नैतिक अधिकार खो बैठता

है। इसके अभाव में शक्ति, बल, सत्ता आदि का विरोध होता है; विद्रोह, विप्लव और क्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। यदि यह विद्यमान है तो बल प्रयोग और दमन की आवश्यकता बहुत कम रहेगी क्योंकि जनमानस या अधीनस्थ कर्मचारी स्वभाव से आज्ञाओं का पालन करेंगे और कानूनों की स्वीकृति स्वाभाविक और ऐच्छिक होगी।

औचित्यपूर्णता की मुख्य परिभाषायें निम्न हैं--

1. डोल्फ स्टर्नबर्जर के शब्दों में, "औचित्यपूर्णता सरकारी शक्ति का ऐसा आधार है जिसका प्रयोग सरकार इस जानकारी के आधार पर करती है कि उसे शासन करने का अधिकार है और उसके शासन करने के अधिकार को शासितों की स्वीकृति प्राप्त है।"

2. कार्ल जे. फ्रेडरिक के शब्दों में, "औचित्यपूर्णता नियमों और शासकों के न्यायसंगत होने का प्रतीक है जो उनकी सत्ता को बढ़ाती है।"[1]

3. औचित्यपूर्णता शासक वर्ग के शासन करने के अधिकार की नैतिक स्वीकृति है।

औचित्यपूर्णता एक विशेषता या गुण या योग्यता या विश्वास है। यह शासक, शासन और कार्यविधियों को न्यायसंगत, उचित और नैतिक बनाती है। यह विश्वास ही इन्हें औचित्यपूर्ण बनाता है।

औचित्यपूर्णता की प्रकृति (Nature of Legitimacy)—औचित्यपूर्णता की प्रकृति को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकट किया जा सकता है—

औचित्यपूर्णता कोई व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व या नैतिक भावना नहीं। एटज्योनि ने कहा है कि यह "प्रचलित नैतिक विश्वासों या सदाचार का पर्यायवाची नहीं। **यह सहभाग से उत्पन्न होती है जो व्यवस्था और सत्ता को न्यायसंगत या सही बनाती है। यह शासकों और शासितों के सम्बन्धों की चीज है।**" यह विश्वास, मनोभाव या दृष्टिकोण है जो शासितों को आज्ञाओं का पालन करने के लिए कहता है। यह विश्वास कि शासक न्यायसंगत है, शासन की आज्ञायें सामान्य हित में है, उसके अनुयायियों या समुदाय के सदस्यों में भक्ति, वफादारी, सहमति या सहयोग उत्पन्न करता है। यदि यह विश्वास समाप्त हो जाय या सदस्यों और अनुयायियों में यह भाव उत्पन्न हो जाय कि शासन एवं शासक न्यायसंगत नहीं और उनकी आज्ञायें स्वार्थी हितों की पूर्ति करती हैं तो शासक, शासन और सत्ता का ह्रास होता है और अन्ततः उपद्रव और क्रान्ति को जन्म देता है।

औचित्यपूर्णता स्वयं में कोई औचित्य नहीं। यह मानकीय आवश्यकता है जो दूसरी आवश्यकताओं (शक्ति, प्रभाव, सत्ता आदि) को पुष्ट करता है, उनकी वृद्धि करती है। यही कारण है कि नेता दल, संगठन, संरचना सभी अपने विनिश्चयों के

---

1. "Legitimacy denotes-rightfulness of rules and rulers which enhances their authority." Friedrich, Carl J. : Tradition and Authority, p. 113.

लिए व्यापक स्वीकृति प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। यह मानकीय आवश्यकता कोई स्थाई तत्त्व नहीं होता। यह समय, समाज और संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है, परन्तु इसका महत्त्व सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए है, चाहे वह व्यवस्था प्रजातन्त्रवादी, सर्वसत्तावादी या अधिनायकवादी हो, उदारवादी, समाजवादी या साम्यवादी हो। प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में इसकी अत्यधिक आवश्यकता होती है। प्रजातन्त्र में कोई भी बहुमत देर तक अल्पमत की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि कोई भी बहुमत शक्ति, बल, दमन या हिंसा के आधार पर किसी विचार को अल्पमत पर नहीं थोप सकता। यही कारण है कि जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं या नेतृत्व को यह मानकीय आवश्यकता प्राप्त नहीं होती या जो इसे सहमति से प्राप्त करने में असफल रहते हैं वे अस्थिर रहते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के पास सत्ता होते हुए भी औचित्य नहीं था। इसलिए वे अस्थिर रहे। शक्ति और सत्ता तभी स्वीकृत होती है जब इन्हें औचित्य प्राप्त होता है। इसके अभाव में सैनिक शक्ति भी विनाश के कगार पर खड़ी रहती है।

औचित्यपूर्णता वैधानिकता नहीं। यह वैधानिकता से कहीं अधिक गहन, व्यापक और उच्च स्तरीय होती है। अनेक कानून अनुचित भी होते हैं। सिसरो, सन्त अगस्टाइन तथा प्राकृतिक कानून का समर्थन करने वाले लेखकों ने "अनुचित कानूनों" को औचित्यपूर्ण स्वीकार नहीं किया। सम्प्रभुता के समर्थकों और प्रत्यक्ष-वादियों का मत है कि किसी कानूनी व्यवस्था में यदि किसी नियम या कानून को निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार बनाया गया है तो वह उचित, शुद्ध और निष्कपट माना जाना चाहिए। सम्प्रभुता सिद्धान्त के समर्थक वैध शासन को औचित्यपूर्ण शासन कहते हैं चाहे वह अनुभवातीत विश्वास, व्यवस्था, धर्म या अन्यथा औचित्य-पूर्ण हो या न हो। यह दृष्टिकोण शान्ति या स्थिरता के काल में सही हो सकता है अर्थात् शान्तिकाल में वैधानिकता औचित्यपूर्ण हो सकती है, परन्तु क्रान्ति काल में वैधानिकता औचित्यपूर्ण नहीं होती क्योंकि क्रान्तिकारी उन्हीं मूल्यों को चुनौती देते हैं जिन पर कानून या विधि आधारित होती है। क्रान्ति सफल होने पर और समय बीतने पर क्रान्ति के मूल्य को जन स्वीकृति प्राप्त हो जाती है।

औचित्यपूर्णता सत्ता नहीं और सत्ता औचित्यपूर्णता नहीं। औचित्यपूर्ण शक्ति बिना सत्ता के विद्यमान हो सकती है, परन्तु सत्ता औचित्यपूर्णता के अभाव में देर तक स्थिर नहीं रह सकती। फिर भी दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं क्योंकि जहाँ सत्ता औचित्यपूर्णता को पुष्ट करती है वहाँ औचित्यपूर्णता सत्ता में वृद्धि करती है। दोनों एक-दूसरे को सबल बनाते हैं। अनेक बार युद्ध तथा अन्य विदेशी चुनौतियाँ भी दोनों को सबल बनाती हैं।

औचित्यपूर्णता को उदार और विस्तृत बनाने की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। सभी नेता प्रभावशाली मुहावरों द्वारा इसकी वृद्धि करने का प्रयास करते

है। उदाहरणतः श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 'गरीबी हटाओ' के नारे द्वारा व्यापक जन-समर्थन प्राप्त किया था। परन्तु जहां प्रभावशाली मुहावरे किसी नीति के लिए जन-सहमति प्राप्त कर सकते है वहां ये मुहावरे ही, विशेषकर उस नीति के आशय स्पष्ट होने पर, नेतृत्व का ह्रास भी कर सकते हैं। भारत में 1977 में यही हुआ। जब भारतीय जनता ने अनुभव किया कि श्रीमती गांधी देश में अपने "वंश शासन" और अधिनायकवाद को स्थापित करना चाहती हैं तो जिस जनता ने 1971 में उन्हें प्रचुर समर्थन दिया था उसी ने अवसर मिलते ही 1977 में पराजित कर अपदस्थ कर दिया।

औचित्यपूर्णता के स्रोत (Sources of Legitimacy)—**मैक्सवैबर** ने इसके तीन स्रोत बताये हैं—(i) परम्परा, (ii) युक्तियुक्त कानून और (iii) करिश्मा। इन स्रोतों के साथ विचारधारा को भी जोड़ा जा सकता है।

(i) **परम्परा** के अन्तर्गत औचित्य का स्रोत धर्म या आध्यात्मिक विश्वास हो सकता है जैसे "ईश्वर की इच्छा" या "ईश्वर का वंश"। राजा के दैवी अधिकार इसी स्वीकृति पर आधारित थे। **कैथोलिक चर्च** में **पोप** को आज भी सन्त पीटर का वंशज माना जाता है। इसके अन्तर्गत 'रक्त-वंश' को भी लिया जाता है। जिस तरह पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है उसी प्रकार शासक की सन्तान को शासन करने का अधिकार स्वीकार किया जाता है। राजतंत्र इसी मान्यता पर आधारित था। इसका आधार समय भी हो सकता है। यदि कोई शासक लम्बे समय तक शासन करता है तो समय उसे औचित्य प्रदान कर देता है।

(ii) **युक्तियुक्त कानून या संविधान**—वर्तमान प्रबुद्ध राजनीतिक समाजों में यह शासन के औचित्य का आधार है। जब लोग चुनाव में मतों द्वारा किसी शक्ति का चयन करते हैं तो उसे शासन करने के अधिकार का औचित्य प्राप्त हो जाता है। चुनाव किसी मूल विधि या संविधान की पूर्व कल्पना करता है जो समय पाकर स्वयं परम्परा की श्रद्धा को प्राप्त कर लेता है। जहां स्टर्नबर्जर इसे संवैधानिक औचित्यपूर्णता कहता है वहां फरेरो इसे प्रजातान्त्रिक कहता है।

(iii) **करिश्मा**—नेताओं का करिश्मा भी औचित्यपूर्णता का आधार हो सकता है। मैक्स वैबर ने **मोसिस, बुद्ध और मुहम्मद** की शक्ति को, जिन्होंने अपने-अपने धर्म की स्थापना की, करिश्मा की संज्ञा दी है।

(iv) **विचारधारा (Ideology)**–विचारधारा भी औचित्यपूर्णता का आधार हो सकती है। वर्तमान गैर-धार्मिक, गैर-परम्परागत विश्व में विचारधारा सही और गलत मानदण्ड निर्धारित करती है। साम्यवादियों के लिए साम्यवाद या मार्क्सवादी विचारधारा सर्वोत्तम मानदण्ड है। राष्ट्रवादियों के लिए राष्ट्रवाद, विशेषकर उपनिवेशवाद के विरोध के रूप में, एक मानक है। **बिस्मार्क, गांधी, नरेरे** जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने राष्ट्रवाद को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और एकता के लिए स्वीकार किया और इनके अनुयायियों ने उनका समर्थन किया।

औचित्यपूर्णता की अवस्थायें (Phases of Legitimation)—फरेरो ने औचित्यपूर्णता की निम्न चार अवस्थाओं का वर्णन किया है—

(i) **औचित्यपूर्णता से पूर्व की अवस्था**—यह वह अवस्था है जब किसी शासन व्यवस्था के नागरिक एक नयी शासन व्यवस्था के समय उनका समर्थन तो करते हैं, परन्तु उसे पूर्ण स्वीकृति प्रदान नहीं करते क्योंकि वे उस अवस्था की क्रियान्विति से पूर्णतः परिचित नहीं होते।

(ii) **औचित्यपूर्णता की अवस्था**—यह वह अवस्था है जब नागरिक शासक वर्ग की नीतियों, क्रियान्विति और उद्देश्यों का पूर्णतः समर्थन करते हैं। इस अवस्था में शासक वर्ग के मूल्य शासितों के मूल्यों के अनुरूप होते हैं।

(iii) **अनौचित्य की अवस्था**—यह वह अवस्था है जब शासित वर्ग शासक वर्ग के शासनाधिकार को स्वीकार नहीं करता। इसमें शासक और शासित वर्ग के मूल्यों में गहरा अन्तर होता है। क्रान्तिकाल में यही स्थिति होती है। क्रान्तिकारी उन्हीं मूल्यों को चुनौती देते हैं जिन पर कानून आधारित होते हैं।

(iv) **उत्तर औचित्यपूर्णता की अवस्था**—यह वह अवस्था है जब किसी नवीन शासन व्यवस्था को नागरिक की स्वीकृति प्राप्त न हो, परन्तु इस स्वीकृति की सम्भावना हो। बलात् राज्य परिवर्तन या सैनिक क्रान्ति द्वारा स्थापित शासन व्यवस्था की यही स्थिति होती है। क्रान्ति की सफलता से प्राप्त स्वीकृति उत्तर औचित्यपूर्णता की स्थिति है। सोवियत संघ को, साम्यवादी क्रान्ति के बाद, औचित्य-पूर्णता प्राप्त करने में अनेक दशाब्दियाँ लग गयीं।

औचित्यपूर्णता की उपयोगिता (Utility of Legitimacy) औचित्य-पूर्णता की उपयोगिता यह है कि इससे शासितों को नैतिक सन्तोष मिलता है और शासकों को शासन करने का स्थायी आधार मिल जाता है। जिस शासन, शासक या नीति को औचित्यपूर्णता प्राप्त नहीं होती वह अस्थाई रहती है और जिसे यह प्राप्त होती है उसकी आज्ञा का पालन सहयोग की भावना से होता है। जहाँ औचित्यपूर्णता विद्यमान है वहाँ शक्ति और दमन की आवश्यकता बहुत कम होती है। औचित्यपूर्णता होने पर शासित अनुशासन को अस्वाभाविक नहीं मानते। इसमें क्रान्ति, विप्लव या विद्रोह की सम्भावना नहीं होती। यही तत्त्व प्रजातन्त्र में अल्प-संख्यक वर्ग को बहुसंख्यक वर्ग के साथ जोड़ना है। यह प्रजातन्त्र का हृदय और प्राण है।

समीक्षा प्रश्न

1. शक्ति, प्राधिकार तथा वैधता (औचित्य) के अर्थ एवं सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। (Raj. 1978)
2. आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं अथवा असहमत कि राजनीति और शक्ति समानार्थक हैं ? अपने मत के समर्थन में कारण दीजिए। (Raj. 1977)
3. 'शक्ति की अवधारणा' पर एक टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1987)

19

सरकारों का वर्गीकरण या रूप

(Classification or Forms of Governments)

वर्गीकरण में कठिनाइयाँ—सरकारों के वर्गीकरण में मुख्यतः निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—

1. वर्गीकरण की शब्दावली एवं उसके आधारों में एक मत का अभाव—जिस प्रकार राज्य की प्रकृति और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेखकों में एक मत नहीं पाया जाता उसी प्रकार सरकारों के वर्गीकरण में भी उनमें एक मत नहीं पाया जाता। लेखक इस बात पर सहमत नहीं कि वर्गीकरण को राज्यों का वर्गीकरण कहा जाय या कि सरकारों या संविधानों का वर्गीकरण कहा जाय। विलोबी, गार्नर, गिलक्राइस्ट; गेटल इसे सरकारों का वर्गीकरण कहना पसन्द करते हैं। उनकी धारणा है कि सभी राज्य अपने मूल तत्त्वों में—जनसंख्या, क्षेत्र, सरकार, सम्प्रभुता—समान हैं परन्तु वे अपनी सरकारों के रूपों में भिन्न हैं। अतः वर्गीकरण को सरकारों का वर्गीकरण कहना उचित है। जैसाकि गेटेल ने कहा कि "राज्य की प्रमुख विशेषता उसकी राजनीतिक एवं कानूनी प्रकृति है। यह उसके सरकार के संगठन में अभिव्यक्त होती है। राज्यों का पूर्ण सन्तोषजनक वर्गीकरण सरकार के रूपों के अन्तर एवं समानताओं पर आधारित होता है। अतः यह राज्यों का नहीं, सरकारों का वर्गीकरण है। राज्यों का अस्तित्व सरकारों के द्वारा अभिव्यक्त होता है और अन्य किसी उचित आधार को ढूंढना कठिन है। अतः सरकारों का वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण है।"[1] विलोबी का मत है कि "राज्यों का वर्गीकरण" जैसी कोई चीज सम्भव नहीं। दूसरी ओर लीकॉक और डॉ. आशीर्वादम जैसे लेखकों ने 'सरकारों के वर्गीकरण' के स्थान पर 'राज्यों के वर्गीकरण' या 'संविधानों के वर्गीकरण' का प्रयोग किया है। उनकी मान्यता है कि सरकार राज्य का अभिकर्त्ता या यन्त्र मात्र है। राज्य के अभाव में सरकार की कल्पना नहीं की जा सकती। सी. एफ. स्ट्रांग और अरस्तू ने केवल 'संविधानों के वर्गीकरण' की बात कही है।

---

1. Gettell, R. C.; Political Science, pp. 191-192.

लेखकों में वर्गीकरण की शब्दावली में ही नहीं बल्कि वर्गीकरण के आधारों में भी एकमत नहीं। प्लेटो के लिए राज्यों के वर्गीकरण का आधार विवेक या मूल्यों या मस्तिष्क का क्रमिक ह्रास है। अरस्तू के लिए वर्गीकरण का आधार संख्या एवं उद्देश्य है; जैलिनिक एवं बर्गेस के लिए वर्गीकरण का आधार यह सिद्धान्त है कि राज्य की इच्छा किस प्रकार निर्मित एवं अभिव्यक्त होती है अर्थात् राज्य में प्रभुसत्ता कहां स्थित है। कुछ लेखक जनसंख्या एवं भूमि के आधार पर राज्यों को कम एवं अधिक जनसंख्या वाले एवं छोटे-बडे राज्यों में वर्गीकृत करते हैं। लॉट ने 'विधायी शक्ति' को ही वर्गीकरण का आधार बनाया है मेरियट ने संविधान की प्रकृति की प्रकृति को वर्गीकरण का आधार बनाया है। मैकाइवर ने वर्गीकरण के लिए चार आधार प्रस्तुत किये हैं—"संवैधानिक, आर्थिक, सामुदायिक और प्रभु-ढाँचा।"

2. सिद्धान्त एवं व्यवहार में अन्तर—सरकारों के वर्गीकरण में एक कठिनाई यह है कि उनका जो रूप दिखाई देता है व्यवहार में वह ऐसा नहीं होता। वस्तुतः आधुनिक सरकारें किसी एक प्रकार के वर्गीकरण में उपयुक्त नहीं बैठती। उदाहरणतः इंगलैण्ड में राजतन्त्र (सम्राट या साम्राज्ञीय), कुलीनतन्त्र (लार्ड सभा) और प्रजातन्त्र (कॉमन सभा) तीनों एक साथ विद्यमान हैं। दूसरी ओर, फ्रांस में सिद्धान्ततः राजतन्त्र नहीं। वहां राष्ट्रपति का निर्वाचन होने से वह गणराज्य है, परन्तु व्यवहार में फ्रांसीसी राजनीतिक संस्थायें राजतन्त्रात्मक राज्य से कम नहीं। सरकार की भावना साम्राज्यीय है। तीसरे, भारत में संघीय संविधान के लक्षण विद्यमान हैं, परन्तु संविधान में 'संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। भारत में "राज्यों के संघ" शब्द का प्रयोग किया गया है।

3. तीव्र गति से परिवर्तन—सरकारों के वर्गीकरण में कठिनाई यह है कि राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन इतनी तेज गति से हो रहे हैं कि सभी परिस्थितियों के लिए एक प्रकार के वर्गीकरण को हमेशा के लिए निश्चित करना कठिन है। उदाहरणतः इस परम्परागत वर्गीकरण को दोहराना हँसी उड़ाना है कि राजतन्त्र अत्याचारतन्त्र में बिगड़ जाता है या अभिजाततन्त्र अल्पतन्त्र में बिगड़ जाता है। वर्तमान समय में प्लेटो और अरस्तू के चक्रीय सिद्धान्त का महत्त्व नहीं रहा। जैसाकि आर. एच. सोलटाऊ ने लिखा है कि **"प्राचीन वर्गीकरण—राजतन्त्र अभिजाततन्त्र (कुलीनतन्त्र) एवं प्रजातन्त्र का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं रहा क्योंकि यह आधुनिक राज्यों के उद्देश्यों की ओर कोई संकेत नहीं करता।"**[1]

4. परिवर्तनों का पूर्वानुमान कठिन—आधुनिक सरकारें किसी विशिष्ट प्रकार से व्यवहार नहीं करतीं और न ही वे निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर परिवर्तित होती हैं। भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न तत्त्व क्रियाशील रहते हैं।

---

1. Soltau, R. H. : An Introduction to Politics, p. 113.

सरकारों का वर्गीकरण

सरकारों के वर्गीकरण को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(i) परम्परागत वर्गीकरण और (ii) आधुनिक वर्गीकरण।

(अ) परम्परागत वर्गीकरण

सरकारों के परम्परागत वर्गीकरण में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, पोलिबियस, सिसरो आदि लेखकों के वर्गीकरण को लिया जा सकता है। प्रमुख वर्गीकरण प्लेटो और अरस्तू का है जो निम्न प्रकार से है :—

1. प्लेटो द्वारा किया गया राज्यों का वर्गीकरण—प्लेटो ने अपनी तीनों प्रमुख रचनाओं 'रिपब्लिक, स्टेट्समैन और लॉज' में राज्यों का वर्गीकरण किया है। प्लेटो के वर्गीकरण की कुछ विशेषताएँ निम्न हैं :

(a) व्यक्ति की आत्मा के पतन के साथ राज्यों का पतन—प्लेटो की धारणा है कि जिस मात्रा में व्यक्ति की आत्मा का पतन होता है उसी मात्रा में राज्य का पतन होता है। उदाहरणतः जब आत्मा में विवेक तत्व प्रधान होता है तो आदर्श राज्यों की स्थापना होती है; जब विवेक साहस और सम्मान का सेवक होता है अर्थात् साहस और सम्मान विवेक को नियन्त्रित करते हैं तो सम्मानततन्त्र (Timocracy) जन्म होता है। जब क्षुधा (तृष्णा या धन लोलुपता) प्रधान होती है और वह विवेक और साहस को नियन्त्रित करती है तो अल्पतन्त्र (Oligarchy) जन्म लेता है। इसी प्रकार प्रजातन्त्र और निरंकुशतन्त्र जन्म लेते हैं। संक्षेप में "विवेक आदर्श राज्य को जन्म देता है, साहस और सम्मान सम्मानतन्त्र को जन्म देते हैं और धन-लोलुपता अल्पतन्त्र, प्रजातन्त्र और निरंकुशतन्त्र को जन्म देते हैं। इस तरह **प्लेटो के वर्गीकरण के आधार मूल्यों या मस्तिष्क का ह्रास है।"**

(b) विकास एवं पतन का सिद्धान्त—प्लेटो की धारणा है कि राज्यों का पतन उनके अन्दर से होता है, संयोग या बाह्य कारणों से नहीं। प्लेटो लिखता है कि जिस प्रकार पौधों में विकास और पतन का सिद्धान्त विद्यमान है उसी प्रकार राज्यों में भी यह सिद्धान्त सक्रिय है। उदाहरणतः सच्चे नियमों से अनभिज्ञता, उचित समय पर स्त्री-पुरुषों के यौन सम्बन्धों का न होना, विवेक से युक्त सन्तान का उत्पन्न न होना आदर्श राज्य के पतन का पहला रूप है अर्थात् सम्मानतन्त्र है। इसी तरह सम्मानतन्त्र से अल्पतन्त्र, अल्पतन्त्र से प्रजातन्त्र और प्रजातन्त्र से निरंकुश तन्त्र के रूप में आदर्श राज्य के क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे बिगड़ते हुए रूप हैं।

(c) अतिवादिता प्लेटो की धारणा है कि जब राज्य अपने निहित सिद्धान्तों को अति सीमा तक धकेलता है तो उन सिद्धान्तों की अतिवादिता ही उस राज्य को नष्ट करती है। उदाहरणतः **"धन की अधिकता अल्पतन्त्र को और स्वतन्त्रता एवं समानता की अधिकता प्रजातन्त्र को नष्ट करती है।"**

रिपब्लिक में वर्णित राज्यों का वर्गीकरण—रिपब्लिक में प्लेटो ने राज्यों को

पांच वर्गों में बाँटा है। इनके शीर्ष पर आदर्श या पूर्ण राज्य है। अन्य चार प्रकार के राज्य आदर्श राज्य के बिगड़े हुए रूप हैं। ये राज्य निम्न प्रकार से हैं—

पूर्ण या आदर्श राज्य—इसमें विवेक प्रधान होता है। यह दर्शन का शासन है। इसमें साहस और क्षुधा विवेक के नियन्त्रण में होते हैं। इसमें न्याय सिद्धान्त की सिद्धि होती है।

अपूर्ण या आदर्श राज्य के चार बिगड़े हुए रूप :

(i) सम्मानतन्त्र (Timocracy)—इसमें शौर्य, साहस और सम्मान प्रधान होता है। इसमें विवेक अनुपस्थित नहीं होता बल्कि साहस और सम्मान के नियन्त्रण में होता है। इसमें न्याय सिद्धान्त की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वर्ग अपना-अपना कार्य पूरा नहीं करते। इसमें शासक सैनिक होते हैं।

(ii) **अल्पतन्त्र** (Oligarchy)—इसमें धन प्रधान होता है। इसमें विवेक और साहस धन के नियन्त्रण में होते हैं। इसमें सम्पत्ति और धन-लोलुपता का बोलबाला होता है। इसमें राजपद प्राप्ति का साधन विवेक योग्यता नहीं धन होता है।

(iii) **प्रजातन्त्र** (Democracy)—इसमें धन-लोलुपता के साथ अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति होती है। इनमें नियम, कानून, परम्परा आदि का कोई आदर नहीं होता।

(iv) निरंकुशतन्त्र (Tyranny)—यह आदर्श राज्य का निकृष्टतम रूप है। अतः यह निम्न स्तर पर है। प्लेटो इसे अभिशाप कहता है। इसमें स्वेच्छाचरिता, भय और अपराध प्रधान होते हैं।

संक्षेप में, रिपब्लिक में प्लेटो ने राज्यों के दो अतिरूप व्यक्त किये हैं—

(i) विवेक द्वारा शासित आदर्श राज्य और (ii) स्वेच्छाचारी इच्छाओं द्वारा शासित निरंकुशतन्त्र। मध्य में उसके तीन मध्यवर्ती रूप हैं।

स्टेट्समैन में वर्णित राज्यों का वर्गीकरण—स्टेट्समैन में किये गये राज्यों के वर्गीकरण की विशेषता यह है कि इसमें रिपब्लिक के आदर्श राज्य को स्वीकार तो किया गया है परन्तु उसे दैवी मानकर स्वर्ग में प्राप्ति के लिए रख दिया गया है। अतः स्टेट्समैन में वास्तविक राज्यों का वर्गीकरण किया गया है। स्टेट्मैन ने प्लेटो ने परम्परागत त्रिगुणी वर्गीकरण को व्यक्त किया है। इस त्रिगुणी वर्गीकरण के प्रत्येक भाग को पुनः उप-खण्डों में वर्गीकृत किया गया है जिन्हें वह विधिपालक (Lawa-biding) और विधिहीन (Lawless) राज्यों की संज्ञा देता है। स्टेट्समैन में वर्णित राज्यों का वर्गीकरण अग्र प्रकार से है—

राज्य सत्ता धारण करने वालों की संख्या	विधिपालक राज्य	विधिहीन राज्य
एक व्यक्ति का शासन (Rule by One)	संवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन (Rule by Few)	अभिजाततन्त्र (Aristocracy)	अल्पतन्त्र (Oligarchy)
बहुत व्यक्तियों का शासन (Rule by Many)	संवैधानिक या मर्यादित प्रजातन्त्र (Constitutional or Moderate Democracy)	अतिवादी प्रजातन्त्र Extreme Democracy)

स्टेट्समैन में किये गए राज्यों के वर्गीकरण की दो विशेषतायें हैं—(i) इसमें विधि को वास्तविक राज्यों की निर्देशात्मक शक्ति स्वीकार किया गया है और जहां विधि की उपेक्षा की जाती है वहां राज्य का बिगड़ा हुआ रूप विद्यमान होता है। (ii) इसमें प्रजातन्त्र को घृणा से नहीं देखा गया जैसा कि उसे रिपब्लिक में देखा गया है। इसमें प्रजातन्त्र को विधिपालक राज्यों में तीसरा और विधिहीन राज्यों में प्रथम स्थान दिया गया है जबकि रिपब्लिक में प्रजातन्त्र को बिगड़े हुए राज्यों के निम्न स्तर से दूसरा स्थान दिया गया था और उसे अल्पतन्त्र से निकृष्ट माना गया था। स्टेट्समैन में प्रजातन्त्र के दोनों रूपों (संवैधानिक और अतिवादी प्रजातन्त्र) को अल्पतन्त्र और निरंकुशतन्त्र से अच्छा माना गया है। संक्षेप में, स्टेट्समैन में जनमत और जन सहमति और सहभागिता के महत्त्व को समझता है।

लॉज में वर्णित राज्यों का वर्गीकरण – लॉज में वर्णित राज्यों के वर्गीकरण के लिए किसी निश्चित सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया बल्कि स्टेट्समैन में वर्णित वर्गीकरण को ही थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया गया है। लॉज में राज्यों के वर्गीकरण की दो विशेषतायें हैं—(i) इसमें आदर्श राज्य की श्रेष्ठता को तो स्वीकार किया गया है, परन्तु उसे वास्तविक राज्यों की श्रेणी में नहीं लिया गया। (ii) इसमें राजतन्त्र और प्रजातन्त्र को मिला कर मिश्रित राज्य के नए तत्त्व को जोड़ा गया है। शेष वर्गीकरण वही है जो स्टेट्समैन का है।

मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का मूल उद्देश्य परस्पर विरोधी शक्तियों के संतुलन द्वारा राज्य में एकता उत्पन्न करना है। जैसाकि **प्रो सेबाइन** ने लिखा है

कि "मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का उद्देश्य शक्तियों के सन्तुलन द्वारा एकता को प्राप्त करना है या विरोधी प्रकृति के प्रतिकूल सिद्धान्तों को इस प्रकार मिलाना है कि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ एक दूसरे को प्रतितुलित (offset) कर दें। स्थिरता विरोधी राजनीतिक खिचावों का परिणाम है।" **प्लेटो** कहता है कि "यदि शासन राजतन्त्र न हो तो उसमें कम से कम राजतान्त्रिक सिद्धान्त तो अवश्य होना चाहिए अर्थात् उसमें कानूनों के अधीन बुद्धि और प्रभावपूर्ण शासन की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। इसी तरह यदि शासन प्रजातन्त्र न हो तो उसमें प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त तो अवश्य होना चाहिए अर्थात् उसमें कानूनों के अधीन जनता की हिस्सेदारी में स्वतन्त्रता और सत्ता का सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए।" इस तरह प्लेटो के मिश्रित राज्य में राजतन्त्र, अभिजाततन्त्र और प्रजातन्त्र के मिश्रण की व्यवस्था है।

2. अरस्तू द्वारा किया गया राज्यों का वर्गीकरण—अरस्तू ने अपनी रचना **"पॉलिटिक्स" की पुस्तक तीन और चार** में संविधान के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उनका वर्गीकरण किया है। अरस्तू के अनुसार संविधान "जीवन का एक तरीका है। यह ऐसा संगठन है जो सामान्यतः राज्य के पदों से सम्बन्धित होता है; यह विशेषकर उस विशिष्ट पद से सम्बन्धित होता है जो सभी विषयों में सम्प्रभु है।" यह "राज्यों में पदों का संगठन है जिसमें उनके वितरण की विधि निश्चित की जाती है, सर्वोच्च सत्ता को निश्चित किया जाता है और जिसमें राज्य व उसके सभी सदस्यों के उद्देश्य को निर्धारित किया जाता है।"

अरस्तू के अनुसार संविधान की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(a) यह राज्य की रूपरेखा अर्थात् आकार और स्वरूप को सुनिश्चित करता है। यह इस बात को निर्धारित करता है कि राज्य राजतन्त्रात्मक होगा या कुलीनतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक।

(b) यह राज्य के पदों को तथा उनके स्वरूप को निर्धारित करता है। यह भिन्न-भिन्न पदों (अंगों) में सत्ता वितरण करता है तथा उनकी सीमायें निर्धारित करता है।

(c) यह सर्वोच्च सत्ता को निश्चित करता है।

(d) यह राज्य तथा लोगों के लक्ष्य को निश्चित करता है। यदि लक्ष्य सामान्य हित है तो संविधान का रूप सही है और यदि लक्ष्य किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग का हित है तो उसका रूप बिगड़ा हुआ है।

(e) यह राज्य का सार है। इसके विद्यमान होने से राज्य विद्यमान होता है और इसमें परिवर्तन होने से राज्य का अन्त होता है। दूसरे शब्दों में, अरस्तू के अनुसार संविधान, राज्य और शासन समानार्थक शब्द हैं।

अरस्तू ने राज्य को दो आधारों पर वर्गीकृत किया है : (i) वह संख्या जो सर्वोच्च सत्ता में हिस्सेदार है और (ii) वह उद्देश्य जिस पर शासन आधारित

है। यदि शासन का उद्देश्य 'सद्गुण' का विकास करना है तो वह उसका शुद्ध या सही रूप है क्योंकि यह सामान्य हितों का विकास करता है। यदि शासन सद्गुण का विकास नहीं करता तो वह उसका बिगड़ा हुआ या भ्रष्ट रूप है क्योंकि वह सामान्य हितों के स्थान पर व्यक्तिगत या वर्गीय हितों की पूर्ति करता है। अरस्तू इन दो आधारों पर ही शासन के छः प्रकारों का वर्णन करता है जिन्हें वह शुद्ध और अशुद्ध या अच्छे और बिगड़े हुए शासकों में अभिव्यक्त करता है।

अरस्तू द्वारा वर्णित राज्यों के वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है :

संविधान का रूप अर्थात् सर्वोच्च सत्ता में हिस्सेदारों की संख्या	शासन का शुद्ध या सही रूप अर्थात् सामान्य हित पर आधारित शासन	शासन का बिगड़ा हुआ या भ्रष्ट रूप अर्थात् विशिष्ट हितों पर आधारित शासन
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र	निरंकुशतन्त्र
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र	अल्पतन्त्र
अनेक व्यक्तियों का शासन	पॉलिटी	प्रजातन्त्र

संक्षेप में, अरस्तू के अनुसार सरकारों (राज्यों) के तीन शुद्ध रूप हैं (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और पॉलिटी) और सरकारों के तीन बिगड़े हुए रूप हैं (निरंकुशतन्त्र, अल्पतन्त्र और प्रजातन्त्र) अरस्तू के इस वर्गीकरण में मिश्रित सरकारों या संविधानों की कोई व्यवस्था नहीं। इसके लिए वही शासन अच्छा शासन है जो मध्य मार्ग अपनाता है अर्थात् जिसमें मध्य वर्ग शासनारूढ़ है और वह सामान्य हित में शासन करता है।

अरस्तू के वर्गीकरण में **"शासकों के चक्रीय सिद्धान्त"** का उल्लेख मिलता है। उसकी धारणा है कि ऋतुओं की भाँति शासनों (सरकारों) में परिवर्तन एक निश्चित क्रम से होता है। प्रथम राजतन्त्र है और जब वह सामान्य हित को छोड़कर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए शासन करता है तो वह निरंकुशतन्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है। क्रान्ति द्वारा जब निरंकुश शासन को अपदस्थ कर दिया जाता है तो कुछ योग्य और गुणी व्यक्तियों का कुलीनतन्त्र जन्म लेता है और जब वे भ्रष्ट हो जाते हैं तो अल्पतन्त्र जन्म लेता है। सार्वजनिक विद्रोह द्वारा जब उसे अपदस्थ कर दिया जाता है तो पॉलिटी (संयत प्रजातन्त्र) जन्म लेती है और जब वह भ्रष्ट हो

जाती है तो भीड़तन्त्र (Mobocracy) या अतिवादी प्रजातन्त्र जन्म लेता है। इसके बाद पुनः एक गुणी व्यक्ति व्यवस्था स्थापित करता है और शासन के चक्र के पूरा होने पर पुनः वही चक्र शुरू होता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—अरस्तू द्वारा संविधान का किया गया वर्गीकरण आलोचना का पात्र रहा है। **शीले** इसे "यूनान के नगर राज्यों का वर्गीकरण मानता है।" **ब्लंशली** इसे "लौकिक राज्यों का वर्गीकरण मानता है, पारलौकिक राज्यों का नहीं।" **गार्नर** इसे "वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं मानता", **सेबाइन** इसे "उधार" की संज्ञा देता है। **डनिंग** इसे अनिश्चित सिद्धान्तों पर आधारित मानता है, **वॉन मोहल** का मत है कि "यह गणित सम्बन्धी है, सावयव नहीं; यह परिमाणात्मक है, गुणात्मक नहीं।"

अरस्तू के वर्गीकरण की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं—

1. मौलिकता का अभाव—अरस्तू का वर्गीकरण 'उधार खाता' है। उसने इसे हिरोडोट्स, सुकरात और प्लेटो के वर्गीकरण से प्राप्त किया है। "अरस्तू का वर्गीकरण प्लेटो द्वारा स्टेट्समैन में किए गए वर्गीकरण का अत्यधिक ऋणी है। अन्तर केवल शब्दों का है।"

2. निश्चित आधार का अभाव—अरस्तू के वर्गीकरण में किसी निश्चित आधार को नहीं अपनाया गया। **कभी संख्या, कभी उद्देश्य और कभी हित** इसके आधार हैं, **कभी आर्थिक तत्त्व** (सम्पन्नता एवं विपन्नता), **कभी गुण** (स्वतन्त्रता, समानता और धन) और **कभी व्यावसायिक** (कार्यात्मक) **तत्त्व** ही प्रधान हैं। **प्रो.** डनिंग ने कहा है कि "**अरस्तू के लिए यह बताना कठिन है कि अमुक प्रकार का शासन अमुक प्रकार के सिद्धान्त पर आधारित है।**"

3. शब्दों में अन्तर नहीं करता—अरस्तू के वर्गीकरण में संविधान, राज्य और शासन शब्दों को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया गया है जबकि आधुनिक समय में इन शब्दों में स्पष्ट भेद किया जाता है। आज संविधान शब्द का प्रयोग उन व्यापक अर्थों में नहीं किया जाता जिन व्यापक अर्थों में अरस्तू ने इसका प्रयोग किया है। आज संविधान शब्द केवल विधायी ढाँचे को प्रकट करता है। दूसरे, आज संविधान में परिवर्तन को राज्य का अन्त नहीं समझा जाता। **तीसरे**, आज राज्य और सरकार में भेद किया जाता है। आज सम्प्रभुता राज्य में निवास करती है, सरकार में नहीं।

4. वर्गीकरण सरकारों का है, संविधान का नहीं—अरस्तू जिसे संविधानों का वर्गीकरण कहता है वह वस्तुतः संविधानों का वर्गीकरण नहीं, वह सरकारों का वर्गीकरण है। आज संविधानों को लिखित, अलिखित, कठोर, लचीला, संघात्मक-एकात्मक आदि में वर्गीकृत किया जाता है। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र सरकारों के रूप हैं, संविधानों के नहीं।

5. अनुपयुक्त—अरस्तू का वर्गीकरण आज के राष्ट्रीय राज्यों, बहुराष्ट्रीय, एवं विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त है। उदाहरणतः इंगलैण्ड में राजतन्त्र, कुलीन-

तन्त्र और प्रजातन्त्र एक साथ विद्यमान हैं। दूसरे, आज के राज्यों में प्रजातन्त्र के साथ संसदात्मक-अध्यक्षात्मक, संघात्मक-एकात्मक व्यवस्थायें भी विद्यमान हैं। उदाहरणतः अमरीका और भारत में प्रजातन्त्र के साथ गणतन्त्र और संघात्मक व्यवस्था विद्यमान है।

6. अपर्याप्त—अरस्तू द्वारा किया गया वर्गीकरण इस बात को निश्चित करने में अपर्याप्त है कि कौनसा संविधान श्रेष्ठ है। उदाहरणतः जब वह व्यक्ति को श्रेष्ठ मानता है तो अल्पतन्त्र उसे श्रेष्ठ प्रतीत होता है और जब वह संख्या या सामान्य हित को श्रेष्ठ मानता है और अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना चाहता है तो उसे प्रजातन्त्र श्रेष्ठ प्रतीत होता है।

7. प्रजातन्त्र विरोधी—अरस्तू द्वारा किया गया वर्गीकरण प्रजातन्त्र को निकृष्ट सरकारों में रखता है जबकि आधुनिक समय में प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था है। प्रजातन्त्र में त्रुटियाँ होते हुए भी इसमें सभी लोगों की हिस्सेदारी होती है।

(ब) आधुनिक वर्गीकरण

आधुनिक समय में मुख्यतः निम्न लेखकों ने सरकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है—

1. मैक्यावली द्वारा किया गया वर्गीकरण—मैक्यावली, अरस्तू द्वारा किये गये संविधानों के वर्गीकरण को स्वीकार करता है, यद्यपि वह मिश्रित सरकारों के रूपों का भी उल्लेख करता है। परन्तु जहाँ सुकरात, प्लेटो और अरस्तू नैतिक मूल्यों पर अधिक बल देते हैं वहाँ मैक्यावली नैतिक मूल्यों को राजनीतिक सिद्धान्तों से अलग रखता है। एक व्यावहारिक चिन्तक होने के नाते मैक्यावली का विश्वास है कि सरकार का रूप परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। इन्हीं विशेषताओं के कारण मैक्यावली आधुनिक युग का प्रवक्ता माना जाता है जबकि सुकरात, प्लेटो और अरस्तू प्राचीन या परम्परागत युग के प्रवर्तक माने जाते हैं। मैक्यावली अपने चिन्तन में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र से ही सम्बन्धित रहा है।

2. लॉक द्वारा किया गया वर्गीकरण—लॉक राज्य में विधायी शक्ति पर अत्यधिक बल देता है और जहां विधि-निर्माण की शक्ति है उसी के आधार पर वह सरकारों को राजतन्त्र, अल्पतन्त्र एवं प्रजातन्त्र कहता है। यदि विधायी शक्ति एक व्यक्ति में है तो वहाँ राजतन्त्र विद्यमान होता है, यदि वह कुछ व्यक्तियों के हाथों में है तो वहाँ अल्पतन्त्र विद्यमान होता है और यदि वह बहुत व्यक्तियों के हाथों में है तो वहाँ शुद्ध प्रजातन्त्र विद्यमान होता है लॉक के वर्गीकरण की विशेषता यह है कि उसने राज्य और सरकार में स्पष्ट भेद किया है।

3. माण्टेस्क्यू द्वारा किया गया वर्गीकरण—माण्टेस्क्यू ने राज्यों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है—(i) गणतन्त्र (ii) राजतन्त्र एवं (iii) निरंकुश तन्त्र। उसने गणतन्त्र को पुनः दो उप-विभागों में बाँटा है—(i) प्रजातन्त्रात्मक एवं

(ii) कुलीनतन्त्रात्मक । माण्टेस्क्यू के अनुसार गणतन्त्र वह राज्य है जिसका प्रधान जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है । राजतन्त्र में शासक स्थापित विधि या निश्चित परम्पराओं द्वारा शासन करता है । निरंकुशतन्त्र में शासक अपनी इच्छानुसार शासन करता है । माण्टेस्क्यू की धारणा है कि प्रत्येक शासन का किसी विशेष सिद्धान्त से सम्बन्ध होता है । उदाहरणतः प्रजातन्त्र का सेवाभाव से, राजतन्त्र का सम्मान से और निरंकुशतन्त्र का भय से सम्बन्ध होता है ।

4. रूसो द्वारा किया गया वर्गीकरण—रूसो ने राज्यों को राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र में वर्गीकृत किया है । उसने कुलीनतन्त्र को पुनः तीन भागों में बांटा है—प्राकृतिक, निर्वाचन एवं वंशानुगत । रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थक था ।

5. मेरियट द्वारा किया गया वर्गीकरण —जे. ए. आर. मेरियट की धारणा है कि अरस्तू का वर्गीकरण मूल और लाभकारी होते हुए भी आधुनिक आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है । मेरियट ने सरकारों को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है (a) एकात्मक एवं संघात्मक सरकारें; (b) कठोर एवं लचीले संविधान वाली सरकारें; (c) संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकारें ।

(a) एकात्मक एवं संघात्मक सरकारें—एकात्मक राज्य में शासन की शक्ति एक केन्द्रीय सरकार के हाथों में होती है । इसमें शक्तियों का कोई संवैधानिक विभाजन या वितरण नहीं होता । भिन्न-भिन्न इकाइयाँ, जिन्हें प्रान्त, काउण्टीस या जिले कहते हैं, जिस सत्ता का प्रयोग करती हैं वह उन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की जाती हैं । केन्द्रीय सरकार स्थानीय इकाइयों का निर्माण करती है तथा उन्हें नष्ट करती है । स्थानीय इकाइयों की स्थिति केन्द्र के अभिकरणों से बढ़कर नहीं होती । उदाहरणतः इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली आदि देशों में सरकार का रूप एकात्मक है । दूसरी ओर, संघात्मक राज्य में संविधान द्वारा शासन व्यक्तियों को केन्द्रीय सरकार और स्थानीय या क्षेत्रीय या राज्य सरकारों में विभाजित किया जाता है । इसमें शासन का रूप दोहरा होता है और प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा प्रदान की गयी शक्ति का एकमात्र प्रयोग करती हैं । संघ में एकक केन्द्र के अभिकरण मात्र नहीं होते और न ही उनका जन्म-मरण केन्द्रीय सरकार के हाथ में होता है । अमरीका, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया आदि देशों में संघीय व्यवस्था विद्यमान है ।

(b) कठोर एवं लचीले संविधानों वाली सरकारें—कठोर संविधान में साधारण कानून और संवैधानिक कानून में भेद किया जाता है । इसमें व्यवस्थापिका साधारण कानून में परिवर्तन कर सकती है, परन्तु उसे संवैधानिक कानूनों में परिवर्तन करने के लिए विशिष्ट प्रक्रिया को, जिसका वर्णन संविधान में किया जाता है, अपनाना पड़ता है । उदाहरणतः अमरीकी संविधान विश्व का सबसे कठोर

संविधान है। इसमें परिवर्तन तभी हो सकता है जब उसे कांग्रेस के दोनों सदन पृथक्-पृथक् बैठक में 2/3 बहुमत से पास कर दें और 3/4 राज्यों के विधानमण्डल उसका अनुसमर्थन कर दें। दूसरी ओर, लचीले संविधान में साधारण कानून और संवैधानिक कानून में कोई अन्तर नहीं किया जाता और संसद संवैधानिक कानून को साधारण कानून की भांति संशोधित कर सकती है। ब्रिटिश संविधान विश्व का सबसे लचीला संविधान है।

(c) **संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकारें**–कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों के आधार पर मेरियट ने सरकारों को एक तरफ राजतन्त्रात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकारों को रखा है और दूसरी तरफ संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक या उत्तरदायी सरकारों को रखा है। निरंकुश राजतन्त्र में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से सर्वोच्च होती है; अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका समकक्ष होती हैं और मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन होती है अर्थात् कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। निरंकुश राजतन्त्र वर्तमान समय में विद्यमान नहीं; अध्यक्षात्मक व्यवस्था अमरीका में और संसदात्मक व्यवस्था ब्रिटेन एवं भारत में विद्यमान है।

6. स्टीफेन लीकॉक द्वारा किया गया वर्गीकरण—लीकॉक ने राज्यों को मुख्यतः दो भागों में वर्गीकृत किया है। (i) निरंकुश और प्रजातान्त्रिक। निरंकुश सरकार में शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में होती है जिसका प्रयोग वह अपनी इच्छा से करता है। उदाहरणतः मध्ययुगीन शासक। प्रजातान्त्रिक सरकार में शक्ति लोगों के हाथों में होती है। उदाहरणतः ब्रिटेन, अमरीका, भारत आदि देशों में प्रजातन्त्र विद्यमान है।

लीकॉक की धारणा है कि निरंकुश सरकारों में वर्गीकरण की कोई समस्या नहीं होती क्योंकि शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में होती है। प्रजातान्त्रिक सरकारों में वर्गीकरण की समस्या होती है। लीकॉक ने प्रजातान्त्रिक सरकारों को पुनः दो भागों में वर्गीकृत किया है : (i) सीमित राजतन्त्र और (ii) गणराज्य। इन्हें फिर उसने एकात्मक एवं संघात्मक सरकारों में वर्गीकृत किया है। एकात्मक और संघात्मक सरकारों को पुनः संसदात्मक और अध्यक्षात्मक सरकारों में वर्गीकृत किया गया है। लीकॉक के वर्गीकरण को अग्रांकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है (अगले पृष्ठ पर देखें)।

7. मैकाइवर द्वारा किया गया वर्गीकरण—मैकाइवर की धारणा है कि सरकार का कोई भी रूप स्थायी नहीं होता, यद्यपि सरकार के कुछ मुख्य रूप हैं जिनमें कम से कम सापेक्ष स्थायित्व पाया जाता है। मैकाइवर परम्परागत वर्गीकरण को सही मानते हुए भी उसे आधुनिक समय के लिए अपर्याप्त मानता है। मैकाइवर ने सरकारों के निम्न चार रूप बताये हैं—

(a) संवैधानिक (b) आर्थिक
(c) सामुदायिक (d) सर्वोच्च सत्ता ढांचा।

आधुनिक राज्य
निरंकुश
प्रजातान्त्रिक
सीमित राजतन्त्र
गणराज्य
एकात्मक
संघात्मक
एकात्मक
संघात्मक
संसदात्मक
अध्यक्षात्मक
संसदात्मक
अध्यक्षात्मक
संसदात्मक
अध्यक्षात्मक
संसदात्मक
अध्यक्षात्मक
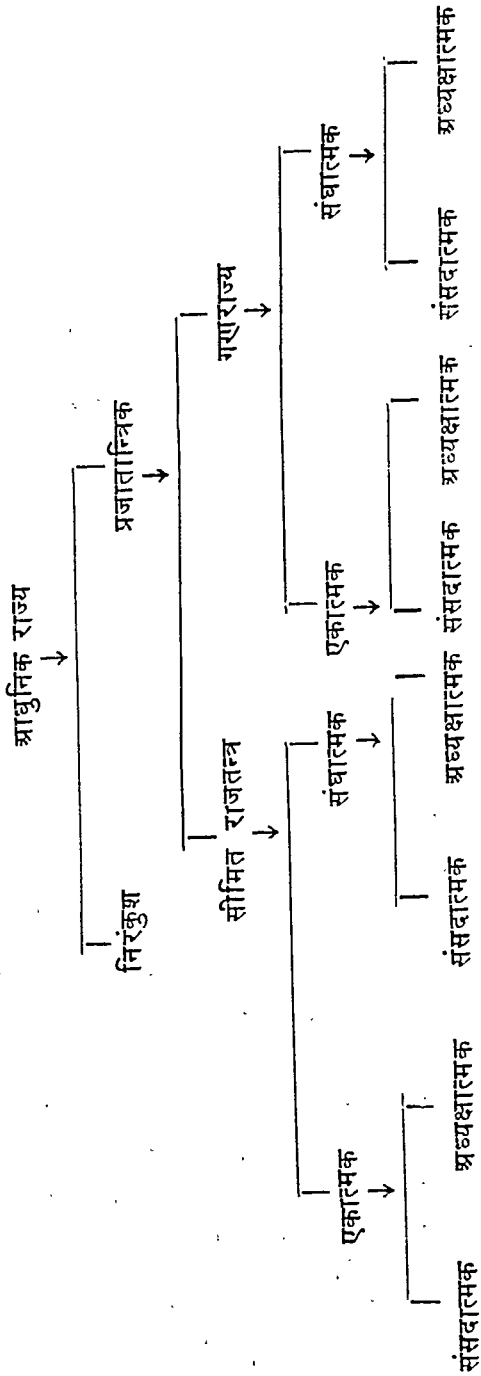
(a) संवैधानिक (Constitutional)—संवैधानिक आधार पर मैकाइवर ने सरकार के दो रूप बताये हैं, (i) अल्पतान्त्रिक और (ii) प्रजातान्त्रिक। अल्पतन्त्र के बाह्य रूप भिन्न-भिन्न होते हैं, (a) राजतन्त्र, (d) अधिनायकतन्त्र, (c) धर्मतन्त्र (Theocracy) और (d) वहु मुखियापद (Plural Headship)। राजा या अधिनायक के पीछे कुलीनों का शासकीय गुट हो सकता है। राजतन्त्र वंशानुगत होता है, परन्तु अधिनायक का जन्म राज्य विप्लव में होता है और धार्मिक शासक को पादरियों के वर्ग (जाति) द्वारा निर्वाचित किया जाता है, द्वैध मुखियावाद को प्राचीन (प्रारम्भिक) समाजों में देखा जा सकता है। उदाहरणतः फ्लोरेन्स जैसे मध्ययुगीन नगर राज्यों में वहु-मुखियापद थे।

प्रजातन्त्र सीमित या संवैधानिक राजतन्त्र में और गणराज्य संविधानों में भी विद्यमान हो सकता है। पहले का उदाहरण ब्रिटेन और दूसरे का अमरीका है।

(b) आर्थिक आधार (Economic Basis)—अर्थव्यवस्था के आधार पर मैकाइवर ने सरकारों को चार भागों में वर्गीकृत किया है—(i) प्राचीन युग—इनमें लोक अर्थ व्यवस्था थी, (ii) मध्य युग—इसमें सामन्त अर्थ व्यवस्था थी, (iii) पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था—इसका विकास औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुआ, (iv) समाजवादी अर्थ व्यवस्था—इसका विकास 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।

(c) सामुदायिक आधार (Communal Basis)—इसके मुख्य रूप ये हैं—(i) प्राचीन युग—कवीले का नेता, (ii) यूनान के नगर राज्य, (iii) राजतान्त्रिक—अर्थात् राजा ने समुदाय को शान्ति और व्यवस्था प्रदान की। राष्ट्रवाद के विकास के साथ राष्ट्रीय राज्यों का विकास हुआ। (iv) एक ही सरकार के अन्तर्गत अनेक राष्ट्रीयतायें निवास करती हैं। (v) विश्व सरकार का निर्माण अभी होना है।

(d) सर्वोच्च सत्ता ढाँचा—सर्वोच्च सत्ता ढाँचे के आधार पर मैकाइवर ने सरकारों के तीन रूप वताये हैं (i) एकात्मक (ii) संघात्मक और (iii) साम्राज्य, उपनिवेश और अधीन राष्ट्र।

8. सी. एफ. स्ट्रांग द्वारा किया गया वर्गीकरण—सी. एफ. स्ट्रांग की धारणा है कि वर्गीकरण के लिए उन आधारों को ढूँढना चाहिए जो सभी राज्यों में पाये जाते हैं और जिन पर राज्यों का संगठन आधारित है। उन्हीं के आधार पर राज्यों को वर्गीकृत किया जाना चाहिए। स्ट्रांग ने ऐसे आधारों को वताया है जिन पर राज्यों को वर्गीकृत किया जाना चाहिए। ये निम्न हैं—

(a) **राज्य की प्रकृति के आधार पर** जैसे एकात्मक एवं संघात्मक।

(b) **संविधान की प्रकृति के आधार पर** जैसे कठोर एवं लचीला संविधान।

(c) **व्यवस्थापिका की प्रकृति के आधार पर** जैसे वयस्क मताधिकार पर आधारित एवं सीमित वयस्क मताधिकार पर आधारित; एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र एवं वहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र, अनिर्वाचित द्वितीय सदन एवं निर्वाचित या

अांशिक रूप से निर्वाचित द्वितीय सदन, प्रत्यक्ष लोक-नियन्त्रण एवं प्रत्यक्ष लोक-नियन्त्रण का अभाव आदि।

(d) **कार्यपालिका की प्रकृति के आधार पर** जैसे संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका।

(e) **न्यायपालिका की प्रकृति के आधार पर** जैसे विधि के शासन के अधीन न्यायपालिका एवं प्रशासकीय विधि के अधीन न्यायपालिका।

9. **आधुनिक वर्गीकरण के आधार**—आधुनिक समय में सरकारों को मुख्यत: निम्न आधारों पर वर्गीकृत किया है—

	आधार	**सरकारों का वर्गीकरण**			
1.	विचारधारा	उदारवादी-प्रजातन्त्रवादी (इंगलैण्ड-अमरीका-भारत आदि)	सर्वसत्तावादी-समाजवादी (नाजी-जर्मनी, फासिस्ट-इटली, सोवियत संघ, चीन आदि)		
2.	राज्य की प्रकृति	एकात्मक (इंगलैंड, फ्रांस, इटली आदि)	संघात्मक (भारत, अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि)	परिसंघ	
3.	संविधान की प्रकृति	कठोर (अमरीका)	लचीला (इंगलैंड)	अर्द्ध कठोर-अर्द्ध लचीला (भारत)	
4.	कार्यपालिका की प्रकृति	संसदात्मक (इंगलैंड, भारत आदि)	अध्यक्षात्मक (अमरीका)	एकल कार्यपालिका (अमरीका)	बहुल कार्यपालिका (स्विट्जरलैंड, सोवियत संघ आदि)
5.	व्यवस्थापिका की प्रकृति	एक सदनात्मक (फिनलैंड-बल्गेरिया आदि)	द्वि-सदनात्मक (भारत, अमरीका, इंगलैंड आदि)		
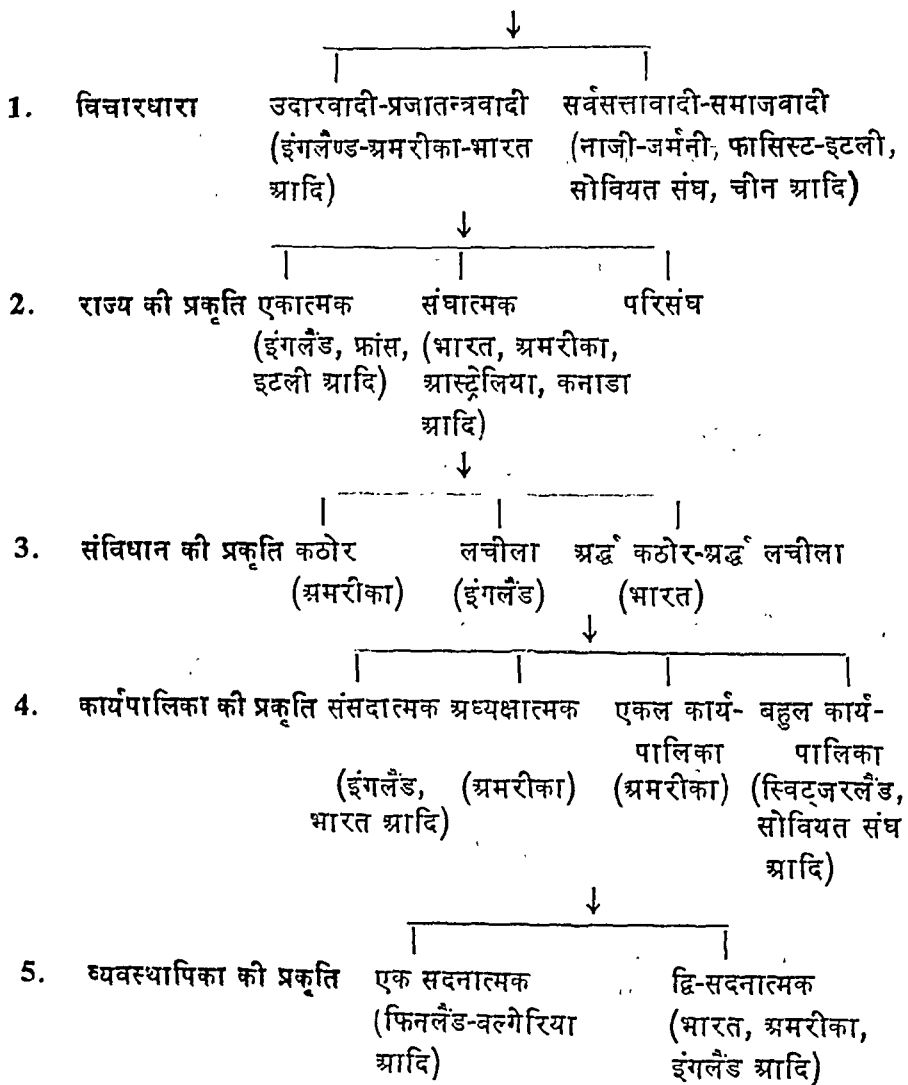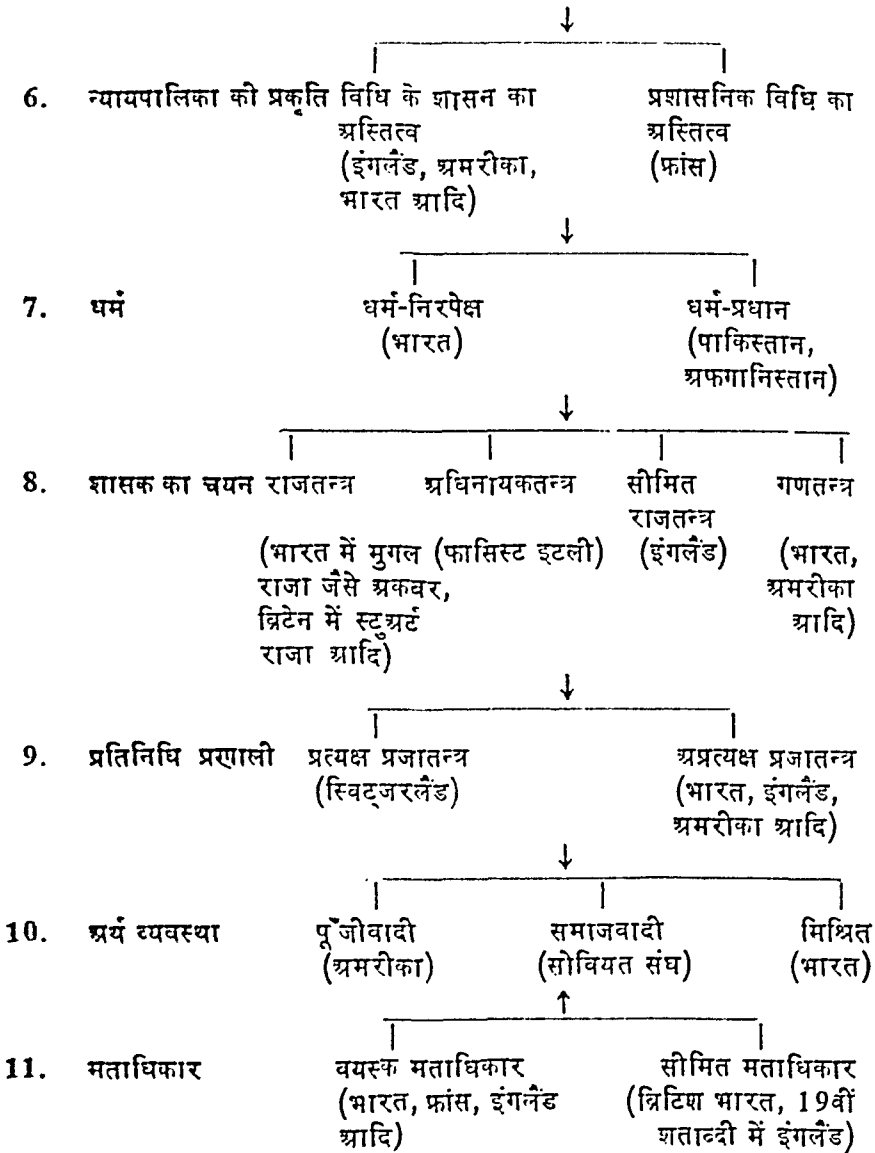
समीक्षा प्रश्न

1. सरकारों के परम्परागत वर्गीकरण की विवेचना कीजिए एवं उसकी सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।
2. सरकारों के आधुनिक वर्गीकरण की विवेचना कीजिए एवं उसकी सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।

20

राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार–प्रजातन्त्र एवं अधिनयकतन्त्र

(Forms of Political System—Democracy and Dictatorship)

A. प्रजातन्त्र

अर्थ एवं परिभाषा—प्रजातन्त्र शब्द की उत्पत्ति, जिसका अंग्रेजी रूपान्तर "डेमोक्रेसी" है, यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर हुई है— 'डैमोस" और "क्रेटोस"। "डैमोस" का अर्थ है 'लोग' और 'क्रेटोस' का अर्थ है 'शक्ति। इस तरह शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से प्रजातन्त्र का अर्थ है "लोक शक्ति" या "जन शक्ति"। जहाँ शासन की अन्तिम शक्ति लोगों के हाथों में होती है या लोग शासन सत्ता का स्रोत होते हैं, वहाँ प्रजातन्त्र विद्यमान होता है।

प्रजातन्त्र का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। कुछ के लिए यह विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली है जिसमें 'लोग' या 'अनेक' राजनीतिक नियन्त्रण का प्रयोग करते हैं कुछ के लिए यह मानवीय समाज का दर्शन है राजनीतिक आदर्श है, जीवन का ढंग है। कुछ के लिए यह आदर्शों एवं भावनाओं का ऐसा समूह है, जो समाज के सदस्यों के एक-दूसरे के प्रति व्यवहार को प्रेरित एवं नियन्त्रित करता है। कुछ के लिए यह आध्यात्मिक आदर्श है। कुछ के लिए यह समाज का एक रूप है और कुछ के लिए यह आर्थिक असमानताओं को दूर करने का साधन है। ई. एम. बर्न्स ने कहा है कि 'प्रजातन्त्र सभी व्यक्तियों के लिए सभी चीजें रहा है।"

प्रजातन्त्र का मुख्यत: निम्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है—

(i) **शासन के रूप में** इसका अर्थ है कि शासन सत्ता का स्रोत लोग हैं और उसकी नीतियों पर अन्तिम निर्णय बहुमत के आधार पर लिया जाता है।

(ii) **राज्य के रूप** में इसका अर्थ है कि लोग प्रतिनिधियों का केवल चयन ही नहीं करते बल्कि नीति-निर्माताओं पर निरन्तर एवं प्रभावकारी नियन्त्रण भी रखते हैं।

(iii) समाज के रूप में इसका अर्थ है कि सभी व्यक्ति चाहे उसका पद, स्थिति और स्तर कुछ भी हो, समान हैं और उनमें किसी आधार पर कोई भेद नहीं किया जाता। सभी कानून के समक्ष समान हैं और सभी को कानून का संरक्षण प्राप्त है।

(iv) राजनीतिक रूप में इसका अर्थ है कि देश में सार्वभौम वयस्क मताधिकार विद्यमान है। सभी के मत का समान मूल्य है। प्रत्येक के पास एक मत है और किसी को एक से अधिक मत देने का अधिकार नहीं है। सभी की राजनीतिक स्वतन्त्रतायें सुरक्षित हैं। विरोध को समाप्त या शान्त नहीं किया जाता बल्कि उसे प्रसारित करने की स्वतन्त्रता भी होती है। व्यक्ति को उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रताओं सेवंचित नहीं किया जाता। यद्यपि उसे कानून का पालन करने के लिए कहा जा सकता है।

(v) आर्थिक रूप में इसका अर्थ है कि सम्पत्ति की गम्भीर असमानतायें न हों, शोषण और अन्याय न हो। सभी को आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन हो और सभी के पास जीविकोपार्जन के न्यूनतम साधन उपलब्ध हों।

(vi) जीवन के ढंग के रूप में इसका अर्थ है, जैसाकि **ए. डी. लिण्डसे** ने कहा है कि "व्यक्ति सामान्य कार्य पर सहमत हो सकते हैं जो उन्हें अपना जीवन यापन करने की छूट देता है...यदि हम एक दूसरे के व्यक्तित्व का आदर करते है तो सामान्य ढांचे या अधिकारों की प्रणाली को ढूँढ सकते हैं जिसमें व्यक्ति का स्वतन्त्र नैतिक जीवन सम्भव है।" **चार्ल्स ई. मेरियम** का मत है कि "प्रजातन्त्र नियमों का कोई समूह नहीं, न ही यह सगठन की कोई रूपरेखा है; यह सामान्य कल्याण द्वारा प्रतिपादित एवं निर्देशित सामान्य कल्याण के दृष्टिकोण का एक प्रकार और कार्य का तरीका है।

प्रजातन्त्र के केवल राजनीतिक उद्देश्य ही नहीं होते बल्कि भौतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य भी होते हैं। उदाहरणतः जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, मानवीय व्यक्तित्व को आगे बढ़ाना एवं उसकी समृद्धि करना, आर्थिक एवं सामाजिक उत्पादन से उत्पन्न होने वाले लाभों को व्यापक रूप से बाँटना, आदि।

परिभाषायें (Definitions)—प्रजातन्त्र की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. हिरोडोट्स के शब्दों में, "प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें शासन की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण समुदाय के सदस्यों में निहित होती है।"

2. सीले के शब्दों में, प्रजातन्त्र वह शासन प्रणाली है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा हो।"

3. लावेल के शब्दों में, "प्रजातन्त्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक को समान अवसर प्राप्त हो और वह जानता हो कि उसे समान अवसर प्राप्त हैं।"

4. ब्राइस के शब्दों में, "प्रजातन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग में अथवा वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज के सदस्यों में निहित होती है।"

5. **डायसी** के शब्दों में, प्रजातन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें शासक समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत बड़ा भाग हो।"

6. **अब्राहम लिंकन** के शब्दों में, "प्रजातन्त्र जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन है।"

7. **ई. एफ. कॅरिट** के शब्दों में, "प्रजातन्त्र सम्पूर्ण का शासन है; यह बहुमत द्वारा शासन है, यह वयस्कों के गुप्त मतदान द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का शासन है।"

प्रजातन्त्र के प्रकार

प्रजातन्त्र के दो प्रकार हैं– (i) शुद्ध या प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र और (ii) प्रतिनिधि या अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy)—इसे प्रजातन्त्र का शुद्ध रूप कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं शासन का संचालन करती है, नीतियों को निर्धारित करती है, कानूनों का निर्माण करती है, शासकीय पदाधिकारियों को नियुक्त करती है, राजनयिकों का स्वागत करती है और न्याय करती है। सम्पूर्ण जनता अपनी प्रभुसता का प्रयोग नगर सभाओं में करती है। रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का प्रबल समर्थक था। प्राचीन समय में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र यूनान के नगर राज्यों, मध्ययुग में इटली के नगर राज्यों और आधुनिक समय में स्विट्जरलैण्ड के केन्टनों और अमरीका के कम आबादी वाले राज्यों में विद्यमान है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र केवल कम आबादी वाले राज्यों में ही सम्भव है जहां सम्पूर्ण जनता विचार-विमर्श के लिए सरलतापूर्वक एकत्रित हो सकती है। उदाहरणतः स्विट्जरलैण्ड के कुछ केन्टनों में **लैण्ड्सजीमिन्दे** और अमरीका के कुछ-राज्यों में **नगर सभायें** आज भी विद्यमान हैं। परन्तु आधुनिक विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव नहीं है।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की प्रमुख पद्धतियां निम्न हैं—

(i) जनमत संग्रह (Referendum)

(ii) आरम्भन (Initiative)

(iii) मत संग्रह (Plebiscite)

(iv) प्रत्यावर्तन (Recall)

उपर्युक्त सभी पद्धतियों का विस्तृत वर्णन **अध्याय 24 में 'प्रत्यक्ष विधि निर्माण'** शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इनके अध्ययन के लिए उसी अध्याय को पढ़ें।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)–इसे प्रतिनिधि प्रजातन्त्र भी कहते हैं। इसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष शासन नहीं करती बल्कि अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करती है। जनता निश्चित अन्तराल के बाद निर्वाचनों के माध्यम से अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है; प्रतिनिधियों से विधान मण्डलों की रचना की जाती है। विधान मण्डल जनता के लिए विधियों का निर्माण करते हैं, जो

निरायकों और साधारण जनता पर समान रूप से लागू होती है। विश्व में आज प्राय: सभी देशों में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र विद्यमान है। उदाहरणत: भारत, इंगलैण्ड अमरीका आदि देशों में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र विद्यमान है।

प्रजातन्त्र के लक्षण या विशेषतायें

प्रजातन्त्र के कुछ सामान्य लक्षण होते हैं, जिनके आधार पर प्रजातान्त्रिक या गैर प्रजातान्त्रिक अथवा ज्यादा या कम प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में भेद किया जा सकता है। प्रजातन्त्र के सामान्य लक्षण मुख्यत: निम्न हैं—

1. लोक नियन्त्रण (Popular Control)—प्रजातन्त्र में नीति निर्माताओं पर लोक-नियन्त्रण होता है यह नियन्त्रण निरन्तर बना रहता है। लोक नियन्त्रण की प्रमुख संस्थायें निम्न हैं

(a) नियतकालिक निर्वाचन (Periodic Elections)—नीति निर्माताओं पर लोक नियन्त्रण बनाये रखने के लिए समय समय पर निर्वाचनों की आवश्यकता होती है। ये निर्वाचन निश्चित अन्तरालों पर होने चाहिए ताकि लोगों को नीतियों पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिलता रहे। यदि शासक सत्ता में बने रहने के लिए निर्वाचनों को टालते हैं या अपने कार्यकाल में स्वयं वृद्धि कर लेते हैं तो प्रजातन्त्र की अवहेलना होती है।

(b) अप्रत्यक्ष नियंत्रण (Indirect Control)—प्रजातन्त्र में लोगों का सार्वजनिक नीतियों पर सीधा या प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं होता और आधुनिक विशाल राज्यों में यह सम्भव भीनहीं। लोगों का नियन्त्रण अप्रत्यक्ष होता है। लोग निर्वाचनों के माध्यम से अपने प्रतिनिधियों का चयन करते हैं और प्रतिनिधि नीतियों पर नियन्त्रण रखते हैं। अत: निर्वाचन निष्पक्ष और स्वतन्त्र होने चाहिये और लोग निडर एवं भय रहित होने चाहिए ताकि वे आगामी चुनावों में उन प्रतिनिधियों को बदल सकें जो उनका सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस तरह लोग प्रतिनिधियों के चयन द्वारा नीतियों को स्वीकार या अस्वीकार करते हैं अर्थात् नीतियों पर नियन्त्रण रखते हैं। एच. बी. मेयो ने कहा है कि **"चुनाव परिणाम प्रतिनिधियों और निर्णयों को औचित्य प्रदान करते हैं।"**[1]

(c) लोक प्रभाव (Popular influence)—लोक नियन्त्रण को सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है कि नीति निर्माताओं पर लोक प्रभाव निरन्तर बना रहे। इस प्रभाव का स्वरूप संस्थागत और वैध दोनों हो सकता है। यह प्रभाव राजनीतिक दलों, दबाव समूहों, प्रेस, रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन, सार्वजनिक सभाओं, मुलाकातों के माध्यम से पड़ता रहता है और प्रतिनिधियों के भावी चयन की सम्भावनाओं को प्रभावित करता है।

---

1. "The election result invests representatives and decision with legitimacy-Mayo, H. B. : An Introduction to Democratic Theory p. 730

(d) लोक प्रभुता (Popular Sovereignty)—प्रजातन्त्र में शासन की अन्तिम सत्ता लोगों के हाथों में होती है और इसी के माध्यम से लोग प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण रखते हैं। प्रजातन्त्र में "सत्ता लोगों से उत्पन्न होती है।" इसी को लोक-प्रभुता कहते हैं।

2. राजनीतिक समानता (Political Equality)—इसका अर्थ है कि सभी वयस्क नागरिकों को राज्य के कार्यों में हिस्सा लेने की समानता। इसका अर्थ है कि मताधिकार की समानता हो अर्थात् राज्य के सभी वयस्क नागरिकों को समान मताधिकार प्राप्त हों और उनमें जाति, भाषा, लिंग, प्रदेश, शिक्षा, धर्म, सम्पत्ति या अन्य किसी आधार पर कोई भिन्नता न हो। मताधिकार में समानता का यह अर्थ नहीं कि निर्णयों में सभी का समान प्रत्यक्ष हिस्सा हो; निर्णयों में हिस्सा अप्रत्यक्ष होगा; केवल निर्णय निर्माताओं के नियन्त्रण में हिस्सा प्रत्यक्ष होगा।

राजनीतिक समानता एक जटिल विषय है। इसके मुख्य तत्व निम्न हैं—

(a) सार्वभौम वयस्क मताधिकार – इसका अर्थ है कि सभी वयस्क नागरिकों को विना किसी भेदभाव के समान मताधिकार प्राप्त हो। वयस्क की आयु के सम्बन्ध में लेखकों के विचारों और राज्य की प्रथाओं में समानता नहीं पाई जाती। यदि भारत में वयस्क की आयु 21 वर्ष है तो अमरीका में यह 18 वर्ष है।

(b) एक व्यक्ति एक मत—इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ही मत होगा, किसी के पास एक से अधिक मत नहीं होंगे। बहु मतदान का अधिकार किसी को नहीं होगा।

(c) प्रत्येक मत का समान मूल्य—इसका अर्थ है कि प्रत्येक मत का मूल्य समान होगा। मतों को किसी रूप से भारित नहीं समझा जायेगा। **बेन्थम** ने कहा है कि **"प्रत्येक की गणना एक रूप में होगी और किसी की गणना एक से अधिक नहीं होगी।"** ब्रिटिश भारत में मुसलमानों को प्रदान की गई गुरुभार पद्धति प्रजातन्त्र की अवहेलना थी।

(d) निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या उनको प्राप्त मतों के अनुपात में हो—इसका अर्थ है कि यदि चुनाव में किसी दल को डाले गये मतों का 60% और दूसरे को 40% प्राप्त होता है तो व्यवस्थापिका में उनके प्रतिनिधियों की संख्या का अनुपात भी 60 और 40 होना चाहिए। व्यवहार में मतों और निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या में यह समानता नहीं पाई जाती, क्योंकि अधिकांश प्रजातान्त्रिक देशों में "बहुमत सिद्धान्त" प्रचलित है। उदाहरणतः भारत में 1971 के पाँचवें आम चुनाव में काँग्रेस को डाले गये मतों के 43·6 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, परन्तु लोक सभा में उसके प्रतिनिधियों की संख्या 70 प्रतिशत थी। प्रजातन्त्र में बहुमत सिद्धान्त एक विडम्बना है, फिर भी यह आवश्यक है।

3. राजनीतिक स्वतन्त्रतायें (Political Freedoms) - प्रजातन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का विद्यमान होना आवश्यक है। इन स्वतन्त्रताओं के माध्यम से नीति निर्माताओं पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ सकता है। लोक-नियन्त्रण तभी प्रभावपूर्ण हो सकता है, यदि राजनीतिक स्वतन्त्रतायें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में विद्यमान हों। यदि लोगों पर संविधान या परम्परा का भार इतना अधिक है कि वे निर्वाचनों द्वारा नीति निर्माताओं को हटा नहीं सकते या प्रतिनिधियों के चयन में वे स्वतन्त्र पसन्दगी को प्रकट नहीं कर सकते या उम्मीदवारों के चयन में विकल्प विद्यमान नहीं तो लोक नियन्त्रण दिखावा मात्र बनकर रह जाता है। प्रजातन्त्र स्वतन्त्र राजनीतिक वातावरण की मांग करता है।

स्वतन्त्र राजनीतिक वातावरण के मुख्य तत्त्व निम्न हैं—

(a) स्वतन्त्र चयन (Free Choice)—इसके तीन अर्थ हैं—(i) व्यक्ति चुनाव में स्वयं खड़ा हो सके। वह किसी दूसरे व्यक्ति को उम्मीदवार के रूप में खड़ा कर सके, वह किसी को अपना मत दे सके। (ii) मतदान स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो अर्थात् मतदाता पर किसी प्रकार का दबाव, दमन या भय न हो। (iii) मतदान गुप्त हो ताकि मतदाता निडर होकर मतदान कर सके।

(b) विकल्प निर्धारण की स्वतन्त्रता (Choice of Alternatives)—प्रजातन्त्र में लोक नियन्त्रण तभी प्रभावपूर्ण हो सकता है जब उम्मीदवारों को पद प्राप्त करने की स्वतन्त्रता हो, जब उन्हें और उनके समर्थकों को नागरिकों के समक्ष अपने दावों को स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्त करने और अपनी वैकल्पिक नीतियों को प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता हो और नागरिकों को इन भिन्न-भिन्न विकल्पों में से किसी विकल्प को पसन्द करने की स्वतन्त्रता हो। सकम्पटर इसे **"मतों के लिए प्रतिद्वन्द्वी नियन्त्रण'** कहता है।

(c) भाषण, संघ एवं संगठन की स्वतन्त्रता—लोक नियन्त्रण को प्रभावपूर्ण बनाने और निर्वाचनों में पसन्दगी को अर्थपूर्ण बनाने के लिए जिन राजनीतिक स्वतन्त्रताओं की आवश्यकता होती है वे हैं-भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता; आलोचना और विमत प्रकट करने की स्वतन्त्रता; संघ, समुदाय और संगठन बनाने की स्वतन्त्रता आदि। जैसाकि एच. बी. मेयो ने कहा है कि **"राजनीतिक स्वतन्त्रतायें विरोध और दल प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की कसौटी है।"** संक्षेप में, पदों की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र प्रतियोगिता होनी चाहिये और पराजित उम्मीदवारों को निर्वाचनों के निर्णय को स्वीकार करना चाहिए।

4. बहुसंख्यक शासन (Majority rule)—बहुमत का शासन प्रजातन्त्र की आत्मा है। यही विधान मण्डलों में निर्णय लेने का सार्वभौम नियम है, यही शासन और उसकी नीतियों को औचित्य प्रदान करता है, यही शासितों की सहमति का आधार है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि जब कभी किसी विषय पर मत-

भेद हों या प्रतिनिधियों के विचारों में भिन्नतायें हों तो बहुमत द्वारा निर्णय किया जायेगा।

प्रजातन्त्र में बहुमत और अल्पमत में एक मौन समझौता होता है। यदि अल्पमत बहुमत के निर्णयों को स्वीकार करता है तो बहुमत भी अल्पमत के विचारों का आदर करता है। बहुमत विरोध का मुँह बन्द नहीं करता, आलोचकों और विमत वालों का दमन नहीं करता। जैसाकि मेयो ने कहा है कि "विरोधियों को कानून के प्रति भक्ति रखने के लिए बाध्य किया जा सकता है, परन्तु उन्हें समाप्त या शान्त नहीं किया जा सकता, उन्हें उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रताओं से वंचित नहीं किया जा सकता। जब तक प्रजातन्त्र विद्यमान है, बहुमत निर्णय पर यही एक मर्यादा है। जब राजनीतिक स्वतन्त्रतायें और वैध विरोध समाप्त हो जाता है तो प्रजातन्त्र समाप्त हो जाता है।" यह विश्वास कि अल्पमत को बहुमत के निर्णय पर पुनः वाद-विवाद शुरू करने का अधिकार है, प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को वास्तविक बनाता है जैसाकि कोरी और हॉजट्स ने कहा है कि "प्रजातान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया वाद-विवाद, मेल-मिलाप और समझौते की प्रक्रिया है।"

5. व्यक्ति के विवेक में विश्वास (Belief in Rationality)—प्रजातन्त्र व्यक्ति के विवेक में विश्वास करता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी होने से कार्य करने के सिद्धान्तों का निर्णय कर सकता है और अपनी निजी इच्छाओं को उन सिद्धान्तों के अधीन रख सकता है। यदि कोई बहुमत विवेक को सुनने के लिए तैयार नहीं या नवीन तथ्यों के सामने आने पर निर्णय को बदलने के लिए तैयार नहीं तो वाद-विवाद और विचार-विमर्श की प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया की उपेक्षा होती है। कोरी और हॉजट्स ने कहा है कि "हम गोली के स्थान पर मतपत्रों को इसलिए पसन्द करते हैं कि मतपत्र युक्तियुक्त प्रक्रिया को सम्भव बनाता है।"

6. व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का सम्मान—प्रजातन्त्र व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व पर बल देता है। यह उसके गौरव प्रतिष्ठा और मान-मर्यादाओं का आदर करता है। यह उसकी क्षमताओं और योग्यताओं में विश्वास करता है। प्रजातन्त्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं को दुलारा जाता है। इसमें व्यक्ति को अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने और पूर्णतः प्राप्त करने की स्वतन्त्रता दी जाती है। इसमें दूसरे उसके लिए निर्णय नहीं करते, इसमें व्यक्ति की अन्तःआत्मा निर्णय करती है। यदि दूसरे उसके लिए निर्णय करते हैं तो उसका जीवन दास की भाँति फीका, अभावग्रस्त और निर्बल होगा। कोरी और हॉजट्स ने कहा कि **"विश्वास को बाध्य नहीं किया जा सकता, यह स्वतन्त्र रूप से पैदा होता है।"**

7. संविधानवाद—प्रजातन्त्र संविधानवाद पर बल देता है। इसका अर्थ यह है कि प्रजातन्त्र में शासन नियमानुकूल और उत्तरदायी होना चाहिए। इसीलिए प्रजातन्त्र में लिखित संविधान, विधि के शासन, शक्तियों के विभाजन, शास-

नागरिक प्रशासकरण और स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता होती है। इसमें शासन सीमित शक्तियों का उपयोग करता है। इसमें क्षेत्राधिकार के अतिक्रमण को रोकने और नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा के लिए न्यायपालिका निरन्तर सतर्क रहती है।

8. संवैधानिक शासन—प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों में यह मौन समझौता होता है कि वे सत्ता प्राप्ति के लिए या सामाजिक परिवर्तन के लिए संवैधानिक अर्थात् शान्तिमय साधनों का प्रयोग करेंगे, उग्र या हिंसक साधनों का नहीं। प्रजातन्त्र अनुनय, विचार-विमर्श और जनमत की शक्ति में विश्वास करता है, हिंसा, उपद्रव, क्रान्ति या दमन में नहीं। प्रजातन्त्र मतपत्र में विश्वास करता है, गोली में नहीं।

"लोकतन्त्र एक शासन का स्वरूप, एक सामाजिक संगठन का सिद्धान्त एवं एक जीवन की पद्धति है।"

उक्त कथन या प्रश्न के मुख्यतः तीन पहलू हैं। इन पहलुओं को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है :—

1. **लोकतन्त्र एक शासन का स्वरूप है**—एक शासन के स्वरूप में लोकतन्त्र के मुख्यतः निम्न दो अर्थ हैं

(A) लोक प्रभुता, और

(B) लोक निर्णय एवं नियन्त्रण

(A) **लोक प्रभुता**—इसका अर्थ है लोक शक्ति अर्थात् लोकतन्त्र में शासन की अन्तिम या मौलिक शक्ति किसी दैवी सिद्धान्त या वंश परम्परा पर आधारित नहीं होती बल्कि यह जन इच्छा पर आधारित होती है। लोकतन्त्र में शासन शक्ति किसी विशिष्ट व्यक्ति जैसाकि सम्राट या अधिनायक अथवा किसी विशिष्ट वंश, वर्ग या राजनीतिक दल में निहित नहीं होती बल्कि यह सामूहिक रूप से लोगों के हाथों में निहित होती है। लोगों के हाथों में शासन की अन्तिम या मौलिक शक्ति का होना ही लोकतन्त्र को राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, अधिनायकतन्त्र से अलग या भिन्न करता है तथा इसे लोकप्रिय शासन बनाता है। लोक प्रभुता लोकतान्त्रिक समाज की पहचान है।

लोकतन्त्र शब्द की उत्पत्ति ही ग्रीक भाषा के "डैमोस" और क्रेटोस" जैसे ऐसे दो शब्दों से हुई है जिनका क्रमशः शाब्दिक अर्थ है "लोग" और "शक्ति" अर्थात् लोक शक्ति ही लोकतन्त्र है। जैसाकि हिरोडोट्स ने कहा है कि "लोकतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें शासन की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण समुदाय के सदस्यों में निहित होती है।" सीले के अनुसार "लोकतन्त्र वह शासन प्रणाली है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा हो।" दूसरे शब्दों में लोकतन्त्र में साधारण से साधारण नागरिक को शासन में शरीक होने का अधिकार होता है और उसे यह ज्ञात होता है कि उसे यह अधिकार और अवसर प्राप्त है। अब्राहम लिंकन के शब्दों में, "लोकतन्त्र

जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन है।" यह सबका प्रत्येक पर और प्रत्येक का सब पर शासन है।

(B) **लोक निर्णय एवं नियन्त्रण**—इसका अर्थ है कि **लोग शासन सत्ता के स्रोत हैं**। लोग शासन सत्ता की रचना करते हैं तथा इस बात का निर्णय करते हैं कि शासन कौन करेगा और शासन का उद्देश्य क्या होगा ? लोग सार्वजनिक पदों के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं तथा शासन की नीति-निर्धारित करते हैं। इस तरह लोकतन्त्र निर्णय करने की विधि, ढंग या तरीका है, परन्तु यह निर्णय तभी लोकतान्त्रिक निर्णय कहला सकता है जब निर्णय प्रक्रिया को निम्न शर्तों पर आधारित किया गया हो—

(i) **लोक सहमति** अर्थात् निर्णय को लोक सहमति पर आधारित किया गया हो, लोक सहमति को खुले समाज के स्वतन्त्र वातावरण एवं प्रतिद्वन्द्वी विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में प्राप्त किया गया हो। यदि लोक सहमति दबाव, जोर-जबरदस्ती हिंसा या आतंक के वातावरण में प्राप्त की गयी है तो उसे लोक सहमति या लोक निर्णय नहीं कहा जा सकता। यदि लोक कल्याण का बहाना या आवरण ओढ़ कर कोई प्रबुद्ध व्यक्ति तथा लोकप्रिय नेता निर्णय लेता है तो उसे भी लोक निर्णय नहीं कहा जा सकता। लोक सहमति या लोक निर्णय के लिए आवश्यक है कि निर्णय प्रक्रिया में सभी लोग शरीक (शामिल) हों और उन्हें संवैधानिक तौर पर उसमें शरीक होने का अधिकार और अवसर प्राप्त हो। अतः प्रतिद्वन्द्वी विकल्पों के अस्तित्व में नियतकालिक एवं स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव लोक सहमति और लोक निर्णय के लिए आवश्यक शर्तें हैं।

(ii) **बहुमत निर्णय**—निर्णय करने के लिए बहुमत पद्धति या विधि का होना आवश्यक है। यद्यपि निर्णय करने की सर्वश्रेष्ठ विधि सर्व सम्मति या आम सहमति है, परन्तु बड़े आकार वाली लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में यह व्यावहारिक नहीं और न ही यह सम्भव है। अतः सापेक्ष बहुमत को ही बहुमत का निर्णय मान लिया जाता है। चुनाव परिणाम, विधान मण्डल और मन्त्रिमण्डल के निर्णय बहुमत पर ही आधारित होते हैं। बहुमत निर्णय में अल्पसंख्यकों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, उन्हें असुरक्षित नहीं होना चाहिए। बहुमत अत्याचारी नहीं होना चाहिए, उसे सहनशील होना चाहिए।

(iii) **संरचनात्मक आधार**—लोक निर्णय को कुछ संरचनात्मक आधारों अर्थात् संस्थाओं की आवश्यकता होती हैं। ये संस्थायें ही निर्णय को लोकतान्त्रिक निर्णय बनाने में सहायक हैं तथा लोगों को शासकों पर नियन्त्रण रखने के अवसर प्रदान करती हैं। ये संस्थायें मुख्यतः निम्न हैं—

(a) **नियतकालिक चुनाव**—चुनाव जन इच्छा को जानने का मुख्य साधन है। इसके माध्यम से जाना जा सकता है कि लोग शासनकर्त्ताओं की नीतियों का समर्थन करते हैं अथवा नहीं। चुनाव ही शासनकर्त्ताओं पर नियन्त्रण रखने का

साधन है। यदि लोग शासनकर्त्ताओं की नीतियों का समर्थन नहीं करते तो वे चुनाव में उन्हें पराजित कर अपदस्थ कर सकते हैं और नये शासकों (प्रतिनिधियों) का चुनाव कर उन्हें सत्तारूढ़ कर सकते हैं। नियतकालिक चुनाव लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। यदि शासक सत्ता में बने रहने के लिए निर्वाचनों को टालते हैं अथवा अपने कार्यकाल में स्वयं वृद्धि कर लेते हैं तो लोकतन्त्र की अवहेलना होती है।

(b) बहुसंख्यक चुनाव
(c) संवैधानिक शासन

इन दोनों विन्दुओं की विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में वर्णित "प्रजातन्त्र के लक्षण या विशेषताएँ" शीर्षक के अन्तर्गत विन्दु संख्या 4 और 8 में की गई है। अतः इनका अध्ययन उन्हीं स्थानों से कीजिए।

संक्षेप में, एक शासन के स्वरूप में लोकतान्त्रिक राज्य जैसाकि हर्नशा ने कहा है, **"साधारणतः वह है जिसमें प्रभुत्व शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन सूत्र स्थापित किया जाय। राज्य के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नहीं है अपितु यह शासन (सरकार) को नियुक्त करने, उस पर नियन्त्रण करने तथा उसे अपदस्थ करने की भी विधि है।"**

2. लोकतन्त्र एक सामाजिक संगठन का सिद्धांत है इसका अर्थ है कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज के कुछ सिद्धान्त हैं जिनके दायरे में यह कार्य करता है। ये सिद्धान्त ही इसे समरूपता (Consistency) और दिशा की एकता (directional unity) प्रदान करते हैं। ये सिद्धान्त ही लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज को फासीवादी, सर्वसत्तावादी या साम्यवादी राजनीतिक समाजों से अलग या भिन्न करते हैं। ये सिद्धान्त मुख्यतः निम्न हैं—

(i) प्रतिनिधित्व का सिद्धांत— इसका अर्थ है कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज में शासन सरकार) का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर होना चाहिए ताकि लोग अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर सकें। प्रतिनिधियों का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होना चाहिए ताकि अवधि बीत जाने पर उन्हें लोगों से अर्थात् अपने निर्वाचकों से पुनः समर्थन प्राप्त करने के लिए बाध्य होना पड़े। निश्चित अवधि के बाद समर्थन प्राप्त करने का यह सिद्धान्त ही प्रतिनिधियों को लोगों के प्रति जवाबदेह या संवेदनशील बनाता है तथा लोगों के नियन्त्रण को सार्थक बनाता है।

(ii) उत्तरदायित्व का सिद्धांत—इसका अर्थ है कि शासन सत्ता जनता की धरोहर है। यह, जैसा कि जॉन लॉक ने कहा है **"विश्वासाश्रित धरोहर"** (Fiduciary trust) है। शासन सत्ता का प्रयोग जन कल्याण के लिए ही किया जा सकता

है। इसका प्रयोग स्वार्थपूर्ति या निहित हितों की पूर्ति हेतु नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज में शासन अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होता है और आगामी चुनावों का भय उसके सर पर निरन्तर मण्डराता रहता है। इसीलिए चुनाव को लोकतन्त्र की जीवन रेखा कहा जाता है।

(iii) संवैधानिक शासन का सिद्धान्त—इसका अर्थ है कि सीमित एवं नियमानुकूल शासन। इसका अर्थ है कि शासन की शक्तियाँ असीमित नहीं होनी चाहिए बल्कि संविधान द्वारा सीमित होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि शासन व्यक्तियों का नहीं बल्कि कानून का शासन होना चाहिए। जब कभी शासन अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करे अथवा नागरिक स्वतन्त्रताओं के साथ खिलवाड़ करे या अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करे तो न्यायालय को उसे अवैध घोषित कर रद्द करने की शक्ति होनी चाहिए। न्यायालयों की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति संवैधानिक शासन बनाये रखने में सहायक है।

(iv) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त—इसका अर्थ है कि राजनीतिक सत्ता पर किसी एक समूह, संगठन या राजनीतिक दल का एकाधिकार नहीं होना चाहिये। समाज में राजनीतिक सत्ता के अनेक दावेदार होने चाहिए। **चुनाव के समय लोगों के पास अनेक विकल्प उपलब्ध होने चाहिए ताकि वे अपनी पसन्द के विकल्प का चुनाव कर सकें। प्रतियोगी राजनीति लोकतन्त्र को शक्तिशाली बनाती है** तथा लोगों को जागरूक, साहसी और क्रियाशील रखती है। सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्थाओं और लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में मूल भेद ही यह है कि जहाँ सर्वसत्तावाद में लोगों के पास चयन के लिए कोई विकल्प विद्यमान नहीं होते वहाँ लोकतन्त्र में लोगों के पास चयन के लिए विकल्प विद्यमान होते हैं। इसीलिए प्रतियोगी राजनीति को लोकतन्त्र की संजीवनी या जीवन रेखा कहा गया है।

3. लोकतन्त्र एक जीवन पद्धति है—इसका अर्थ है कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक जीवन के कुछ आदर्श, मूल्य और मानदण्ड होते हैं जो इसे सर्वसत्तावादी और अधिनायकवादी जीवन पद्धति से अलग करते हैं। लोकतन्त्र ऐसी जीवन पद्धति है जिसमें व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का सम्मान किया जाता है। इसमें व्यक्ति के विवेक पर विश्वास किया जाता है और उसकी स्वतन्त्रता और समानता को दुलारा जाता है। दूसरी ओर, सर्वसत्तावादी समाज में व्यक्ति के स्थान पर समष्टि, समूह या समाज की योग्यता और श्रेष्ठता पर बल दिया जाता है। लोकतन्त्र, जैसाकि मैक्सी ने कहा है, "ऐसे मार्ग की खोज है जिसमें व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और स्वैच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके।"

लोकतन्त्र जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। यह व्यक्ति से किसी विशेष प्रकार के स्वभाव एवं सामाजिक व्यवहार की मांग करता है। यह इस बात की माँग करता है कि "सबके हृदय में क्षमा, सहिष्णुता, सेवा, परोपकार, विरोधी

दृष्टिकोण के प्रति आदरभाव, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान एवं समझौते की प्रवृत्ति विद्यमान हो।" लोकतन्त्र में सभी व्यक्तियों द्वारा दूसरे के प्रति वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा व्यवहार वह अपने प्रति पसन्द करता है।

लोकतान्त्रिक जीवन के मुख्य आदर्शों एवं मूल्यों को निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है :—

(i) व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का सम्मान।
(ii) व्यक्ति के विवेक में विश्वास।
(iii) नागरिक स्वतन्त्रताओं अर्थात् भाषण, संघ एवं संगठन की स्वतन्त्रता।

इन तीनों बिन्दुओं की विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में वर्णित "प्रजातन्त्र के लक्षण या विशेषताओं" शीर्षक के अन्तर्गत क्रमशः बिन्दु संख्या 6, 5 और 3(c) में की गयी है अतः इनका अध्ययन उन्हीं स्थानों से कीजिये।

(iv) समानता : यह लोकतन्त्र का मूलभूत सिद्धान्त, आदर्श एवं मूल्य है। इसके मुख्यतः निम्न चार अर्थ हैं :—

(a) **राजनीतिक समानता**—इसका विस्तृत वर्णन इस अध्याय में वर्णित 'प्रजातन्त्र के लक्षण या विशेषताओं" शीर्षक के अन्तर्गत विन्दु संख्या 2 में किया गया है। अतः इसका अध्ययन उसी स्थान से कीजिए।

(b) **नागरिक समानता**—इसका अर्थ है कि सभी व्यक्ति नागरिक के रूप में समान समझे जाने चाहिए। उनमें जाति, भाषा, धर्म, लिंग, स्थान (क्षेत्र या प्रदेश) शिक्षा, सम्पत्ति या अन्य किसी आधार पर भिन्नता नहीं की जानी चाहिए। दूसरे, सभी नागरिक कानून के समक्ष समान होने चाहिए। इसका अर्थ है कि व्यक्ति का पद, स्थिति या स्तर कुछ भी हो सभी कानून के समक्ष समान होने चाहिए और सभी को कानून का समान संरक्षण मिलना चाहिए। तीसरे, नागरिकों के मूल अधिकार सुरक्षित होने चाहिए। इनकी उल्लंघना होने पर उन्हें न्यायालय से उपचार प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(c) **सामाजिक समानता**—इसका अर्थ है कि सभी व्यक्तियों को व्यक्ति के रूप में सामाजिक स्तर पर समान समझा जाना चाहिए। सामाजिक समानता का अर्थ है सामाजिक न्याय अर्थात् सामाजिक आधार पर कोई व्यक्ति असमर्थ नहीं होना चाहिए और किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। व्यक्तियों में जाति, भाषा, धर्म, लिंग या अन्य किसी आधार पर कोई भिन्नता नहीं की जानी चाहिए। यद्यपि भारतीय संविधान प्रस्तावना में भारत में रहने वाले सभी व्यक्तियों को सामाजिक न्याय का आश्वासन देता है फिर भी भारतीय समाज में छुआछूत का रोग, यूरोपीय और अमरीकी समाज में काले और गोरे या नीग्रो और गोरे का भेद और दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद (रंग भेद) लोकतन्त्र के सामाजिक समानता के आदर्श की अवहेलना है।

(d) **आर्थिक समानता**—राजनीतिक, नागरिक और सामाजिक समानता का महत्त्व तभी है जब व्यक्तियों को आर्थिक समानता प्राप्त हो। परन्तु आर्थिक समानता का यह अर्थ नहीं कि व्यक्तियों में धन या सम्पत्ति का समान वितरण हो या वेतनों की दरों में भिन्नता न हो। जब तक व्यक्तियों के गुणों, योग्यताओं, क्षमताओं और आवश्यकताओं में भिन्नतायें रहेंगी तब तक धन व वेतनों की दरों में समानता न सम्भव है, न व्यावहारिक। आर्थिक समानता का केवल इतना अर्थ है कि समाज में गम्भीर आर्थिक विषमतायें न हों, धन का संचय कुछ हाथों में न हो, धन के अभाव या गम्भीर भिन्नताओं के कारण समाज में शोषण और असहाय व्यवस्था न हो, वेतनों में इतनी अधिक भिन्नतायें न हों कि उन भिन्नताओं के कारण कोई व्यक्ति असमान प्रभाव डालने की स्थिति में हो। आर्थिक समानता का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों, सभी को जीवन के न्यूनतम आधारों (रोटी, कपड़ा और मकान) का आश्वासन हो, सभी के जीविकोपार्जन के साधन दूसरों की सनक पर निर्भर न करते हो तथा बुढापे या अन्य असहाय स्थिति में आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन हो। **डॉ. बेनी प्रसाद** ने ठीक ही लिखा है कि लोकतन्त्र "जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्त्व उतना ही है जितना कि अन्य किसी के सुख का महत्त्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता।"

पश्चिमी (उदार) एवं समाजवादी (सर्वसत्तावादी) राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रजातन्त्र

पश्चिमी (उदार) राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रजातन्त्र के वे सब लक्षण विद्यमान होते हैं जिनका वर्णन पीछे किया गया है। इन व्यवस्थाओं में, जैसाकि अमरीका या ब्रिटेन में, नीति निर्माताओं पर लोक नियन्त्रण रहता है जिसके लिए निश्चित अन्तराल के बाद निर्वाचनों की व्यवस्था होती है। लोगों को अपने प्रतिनिधियों के चयन की स्वतन्त्रता होती है। लोग प्रतिनिधियों को भावी निर्वाचनों में अस्वीकार कर सकते हैं। लोगों में राजनीतिक समानता पाई जाती है। इनमें मताधिकार वयस्क होता है। इनमें एक व्यक्ति का एक मत होता है और प्रत्येक मत का समान मूल्य होता है। इनमें नागरिकों की राजनीतिक स्वतन्त्रतायें सुरक्षित होती हैं। इनमें नागरिकों को भाषण, अभिव्यक्ति, संघ या समूह बनाने और विरोध या आलोचना करने की स्वतन्त्रता होती है। इनमें 'बहुमत शासन' की व्यवस्था होती है जो अल्पमत को कानून मानने के लिए बाध्य तो कर सकता है परन्तु उसे समाप्त या शान्त नहीं करता और न ही उसे राजनीतिक स्वतन्त्रताओं से वंचित करता है। इनमें नीतियों के निर्माण का आधार वाद-विवाद, मेल-मिलाप और समझौते का दृष्टिकोण होता है। इनमें व्यक्ति और उसकी प्रतिष्ठा का सम्मान किया जाता है। इसमें विधि का शासन होता है। इनमें सत्ता प्राप्ति के लिए मतपत्रों (जनमत) का सहारा लिया जाता है; दमन, हिंसा या क्रांति का नहीं।

समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं ने, जैसा कि सोवियत संघ की समाज राजनीतिक व्यवस्था ने, जो अपने आपको 'जनवादी प्रजातन्त्र' कहती हैं, पश्चि प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के ढाँचे, सूत्रों और शैलियों को अपना परन्तु उनकी भावनाओं और अर्थों को नहीं अपनाया। उदाहरणतः सोवियत में सिद्धान्ततः सोवियत जनता शासन सत्ता का स्रोत है, शासन पर लोक नियन्त्र लोक नियन्त्रण को सार्थक बनाने के लिए निश्चित अन्तराल के बाद निर्वाचनों व्यवस्था है। निर्वाचनों के माध्यम से लोग अपने प्रतिनिधियों का चयन करते सोवियत रूस में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, समान मताधिकार आदि में राजनीतिक समानता भी विद्यमान है। परन्तु सोवियत संघ में व्यवहार राजनीतिक प्रक्रियायें अनुपस्थित हैं जो राजनीतिक ढाँचे को प्रजातान्त्रिक बना और नीति निर्माताओं पर लोक नियन्त्रण को वास्तविक एवं प्रभाव बनाती हैं।

समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में निम्न प्रजातान्त्रिक प्रक्रियायें अनुपस्थित होती हैं—

1. नीति निर्माताओं पर लोक नियन्त्रण नहीं होता—समाजवादी राजनी व्यवस्थाओं में नीतियों का निर्माण देखने में तो जन-प्रतिनिधियों द्वारा होता है उन पर वास्तविक नियन्त्रण साम्यवादी दल का होता है। दल नीतियों को निध करता है और शासन उन्हें कार्यान्वित करता है। इनमें शासन साम्यवादी द यन्त्र होता है। इनमें निर्णय का स्थान वास्तव में विधान-मण्डल नहीं होता साम्यवादी दल का संगठन होता है। अतः समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था लोक-नियन्त्रण दिखावा मात्र बनकर रह जाता है।

2. राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का अभाव—समाजवादी राजनीतिक व्यवस में भाषण एवं अभिव्यक्ति-संघ, समूह एवं संगठन की स्वतन्त्रतायें विद्यमान होतीं। आलोचना, विमत और विरोध अनुपस्थित होता है। उदाहरणतः सो संघ में भाषण एवं अभिव्यक्ति पर ही नहीं बल्कि कला, साहित्य और विज्ञा भी सरकारी नियन्त्रण है; छापाखाना (प्रेस) सरकारी है, देश में गुप्तचरों भरमार है, आदि। सोवियत नागरिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से तो सं हो सकते हैं परन्तु राजनीतिक रूप से संगठित नहीं हो सकते। निर्वाचनों में सो नागरिकों के पास चयन के लिए कोई वैकल्पिक उम्मीदवार नहीं होते। संविधान की धारा 100 साम्यवादी दल या उसके सहयोगी संगठनों को ही निव में उम्मीदवार खड़ा करने का अधिकार देती है।

समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में विरोधियों के साथ विचार-वि मेल-मिलाप या समझौते की नीति नहीं अपनाई जाती बल्कि उन्हें देश-द्रोही जाता है और उनकी "शुद्धि" कर दी जाती है। संक्षेप में, **समाजवादी व्य में प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के तीन मुख्य स्तम्भ—राजनीतिक स्वतन्त्रतायें, विरो**

विमत और भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले भिन्न-भिन्न राजनीतिक दल—अनुपस्थित होते हैं।

3. **व्यक्ति का गौण महत्त्व**—प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में, विशेषकर उदार पश्चिमी प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में, व्यक्ति के व्यक्तित्व का अत्यधिक महत्त्व होता है, उसकी प्रतिष्ठा और गौरव का आदर किया जाता है तथा उसकी योग्यताओं, क्षमताओं और विचारों में विश्वास किया जाता है। इन व्यवस्थाओं में सत्य या विश्वास को थोपा नहीं जाता बल्कि उसे स्वतन्त्र रूप से विकसित होने दिया जाता है। दूसरी ओर, समाजवादी, राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति महत्त्वपूर्ण इकाई नहीं होता, आर्थिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) ही महत्त्वपूर्ण होता है। इनमें सर्वहारा वर्ग व्यक्ति के भाग्य का निर्धारण करता है, वही उसके लिए निर्णय करता है। इनमें व्यक्ति के साथ व्यवहार उसकी योग्यताओं के आधार पर नहीं होता बल्कि वर्ग के आधार पर होता है। यदि किसी का झुकाव पूँजीवादी या उदारवादी है तो वह कूड़ा-करकट है, अतः दमन करने योग्य है। संक्षेप में, समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति का महत्त्व कम होता है। इनमें व्यक्ति साधन है जिसका प्रयोग समाज के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

4. **बहुमत के शासन में अविश्वास**—पश्चिमी प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थायें बहुमत के शासन पर आधारित होती हैं परन्तु समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थायें, नाजी और फासी अधिनायकवादी व्यवस्थाओं की भाँति, "अल्पसंख्यकों" का शासन है। इनमें "साम्यवादी शिष्टजन" ही शासन करता है। अधिनायकवादियों की भाँति सोवियत साम्यवादियों की धारणा है कि लोगों में दूरदृष्टि और साहस का अभाव होता है। उन्हें क्रियाशील बनाने के लिए साम्यवादी शिष्टजन या नेतृत्व की आवश्यकता होती है। समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थायें योग्यता और बहुमत शासन में विश्वास नहीं करतीं।

समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में केवल एक ही समानता पाई जाती है और वह है "सभी सर्वशक्तिशाली शासन के अधीन होने से समान होते हैं।" इनमें संविधानवाद अर्थात् विधि के शासन, विधि के समक्ष समानता या विधि के समान संरक्षण, उत्तरदायी शासन आदि का अभाव होता है।

प्रजातन्त्र के गुण-दोष

गुण (Merits)—प्रजातन्त्र की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। अरस्तू ने इसकी यह कह कर प्रशंसा की है कि "बहुत से व्यक्तियों की बुद्धि एवं अनुभव किसी एक व्यक्ति या थोड़े से व्यक्तियों की बुद्धि एवं अनुभव से श्रेष्ठ होता है।" लार्ड ब्राइस की धारणा है कि "प्रजातन्त्र व्यक्तियों के सम्मान में वृद्धि करता है।" जे. एस. मिल की धारणा है कि इससे "राष्ट्रीय चरित्र" का निर्माण होता है।

सी. डी. वर्न्स का मत है कि "स्वशिक्षा सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है। अतः श्रेष्ठ शासन प्रजातन्त्र है जो स्वशासित है।" [गार्नर की धारणा है कि "प्रजातन्त्र में लोकप्रिय निर्वाचन, नियन्त्रण एवं उत्तरदायी होने से यह अधिक सक्षम है।"

प्रजातन्त्र में मुख्यतः निम्न गुण पाये जाते हैं—

1. **सबके हितों की सुरक्षा**—शासन में जितने भी रूप विद्यमान हैं उनमें प्रजातन्त्र ही शासन का एक ऐसा रूप है जिसमें सबके हित सुरक्षित रहते हैं। जहां राजतन्त्र में केवल राजा एवं राजघराने के हित ही सुरक्षित रहते हैं, कुलीनतन्त्र में कुलीन वर्गों के हितों की सुरक्षा की जाती है, अधिनायकवाद या सर्वसत्तावाद में अधिनायक या शासक गुट के हितों की रक्षा की जाती है, वहाँ प्रजातन्त्र में सर्वसाधारण के हितों की सुरक्षा का आश्वासन होता है। **प्रजातन्त्र में शासन के संचालन में सर्वसाधारण की साझेदारी होती है।**

2. **व्यक्ति के व्यक्तित्व का गौरव**—प्रजातन्त्र में व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का आदर किया जाता है तथा उसकी योग्यताओं और क्षमताओं में विश्वास किया जाता है। जहाँ अन्य प्रकार के शासकों में व्यक्ति की उपेक्षा की जाती है और उसके व्यक्तित्व को कुचला जाता है, वहाँ प्रजातन्त्र में व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभारा जाता है, उसे विकास के साधन उपलब्ध कराये जाते हैं तथा उसे नीतियों का अन्तिम निर्णायक समझा जाता है। प्रजातन्त्र में व्यक्तित्व के हृदय को जीतने का प्रयास किया जाता है। इस तरह नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र सभी अन्य शासन प्रणालियों से श्रेष्ठ है।

3. **स्वरक्षा के साधन**—प्रजातन्त्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को स्वरक्षा के साधन उपलब्ध होते हैं। निर्वाचन में मताधिकार का प्रयोग करके व्यक्ति दुर्जनों को अपदस्थ कर सकते हैं। निर्वाचन ऐसे अवसर हैं जिनका प्रयोग करके व्यक्ति नीति-निर्माताओं पर नियन्त्रण रखते हैं और प्रतिनिधियों को बदलकर नई दिशाओं का निर्देशन दे सकते हैं।

4. **स्व-विकास के साधन**—प्रजातन्त्र में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए स्वतन्त्र होता है। वह अपने जीवन को स्वयं निर्धारित करता है। वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। प्रजातन्त्र स्वयं का स्वयं पर शासन है और मताधिकार स्वयं के शासन का आश्वासन है। पिनॉक और स्मिथ के अनुसार, "स्वरक्षा और स्व-विकास प्रजातन्त्र के दो स्तम्भ हैं।"

5. **स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा**—प्रजातन्त्र से व्यक्तियों की स्वतन्त्रतायें सुरक्षित रहती हैं। इसमें व्यक्ति भाषण, अभिव्यक्ति, प्रेस, संघ, समूह, व्यवसाय आदि स्वतन्त्रताओं का उपयोग कर सकते हैं। प्रजातान्त्रिक राज्य प्रायः धर्म निरपेक्ष होते हैं अतः व्यक्तियों को किसी धर्म को अपनाने, उसका प्रचार करने और उसके रीति-रिवाजों एवं संस्कारों को मानने की स्वतन्त्रता होती है। ए. डी. लिण्डसे के अनुसार, "इसका उद्देश्य शासन में निरन्तर परिवर्तन को ढूँढना है, इसका कानून स्वतन्त्रता का पोषण करने के लिए विद्यमान होता है, इसकी शक्ति कानून की सुरक्षा के लिए

विद्यमान होती है, यह आत्मा की मूल्यवान चीजों को, जो अपने स्वभाव के कारण संगठित नहीं हो सकतीं, सुरक्षित करने के लिए एवं उनका विकास करने के लिए संगठन है।"[1]

6. समानता—प्रजातन्त्र व्यक्ति की समानता पर आधारित है। इसमें सभी व्यक्ति कानून के समक्ष समान होते हैं और सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होता है। इसमें व्यक्तियों में जाति, भाषा, लिंग, प्रदेश, शिक्षा, सम्पत्ति या अन्य किसी आधार पर कोई भिन्नता नहीं की जाती। इसमें सभी के मताधिकार का समान मूल्य होता है और किसी के मत को वजनी या महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता। इसमें सभी को एक मत प्राप्त होता है।

7. जन शिक्षा—प्रजातन्त्र जन शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन है। **सी. डी. बर्न्स** के अनुसार, "सभी शासनतन्त्र शिक्षा की पद्धतियाँ हैं परन्तु स्वशिक्षा सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है। अतः श्रेष्ठ शासन प्रजातन्त्र है जो स्वशासित है।" जब नागरिक निर्वाचनों में भाग लेते हैं, मतदान करते हैं, उम्मीदवारों का चयन करते हैं तो वे उन सब विषयों, उम्मीदवारों एवं राजनीतिक दलों पर चिन्तन करते हैं तथा उनके गुण-दोषों पर विचार करते हैं ये सब प्रक्रियायें स्वयं में एक महान् प्रशिक्षण हैं।

8. भाई-चारा एवं देश भक्ति—सार्वजनिक मामलों के नियन्त्रण में नागरिकों को कुछ हिस्सा देकर प्रजातन्त्र उनके सम्मान को बढ़ाता है, उनकी शक्तियों का विकास करता है, सार्वजनिक मामलों में उनकी दिलचस्पी को बढ़ाता है, उनमें देशभक्ति और वफादारी की भावनायें पैदा करता है। इस तरह प्रजातन्त्र नागरिकों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाता है और उनमें सार्वजनिक कल्याण की भावनायें पैदा करता है। **पिनॉक और स्मिथ** के अनुसार, **"जब उसे (नागरिक को) दूसरों के कल्याण का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है तभी वह उस पर अधिक चिन्तन करता है।'[2]** कोकर के अनुसार, **"सार्वजनिक मामलों के नियन्त्रण में साझेदारी व्यक्ति के संकीर्ण स्वार्थ को दूर कर देती है और उसकी रुचि एवं कल्पना के क्षेत्र को बढ़ाती है।"[3]** फाइनर के अनुसार, **"प्रजातन्त्र सभी व्यक्तियों में भाईचारे और सामान्य चेतना का पोषण करता है।"**

9. शान्तिमय साधनों में विश्वास—प्रजातन्त्र संवैधानिक अर्थात् शान्तिमय साधनों में विश्वास करता है। इसमें सत्ता को प्राप्त करने या सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए अनुनय, विचार-विमर्श, तर्क, जनमत आदि का सहारा लिया जाता है। इसमें हिंसा, क्रान्ति, दमन या उपद्रव का सहारा नहीं लिया जाता। **यह मतपत्रों की शक्ति में विश्वास करता है गोली में नहीं।** यह शासकों के उत्तरदायित्व

1. Lindsay, A. D. : The Modern Democratic State. p. 266.
2. Pennock and Smith : Political Science : An introduction, p. 292.
3. Coker, F. W. : Recent Political Thought, p. 358.

को भी शान्तिमय साधनों से लागू करता है अर्थात् उन्हें निर्वाचनों में पराजित करके अपदस्थ किया जाता है।

10. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में विश्वास—प्रजातन्त्र युद्ध और युद्ध की तैयारियों में विश्वास नहीं करता। यह साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोधी है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में विश्वास करता है। यह समस्याओं का समाधान पारस्परिक बातचीत, मध्यस्थता या पंचनिर्णय द्वारा करना चाहता है। यह विश्व शान्ति का पोषक है। सी. डी. बर्न्स के अनुसार, यह "शान्तिमय आन्दोलन है।"

11. सभ्यता, कला, संस्कृति और विज्ञान का विकास—प्रजातन्त्र में सभ्यता, कला, संस्कृति और विज्ञान का विकास सम्भव है क्योंकि प्रजातन्त्र ही उस स्वतन्त्र वातावरण को बनाये रखता है जिसमें इनका विकास सम्भव है। राज्य द्वारा प्रदत्त संस्कृति या नैतिकता कोई नैतिकता नहीं होती। जैसाकि कोकर ने लिखा है कि "किसी राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अत्यधिक केन्द्रीभूत एवं दमनकारी निदेशन साहित्य, ज्ञान, विज्ञान तथा कला के विकास की सम्भावना को नष्ट कर देता है।"

12. स्थायी शासन—प्रजातन्त्र शासन को स्थायित्व प्रदान कर सकता है, क्योंकि यह शासन व्यवस्था उन लोगों की सहमति पर आधारित है जिन पर शासन किया जाता है। इतिहास ने प्रजातान्त्रिक शासनों के स्वामित्व को प्रमाणित किया है। अधिनायकवादी शासन या तो स्वयं उस शक्ति द्वारा नष्ट कर दिये गये जिसे उन्होंने उत्पन्न किया था या उन्हें विश्व युद्धों में पराजित कर दिया गया। दो विश्व युद्धों में प्रजातन्त्र की विजय हुई है, अधिनायकवाद की नहीं। यह तत्त्व प्रजातन्त्र के स्थायित्व का द्योतक है।

अवगुण (Demerits)—प्रजातन्त्र के जितने समर्थक रहे हैं सम्भवतः उससे अधिक इसके आलोचकों की संख्या है। इसके आलोचकों में विशेष रूप से वे लोग हैं जो असमानता को प्राकृतिक नियम मानते हैं, जो कुलीन वर्गों के शासन में विश्वास करते हैं तथा लोगों द्वारा शासन को असम्भव मानते हैं। उदाहरणतः टैलीरैण्ड ने इसे "**गुण्डों का कुलीनतन्त्र**" कहा है। कार्लाइल इसे "**मूर्खों का शासन**" कहता है। लुडोविकी का मत है कि "**प्रजातन्त्र मृत्यु की ओर ले जाता है और कुलीनतन्त्र जीवन की ओर।**" एच. जी. वेल्स का मत है कि "**इसे पांच मिनट में खत्म किया जा सकता है।**" ट्रीश्चे इसे "**अस्थिर एवं अयोग्य**" शासन मानता है। वेली इसे "**भ्रष्ट धनिकतन्त्र**" कहता है। हर्टमान इसे "**शोर मचाने वालों, गप्पियों, बात में बात निकालने वालों, चापलूसों एवं धनिकों के प्रशंसकों के लिए स्वर्ग**" कहता है। लेकी के लिए यह "**अधिकतम अज्ञानी एवं अधिकतम अयोग्यों**" का शासन है। मैनकेन के अनुसार प्रजातन्त्र में "**बुद्धि लकड़हारों और माशक्यों के पास रहती है।**"

प्रजातन्त्र में मुख्यतः निम्न दोष (अवगुण) पाये जाते हैं :—

1 व्यक्ति असमान हैं—जीव विज्ञान और मनोविज्ञानशास्त्रियों ने प्रजातन्त्र की इस मूल धारणा पर प्रहार किया है कि व्यक्ति समान है। जीवविज्ञान शास्त्रियों का कहना है कि व्यक्तियों में भिन्नतायें जनन-द्रव्य के कारण हैं। इनके अनुसार मन्द वुद्धि, मानसिक रोग, असमानतायें पैतृक हैं; व्यक्तियों में शारीरिक-शक्ति, नैतिक बल तथा अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने की क्षमताओं में भिन्नतायें प्राकृतिक हैं। प्रजातान्त्रिक समानता विवेकशून्य एव असम्भव आदर्श है, क्योंकि प्रकृति ने मनुष्यों में असमानता की, दुर्वलों पर सवलों की, मूर्खों पर विद्वानों की, कायरों पर वीर पुरुषों की तथा निर्धनों पर धनिकों की विजय, नियन्त्रण एवं संरक्षण की व्यवस्था की है।

2. अकुशल एवं अकर्मण्य शासन—प्रजातान्त्रिक शासन कुशलता, शीघ्रता और ईमानदारी से कार्य नहीं कर सकता जवकि अधिनायकतन्त्र, राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र अधिक कुशल शासन हैं। प्रजातन्त्र उन वस्तुओं को प्राप्त नहीं कर सकता जिसे अधिनायक तन्त्र या कुलीनतन्त्र प्राप्त कर सकता है। प्रजातन्त्र में अन्तर्निहित सीमायें होती हैं। सुरक्षा और व्यवस्था के उद्देश्यों को अधिनायकतन्त्र में अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है। युद्ध या संकट में एकाग्रता, कुशलता और शीघ्रता की आवश्यकता होती है जबकि प्रजातन्त्र में बातचीत के कारण समय नष्ट होता है। प्रजातन्त्र के बदनाम होने का कारण इसकी मन्दगति और देरी है।

3. अयोग्य व्यक्तियों का शासन—प्रजातन्त्र औसत व्यक्तियों का शासन है जो अयोग्य, अनभिज्ञ, पूर्वाग्रही, और असहिष्णु होते हैं। प्रजातन्त्र में अधिकांश व्यक्तियों का कोई अपना मत नहीं होता और उनमें सार्वजनिक विषयों पर अपना निर्णय लेने की योग्यता नहीं होती। उन्हें मतदान केन्द्रों में दबाव डालकर या फुसलाकर लाया जाता है। मतों पर दल, जाति, सम्प्रदाय या अन्य अनेक प्रकार के दबाव कार्य करते हैं। प्रजातन्त्र में जो निर्णय जनता के नजर आते हैं, वे वास्तव में जनता के निर्णय नहीं होते बल्कि कुछ चालाक लोगों या दलों के निर्णय होते हैं जिन्हें जनता अपनी अनभिज्ञता या उदासीनता के कारण स्वीकार कर लेती है। जनता चालाकी और मक्कारी के हाथ का खिलौना है।

4. परिवर्तन विरोधी—प्रजातन्त्र प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी परिवर्तनों का विरोधी होता है। यह परिवर्तन के प्रति उदासीन होता है। प्रजातन्त्र में साधारण व्यक्ति रूढ़िवादी होता है। वह एकरूपता को पसन्द करता है। अतः वह प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी नीतियों, नवीन आविष्कारों एवं अन्वेषणों, जीवन निर्वाह के नवीन तरीकों एवं जीवन की नवीन विचार प्रणालियों को सरलता से स्वीकार नहीं करता।

5. वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना कठिन—विश्व में सही प्रजातन्त्र कहीं भी विद्यमान नहीं, क्योंकि कहीं भी शासन सत्ता का प्रयोग जनता द्वारा स्वयं नहीं किया जाता। शासन सत्ता का प्रयोग चतुर लोग करते हैं जो भोलीभाली जनता को फुसलाकर उनसे मत प्राप्त कर लेते हैं। साधारण व्यक्ति प्रायः उदासीन और अनभिज्ञ होता है। उसके पास सार्वजनिक विषयों पर विचार के लिए न तो आवश्यक सूचनाएँ होती हैं और न ही अवकाश। धन के अभाव में साधारण नागरिक कभी उम्मीदवार के रूप में खड़ा होने की आशा नहीं कर सकता। निर्वाचनों में जो व्यक्ति निर्वाचित होते हैं वे प्रायः उपद्रवी, खुशामदी या धनिक वर्ग के होते हैं। प्रजातन्त्र में मतों को प्राप्त किया जाता है उन पर अमल नहीं किया जाता। प्रजातन्त्र में वास्तविक सत्ता उस स्थान पर कदापि नहीं होती जहाँ वह समझी जाती है। कोकर ने ठीक लिखा है कि "मताधिकार कितना ही व्यापक क्यों न हो और निर्वाचन तथा मनोनीत करने की प्रणालियाँ कितनी ही प्रत्यक्ष क्यों न हों, साधारणतः निर्वाचित प्रतिनिधि निर्वाचकों पर शासन करते हैं और वह भी बिना किसी मर्यादा के।"

6. राजनीतिक दलों पर बुरा प्रभाव—प्रजातन्त्र बहुमत का शासन है और बहुमत दलों पर निर्भर करता है। अतः इस शासन में वे सब दोष पाये जाते हैं जो राजनीतिक दलों में होते हैं। इनमें देश-शक्ति के स्थान पर दल-भक्ति, स्वतन्त्र विचारों के विकास के स्थान पर दलीय विचार, योग्य व्यक्तियों के स्थान पर दलीय व्यक्तियों को प्रोत्साहन, राष्ट्र का कृत्रिम विभाजन, नैतिक स्तर में गिरावट, भ्रष्टाचार आदि बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। लार्ड ब्राइस ने कहा है कि **"दल कपट को उत्साहित करते हैं, स्वाभाविक आदर्शों को हीन बनाते हैं और राष्ट्र के जीवन में फूट डालकर लूट का माल खाते हैं।"**

7. अत्यधिक खर्चीला शासन—प्रजातन्त्र अत्यधिक खर्चीला शासन है। निर्वाचनों पर शासन को ही खर्च नहीं करना पड़ता बल्कि राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों को भी अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है। फलतः जो लोग निर्वाचनों में जीतते हैं वे उस धन से अधिक धन की पूर्ति करते हैं जिसे वे निर्वाचनों में खर्च करते हैं। इस तरह सार्वजनिक भ्रष्टाचार जन्म लेता है, नैतिक स्तर का पतन होता है और चरित्र का ह्रास होता है।

8. बहुमत का अत्याचार—प्रजातन्त्र बहुमत का शासन है और बहुमत उतना ही अत्याचारी हो सकता है जितना कि अधिनायकतन्त्र या निरंकुशतन्त्र। बहुमत में अल्पमत सर्वदा असुरक्षित रहता है बहुमत शासन की विडम्बना यह है कि लोग उस समय भी असहाय या उदासीन रहते हैं। जिस समय उन्हें प्रजातन्त्र के नाम पर लूटा जाता है या उन पर अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं तथा उनकी स्वतन्त्रताओं का गला घोंटा जाता है। भारत में आन्तरिक आपात स्थिति के दौरान (25 जून, 1975 से 22 मार्च, 1977) ठीक यही हुआ। कोकर का मत है कि

"समस्त प्रकार की शासन प्रणालियों में प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवाद का घोर शत्रु है।" प्रजातन्त्र में साधारण नागरिकों की स्वतन्त्रतायें उसी समय तक सुरक्षित रहती हैं जब तक उनका प्रयोग शासकीय गुट के विरुद्ध नहीं किया जाता। जब उनका प्रयोग शासकीय गुट के विरुद्ध होता है तो उनका दमन किया जाता है।

मूल्यांकन—उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। यह सत्य है कि प्रजातन्त्र युद्ध की सम्भावनाओं को समाप्त नहीं कर सका, पूँजी एवं श्रम की समस्याओं का समाधान नहीं कर सका, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता और कुशलता को दूर नहीं कर सका, फिर भी इसने उन अन्यायों, अत्याचारों और दुःखों का अन्त किया है जो दूसरे शासनों में व्याप्त रहते हैं। **डी. सी. बर्न्स** ने ठीक लिखा है कि "इस बात से कोई इन्कार नहीं करता कि वर्तमान प्रतिनिधि सभायें दोषपूर्ण हैं परन्तु यदि कोई मोटरगाड़ी ठीक प्रकार से कार्य नहीं करती तो बैलगाड़ी को उसका स्थान देना कितनी मूर्खता की बात होगी, चाहे वह कितनी ही मनोहारी क्यों न हो।" **लार्ड ब्राइस** ने ठीक प्रश्न किया है कि **"इससे अधिक श्रेष्ठ और कौनसी प्रणाली है ?"** जब तक प्रजातन्त्र में आलोचना, विरोध और विमत का अधिकार रहेगा, जब तक लोगों को निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र निर्वाचनों में प्रतिनिधियों को अपदस्थ करने और नये प्रतिनिधियों के चयन का अधिकार रहेगा, जब तक नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रतायें सुरक्षित रहेंगी, जब तक प्रेस और न्यायपालिका स्वतन्त्र रहेगी, जब तक लोग निडर, शिक्षित, जागरूक एवं निःस्वार्थी रहेंगे, तब तक प्रजातन्त्र श्रेष्ठ शासन प्रणाली रहेगा।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए मुख्यतः निम्न शर्तों की आवश्यकता होती है—

1. प्रजातान्त्रिक भावना—प्रजातान्त्रिक देश के नागरिकों में प्रजातान्त्रिक मूल्यों के प्रति आस्था और निष्ठा होनी चाहिए। उनकी आदतों, भावनाओं, विचारों, विश्वासों, व्यवहारों, आदि में प्रजातन्त्र निवास करना चाहिए। **डेविड थाम्सन ने कहा है कि नागरिकों में "प्रजातान्त्रिक दृष्टि" होनी चाहिए। उनकी परम्परा और संस्कृति में भी प्रजातन्त्र विद्यमान होना चाहिए। पिनॉक और स्मिथ** ने कहा है कि **"यदि शताब्दियों का भार इतना अधिक है कि वह व्यापक व्यक्तिगत आरम्भन और राजनीतिक क्रियाशीलता के लिए उत्साह पैदा नहीं करता है तो प्रजातन्त्र की सिद्धि नहीं हो सकती।"**[1] नागरिकों में निर्देशित या नियन्त्रित होने की ही भावना नहीं होनी चाहिए बल्कि उनमें स्वयं शासन करने, निर्देश देने और नियन्त्रण करने की लालसा, योग्यता और क्षमता होनी चाहिए। जैसा कि जे. एस. मिल ने कहा है कि **"नागरिकों में स्वशासन की प्रबल इच्छा होनी**

1. Pennock and Smith : Ibid p. 285.

चाहिए।" लासवेल और कैप्लान का मत है कि लोगों का राजनीतिकरण होना चाहिए अर्थात् उन्हें उदासीन होना चाहिए अन्यथा लोकप्रिय नेता उन्हीं के नाम पर उनके साथ खिलवाड़ करेंगे।

2. आन्तरिक एवं वाह्य शान्ति—प्रजातन्त्र देश के अन्दर और बाहर शान्तिपूर्ण वातावरण की माँग करता है। यदि देश के अन्दर अव्यवस्था है और जीवन अस्त-व्यस्त है, उपद्रव और क्रान्ति जैसा वातावरण है तथा देश के बाहर युद्ध या आक्रमण के भय की स्थिति है तो ये सब स्थितियाँ प्रजातन्त्र के प्रतिकूल हैं। ये स्थितियाँ शक्तियों के केन्द्रीकरण और उनके स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश प्रयोग की माँग करती हैं जो प्रजातन्त्र के प्रतिकूल है। पिनॉक और स्मिथ ने ठीक लिखा है कि "तनाव असहिष्णुता को जन्म देता है।"[1] प्रजातन्त्र शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की माँग करता है।

3. गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अभाव—प्रजातन्त्र नागरिकों में न्यूनतम आर्थिक समानताओं की मांग करता है। इसके अभाव में नागरिक अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का सही उपयोग नहीं कर सकते। लोगों को रोजगार का आश्वासन नहीं या उनका रोजगार किसी दूसरे की सनक पर निर्भर करता है तो लोगों की राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक सत्ता की कठपुतली मात्र बनकर रह जायेगी। कोल ने कहा है कि "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है।" स्टालिन ने भी लिखा है कि "एक भूखे, नंगे और कल की चिन्ता में ग्रस्त व्यक्ति के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं।"

गम्भीर आर्थिक विषमतायें समाज को दो परस्पर विरोधी वर्गों में बाँट देती हैं जो राज्य व शासन के लिए हानिकारक और व्यक्ति के चरित्र के लिए पतनकारी होती है। हॉब्सन ने लिखा है कि "धनिकों का धन और निर्धनों की निर्धनता प्रजातन्त्र को भ्रष्ट कर देती है।" धन की गम्भीर विषमतायें जहाँ धनिकों को आलसी, दुराचारी और भ्रष्ट बनाती हैं वहाँ निर्धनों में दास वृत्ति का संचार करती हैं और ये दोनों स्थितियाँ प्रजातन्त्र के लिए हानिकारक हैं।

आर्थिक समानता का यह अर्थ नहीं कि नागरिकों में वेतनों की भिन्नता न हो परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि वेतनों की भिन्नता इतनी अधिक न हो कि उन भिन्नताओं के कारण कोई एक व्यक्ति विशेषाधिकारयुक्त हो जाय और अन्य अपने विकास और जीविकोपार्जन के साधनों से भी वंचित रह जायें। जब तक लोगों के पास आर्थिक स्वतन्त्रता और रोजगार की सुरक्षा का आश्वासन नहीं होता तब तक लोग 'लोक प्रभुता' का सही प्रयोग नहीं कर सकते। प्रजातन्त्र विशेषाधिकार-युक्त वर्गों, शोषित श्रमिकों और दास-कृषकों के अन्त की मांग करता है।

---

1. "Tenseness breeds intolerance." Pennock and Smith : Ibid p. 286.

4. सामाजिक और राजनीतिक समानता—प्रजातन्त्र सामाजिक और राजनीतिक समानता की माँग करता है। इसका अर्थ है कि सभी नागरिक सामाजिक दृष्टि से समान हों और उनमें जाति, भाषा, धर्म, लिंग, प्रदेश या अन्य किसी आधार पर भिन्नता न हो। सभी राजनीतिक दृष्टि से समान हों, सभी को राज्य के कार्यों में भाग लेने की स्वतन्त्रता हो, सभी को सार्वभौम वयस्क मताधिकार प्राप्त हो और सभी के मत का समान मूल्य हो।

5. व्यक्तिवाद एवं उदारवाद—प्रजातन्त्र व्यक्तिवाद एवं उदारवाद की माँग करता है। इसका अर्थ है कि प्रजातन्त्र में व्यक्ति और उसके गौरव का महत्त्व हो, उसकी स्वतन्त्रताओं को दुलारा जाये, उसकी क्षमताओं और योग्यताओं में विश्वास किया जाये, उसके विचारों की भिन्नताओं का आदर किया जाये आदि। जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं पर स्वेच्छाचारी नियन्त्रण है, जहाँ प्रेस और विमत का गला घोंटा जाता है वहाँ प्रजातन्त्र विद्यमान नहीं हो सकता। स्वच्छ एवं रचनात्मक आलोचना प्रजातन्त्र का आधार है।

6. मिताचार और नम्यता—प्रजातन्त्र बन्धुत्व, सहनशीलता, नम्यता और मिताचार की माँग करता है। बन्धुत्व के अभाव में उदारवाद उच्छृंखल हो जाता है और सहनशीलता के अभाव में प्रजातन्त्र अत्याचारी हो जाता है। प्रजातन्त्र निश्चित ही बहुमत का शासन है परन्तु इसमें जहाँ अल्पमत से यह आशा की जाती है कि वह बहुमत के निर्णय को स्वीकार करे वहाँ इसमें बहुमत से भी आशा की जाती है कि वह अल्पमत के विचारों का आदर करे। यदि किसी विवादास्पद विषय पर घोर मतभेद हैं तो उसे विचार-विमर्श के आधार पर तय किया जाना चाहिए बहुमत के आधार पर नहीं। वाद-विवाद, विचार-विमर्श और समझौता वृत्ति प्रजातन्त्र की आत्मा है। असहिष्णुता और उग्रता प्रजातन्त्र रूपी सीमेंट को कमजोर करते हैं।

7. खुला समाज—प्रजातन्त्र खुले समाज की माँग करता है, बन्द समाज की नहीं। जिस समाज में नवीन विचारों एवं व्यवहारों का आदर नहीं किया जाता या जहाँ उन्हें बलपूर्वक दबा दिया जाता है वहां प्रजातन्त्र के स्थान पर सर्वसत्तावाद जन्म लेता है। समाज में उतना ही लचीलापन होना चाहिए जितना कि व्यक्ति में। समाज में परिवर्तन को गुंजाइश होनी चाहिए।

8. स्वच्छ एवं स्वस्थ नेतृत्व—प्रजातन्त्र स्वच्छ एवं स्वस्थ नेतृत्व की माँग करता है। नेताओं में नैतिक चरित्र, ईमानदारी, कार्यकुशलता योग्यता और लोक-भावना उच्च कोटि की होनी चाहिए। नेतृत्व का चरित्र असंदिग्ध होना चाहिए। नेतृत्व में साहस और पहलकदमी की शक्ति होनी चाहिए। यदि नेतृत्व में लोक-भावना नहीं तो प्रजातन्त्र कभी टिकाऊ नहीं रह सकता। गिडिंग्स का मत है कि प्रजातन्त्र "जाति बन्धन की भावना" (Consciousness of the kind) है।

9. स्वतन्त्र, निष्पक्ष एवं निश्चितकालिक निर्वाचन—निर्वाचन प्रजातन्त्र की आत्मा है। निर्वाचनों से प्रजातान्त्रिक सरकार का निर्माण होता है और जनमत की अभिव्यक्ति होती है। निश्चितकालिक निर्वाचन प्रजातान्त्रिक सरकार की निरंकुश प्रवृत्तियों पर निषेधात्मक शक्ति के रूप में कार्य करते हैं। यदि लोगों की जागरूकता शासकों पर निर्वाचन लादने की स्थिति में है तो शासन निरंकुश हो नहीं सकता। जितनी मात्रा में निर्वाचन स्वतन्त्र, निष्पक्ष एवं निश्चितकालिक होते हैं उतनी मात्रा में सरकार का प्रजातान्त्रित रूप निखरता है और सरकार जन इच्छाओं की अनुगामी बनती है। निर्वाचन दबाव रहित, हिंसा रहित और भय रहित होने चाहिए। यदि निर्वाचनों में "विरोध" या "विमत" को शान्त कर दिया है या लोगों में शासकों का इतना भय व्याप्त है कि वे स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते तो निर्वाचन धोखा और मजाक बनकर रह जायेंगे।

10. सतत् जागरूकता एवं निडरता—प्रजातन्त्र नागरिकों की सतत् जागरूकता, निडरता और साहस की मांग करता है। यदि नागरिक अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक हैं तो कोई भी शासक उनकी स्वतन्त्रताओं से खिलवाड़ नहीं कर सकता। यदि नागरिक उदासीन हैं तो कोई उनके अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता। **बायरन** ने कहा है कि **"सतत् जागरूकता स्वतन्त्रता की कीमत है।"** गार्नर का मत है कि "प्रजातन्त्र को सबसे बड़ा खतरा मतदान के समय मतदाताओं द्वारा दिखाई गई दुःखद उदासीनता है।" बुजदिली और स्वार्थ प्रजातन्त्र के शत्रु हैं। **पेरिक्लीज** ने कहा है कि "साहस स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है।"

11. औद्योगीकरण, बहुल समाज एवं मध्य वर्ग—प्रजातन्त्र औद्योगीकरण की मांग करता है। औद्योगीकरण प्रजातन्त्र को वह भौतिक आधार प्रदान करता है जिससे वह विकसित होता है। औद्योगीकरण नागरिकों को सुविधायें प्रदान करता है जिससे उन्हें राज्य के कार्यों में हिस्सा लेने का समय मिल जाता है अन्यथा उनका अधिकांश समय जीविकोपार्जन के साधनों में ही व्यतीत हो जायेगा। औद्योगीकरण सामाजिक और आर्थिक कठोरताओं को तोड़कर बहुल समाज की रचना करता है जिससे समझौता वृत्ति का विकास होता है जो प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक है। औद्योगीकरण विशाल मध्यवर्ग को उत्पन्न करता है जो प्रजातन्त्र को स्थिरता के लिए आवश्यक तत्त्व है। मध्य वर्ग अतिवादिता और उग्रता पर रोक लगाता है।

12. शिक्षा–प्रजातन्त्र शिक्षित नागरिकों की मांग करता है। जे. एस. मिल ने कहा है कि "मतदान को सार्वजनिक बनाने से पूर्व सार्वजनिक शिक्षा के द्वार सभी व्यक्तियों के लिए खोल दिये जाने चाहिए।" शिक्षित व्यक्ति अपनी तथा समाज की समस्याओं को समझ सकता है, मतदान का सही-सही प्रयोग कर सकता है; जनमत को स्वस्थ एवं प्रभावशाली बना सकता है; उग्रता, उत्तेजना और संकीर्णता को नियन्त्रित कर सकता है। शिक्षा व्यक्ति को निडर, साहसी और सहनशील बनाती है। उचित शिक्षा व्यक्तियों में **रचनात्मक आलोचना करने का साहस**

पैदा करती है, उन्हें विरोधी मत वालों के प्रति सहनशील बनाती है और सार्वजनिक पदों के सही उपयोग की भावनायें पैदा करती है।

13. संविधानवाद—प्रजातन्त्र संविधान की माँग करता है। इसका अर्थ है कि प्रजातन्त्र नियमानुकूल शासन, शक्ति विभाजन, सीमित और उत्तरदायी शासन की माँग करता है। प्रजातन्त्र लिखित संविधान, विधि के शासन, शक्तियों के विकेन्द्रीकरण एवं पृथक्करण और स्वतन्त्र न्यायपालिका की माँग करता है ताकि कोई अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण न कर सके और नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रता की सुरक्षा की जा सके।

14. सुदृढ़ एवं सशक्त राजनीतिक दल— प्रजातन्त्र के लिए सुदृढ़ एवं सशक्त राजनीतिक दलों की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। दल प्रजातन्त्र के प्राण, हृदय और आत्मा हैं। प्रजातान्त्रिक राज्यों के निर्वाचन दलीय होते हैं, उम्मीदवार को टिकटें दल के आधार पर दी जाती हैं, मतदाता दलीय आधार पर मतदान करते हैं और नीतियाँ दलीय होती हैं। विरोधी दल के रूप में दल निरंकुश-तन्त्र से नागरिकों की रक्षा करते हैं। **जैनिंग्स** ने कहा है कि "**जब तक विपक्ष विद्यमान है, अधिनायकतन्त्र हो नहीं सकता।**"

15. स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस—प्रजातन्त्र में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस की आवश्यकता होती है। यदि प्रेस पर सरकारी नियन्त्रण है या प्रेस पर पूँजीपतियों का नियन्त्रण है या उसका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक एवं वर्गीय है तो वह जनमत का आधार नहीं हो सकती। यदि प्रेस द्वारा प्रकाशित समाचारों को जोड़-तोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है तो वह आधार ही समाप्त हो जाता है जिस पर स्वच्छ एवं स्वतन्त्र जनमत का निर्माण किया जा सकता है। यदि तथ्य ही गलत हैं तो जनमत सही हो नहीं सकता।

16. स्थानीय स्वशासित संस्थायें—स्थानीय स्वशासित संस्थायें वे नींव हैं जिन पर प्रजातन्त्ररूपी महल खड़ा है। ये वे शिक्षालय हैं जहाँ प्रजातन्त्र का प्रशिक्षण दिया जाता है, सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि पैदा की जाती है और उत्तरदायित्व की भावना का विकास किया जाता है। **अलफ्रेड स्मिथ** ने ठीक कहा है कि "प्रजातन्त्र के सभी रोगों का इलाज अधिक प्रजातन्त्र है।" **डी टॉकविल** ने स्थानीय स्वशासन को "प्रजातन्त्र की आत्मा" कहा है। **रोडी, एण्डरसन और क्रिस्टल** का मत है कि "स्वशासन व्यवहार में प्रजातन्त्र है।[1]

17. संवैधानिक साधनों में आस्था— प्रजातन्त्र इस बात की माँग करता है कि जो लोग नेतृत्व, राजनीतिक दल, सर्व साधारण लोग प्रजातान्त्रिक संस्थाओं का संचालन करते हैं वे संवैधानिक साधनों में आस्था रखते हों अर्थात् वे परिवर्तन के लिए अनुनय, वाद-विवाद, विचार-विमर्श, तर्क, जनमत, विधि आदि का सहारा लेते

1. "Rodee, Anderson and Christol : Introduction to Political Science p. 95.

हों; हिंसा, उपद्रव, क्रान्ति या दमन का नहीं। परिवर्तन के लिए प्रजातन्त्र मत की शक्ति पर निर्भर करता है, गोली की शक्ति पर नहीं।

क्या भारत में प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक तत्व विद्यमान हैं ?

भारत एक प्रजातान्त्रिक देश है। इसका संविधान लिखित है। इसमें शासन सीमित एवं उत्तरदायी है। यहाँ विधि का शासन है। यहाँ नागरिकों के मूल अधिकार संविधान द्वारा सुरक्षित हैं। यहाँ स्वतन्त्र न्यायपालिका है, स्थानीय स्वशासित संस्थायें विद्यमान हैं, प्रेस स्वतन्त्र है, आदि। भारत को सशक्त नेतृत्व प्राप्त होता रहा है। इस पर भी भारतीय प्रजातन्त्र की आलोचना की गयी है। इसका कारण यह है कि भारत के नागरिकों में अपार आर्थिक विषमतायें हैं। एक तरफ अत्यधिक धनी और दूसरी तरफ असंख्य निर्धन हैं जो जीविकोपार्जन के न्यूनतम स्तर से भी नीचे हैं। भारतीयों में रूढ़िवादिता और नेतृत्व पूजा के तत्त्व विद्यमान हैं। यहाँ साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता और भाषायी भावनायें अधिक हैं; अधिकांश जनसंख्या निरक्षर है; राजनीतिक और सामाजिक जीवन में भ्रष्टता है, आदि। यहां कुछ राष्ट्रीय दलों को छोड़कर अधिकांश राजनीतिक दलों का आधार धर्म या प्रादेशिकता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी भारत में प्रजातन्त्र की नींव गहरी है। लोगों की प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों में आस्था है। यहां व्यक्ति के प्रति आदर है और उसकी स्वतन्त्रताओं में विश्वास है। भारत में हुए प्रत्येक आम चुनावों में उसके निरक्षर, निर्धन और रूढ़िवादी मतदाता ने अपनी राजनीतिक बुद्धिमत्ता, जागरूकता और परिपक्वता का परिचय दिया है। यही तत्त्व भारतीय प्रजातन्त्र को सशक्त, सफल और चिरस्थायी बनाता है। उदाहरणतः मार्च 1977 के छठे आम चुनाव में भारतीय मतदाता ने अपनी स्वतन्त्रताओं के प्रति निष्ठा और विश्वास व्यक्त किया; उसने 1984 के आठवें आम चुनाव और 1985 के पंजाब के चुनाव में आतंकवाद और उग्रवाद के विरुद्ध मतदान किया। भारतीय प्रजातन्त्र भारतीय जनता के हाथों में सुरक्षित है।

B. अधिनायक तन्त्र या तानाशाही

अर्थ एवं परिभाषा—अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र की विरोधी विचारधारा है। यह उसके ठीक विपरीत है। जहां प्रजातन्त्र में सत्ता विभाजित एवं विकेन्द्रित होती है वहां अधिनायकतन्त्र में सत्ता एक व्यक्ति, समूह, संस्था या दल में केन्द्रित होती है। अधिनायकतन्त्र में अधिनायक का सत्ता पर एकाधिकार होता है। अधिनायक कानूनों द्वारा नहीं आज्ञप्तियों द्वारा शासन करता है। अधिनायक की शक्ति सहमति पर आधारित नहीं होती (यद्यपि साम्यवादी, सर्वसत्तावादी शासनों में निर्वाचनों का ढोंग रचा जाता है) बल्कि शक्ति, दमन और पशु बल पर आधारित होती है। अधिनायकतन्त्र में नागरिक स्वतन्त्रतायें स्वाभाविक नहीं समझी जातीं, उन्हें एक

रियायत समझा जाता है जिसे अधिनायक स्वेच्छा से राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रदान करता है। अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक साधन मात्र होता है। अधिनायकतन्त्र में राज्य, राष्ट्र या समाज में कोई भेद नहीं किया जाता।

अधिनायकतन्त्र की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. एफ. न्यूमैन के शब्दों में, "अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का शासन है जो राज्य में शक्ति का अधिकार प्राप्त करके उस पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेता है और उसका अमर्यादित ढंग से प्रयोग करता है।"[1]

2. आर. एच. सोल्टाऊ के शब्दों में, "अधिनायकतन्त्र एक ऐसे व्यक्ति का शासन है जो अपने पद को मुख्यतः वंश परम्परा के अनुसार प्राप्त नहीं करता बल्कि शक्ति या सहमति या सामान्यतः दोनों के संयोग से प्राप्त करता है उसके पास निरपेक्ष प्रभुता होती है जो उसका प्रयोग कानूनों के अनुसार नहीं बल्कि स्वेच्छाचारी आज्ञप्तियों द्वारा करता है।"

फोर्ड के शब्दों में, "राज्याध्यक्ष द्वारा असाधारण एवं संविधानेत्तर शक्तियों को प्राप्त करना ही अधिनायकतन्त्र है।"

अधिनायक तन्त्र के लक्षण या विशेषतायें

अधिनायक तन्त्र का रूप चाहे फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी की भाँति दक्षिणपन्थी हो या साम्यवादी रूस की भाँति वामपन्थी हो, दोनों का उदय एवं अस्तित्व प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों और मूल्यों की निन्दा पर निर्भर करता है। दोनों प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्रताओं और संसदों की खिल्ली उड़ाते हैं, दोनों क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए संवैधानिक साधनों को अपर्याप्त मानते हैं, दोनों विरोध या विमत के साथ समझौता नहीं करते, उसका दमन करते हैं दोनों में व्यक्ति का स्थान गौण और राज्य या समाज का स्थान प्रमुख होता है। दोनों में व्यक्ति या समाज के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साधन है।

अधिनायक तन्त्र के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. सर्व सत्तावाद—अधिनायकतन्त्र में राज्य की सत्ता सर्वोपरि होती है और अन्य सभी सत्तायें—व्यक्ति, धर्म या समाज—राज्य की सत्ता के अधीन होती हैं। इसमें अन्य सभी सत्तायें राज्य सत्ता की आज्ञा से विद्यमान होती हैं। फासिस्ट अधिनायकवाद में यह कहावत प्रचलित थी कि **"प्रत्येक चीज राज्य के अन्दर है कोई चीज राज्य के बाहर नहीं और कुछ भी राज्य के विरुद्ध नहीं।"**

अधिनायकतन्त्र में राज्य, राष्ट्र, समाज तथा राज्य और शासन में कोई भेद नहीं किया जाता। राज्य को "राष्ट्र की वैध प्रतिमूर्ति" माना जाता है। इसमें

---

1. Neumann, F. : The Democratic and Authoritarian State p. 291.

राज्य सर्वदा राष्ट्र और राष्ट्र सर्वदा समाज समझा जाता है। इसमें समाज स्वयं साध्य है और व्यक्ति उस साध्य की प्राप्ति के लिए केवल साधन मात्र है।

सर्वसत्तावादी राज्य में राज्य नागरिकों को सद्गुणों की शिक्षा देता है, वह उन्हें उसके उद्देश्यों की जानकारी देता है, वह उन्हें एकता के सूत्रों में बांधता है, न्याय प्रदान करता है; कला, विज्ञान और कानून का ज्ञान कराता है। फासिस्ट सर्वसत्तावाद में राज्य एक "मिथ", निष्ठा, एक विश्वास, एक प्रेरणा, एक साहस और एक भावना समझा जाता था।

2. उदारवाद, व्यक्तिवाद, और प्रजातन्त्र विरोधी—अधिनायकतन्त्र उदारवाद, व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्र में विश्वास नहीं करता। यह व्यक्ति की किन्हीं स्वाभाविक या प्राकृतिक स्वतन्त्रताओं को स्वीकार नहीं करता। यह नागरिक अधिकारों के स्थान पर नागरिक कर्त्तव्यों पर बल देता है। यह स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व के प्रजातान्त्रिक नारे के स्थान पर दायित्व, अनुशासन और सीढ़ीनुमा श्रेणीबद्ध संगठन में विश्वास करता है। इसमें प्रजातन्त्र को लड़ाकू गुटों का गिरोह, 'वयस्क मताधिकार को रूढ़िवादी प्रणाली,' लोक-प्रभुता को संवैधानिक झूठ, बहुमत को 'सफेद', संसद को 'बातें करने वाली निकाय' और सामूहिक अनुत्तरदायित्व का सूचक समझा जाता है। यह समानता के स्थान पर असमानता पर बल देता है।

अधिनायकतन्त्र में नागरिक स्वतन्त्रताओं को एक रियासत समझा जाता है। इसमें प्रेस, रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन, स्कूल तथा संचार के अन्य साधनों पर सरकारी नियन्त्रण होता है। इसमें आलोचना, विरोध या विमत को स्वीकार नहीं किया जाता बल्कि इनका दमन किया जाता है।

3. व्यक्ति पूजा या वीर की पूजा—अधिनायकतन्त्र में नेतृत्व के सिद्धान्त की पूजा की जाती है। इसमें नेता को राष्ट्र या जाति का प्रतीक माना जाता है। नेता राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधता है। वह ही निर्देशन और पथ-प्रदर्शन करता है। हिटलर के शब्दों में, "नेता दल है और दल ही नेता है।" फासिस्ट साहित्य में "नेता ही राष्ट्र व जाति का रक्षक है;" नेता ही राष्ट्र जाति को उसकी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से निकाल सकता है;" 'नेता कोई गलती नहीं करता" मुसोलिनी की आत्मकथा में आदि से अन्त तक ये शब्द मिलते हैं "मेरा आदेश" "मेरा पथ प्रदर्शन", "मेरी निर्णय बुद्धि", "मेरा अदम्य आधिपत्य" आदि। फासिस्टों के नारे थे "विश्वास करो", "आज्ञा पालन करो," "संघर्ष करो", "मुसोलिनी सर्वदा ठीक है।" साम्यवादी रूस में स्टालिन को शासन, दल, राष्ट्र, समाज, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति आदि का प्रतीक माना जाता था। रूस की जनता के लिए स्टालिन देवता था। भारत में 19 महीने की आपात स्थिति के दौरान "इन्दिरा को भारत और भारत को इन्दिरा" की संज्ञा दी गयी थी।

4. दल और शासन में कोई भेद नहीं—अधिनायकतन्त्र में दल और शासन में कोई भेद नहीं किया जाता। इसमें दल शासन पर छाया रहता है। इसमें दल के

सदस्य शासन के मुख्य पदों पर विद्यमान होते हैं। इसमें दल शासन की नीतियों को निर्धारित करता है; शासन उन्हें केवल लागू करता है। उदाहरणतः फासिस्ट राज्य में फासिस्ट दल, और साम्यवादी राज्य में साम्यवादी दल शासन पर छाया रहता है। अधिनायकतन्त्र में शासन पर एक दल का एकाधिकार होता है।

5. शक्तिशाली एवं हिंसक साधनों में विश्वास—अधिनायकतन्त्र का आधार शक्ति है। बल प्रयोग, दमन, हिंसा, उपद्रव या क्रान्ति इसकी आत्मा है। यह शक्ति द्वारा सत्ता को प्राप्त करता है और उसी के द्वारा इसे स्थायी बनाता है। साम्यवादियों का नारा "क्रान्ति" एवं "अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति" है। फासिस्टवादी हिंसा को पवित्र और "रोगी राजनीतिक समाज को ठीक करने की शल्य चिकित्सा" कहते थे। फासिस्टवादियों का कहना था कि यदि हिंसा सड़ांध को मिटाती है तो यह नैतिक और पवित्र है। फासिस्टवादियों के अनुसार "पुरुष के लिए युद्ध का महत्त्व वही है जो स्त्री के लिए मातृत्व का है।" हिटलर के अनुसार "युद्ध सतत् है, युद्ध सर्वव्यापी है—युद्ध जीवन है'; "सतत् युद्ध में ही मानव महान् बनता है शान्ति में मानवता नष्ट हो जाती है।"

6. साम्राज्यवाद में आस्था—अधिनायक तन्त्र एक साम्राज्यवादी विचारधारा है। यह अपने राष्ट्र का विस्तार चाहती है। मुसोलिनी का कहना था कि इटली राष्ट्र का विस्तार होना चाहिए या उसे नष्ट हो जाना चाहिए। विश्व पर आधिपत्य स्थापित करने का जर्मन राज्य का स्वप्न जर्मन जाति और जर्मन राष्ट्र की श्रेष्ठता पर आधारित था; सोवियत संघ आज भी 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' के स्वप्न को भूला नहीं। मुसोलिनी 'विश्व शान्ति को कायरों का स्वप्न' मानता था। उसका कहना था कि 'बिना खून बहाये कोई जीवन नहीं।'

7. प्रजातांत्रिक आडम्बर—आधुनिक अधिनायकतन्त्रों की विशेषता यह है कि ये उन सब शैलियों, सूत्रों, ढांचों, स्वरूपों एवं संस्थाओं के प्रयोग का ढोंग रचते हैं जो प्रजातान्त्रिक राज्य में पाई जाती हैं। उदाहरणतः सोवियतः संघ में शासन सत्ता सोवियत जनता में निवास करती हैं, वहां निश्चित काल के बाद निर्वाचन होते हैं, वहां सार्वभौम वयस्क मताधिकार है तथा सभी के मतों का मूल्य समान है। इस पर भी वहां प्रजातन्त्रिक के तीन मुख्य स्तम्भ अर्थात् राजनीतिक स्वतन्त्रतायें, विरोध या विमत और भिन्न-भिन्न विचारधारा वाले भिन्न-भिन्न राजनीतिक दल विद्यमान नहीं। सोवियत संघ में शक्ति का केन्द्र एक स्थान पर है और वह है साम्यवादी दल जो समूचे राष्ट्रीय जीवन पर छाया रहता है। सम्पूर्ण सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवन उसके नियन्त्रण में हैं।

अधिनायकतन्त्र के गुण-दोष

गुण—(Merits)—अधिनायकतंत्र की यह कहकर प्रशंसा की गई है कि यह सुदृढ़ और कुशल शासन प्रदान करता है। यह आर्थिक समृद्धि और सुधार लाने में

अधिक उपयुक्त है। इसमें उद्देश्यों की एकता होती है। यह संकट का सामना करने में रामबाण होता है।

अधिनायकतन्त्र में मुख्यत: निम्न गुण पाये जाते हैं :—

1. सुदृढ़, स्थिर एवं कुशल शासन—अधिनायकतन्त्र सुदृढ़, स्थिर एवं कुशल शासन प्रदान करने में सफल होता है। नियन्त्रण और अनुशासन इसके दो मूल स्तम्भ हैं। इनके माध्यम से अधिनायक सुस्त एवं उदासीन कर्मचारियों को कुशल, दुराचारी को सदाचारी और भ्रष्ट एवं पक्षपाती कर्मचारियों को तटस्थ एवं निष्पक्ष बना सकता है। इसमें निर्णय लेने की शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है, अतः निर्णय शीघ्र या समयानुकूल लिये जा सकते हैं और उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। अधिनायक को संसद में विरोधियों के प्रश्नों के उत्तर नहीं देने पड़ते, उसे अपने दल के सदस्यों से विचार-विमर्श नहीं करना पड़ता, उसे अपने निर्वाचक मण्डल को रिझाना नहीं पड़ता आदि। अतः वह अपनी सारी शक्ति एवं चिन्तन विकास कार्यों अर्थात् लोक कल्याणकारी कार्यों में लगा सकता है और लम्बी विकास योजनायें बना सकता है। जिन उद्देश्यों को अधिनायकों ने एक दशाब्दी में प्राप्त किया है प्रजातन्त्र उन्हें चार दशाब्दियों में भी प्राप्त नहीं कर सके।

2. आर्थिक विकास—अधिनायकों ने अपने-अपने देश में आर्थिक विकास योजनाओं को तेज गति से लागू किया है तथा पूँजी और श्रम की समस्याओं का समाधान किया है। फासिस्ट इटली के शासन की यह कहकर प्रशंसा की गई है कि उसने इटली को पतन से मुक्ति दिलाई, निर्जीव व्यक्तियों में नये जीवन का संचार किया, देश की आर्थिक स्थिति को स्थिर किया, योजनाओं द्वारा बंजर भूमि को उपजाऊ बनाया, उद्योगों का समुचित विकास किया, श्रमिकों के सामाजिक स्तर में सुधार किया, श्रम और पूँजी में सहयोग उत्पन्न किया आदि। साम्यवादी सर्वसत्तावाद के अन्तर्गत सोवियत संघ ने जो विकास किया है वह प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं के लिए विचारणीय विषय है।

3. संकट में श्रेष्ठ—अधिनायकतन्त्र संकट का सामना करने में अधिक सुदृढ़ सिद्ध होता है। संकट का सामना करने के लिए अधिनायक शीघ्र निर्णय ले सकता है और सैनिक कार्यवाही कर सकता है जबकि प्रजातन्त्र, विचार-विमर्श की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण शीघ्र निर्णय नहीं ले सकता। संकटकाल में अनावश्यक देरी हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

4. देशभक्ति की भावनायें पैदा करने में उपयुक्त—यह एक प्राचीन कहावत है कि 'भय बिन प्रीत नहीं।' क्योंकि अधिनायकतन्त्र भय पर आधारित होता है अतः लोगों की अधिनायक के प्रति भक्ति निर्विवाद और असन्दिग्ध होती है। इसके अतिरिक्त अधिनायक बाह्य शत्रुओं एवं आन्तरिक विद्रोहियों का भय दिखाकर लोगों से देश भक्ति, सहयोग और त्याग की मांग कर सकता है। हिटलर, मुसोलिनी, माओ, स्टालिन, श्रीमती इन्दिरा गांधी आदि ने ठीक ही किया।

5. **कम खर्चीला**—अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र की तुलना में कम खर्चीला होता है। अधिनायकतन्त्र में प्रशासनिक खर्च प्रायः कम होता है क्योंकि अनावश्यक पदों, संसदीय आयोगों, जांच समितियों आदि की आवश्यकता नहीं होती।

अवगुण (Demerits)—अधिनायक तन्त्र में मुख्यतः निम्न दोष (अवगुण) पाये जाते है—

1. **व्यक्ति की उपेक्षा**—अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति का महत्त्व गौण होता है व्यक्ति के विकास और महत्त्व के बिना कोई भी शासन अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें व्यक्ति की स्थिति उस यूनानी दास की भांति होती है जो अपने स्वामी के आदेशों का पालन करता है। यह स्थिति राज्य और व्यक्ति दोनों के लिए हानिकारक है। व्यक्तियों के विकास के बिना राज्य का विकास नहीं हो सकता।

2. **नागरिक स्वतन्त्रताओं का दमन**—अधिनायकतन्त्र न तो नागरिक स्वतन्त्रताओं में विश्वास करता है और न ही उनको प्रदान करने का दावा करता है। स्वतन्त्रताओं के अभाव में व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है और वह राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग नहीं ले सकता।

3. **अस्थिर शासन**—अधिनायकतन्त्र वल, हिंसा और दमन पर आधारित होता है और वल पर आधारित शासन चिर-स्थाई नहीं होते। ऐतिहासिक अनुभव यह सिद्ध करता है कि वल प्रयोग पर आधारित शासन उसी वल द्वारा नष्ट कर दिये गये जिसे उन्होंने उत्पन्न किया था। मुसोलिनी ने इटली के लोगों को हिंसा, घृणा और शत्रुता की शिक्षा दी और उसी हिंसा ने अप्रेल, 1945 में उसे नष्ट कर दिया। एवनस्टीन के अनुसार **"अपने लोगों को हिंसा और घृणा का पाठ पढ़ाकर उसने उसी फसल को काटा जिसे उसने बोया था।'**

4. **शान्ति का शत्रु**—अधिनायकतन्त्र साम्राज्यवादी होता है। अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का शत्रु है। यह राष्ट्र के विकास के लिए युद्ध चाहता है जो मानव संहार, वैमनस्य और तनाव पैदा करता है। यह कहना झूठ है कि मानव का श्रेष्ठ स्वरूप युद्ध में प्रकट होता है। विज्ञान, कला और संस्कृति का विकास स्वतन्त्र वातावरण में सम्भव है, युद्ध वातावरण में नहीं।

5. **उत्तराधिकार की समस्या**—अधिनायक शान्तिकाल में भी राष्ट्र पर सैनिक शासन और सैनिक वातावरण बनाये रखते हैं। इसका राष्ट्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जब अधिनायकों की मृत्यु होती है तो राष्ट्र में राजनीतिक शून्यता होने से उत्तराधिकारी के लिए या तो गृह युद्ध शुरू हो जाता है या ऐसी समस्यायें पैदा हो जाती हैं जो राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए हानिकारक होती हैं।

6. **अनैतिक**—अधिनायकतन्त्र में जीवन के मानवीय एवं नैतिक मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता। यह विरोधियों के साथ समझौता करने के स्थान पर दमन की नीति अपनाता है। यह नग्न शक्ति का सिद्धान्त है, विवेक या न्याय का नहीं।

7. स्वार्थवादी—अधिनायकतन्त्र में लोक कल्याण के दावे केवल दिखावा मात्र होते हैं। अधिनायक लोक कल्याण नाम पर शक्ति को इकट्ठा करता है और सामान्य हितों के स्थान पर अधिनायक के हितों की पूर्ति की जाती है।

समीक्षा प्रश्न

1. "तानाशाही लोकतन्त्र का अनुगमन नहीं हो सकती है।" इस कथन की लोकतन्त्र के गुणों के प्रकाश में विवेचना कीजिये,
   (Raj. Suppl. 1983)
2. लोकतन्त्र से आप क्या समझते हैं ? इनकी सफलता के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है ? (Raj. 1979, 81, 83, 87 Suppl. 1986)
3. लोकतन्त्र को एक शासन का स्वरूप, एक सामाजिक संगठन का सिद्धान्त तथा जीवन की एक पद्धति माना गया है। इस विचार का मूल्यांकन कीजिये।
   (Raj. 1986)
4. निम्नलिखित कथनों की व्याख्या कीजिये—
   (क) "प्रजातन्त्र अयोग्यता का पोषक है।" (Raj. 1982 Ajmer 1988)
   (ख) "प्रजातन्त्र शासन का सबसे अच्छा स्वरूप है।"
   (Raj. 1982, Suppl. 1985; Ajmer 1988)
5. क्या अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प है ? (Raj. 1985)
6. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—
   (i) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Raj. 1985)
7. प्रजातन्त्र को निरंकुश तन्त्र से अच्छा क्यों माना जाता है ? (Raj. 1981)
8. जनतन्त्र को निरंकुश तन्त्र से अच्छा क्यों माना जाता है ? भारत के सन्दर्भ में बताइये कि जनतन्त्र की सफलता के लिए कौनसी आवश्यक शर्तें हैं ?
   (Ajmer 1988)

21

राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार-संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्थायें

(Forms of Political System—Parliamentary and Presidential Systems of Governments)

परिचय (Introduction)—कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों के आधार पर शासन व्यवस्थाओं को जिन दो भागों में बांटा जाता है उन्हें संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्थायें कहते हैं। जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके विश्वास पर अपने पद पर बनी रहती है उसे संसदात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं। ब्रिटेन, भारत, कनाड़ा, आस्ट्रेलिया, जापान आदि देशों में संसदात्मक शासन व्यवस्था विद्यमान है। दूसरी ओर, जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है और उसके विश्वास पर अपने पद पर नहीं बनी रहती उसे अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं। अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली विद्यमान है।

(अ) संसदात्मक शासन व्यवस्था

अर्थ एवं परिभाषा—संसदात्मक शासन प्रणाली को अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसे कैबिनेट, मन्त्रिमण्डलात्मक तथा उत्तरदायी शासन व्यवस्था भी कहते हैं। इस शासन व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) अपने राजनीतिक कार्यों एवं नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। मन्त्रिमण्डल न केवल व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है बल्कि वह उसके माध्यम से निर्वाचक मण्डल के प्रति भी उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रहता है जब तक उस पर व्यवस्थापिका का विश्वास बना रहता है। जब यह विश्वास समाप्त हो जाता है, मन्त्रिमण्डल को पदच्युत होना पड़ता है या

त्याग-पत्र देना पड़ता है। इसमें राज्याध्यक्ष नाममात्र का अधिकारी होता है और वह शासन के किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं होता। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। मन्त्री व्यवस्थापिका की बैठकों एवं विवादों में हिस्सा लेते हैं तथा मतदान करते हैं। इस तरह मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका की एक समिति होती है जो शासन के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए चुनी जाती है। **बेजहॉट** ने कहा है कि "मन्त्रिमण्डल संसद की एक समिति है जिसे राष्ट्र पर शासन करने के लिए चुना जाता है।" **लावेल** ने इसे "राजनीतिक मेहराब का आधार स्तम्भ" कहा है।" **रेम्जेम्योर** ने इसे "राज्य रूपी जहाज का चालक चक्र" कहा है। **जान मेरियट** ने इसे ऐसी धुरी कहा है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण राजनीतिक यन्त्र चक्कर लगाता है। **बेजहॉट** ने इसे ऐसी हाइफन कहा है जो जोड़ती है; यह एक बकसुआ है जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को जोड़ता है।

संसदात्मक शासन की विशेषताएँ—संसदात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं :—

1. दोहरी कार्यपालिका—इसमें कार्यपालिका का रूप दोहरा होता है—**एक राज्याध्यक्ष** होता है जो नाम मात्र का अधिकारी होता है और जो अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होता। **दूसरा शासनाध्यक्ष** होता है जो वास्तविक अधिकारी होता है तथा जो अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। यद्यपि शासन की सारी शक्तियाँ राज्याध्यक्ष के पास होती हैं और शासन का सारा कार्य उसी के नाम पर होता है परन्तु वास्तविक शक्तियों का उपयोग मन्त्रिमण्डल करता है जो वास्तविक कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन का सम्राट या साम्राज्ञी और भारत का राष्ट्रपति राज्याध्यक्ष के उदाहरण हैं और प्रधानमन्त्री शासनाध्यक्ष के उदाहरण हैं। ब्रिटेन में राज्याध्यक्ष और शासनाध्यक्ष में भेद करने के लिए यह कहावत प्रसिद्ध है कि "सम्राट राज्य करता है, शासन नहीं करता।" शासन तो प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल करता है। फिर भी राज्याध्यक्ष शासनाध्यक्ष को परामर्श, प्रोत्साहन या चेतावनी ही दे सकता है।

मन्त्रिमण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका के बहुमत दल से होता है अर्थात् शासनाध्यक्ष निर्वाचित होता है। दूसरी ओर, राज्याध्यक्ष ब्रिटेन और जापान की भांति पैतृक हो सकता है या आस्ट्रेलिया और कनाडा की भांति नामजद हो सकता है या भारत की भांति अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो सकता है।

2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। इनमें गतिरोध उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं होती। इसमें कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका के बहुमत दल के सदस्यों से होता है। दल कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों पर अपना नियन्त्रण बनाये रखता है। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेतृत्व

करती है, शासन की नीति निर्धारित करती है और प्रशासन का संचालन करती है। कार्यपालिका के सदस्य (मन्त्री) व्यवस्थापिका में विधेयकों को पेश करते हैं तथा वाद-विवाद में हिस्सा लेते हैं।

3. **अनिश्चित कार्यकाल**—इसमें मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल निश्चित होते हुए भी अनिश्चित होता है क्योंकि व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके उसे समय से पूर्व पदच्युत कर सकती है। सुदृढ़ एव संगठित दलीय व्यवस्था के विकास ने संसदात्मक व्यवस्था की इस विशेषता को प्रायः गौण बना दिया है। फिर भी व्यवस्थापिका के हाथों में इस शक्ति का होना ही मन्त्रिमण्डल को सतर्क रखने और उस पर अंकुश रखने के लिए काफी है।

4. **सामूहिक उत्तरदायित्व**—इसमें मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है और उसके निर्णय सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के निर्णय होते हैं। जैसा कि लार्ड मेलबोर्न ने कहा है कि **"इसका कोई महत्त्व नहीं है कि हम मन्त्रिमण्डल की बैठकों में क्या कहते हैं परन्तु जनता के समक्ष हम सबको एक ही बात कहनी होती है।"** मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व संयुक्त या सामूहिक होता है। एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव माना जाता है। इसमें **"मंत्री इकट्ठे ही तैरते हैं और इकट्ठे ही डूबते हैं। इसमें एक सबके लिए और सब एक के लिए होते हैं।"**

व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल पर अनेक प्रकार से नियन्त्रण रखता है—प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्न पूछकर, निन्दा प्रस्ताव पारित करके, काम रोको प्रस्ताव एवं कटौती प्रस्ताव द्वारा। व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके मन्त्रि-मण्डल को पदच्युत भी कर सकती है।

संसदात्मक शासन प्रणाली में चुनाव कभी दूर नहीं होते। अतः कोई भी केबिनेट या संसदीय बहुमत जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि जनमत का एक झोंका बहुमत को सत्ता पर बिठा सकता है तो उसी जनमत का एक झोंका उसे सत्ता से हटा भी सकता है। डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि **"संसदात्मक शासन प्रणाली शासन की समीक्षा के लिए दैनिक एवं निश्चित कालिक अवसर प्रदान करती है।"**

5. **मन्त्रियों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व**—इसमें मन्त्रिमण्डल के संयुक्त उत्तर-दायित्व के अतिरिक्त मन्त्रियों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भी होता है। मन्त्री अपनी अयोग्यता, भ्रष्टाचार एवं चारित्रिक दोष के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते हैं। उदाहरणतः ब्रिटेन में 1947 में बजट के रहस्यों के पूर्व प्रकाशन के कारण डाल्टन को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा। जॉन प्रोफ्यूमो को क्रिस्टन कीलर के साथ अनुचित सम्बन्धों के कारण त्याग-पत्र देना पड़ा। प्रोफ्यूमो काण्ड ने मैकमिलन मन्त्रिमण्डल को इतना झकझोर दिया था कि मैकमिलन ने भी त्याग-पत्र दे दिया। इस काण्ड के कारण ही 1964 में कंजरवेटिव पार्टी चुनाव हारी थी। भारत में

1962 में चीनी आक्रमण के समय भारत की भीषण पराजय के कारण सुरक्षा मन्त्री वी. के. कृष्णमेनन को त्याग-पत्र देना पड़ा।

6. प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—इसमें प्रधानमन्त्री की स्थिति केन्द्रीय होती है। उसके नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल कार्य करता है। वह मन्त्रिमण्डल का निर्माता, पोषण-कर्त्ता एवं संहारकर्त्ता होता है। उसके जीवित रहने से मन्त्रिमण्डल जीवित रहता है, उसके पद त्यागने या मृत्यु होने से मन्त्रिमण्डल पद त्याग देता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रियों में विभागों को बांटता है, उनके विचारों का निपटारा करता है, उनमें समन्वय उत्पन्न करता है। वह हठ करने वाले मन्त्रियों से त्याग-पत्र की माँग कर सकता है। संसद में बहुमत रहते प्रधानमन्त्री वह कार्य कर सकता है जो जर्मनी का सम्राट या अमरीका का राष्ट्रपति भी नहीं कर सकता। प्रधानमन्त्री एक साथ सरकार, संसद और राजनीतिक दल का प्रधान एवं नेता होता है।

7. राजनीतिक एकरूपता—इसमें मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य एक राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं। उनके समान राजनीतिक विचार होते हैं। राजनीतिक विचारों की एकता के कारण मन्त्रिमण्डल की नीतियों, सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में एकता रहती है। इससे सामूहिक उत्तरदायित्व और गोपनीयता को बनाये रखना सम्भव होता है। कभी-कभी राजनीतिक अस्थिरता या संकट की स्थिति में संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया जाता है, परन्तु ये स्वभाव से अस्थिर होते हैं। संयुक्त मन्त्रिमण्डल संसदात्मक शासन व्यवस्था के अनुकूल नहीं।

8. गोपनीयता—इसमें मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही को गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है। वे संसद अथवा जनता के समक्ष मन्त्रिमण्डल की गुप्त कार्यवाहियों की सूचना नहीं दे सकते। परन्तु गोपनीयता के इस सिद्धान्त की उस समय उल्लंघना होती है जब कोई मन्त्रि मन्त्रिमण्डल से गम्भीर मतभेद होने के कारण त्यागपत्र देता है और वह संसद या जनता के समक्ष त्यागपत्र के कारणों का विश्लेषण करता है या जब किसी मन्त्री के संस्मरणों को प्रकाशित किया जाता है।

9. संसद को समय से पूर्व भंग कराने की शक्ति—इसमें प्रधानमन्त्री विशेष परिस्थितियों में राज्याध्यक्ष को परामर्श देकर संसद को समय से पूर्व भंग करा सकता है। उदाहरणतः भारत में प्रधानमन्त्री ने दिसम्बर 1970, जनवरी, 1977 और अगस्त, 1979 में संसद को समय से पूर्व भंग करा कर निर्वाचन कराये थे।

10. सहनशीलता—इसमें बहुमत और अल्पमत अर्थात् सत्तारूढ़ पक्ष और विरोधी पक्ष दोनों मिलकर कार्य करने का प्रयास करते हैं; दोनों एक-दूसरे को समझाने का प्रयास करते हैं और राजनीति के खेल को खेल के नियमों की भांति खेलते हैं। यही एक ऐसी प्रणाली है जिसमें अल्पमत और बहुमत दोनों एक दूसरे के प्रति सहनशील होते हैं। इसमें अल्पमत से बहुमत के निर्णयों को स्वीकार करने और बहुमत से अल्पमत के विचारों का आदर करने की अपेक्षा की जाती है।

संसदात्मक शासन-व्यवस्था के गुण-दोष

गुण (Merits)—संसदात्मक शासन व्यवस्था के प्रमुख गुण निम्न हैं—

1. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध
2. उत्तरदायी शासन

{ इन दोनों बिन्दुओं की विस्तृत व्याख्या संसदात्मक शासन की विशेषताओं में विस्तार से की गई है। अतः इन्हें उन्हीं स्थानों पर देखें।

3. लचीलापन—इसमें समयानुकूल परिवर्तन किया जा सकता है। जैसाकि बेजहॉट ने कहा है कि जनता "समयानुकूल शासन चुन सकती है।" जब कभी देश पर कोई बाह्य या आन्तरिक सकट उत्पन्न होता है तो लोग ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सत्ता सौंप सकते हैं जो उसका सामना करने में अधिक सक्षम और कुशल हो। इंगलैण्ड में ऐसा अनेक बार हुआ है। उदाहरणतः द्वितीय महायुद्ध के दौरान चैम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल ने प्रधानमन्त्री के पद को सम्भाला था। अमरीका जैसी अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में इस प्रकार का परिवर्तन असम्भव है। संसदात्मक शासन व्यवस्था समयानुकूल "झुक जाती है टूटती नहीं।"

4. विरोध का आदर—इसमें विरोध, विमत और आलोचना को स्वीकार किया जाता है। इसमें विरोध को शान्त नहीं किया जाता, उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रताओं को चोट नहीं पहुँचाई जाती। इसमें विरोध के प्रति सहनशीलता अपनाई जाती है। इसमें शासन विरोध पक्ष से सतर्क रहता है क्योंकि वह आलोचना के माध्यम से जनमत को अपने पक्ष में करने, शासन की त्रुटियों का पर्दाफाश करने और वैकल्पिक सरकार बनाने के लिए सर्वदा तैयार रहता है। ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था में तो विरोधी दल के नेता को शासन की नीतियों की आलोचना करने के लिए सरकारी खजाने से वेतन दिया जाता है।

5. योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों का शासन—संसदात्मक शासन में जिन व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में शामिल किया जाता है उन्हें प्रायः संसदीय व्यवस्था का पर्याप्त अनुभव होता है। ये परखे हुए एवं आजमाये हुए लोकप्रिय नेता होते हैं। ये उद्यमी, बुद्धिमान, योग्य एवं अनुभवी होते हैं। इन्हें योग्यता के आधार पर ही मन्त्री बनाया जाता है।

6. अधिक शिक्षाप्रद—संसदात्मक शासन व्यवस्था लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में अधिक सफल होती है। निर्वाचनों में साधारण जनता को जो राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है वह उन्हें अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। राजनीतिक दल भाषणों, सार्वजनिक सभाओं, राजनीतिक साहित्य व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा लोगों के समक्ष भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं और जटिल राष्ट्रीय समस्याओं को सरल भाषा में प्रस्तुत करते हैं। इस तरह लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है, उनकी उदासीनता दूर होती है और लोग जागरूक बनते हैं।

दोष (Demerits)—संसदात्मक शासन व्यवस्था के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के विरुद्ध—संसदात्मक शासन व्यवस्था शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की उल्लंघना करती है। इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका शक्ति एक प्रकार के व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती है। जिससे शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना बढ़ जाती है। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के समर्थकों की मान्यता है कि यदि शक्ति के दुरुपयोग को रोकना है और यदि नागरिक स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित रखना है तो शक्तियों का पृथक्करण होना चाहिये।

2. दलीय शासन—संसदीय शासन दलीय शासन है। इसमें वे सब दोष आ जाते हैं जो दलों में होते हैं। उदाहरणतः इसमें मन्त्रियों को योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि दल के आधार पर नियुक्त किया जाता है। बहुमत दल "लूट के माल" को दल के सदस्यों में बाँटता है। इसमें राष्ट्र विरोधी दल के योग्य व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जाता है।

3. दलीय भावना का विकास—इसमें संकीर्ण दलीय भावनाओं का विकास होता है और व्यापक राष्ट्रीय भावनाओं को हानि होती है। दल राष्ट्रीय हितों से चिन्तित होने के स्थान पर दलीय हितों से अधिक चिन्तित रहते हैं और अपने आपको सत्ता में बनाये रखने के लिए हर प्रकार के भ्रष्ट एवं अनैतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। लार्ड ब्राइस ने ठीक कहा है कि इससे "दलीय भावना बढ़ती है और सदा तीव्र बनी रहती है।"

4. व्यवस्थापिका शक्ति का ह्रास—इसमें व्यवस्थापिका सिद्धान्ततः सर्वोच्च होती है और कार्यपालिका उसके अधीन होती है, परन्तु व्यवहार में व्यवस्थापिका कार्यपालिका की कठपुतली मात्र बनकर रह जाती है। दलीय नियन्त्रण एवं अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका के सदस्यों की स्वतन्त्रता का ह्रास हो गया है। व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल की नीतियों और निर्णयों को पंजीकृत करने वाली निकाय मात्र बनकर रह गई है। प्रदत्त विधान, प्रशासनिक न्याय और योजनाओं ने भी कार्यपालिका शक्ति को अत्यधिक बढ़ा दिया है। लार्ड हेवर्ट ने कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्ति को नवीन निरंकुशता या मन्त्रिमण्डलात्मक अधिनायकवाद की संज्ञा दी है।

5. संसद को भंग कराने की शक्ति—इसमें प्रधानमन्त्री संसद को समय से पूर्व भंग करने के लिए राज्यपाल को परामर्श दे सकता है। मन्त्रिमण्डल की यह शक्ति सत्तारूढ़ दल के सदस्यों और कुछ मात्रा तक विरोधी दल के सदस्यों पर भी नियन्त्रण का कार्य करती है क्योंकि कोई भी संसद सदस्य आगामी निर्वाचनों में अनिश्चित भविष्य को निमन्त्रण नहीं देना चाहता।

6. निर्बल एवं अस्थिर शासन—इसमें शासन निर्बल और अस्थिर होता है। इसका कारण यह है कि इसमें शासन का काल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर

होने से अनिश्चित होता है। अतः उसका अधिकांश समय व्यवस्थापिका को सन्तुष्ट रखने में ही व्यतीत हो जाता है। दूसरे, अनिश्चितता के वातावरण में मन्त्रिमण्डल सुदृढ़ और दीर्घकालीन योजनायें बनाकर उन्हें कार्यान्वित नहीं कर सकता। तीसरे, यदि विधानमण्डल में किसी एक दल को बहुमत प्राप्त न हो तो संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण करना पड़ता है जो स्वभाव से अस्थिर और निर्बल होते हैं।

7. नौकरशाही शक्ति में वृद्धि—संसदात्मक शासन व्यवस्था में नौकरशाही की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई है। मन्त्रियों का अधिकांश समय व्यवस्थापिका में प्रश्नों के उत्तर देने में या दलीय बैठकों में या सामाजिक कार्यों और निर्वाचक मण्डलों को प्रसन्न रखने में व्यतीत हो जाता है। अतः वे अपने विभागों के कार्यों पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते। उन्हें विभाग के अधिकांश कार्य को विभाग के सचिव पर छोड़ना पड़ता है। इससे नौकरशाही की शक्ति बढ़ती है और मन्त्रियों की विभागीय सचिवों पर निर्भरता बढ़ती है।

8. संकटकाल के लिए अनुपयुक्त—संसदीय शासन व्यवस्था स्वभाव से सहमति और विचार-विमर्श पर आधारित होती है। विचार-विमर्श में समय व्यतीत होता है और शीघ्र एवं सुदृढ़ निर्णय सम्भव नहीं होता। ये सब तत्त्व संकट की स्थिति में भयानक सिद्ध हो सकते हैं। संकट का सामना करने के लिए सुदृढ़, शीघ्र एवं निश्चित नीति की आवश्यकता होती है, परन्तु संसदात्मक शासन इन्हें प्रदान करने में असमर्थ होता है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि **"जो विचार-विमर्श शान्तिकाल में संसदात्मक शासन का एक गुण है वही संकटकाल में उसका सबसे बड़ा दोष है।"**

संसदात्मक शासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

संसदात्मक शासन की सफलता के लिए मुख्यतः निम्न शर्तों की आवश्यकता होती है—

1. सुदृढ़ राजनीतिक दल—संसदात्मक शासन की सफलता के लिए आवश्यक है कि देश में सुदृढ़, संगठित एवं अनुशासित राजनीतिक दल हों। यदि दलों का संगठन ढीला है तो उनका अपने सदस्यों पर नियन्त्रण ढीला होगा, नियन्त्रण जितना ढीला होगा कैबिनेट शासन उतना ही शिथिल और अस्थिर रहेगा तथा दल-बदल और अवसरवादिता की राजनीति को प्रोत्साहन मिलेगा। दलों के आधार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त होने चाहिए धर्म, जाति, वर्ग, क्षेत्रीयता या प्रदेश नहीं। यदि दलों के आधार धर्म, जाति या क्षेत्रीयता हैं तो संकीर्ण राजनीति को प्रोत्साहन मिलेगा। राजनीतिक दलों की बहुतायत भी संसदात्मक शासन के सफल संचालन में बाधा डालती है और अस्थिर मन्त्रिमण्डलों को जन्म देती है। ब्रिटेन जैसी द्वि-दलीय व्यवस्था संसदात्मक शासन की सफलता के लिए सर्वोत्तम है।

2. विधान-मण्डल में स्थायी बहुमत—मन्त्रिमण्डलात्मक शासन तभी सफल हो सकता है जब विधानमण्डल में एक दल का स्थायी बहुमत हो। यदि विधानमण्डल में किसी एक दल को स्थायी बहुमत प्राप्त नहीं होता तो संयुक्त या मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल का निर्माण होगा जो स्वभाव से अस्थिर होता है। जो विविध दल मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाते हैं उनमें सिद्धान्तों, उद्देश्यों या नीतियों में एकता नहीं होती। ऐसे मन्त्रिमण्डल की बैठकों में प्रतिदित खिचाव रहता है। शासन लोक-कल्याणकारी नीतियों का अनुसरण करने के स्थान पर अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने में ही अर्थात् जोड़-तोड़ में ही लगा रहता है। संयुक्त मन्त्रिमण्डल आकार में बड़े होते हैं जिससे सार्वजनिक धन का अपव्यय होता है। फ्रांस और भारत में बने संयुक्त मन्त्रिमण्डलों के यही अनुभव रहे हैं।

3. प्रबल एवं संगठित विरोधी दल—मन्त्रिमण्डलात्मक शासन के सफल संचालन के लिए एक प्रबल एवं संगठित विरोधी दल का होना आवश्यक है। यदि प्रजातन्त्र 'सहमति' का शासन है तो वह 'आलोचना' का भी शासन है। सत्तारूढ़ दल की नीतियों की रचनात्मक आलोचना तभी सम्भव है जब व्यवस्थापिका में एक प्रबल विरोधी दल हो और आवश्यकता पड़ने पर वह वैकल्पिक सरकार बनाने की स्थिति में हो। ब्रिटेन जैसा विरोधी दल, जो 'छाया मन्त्रिमण्डल' के रूप में कार्य करता है, संसदात्मक व्यवस्था के लिए एक आदर्श स्थिति है। निर्बल विरोधी दल मन्त्रिमण्डल को संसदीय आलोचना के प्रति लापरवाह, जनमत के प्रति उदासीन और कार्य के प्रति अकर्मण्य बनाता है। प्रबल विरोधी दल के अभाव में मन्त्रिमण्डल के निरकुश एवं सर्वसत्तावादी होने का भय रहता है।

4. विधानमण्डल को समय से पूर्व विघटित कराने की शक्ति—संसदात्मक व्यवस्था में ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जब स्थाई बहुमत के अभाव में मन्त्रि-मण्डल विधानमण्डल का नेतृत्व करने में असमर्थ हो या विधानमण्डल की अड़ंगा के कारण शासन सुचारु रूप से चलाना सम्भव न हो या कार्यपालिका और विधान-मण्डल में संघर्ष के कारण राजनीतिक भ्रष्टता, अवसरवादिता और अस्थिरता जन्म ले ले। इन परिस्थितियों में मन्त्रिमण्डल को अर्थात् प्रधानमन्त्री को नाममात्र के कार्यपालिका अध्यक्ष को परामर्श देकर विधानमण्डल को समय से पूर्व विघटित कराने और नव-निर्वाचनों द्वारा निर्वाचक मण्डल से अपील कर समर्थन प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

5. सहनशीलता—संसदात्मक व्यवस्थाओं की सफलता के लिए राजनीतिक दलों में सहनशीलता का होना अति आवश्यक है। संसदीय शासन बहुमत का शासन है। उसे न केवल सोच-समझकर शासन करना चाहिए बल्कि विरोधी दलों के विचारों के प्रति सहनशील भी होना चाहिए। जहाँ अल्पमत को बहुमत के निर्णय को स्वीकार करना चाहिए, वहां बहुमत को भी अल्पमत के विचारों का आदर करना चाहिए। जिन विषयों पर संसद विभक्त हो जाती है या जिन विषयों पर तीव्र मतभेद बने रहते हैं उन पर निर्वाचन मण्डल से परामर्श करना चाहिए जैसाकि

ब्रिटेन में ई. ई. सी. के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराया गया था। यदि सत्तारूढ़ दल बहुमत के नशे में विरोध की उपेक्षा करे या उसका दमन करे या उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रताओं अर्थात् अभिव्यक्ति के साधनों में बाधा डाले या विरोधी दल विशाल उपद्रवी रूप धारण करे तो संसदात्मक प्रजातन्त्र कार्य नहीं कर सकता।

6. संवैधानिक साधन—संसदात्मक प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों में यह गौण समझौता होना चाहिए कि वे सत्ता को प्राप्त करने के लिए केवल संवैधानिक साधनों का प्रयोग करेंगे। राजनीतिक दलों का विश्वास "मत पत्रों की शक्ति" में होना चाहिए, 'गोली की शक्ति' में नहीं। उन्हें तर्क, अनुनय, विचार-विमर्श और निर्वाचनों के माध्यम से जनमत को अपने पक्ष में करके, संसद में बहुमत के समर्थन के आधार पर सत्ता को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। सत्ता को प्राप्त करने के लिए हिंसा, विप्लव, दबाव के साधनों या क्रान्ति का प्रयोग संवैधानिक भावना के विरुद्ध है।

7. संसद में आस्था—संसदात्मक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों की, विशेषकर बहुमत दल की, संसद में दृढ़ आस्था होनी चाहिए। यदि बहुमत प्राप्त दल बहुमत के नशे में संसद की उपेक्षा करता है या अध्यादेशों का सहारा लेता है तो इससे संसद की मर्यादा का ह्रास होता है।

8. स्पीकर की निष्पक्षता एवं निर्दलीयता—संसदात्मक व्यवस्थाओं के सफल संचालन के लिए विधानमण्डल के अध्यक्ष की निष्पक्षता और निर्दलीयता आवश्यक है। निष्पक्ष स्पीकर जहाँ विरोध पक्ष का विश्वास प्राप्त कर सकता है वहां वह सत्तारूढ़ दल को नियन्त्रित भी कर सकता है।

9. स्वतन्त्र न्यायपालिका—संसदीय व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका और कार्य-पालिका दोनों पर बहुमत प्राप्त दल का नियन्त्रण होता है। अतः इसमें स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। स्वतन्त्र न्यायपालिका नागरिकों की कार्यपालिका निरंकुशता और विधायी अत्याचार से रक्षा कर सकती है।

10. सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ—संसदात्मक प्रजातन्त्र अपनी सफलता के लिए कुछ सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की भी मांग करता है जैसे शिक्षित एवं जागरूक मतदाता, उदार प्रजातान्त्रिक प्रणालियाँ, आन्तरिक एवं बाह्य शान्ति, आर्थिक एवं सामाजिक समानता, राष्ट्रीयता आदि।

11. नाममात्र का कार्यपालिका अध्यक्ष—संसदात्मक व्यवस्थाओं के सफल संचालन के लिए कार्यपालिका अध्यक्ष की स्थिति नाम मात्र की होनी चाहिए अर्थात् वह अपनी शक्तियों का स्वयं प्रयोग न करके उनका प्रयोग उत्तरदायी मन्त्रियों द्वारा कराये। उसकी स्थिति 'स्वर्णिम शून्य' की होनी चाहिए; परन्तु वह पूर्णतः 'मिट्टी का महादेव' भी नहीं होना चाहिए। उसे समयानुसार परामर्श, प्रोत्साहन और चेतावनी भी देनी चाहिये।

12. मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व—संसदात्मक व्यवस्थाओं में मन्त्रिमण्डल का संसद के प्रति उत्तरदायित्व सामूहिक होना चाहिए। यही इस व्यवस्था का हृदय है। इंगलैण्ड में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "मन्त्री इकट्ठे ही तैरते हैं और इकट्ठे ही डूबते हैं," "एक सबके लिए और सब एक के लिए होते हैं।"

13. व्यक्ति पूजा का अभाव—संसदात्मक व्यवस्थाओं में प्रधानमन्त्री का नेतृत्व अवश्य होता है और उसी के इर्द-गिर्द मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यक्ति पूजा या नेतृत्व पूजा के दास हो जायें। नेतृत्व पूजा संसदीय भावना के विपरीत है। नेतृत्व पूजा अधिनायकवाद की विशेषता है संसदात्मक प्रजातन्त्र की नहीं।

(ब) अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था

अर्थ एवं परिभाषा—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में अध्यक्ष या राष्ट्रपति व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होता है। वह अपने कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसका कार्यकाल निश्चित होता है और कांग्रेस (व्यवस्थापिका) उसे समय से पूर्व पदच्युत नहीं कर सकती। इस शासन व्यवस्था में औपचारिक या नाम मात्र के राज्याध्यक्ष और वास्तविक शासनाध्यक्ष मे कोई भेद नहीं होता। जिस व्यक्ति के हाथ में कार्यपालिका शक्ति होती है वह उसका स्वयं प्रयोग करता है। गेटल ने कहा है, **"अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें कार्यपालिका प्रधान अपने कार्यकाल और बहुत-कुछ सीमा तक अपनी नीतियों और कार्यों के लिए विधान-मण्डल से स्वतन्त्र होता है।"**

अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में अध्यक्ष के कार्यों में सहायता के लिए सचिवों की नियुक्ति की जाती है, परन्तु वे अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते; वे उसकी बैठकों में हिस्सा नहीं लेते; वे उसमें विधेयकों को पेश नहीं करते जैसाकि मन्त्रिमण्डलात्मक शासन में मन्त्री करते हैं। सचिव अध्यक्ष या राष्ट्रपति के निजी सहायक होते हैं, उनके कार्य राष्ट्रपति के कार्य होते हैं और वे अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। राष्ट्रपति सचिवों को अपनी इच्छानुसार नियुक्त करता है और इच्छानुसार उन्हें पदच्युत कर सकता है। सचिव राष्ट्रपति के निजी सेवक होते हैं। उनकी स्थिति वही होती है जो राष्ट्रपति उन्हें प्रदान करना चाहता है।

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषतायें—अध्यक्षात्मक शासन की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

1. शक्तियों का पृथक्करण—अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती है। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेतृत्व नहीं करती। इसमें

कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते। वे व्यवस्थापिका में प्रस्तावों को पेश नहीं करते। इसमें व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियन्त्रण नहीं रखती।

2. निश्चित कार्यकाल—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों एक-दूसरे पर निर्भर नहीं करतीं। दोनों का कार्यकाल सविधान द्वारा निश्चित होता है। इसमें न तो व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके कार्यपालिका को समय से पूर्व पदच्युत कर सकती है और न ही कार्यपालिका अध्यक्ष व्यवस्थापिका को समय से पूर्व भंग कर सकता है। इसमें व्यवस्थापिका महाभियोग के प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रपति को समय से पूर्व पदच्युत कर सकती है, परन्तु यह व्यवस्था इतनी जटिल है कि किसी राष्ट्रपति को आज तक महाभियोग द्वारा पदच्युत नहीं किया गया।

3. वास्तविक कार्यपालिका—इसमें नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में कोई भेद नहीं होता। इसमें राज्याध्यक्ष और शासनाध्यक्ष जैसा कोई भेद नहीं होता। एक ही व्यक्ति राज्याध्यक्ष और शासनाध्यक्ष के कार्यों को सम्पन्न करता है। जिस व्यक्ति के पास कार्यपालिका शक्ति होती है वही उसका वास्तविक प्रयोग कर सकता है और वही अपने कार्यों तथा नीतियों के लिए उत्तरदायी होता है। वह राष्ट्र और दल दोनों का नेता होता है।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण-दोष

गुण (Merits)—अध्यक्षात्मक शासन के मुख्य गुण निम्न हैं—

1. स्थिरता—इसमें शासन स्थाई होता है। इसे समय से पूर्व पदच्युत होने का भय नहीं रहता। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इनका समय भी नष्ट नहीं होता क्योंकि इन्हें व्यवस्थापिका में प्रश्नों का उत्तर नहीं देना होता। ये सुदृढ़ एवं लम्बे काल के लिए नीतियों का निर्माण कर सकते हैं। इससे शासन की नीतियों में जहां एकरूपता रहती है वहाँ उनमें स्थायित्व भी रहता है।

2. प्रशासनिक कुशलता एवं निपुणता—इसमें कार्यपालिका का मुख्य कार्य शासन का सचालन करना होता है। इसे व्यवस्थापिका के पथ प्रदर्शन में या उसका विश्वास प्राप्त करने में या उसे प्रसन्न रखने के लिए समय व्यतीत नहीं करना पड़ता। इसमें शासन कार्य को अधिक स्वतन्त्रता, साहस, कुशलता और दक्षता के साथ कर सकता है।

इसमें राष्ट्रपति उन व्यक्तियों को विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त करता है जो अपने-अपने क्षेत्र में योग्य एवं निपुण होते हैं। वह अपने दल की आध्यताओं से इतना बंधा हुआ नहीं होता जितना कि संसदीय शासन दलीय अनुशासन और दलीय भावना से बंधा हुआ होता है। इससे प्रशासन में निपुणता और कुशलता आती है। उदाहरणत: अध्यक्षात्मक शासन में अध्यक्ष किसी दल के सदस्य को सचिव पद पर नियुक्त कर सकता है, परन्तु संसदात्मक शासन में इस प्रकार की सम्भावना नहीं होती। संसदात्मक शासन तो शुद्ध दलीय शासन होता है।

3. संकटकाल में अधिक शक्तिशाली—अध्यक्षात्मक शासन संकट काल के लिए अधिक उपयोगी है। संकट का सामना करने के लिए निर्णय में तत्परता एवं शीघ्रता, नियन्त्रण की एकता और संगठित नीति की आवश्यकता होती है। इन तत्वों को अध्यक्षात्मक शासन में सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। जहां संसदात्मक शासन में विचार-विमर्श और विवादों में समय नष्ट होता है वहाँ अध्यक्षात्मक शासन में अध्यक्ष शीघ्र निर्णय ले सकता है और आवश्यकता हो तो सेनाओं की कमाण्ड अपने हाथ में लेकर स्वयं युद्ध का संचालन कर सकता है। उदाहरणतः द्वितीय महायुद्ध में अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने मित्र राष्ट्रों की सेनाओं की कमाण्ड को स्वयं सम्भाला था।

4. राष्ट्रीय एकता—अध्यक्षात्मक शासन उन राष्ट्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है जिनमें भाषा, जाति, धर्म आदि की विविधतायें पायी जाती हैं। यह शासन विविध जातियों को इकट्ठा करने में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। दूसरे, इससे दलों का प्रभाव उतना नहीं होता जितना कि संसदात्मक शासन में होता है। इसमें राष्ट्र की एकता बनी रहती है और राष्ट्र का दलीय आधार पर कृत्रिम विभाजन नहीं होता। अध्यक्षात्मक शासन में राजनीतिक दलों का संगठन प्रायः ढीला होता है और उनका प्रभाव केवल चुनाव तक सीमित रहता है। चुनाव के बाद दल राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाते हैं, दलीय नहीं।

5. शक्ति पृथक्करण पर आधारित—अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। इससे नागरिकों की स्वतन्त्रतायें कार्यपालिका निरंकुशता और विधायी अत्याचार से सुरक्षित रहती हैं। इसमें शक्तियों का पृथक्करण होता है जिससे शक्ति के केन्द्रीकरण और उसके दुरुपयोग की सम्भावना नहीं होती। इसमें शासन के विभिन्न विभागों में मेल-मिलाप के लिए अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाया जाता है।

दोष (Demerits)—अध्यक्षात्मक शासन के मुख्य दोष निम्न हैं—

1. स्वेच्छाचारी—यह शासन स्वेच्छाचारी, अनुत्तरदायी एवं भयंकर होता है। यह स्वेच्छाचारी इसलिए है कि इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त होती है और राष्ट्रपति जैसे चाहे शासन कर सकता है। इसमें राष्ट्रपति को कुशासन करने पर भी सरलता से हटाया नहीं जा सकता। जैसा कि बेजहॉट ने कहा कि **"एक बार शासन को निश्चित करने के बाद—चाहे वह उपयुक्त है अथवा नहीं, चाहे वह ठीक प्रकार से शासन करता है अथवा नहीं, चाहे वह फिर आपकी इच्छानुकूल शासन करे अथवा न करे—कानून के अनुसार आपको उसे रखना ही पड़ेगा।"** एसमीन ने ठीक कहा है कि **"अध्यक्षात्मक शासन स्वेच्छाचारी, अनुत्तरदायी एवं हानिकारक है।"**

2. अनुत्तरदायी—इसमें राष्ट्रपति अपने बुरे कार्यों के लिए भी अनुत्तरदायी रहता है। जैसाकि गार्नर ने कहा है कि "अध्यक्षात्मक शासन अनुत्तरदायी इसलिए

है कि उसे व्यवस्थापिका के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। व्यवस्थापिका उसकी निन्दा कर सकती है, वह राष्ट्रपति द्वारा पेश किये गये प्रस्तावों को पारित करने से इन्कार कर सकती है, और उसे कार्य करने के लिए, जैसाकि संकट के समय, विशेषाधिकार देने से इन्कार कर सकती है, वह राष्ट्रपति द्वारा निषिद्ध किये गये कानूनों को स्वीकार कर सकती है, परन्तु वह उसे उसके वैधानिक अधिकारों से वंचित नहीं कर सकती और न उसके निर्वाचन के समय निर्वाचकों द्वारा दिये गये आदेश को वापस ले सकती है अर्थात् वह उसे पद से नहीं हटा सकती।''

3. गतिरोध की अधिक सम्भावना—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक होती है, विशेषकर उस स्थिति में जब राष्ट्रपति एक दल का हो और व्यवस्थापिका में बहुमत किसी दूसरे दल का हो, क्योंकि इस शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति व्यवस्थापिका को वांछित कानूनों के निर्माण के लिए बाध्य नहीं कर सकता और क्योंकि व्यवस्थापिका राष्ट्रपति को किसी कानून को लागू करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती अतः अनिश्चितता और क्रियाहीनता का वातावरण बना रहता है और अकर्मण्यता के लिए दोनों एक दूसरे को दोषी ठहराते हैं। अनेक बार राष्ट्रपति द्वारा की गई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं को पूरा करना कठिन हो जाता है। उदाहरणतः अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन के चाहने पर भी अमरीका राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बन सका क्योंकि सीनेट ने वर्साय सन्धि का अनुसमर्थन नहीं किया था।

4. कठोर शासन व्यवस्था—अध्यक्षात्मक शासन में समयानुकूलता एवं लचीलेपन का अभाव होता है। प्रथम, इसमें संविधान प्रायः कठोर होता है और उसमें सरलता से परिवर्तन नहीं हो सकता। दूसरे, यदि राष्ट्रपति अकुशल एवं अयोग्य सिद्ध होता है तो उसे समय से पूर्व पदच्युत करना कठिन होता है। अतः उसे बर्दाश्त करना पड़ता है।

5. अवयव सिद्धान्त के विपरीत—शासन का अवयवी सिद्धान्त शासनांगों की पारस्परिक निर्भरता और सहयोग की माँग करता है। शासन के अंग मानव शरीर के अंगों की भांति एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। अतः उन्हें पृथक् करना शासन की एकता को खण्डित करना है। अध्यक्षात्मक शासन शासनांगों को एक-दूसरे से पृथक् करके उनके स्वाभाविक सहयोग को नष्ट करता है। अतः यह हानिकारक है।

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में भेद

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में भेद को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

संसदात्मक शासन प्रणाली	अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली
1. दोहरी कार्यपालिका– इसमें कार्यपालिका का रूप दोहरा होता है। एक नाममात्र की और दूसरी वास्तविक कार्यपालिका होती है। पहली के अध्यक्ष को राज्याध्यक्ष और दूसरी के अध्यक्ष को शासनाध्यक्ष कहते हैं। ब्रिटेन व भारत में, जहाँ संसदात्मक शासन प्रणाली पाई जाती है, राज्याध्यक्ष को सम्राट या सम्राज्ञी अथवा राष्ट्रपति कहते हैं जबकि शासनाध्यक्ष को प्रधानमन्त्री कहते हैं। राज्याध्यक्ष वंशानुगत, नामजद अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो सकता है जैसाकि ब्रिटेन में सम्राट या सम्राज्ञी वंशानुगत होती है, आस्ट्रेलिया और कनाडा में गवर्नर जनरल नामजद होता है जबकि भारत में राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है। इसमें शासनाध्यक्ष की नियुक्ति राज्याध्यक्ष द्वारा होती है यद्यपि राज्याध्यक्ष उसी नेता को सरकार निर्माण के लिए निमन्त्रित करता है जिसके दल को व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त होता है अथवा जो व्यवस्थापिका के बहुमत को अपने साथ ले जाने की स्थिति में होता है। इसमें शासन की सारी शक्ति, वैधानिक तौर पर, नाममात्र के राज्याध्यक्ष के पास होती है। शासन का सारा कार्य उसी के नाम से होता है परन्तु वह अपनी वैधानिक शक्तियों का प्रयोग स्वयं नहीं करता। उसकी शक्तियों का वास्तविक प्रयोग	1. एकल कार्यपालिका – इसमें कार्यपालिका का रूप एकल होता है। इसमें नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका जैसी कोई चीज नहीं होती। इसमें एक ही शक्ति अर्थात् कार्यपालिका अध्यक्ष या राष्ट्रपति एक साथ नाममात्र का और वास्तविक अध्यक्ष दोनों ही होता है। इसमें प्रधानमन्त्री नाम से कोई पृथक् संस्था या शासनाध्यक्ष नहीं होता। इसमें राष्ट्रपति ही राज्य के औपचारिक अर्थात् रस्मी कार्यों को सम्पन्न करता है और वही शासन का वास्तविक संचालन करता है। इसमें राष्ट्रपति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें राष्ट्रपति वैधानिक शक्तियों का प्रयोग स्वयं करता है और उनके प्रयोग के लिए वह स्वयं उत्तरदायी होता है। इसमें राष्ट्रपति के कार्यों में सहायता देने के लिए एक परामर्शदात्री या सलाहकारी मण्डल होता है जिसे कभी-कभी समूहिक रूप से मन्त्रिमण्डल कहा जाता है, परन्तु उसकी स्थिति एक

प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल करता है। ब्रिटेन में राज्याध्यक्ष और शासनाध्यक्ष के इस भेद को इस कहावत से जाना जाता है कि "राजा राज्य करता है शासन नहीं करता।" शासन तो प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल करता है। राज्याध्यक्ष शासनाध्यक्ष को केवल परामर्श, प्रोत्साहन या चेतावनी दे सकता है। यही कारण है इसमें राज्याध्यक्ष अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होता जबकि शासनाध्यक्ष उत्तरदायी होता है।

2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। इसमें मन्त्रिमण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका के सदस्यों में से होता है। यदि किसी गैर-सदस्य को मन्त्रिमण्डल में शामिल किया जाता है तो उसे छः महीने के भीतर व्यवस्थापिका का सदस्य बनना पड़ता है।

इसमें मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापिका के बहुमत का सम्बन्ध एक ही राजनीतिक दल से होता है। अतः दोनों आपस में गुंथी रहती है। दोनों की दिशा में एकता होने से इनमें गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती। दल का नेतृत्व और सचेतक दल के सदस्यों पर कठोर एवं पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं तथा उन्हें दल की नीतियों का समर्थन करने के लिए निर्देशित करते रहते हैं।

इसमें मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका की एक समिति के रूप में कार्य करता है।

अधीनस्थ निकाय की होती है। इसमें सलाहकारों को सचिव कहा जाता है जिनका महत्त्व उतना ही है जितना कि राष्ट्रपति उन्हें देना चाहता है। ये सेवक होते हैं शक्ति के उपयोगकर्त्ता नहीं। इसमें शक्ति का प्रयोग तो राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति अपनी शक्ति को अपने सलाहकारों में नहीं बाँटता और न ही वह इसके प्रयोग के लिए दूसरों पर निर्भर करता है।

2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से अलग—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से अलग, पृथक् या स्वतन्त्र होती हैं। इसमें राष्ट्रपति तथा उसके परामर्शदाता (सचिव) व्यवस्थापिका (कांग्रेस) के सदस्य नहीं होते। इसमें कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका के सदस्यों में नहीं किया जाता।

इसमें यह आवश्यक नहीं कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पर एक ही दल का नियन्त्रण हो। यह हो सकता है कि कार्यपालिका पर एक दल का नियन्त्रण हो और व्यवस्थापिका पर किसी दूसरे दल का नियंत्रण हो जैसाकि 1986 के निर्वाचन के बाद अमरीकी कांग्रेस के दोनों सदनों (सीनेट और प्रतिनिधि सदन) पर डेमोक्रेटिक पार्टी का नियन्त्रण है जबकि राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन रिपब्लिकन पार्टी से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका और

इसमें मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका का नेतृत्व करता है। वह शासन की नीति निर्धारित करता है, विधेयकों को व्यवस्थापिका में पेश करता है। इसमें मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका के वाद-विवादों में हिस्सा लेते हैं, शासन की नीतियों का समर्थन करते हैं तथा विधेयकों को पारित करवाने में सहायता देते हैं।

3. व्यवस्थापिका का संसद के रूप में बदलना—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों का स्वतन्त्र रूप नहीं रहता। दोनों का विलय हो जाता है और एक नई संस्था का जन्म होता है जिसे संसद कहते हैं। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों संसद के अंग (भाग) बन जाते हैं। संसद अपने अंगों से सर्वोच्च हो जाती है और वह उन्हें नियन्त्रित करती है।

इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों की एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ जाती है। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हो जाती है। दोनों एक-दूसरे के जीवन को समाप्त

व्यवस्थापिका में गतिरोध उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना होती है। दूसरे, अमरीकी राजनीतिक दलों का संगठन इतना ढीला है कि अनेक बार राष्ट्रपति दल के सदस्य ही उसकी अर्थात् प्रशासन की नीतियों का विरोध करते हैं।

इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका की एक समिति के रूप में कार्य नहीं करती। वह व्यवस्थापिका का नेतृत्व नहीं करती। इसमें कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका की बैठकों में हिस्सा नहीं लेते, उसके वाद विवादों में हिस्सा नहीं लेते, उसमें विधेयकों को पेश नहीं करते आदि। इसमें कार्यपालिका को अपनी नीतियों का समर्थन जुटाने के लिए व्यवस्थापिका के सदस्यों को रिझाना पड़ता है।

3. व्यवस्थापिका एक व्यवस्थापिका ही बनी रहती है—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों का स्वतन्त्र रूप बना रहता है। इसमें दोनों का विलय नहीं होता और न ही संसद जैसी किसी नई संस्था का जन्म होता है। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका का अंग नहीं होती।

इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों एक-दूसरे पर निर्भर नहीं करती। दोनों का क्षेत्र संविधान द्वारा निश्चित होता है और

कर सकती हैं। यदि व्यवस्थापिका अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा कार्यपालिका को समय से पूर्व पदच्युत कर सकती है तो कार्यपालिका भी व्यवस्थापिका को समय से पूर्व भंग कर सकती है।

4. उत्तरदायी—इसमें मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। इसमें मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकता है जब तक उस पर व्यवस्थापिका का विश्वास बना रहता है। जब यह विश्वास समाप्त हो जाता है तो मन्त्रिमण्डल को पदच्युत होना पड़ता है या त्यागपत्र देकर नव-निर्वाचन का सामना करना पड़ता है।

इसमें मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है। उसके निर्णय सारे मन्त्रिमण्डल के निर्णय होते हैं। अतः मन्त्रिमण्डल का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व भी सामूहिक होता है। इसमें मन्त्री इकट्ठे ही तैरते और इकट्ठे ही डूबते हैं। इसमें एक सबके लिए और सब एक के लिए होते हैं। इसमें एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव समूचे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव माना जाता है।

दोनों अपने-अपने क्षेत्र में अनन्य (एकमात्र) शक्ति का प्रयोग करती हैं। दोनों एक-दूसरे के जीवन को समाप्त नहीं कर सकतीं यद्यपि दोनों एक-दूसरे को पंगु अवश्य बना सकती है। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा पारित किये गये विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग करके और व्यवस्थापिका कार्यपालिका द्वारा चाहे गये विधेयकों की उपेक्षा करके एक-दूसरे को पंगु बना सकती है।

4. अनुत्तरदायी—इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। इसमें कार्यपालिका को अपने कार्यों के निष्पादन के लिए व्यवस्थापिका के विश्वास की आवश्यकता नहीं होती। इसमें व्यवस्थापिका अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा कार्यपालिका को पदच्युत नहीं कर सकती। इसमें व्यवस्थापिका राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा कर ही उसे समय से पूर्व पदच्युत कर सकती है, परन्तु यह प्रक्रिया इतनी जटिल है कि अमरीका में आज तक किसी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा पदच्युत नहीं किया जा सका।

इसमें व्यवस्थापिका (कांग्रेस) की जाँच समितियां प्रशासन के लिए परेशानियाँ पैदा कर सकती है। उदाहरणतः वाटरगेट काण्ड की जांच करने वाली समिति से परेशान होकर ही राष्ट्रपति निक्सन ने पद से त्याग-पत्र दे दिया था।

इसमें मन्त्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व के अतिरिक्त उनका व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भी होता है। यदि कोई मन्त्री निजी अयोग्यता, भ्रष्टाचार या चारित्रिक पतन का दोषी है और वह त्यागपत्र देकर निजी उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लेता है और मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

इसमें व्यवस्थापिका कार्यपालिका को प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्नों द्वारा, स्थगन प्रस्तावों एवं ध्यानाकर्षण प्रस्तावों द्वारा परेशान भी कर सकती है।

इसमें मन्त्री प्रधानमन्त्री के "सहयोगी" या "साथी" होते हैं उसके "सेवक" नहीं।

5. अनिश्चित कार्यकाल—इसमें मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल निश्चित होते हुए भी अनिश्चित होता है क्योंकि व्यवस्थापिका किसी भी समय अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है। इसलिए इसे अस्थिर शासन प्रणाली कहा जाता है। यद्यपि सुदृढ़ एवं संगठित राजनीतिक दलों की व्यवस्था का विकास हो जाने से व्यवस्थापिका का यह नियन्त्रण प्रायः गौण हो गया है फिर भी यह तथ्य कि व्यवस्थापिका के हाथों में यह शक्ति विद्यमान है मन्त्रिमण्डल को सतर्क रखने एवं उस पर अंकुश रखने के लिए काफी है।

इसमें कार्यकाल की अनिश्चितता के कारण नीतियों में एकता नहीं रहती। इसमें प्रशासन सुदृढ़ नहीं हो पाता। इसमें लम्बी अवधि के लिए नीतियों को निर्धारित करना सम्भव नहीं होता।

इसमें राष्ट्रपति के कार्यों में सहायता देने के लिए एक सलाहकारी मण्डल होता है जिसके सदस्यों को सचिव कहा जाता है। यह सलाहकारी मण्डल सामूहिक रूप से कार्य नहीं करता और न ही वह सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। इसमें सचिव राष्ट्रपति के निजी सलाहकार, सहायक या सेवक होते हैं और वे केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

5. निश्चित कार्यकाल—इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है, दोनों अपने कार्यकाल के लिए एक दूसरे पर निर्भर नहीं करतीं। इसे स्थिर शासन प्रणाली कहा जाता है।

इसमें कार्यकाल निश्चित होने के कारण नीतियों में एकता रहती है, प्रशासन सुदृढ़ और कुशल होता है। इसमें लम्बी अवधि की योजनाओं को लागू करना सम्भव होता है।

6. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की उपेक्षा—इसमें न्यायपालिका सरकार के अन्य दो अंगों से स्वतन्त्र होती है, परन्तु इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का एक ही संसद में विलय हो जाता है। अतः इस प्रणाली में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की उपेक्षा होती है।

6. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित—इसमें शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसमें सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का विलय नहीं होता। सरकार का कोई अंग एक दूसरे के अनन्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

7. राजनीतिक सजातीयता—संसदीय शासन शुद्ध दलीय शासन होता है। इसमें मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं और उनके राजनीतिक विचार भी एक जैसे होते हैं। सदस्यों में राजनीतिक विचारों की इस एकता से ही मन्त्रिमण्डल की नीतियों एवं कार्यक्रमों में एकता वनी रहती है।

इसमें प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते समय दल की वाध्यताओं से वन्धा होता है। यही कारण है कि प्रधानमन्त्री केवल अपने दल के सदस्यों को ही मन्त्रिमण्डल में शामिल करता है। राष्ट्रीय या संयुक्त मन्त्रिमण्डलों के निर्माण के समय ही मन्त्रिमण्डल में भिन्न-भिन्न दलों के सदस्यों को शामिल किया जाता है।

7. राजनीतिक विजातीयता—अध्यक्षात्मक शासन शुद्ध दलीय शासन नहीं होता। इसमें राष्ट्रपति दलीय वाध्यताओं से बन्धा हुआ नहीं होता। इसमें राष्ट्रपति जिस व्यक्ति को योग्य और कुशल समझता है उसे सचिव पद पर नियुक्त कर सकता है। इसमें मूल मुद्दा कुशलता और उद्देश्य प्राप्ति का होता है दलीय एकता का नहीं। उदाहरणतः अमरीका में रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रपति ने विदेश सचिव के पद पर डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्यों को नियुक्त किया है।

8. लचीली प्रणाली—यह एक लचीली प्रणाली है। इसे समयानुकूल एवं आवश्यकतानुकूल ढाला जा सकता है। संकटकाल में यह प्रणाली अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। इसमें संकटकाल में शासन की वागडोर ऐसे व्यक्ति को सौंपी जा सकती है जो उसका सामना करने के लिए अधिक

8. कठोर प्रणाली—यह एक कठोर प्रणाली है। इसे समयानुकूल एवं आवश्यकतानुकूल ढाला नहीं जा सकता। इसमें राष्ट्रपति चाहे कुशल सिद्ध हो अथवा अकुशल, प्रशासन में चाहे कितनी ही बुराइयाँ या कमजोरियाँ व्याप्त क्यों न हों, राष्ट्रपति

उपयुक्त होता है। उदाहरणतः द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटेन में सत्ता चेम्बरलेन के हाथों से निकलकर चर्चिल के हाथों में आ गयी थी। **दूसरे,** इसमें संकट में सभी दलों का सहयोग प्राप्त करने के लिए एक सर्वदलीय या राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया जा सकता है। **तीसरे,** इसमें सकट का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए संसद कार्यपालिका को असाधारण शक्तियाँ भी प्रदान कर सकती है।

को बरदाश्त करना ही पड़ता है। जैसाकि बेजहॉट ने कहा है कि "एक बार शासन को निश्चित करने के बाद चाहे वह उपयुक्त है अथवा नहीं, चाहे वह ठीक प्रकार से शासन करता है अथवा नहीं, चाहे वह फिर आपकी इच्छानुसार शासन करे अथवा न करे-कानून के अनुसार आपको उसे रखना ही पड़ेगा।

9. शक्ति का एक निश्चित केन्द्र––इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का विलय होने से एक नई संस्था का निर्माण होता है जिसे संसद कहते हैं। इसमें कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और निर्वाचक एक साथ एक सूत्र में गुँथे रहते हैं। अतः संसद शक्ति का एक केन्द्र बन जाती है जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों का निर्देशन, निरीक्षण एवं नियन्त्रण करती है। इस तरह यह प्रणाली सरकार के सावयव सिद्धान्त पर आधारित है।

9 शक्ति के भिन्न-भिन्न केन्द्र–इसमें शक्ति का कोई निश्चित केन्द्र नहीं होता। इसमें शक्ति भिन्न-भिन्न केन्द्रों में बिखरी रहती है। इसमें कार्यपालिका शक्ति का केन्द्र राष्ट्रपति, विधायी शक्ति का केन्द्र व्यवस्थापिका और न्यायिक शक्ति का केन्द्र न्यायपालिका होती है। प्रत्येक अपने क्षेत्र में एकमात्र अधिकारों का प्रयोग करती है। यह प्रणाली सावयव सिद्धान्त पर आधारित नहीं।

10. प्रधानमन्त्रीय शासन—इसमें संसद शक्ति का केन्द्र होती है। संसद पर बहुमत दल का नियन्त्रण होता है और बहुमत दल पर प्रधान मन्त्री का नियन्त्रण होता है। अतः शासन प्रधानमन्त्रीय शासन का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का निर्माता, पोषणकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता होता है; वह संसद को समय से पूर्व भंग करवा सकता है। वर्तमान समय में निर्वाचन प्रधानमन्त्री के निर्वाचन बन गये हैं और निर्वाचनों में मतदाता प्रधानमन्त्री

10. राष्ट्रपतीय शासन—इसमें शासन राष्ट्रपति का होता है। इसमें प्रधानमन्त्री नाम से कोई पृथक पद नहीं होता। राष्ट्रपति स्वयं ही अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है। वह स्वयं ही अपने सलाहकार मण्डल का निर्माता, पोषणकर्त्ता, एवं संहारकर्त्ता होता है।

का चयन करते हैं। रेम्जेम्यूर के अनुसार प्रधानमन्त्री एक "निर्वाचित तानाशाह" बन जाता है।

11. वैकल्पिक सरकार की उपलब्धि—इसमें वैकल्पिक सरकार सर्वदा उपलब्ध होती है। ब्रिटेन जैसी सुदृढ़ द्वि-दलीय व्यवस्था में, जहां विपक्ष सर्वदा छाया मन्त्रि-मण्डल के रूप में कार्य करता है, विपक्ष सर्वदा सत्तारूढ़ दल का स्थान लेने की स्थिति में होता है। जब कभी सत्तारूढ़ दल शासन को सुचारू रूप से नहीं चला सकता अथवा दल की आन्तरिक कलह के कारण कमजोर हो जाता है तो विपक्ष शासन की बागडोर सम्भाल सकता है। इससे क्रान्ति अथवा अनावश्यक चुनाव से बचा जा सकता है।

12. दलीय राजनीति के दोषों से युक्त—यह प्रणाली शुद्ध दलीय प्रणाली है। अतः इसमें वे सब दोष विद्यमान होते हैं जो दलों में व्याप्त होते हैं।

इसमें राजनीति दलों का अखाड़ा बनकर रह जाती है। इसमें दल न केवल चुनाव के समय ही राजनीतिक जोड़-तोड़ करते हैं बल्कि चुनाव के बिना भी वे जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं क्योंकि उनकी नजर हमेशा आगामी चुनावों पर रहती है। बहु-जातीय समाजों में, जहाँ दल जाति, भाषा, धर्म, प्रदेश या क्षेत्र पर आधारित होते हैं, वहाँ राजनीतिक जोड़-तोड़ से अनेक बार राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए खतरा भी पैदा हो जाता है। उदाहरणतः भारतीय राजनीति में राजनीतिक जोड़-तोड़ ही अस्थिरता पैदा कर रहा है और विघटन-कारी शक्तियों को बढ़ावा दे रहा है।

11. वैकल्पिक सरकार का अभाव—इसमें वैकल्पिक सरकार उपलब्ध ही नहीं होती। इसका कारण यह है कि इसमें कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका के सदस्यों में से नहीं होता। इसमें कार्यपालिका पृथक रूप से निर्वाचित होती है।

12. दलीय राजनीति के दोषों से मुक्त—यह प्रणाली दलीय राजनीति के दोषों से प्रायः मुक्त होती है। इसमें भी दल चुनाव के समय सक्रिय होते हैं और उनमें उनकी भूमिका रचनात्मक होती है, परन्तु चुनाव के बाद वे प्रायः लुप्त हो जाते हैं। इस सुप्त व्यवस्था का कारण यह है कि इस प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर नहीं करती। उसका कार्यकाल निश्चित होता है।

इसमें दलीय प्रणाली समाज को विघटित नहीं करती और राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को कोई खतरा उत्पन्न नहीं होता।

समीक्षा प्रश्न

1. अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण कीजिए एवं उसके गुणों तथा दोषों को इंगित कीजिए।
   (Raj. 1978, 80, Suppl. 1986, 79)
2. संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के भेदों को स्पष्ट करते हुए इस बात को स्पष्ट कीजिए कि इनमें से कौन-सी प्रणाली अधिक श्रेष्ठ और उत्तरदायी है और कैसे? (Raj. 1982, 84, 86)
3. संसदीय शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं? भारत में इसके अनुभवों के उदाहरण देते हुए इसके गुणों और अवगुणों का विवेचन कीजिये।
   (Raj. 1979)

22

राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार—एकात्मक एवं संघात्मक शासन व्यवस्थायें

(Forms of Political System—Unitary and Federal Systems of Government)

परिचय (Introduction)—शक्तियों के केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण और केन्द्रीय एवं स्थानीय या क्षेत्रीय सत्ताओं के सम्बन्धों के आधार पर सरकारों को जिन दो भागों में विभक्त किया जाता है उन्हें एकात्मक एवं संघात्मक सरकारें कहते हैं। जिस शासन व्यवस्था में शासन की सारी शक्तियाँ संविधान द्वारा एक केन्द्रीय सरकार को सौंपी जाती हैं, उसे एकात्मक सरकार कहते हैं और जिस शासन व्यवस्था में शासन की शक्तियों को संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार और स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों में विभक्त किया जाता है, उसे संघात्मक सरकार कहते हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, डेनमार्क, वेल्जियम, हालैण्ड, स्पेन, नार्वे, स्वीडन, इटली, टर्की, जापान, ईरान, अफगानिस्तान, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में एकात्मक सरकारें पायी जाती है, परन्तु भारत, अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड, सोवियत संघ आदि देशों में संघात्मक सरकारें पायी जाती हैं।

(अ) एकात्मक शासन

अर्थ एवं परिभाषा—एकात्मक शासन वह शासन है जिसमें एक ही शासन (सरकार) होता है और अन्य सभी सत्तायें इसी के अधीन होती हैं। जैसाकि गार्नर ने कहा है कि **"एकात्मक शासन की यह विशेषता है कि इसमें राज्य के केन्द्रीय शासन और अधीनस्थ स्थानीय सरकारों में शक्तियों का कोई संवैधानिक विभाजन या वितरण नहीं होता।"**[1] प्रशासन की सुविधा एवं कुशलता के लिए एकात्मक राज्य को जिलों, प्रान्तों, विभागों, काउण्टीज या कम्यूनों में बांटा जाता है परन्तु उन्हें शक्ति संविधान द्वारा प्राप्त नहीं होती। उन्हें जो भी स्वतन्त्रता या स्वायत्तता

---

1. Garner J. W. : Political Science and Government. p. 317.

या सत्ता प्राप्त होती है वह केन्द्रीय शासन के कानून द्वारा प्रदान की जाती है जो उसे अपनी इच्छानुसार कम या अधिक कर सकता है। एकात्मक शासन में स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों का कोई स्वतन्त्र या पृथक् अस्तित्व नहीं होता। एकात्मक शासन में स्थानीय सरकारें केन्द्र के अधीनस्थ अंग या विभाग होती हैं; उनकी स्थिति अभिकरण जैसी होती है। स्थानीय सरकारों का अस्तित्व केन्द्रीय शासन की इच्छा पर निर्भर करता है। स्थानीय स्वायत्तता उतनी ही होती है जितना कि केन्द्रीय शासन प्रदान करना चाहता है। **गार्नर** ने ठीक लिखा है कि "एकात्मक शासन का सार स्थानीय स्वशासन का अभाव है। यदि कुछ स्थानीय स्वशासन है भी तो वह केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान किया गया है और उसे वह अपनी इच्छानुसार सीमित या समाप्त कर सकती है।"

एकात्मक शासन की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं:—

1. **गार्नर** के शब्दों में, 'एकात्मक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य की सर्वोच्च शासन सत्ता उसके किसी एक या कुछ अंगों में केन्द्रित होती है जिसकी प्रतिष्ठा एक सामान्य केन्द्र में होती है जहाँ से वह शासन-संचालन का कार्य सम्पादन करती है।"[1]

2. **सी. एफ. स्ट्रांग** के शब्दों में; "एकात्मक शासन एक केन्द्रीय सरकार के अधीन संगठन होता है।"[2]

3. **डायसी** के शब्दों में, 'एकात्मक राज्य में सम्पूर्ण शासन सत्ता एवं शक्ति एक ही केन्द्र के हाथों में होती है तथा उसकी इच्छा एवं अधिकार सम्पूर्ण क्षेत्र में शक्तिमान होते हैं।"

संक्षेप में, एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार अविभाजित शक्ति का प्रयोग करती है और स्थानीय स्वशासित संस्थायें उसी के अधीन होती हैं।

एकात्मक शासन के लक्षण—एकात्मक शासन के मुख्य लक्षण निम्न हैं: -

1. **एकीकृत शासन व्यवस्था**—इसमें शासन की सारी शक्तियाँ एक केन्द्र में निहित होती हैं। इसमें शक्तियों का कोई संवैधानिक विभाजन या वितरण नहीं होता। स्थानीय सरकारों को जो भी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें वे केन्द्रीय शासन से प्राप्त करती हैं जो उन्हें कम या अधिक कर सकता है। स्थानीय सरकारें अपनी स्वतन्त्रता या स्वायत्तता के लिए केन्द्र के अधीन होती हैं। वे अपने अस्तित्व के लिए भी उसकी इच्छा पर निर्भर करती हैं। उनका जीवन-मरण केन्द्रीय शासन पर निर्भर करता है। एकात्मक शासन के जिले या प्रान्त या विभाग संघीय एककों की भांति केन्द्र के समकक्ष नहीं होते। वे उनके अधीनस्थ अंग एवं अभिकरण मात्र होते हैं।

---

1 Garner J. W.: Ibid. p. 377-78

2. Strong C. F.: Modern Political Constitutions, p. 63

2. केन्द्रीय विधानमण्डल की सर्वोच्चता—इसमें केन्द्रीय विधानमण्डल की सर्वोच्चता निर्विवाद होती है। इसमें अन्य सभी विधायी निकाएँ केन्द्रीय विधान-मण्डल के अधीन होती हैं। इसमें केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधियों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इसमें केन्द्रीय विधानमण्डल सर्वोच्च होता है।

एकात्मक शासन के गुण-दोष

गुण (Merits)—एकात्मक व्यवस्था राष्ट्रीय एकता, स्थिरता एवं सुदृढ़ता के लिए अधिक उपयोगी है। इसमें नीतियों, कानूनों और प्रशासन में एकरूपता रहती है। यह व्यवस्था सरल और कम खर्चीली होती है। **गेटेल** ने लिखा है कि "इसमें शक्ति के किसी विवाद, उत्तरदायित्व की अस्पष्टता, कार्य का दोहरापन या क्षेत्राधिकार के विवाद, उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती।" **विलोबी** ने कहा है कि "एकात्मक राज्य में अधिकार सत्ता का संघर्ष नहीं होता; किये जाने वाले कार्य में उत्तरदायित्व का झगड़ा या भ्रम पैदा नहीं होता; अधिकार क्षेत्र का अति-क्रमण नहीं होता तथा ऐसा दोहरा काम या दोहरा संगठन आदि नहीं होता जिसे तुरन्त सम्भाला या ठीक न किया जा सके।"

एकात्मक शासन में मुख्यतः निम्न गुण पाये जाते हैं—

1. छोटे राज्यों के लिए उपयोगी—एकात्मक व्यवस्था उन राज्यों के लिए अधिक उपयोगी है जो आकार, क्षेत्र और जनसंख्या में छोटे हैं। इन राज्यों में सम्पूर्ण राष्ट्र पर एक ही केन्द्र से सुविधापूर्वक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से शासन किया जा सकता है। उदाहरणतः ब्रिटेन, फ़्रांस, जापान आदि छोटे राज्यों में एकात्मक व्यवस्था विद्यमान है।

2. स्थिरता—इसमें शासन प्रायः स्थिर होता है। इसमें राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता को बनाये रखना सरल होता है। इसमें नागरिकों की भक्ति विभक्त या दोहरी नहीं होती। इसमें राष्ट्रीय भावनाओं का विकास करना सरल होता है। इसमें विघटनकारी प्रवृत्तियों को पनपने का अवसर नहीं मिलता। इसमें शासन और राष्ट्र दोनों स्थायी रहते हैं।

3. संघर्ष का अभाव—इसमें शक्तियों का विभाजन नहीं होता। अतः केन्द्र और स्थानीय सरकारों में किसी प्रकार के उग्र भेद उत्पन्न नहीं होते। इसमें अधि-कार क्षेत्र के अतिक्रमण का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि स्थानीय सरकारें केन्द्र सरकार के अभिकरण मात्र होती हैं और उनका कोई संवैधानिक क्षेत्र नहीं होता। इसमें केन्द्र और राज्यों में मुकदमेबाजी का अभाव होता है।

4. समय की बचत—इसमें केन्द्र को एककों से विचार-विमर्श करने की आवश्यकता नहीं होती। इससे जहाँ समय की बचत होती है वहाँ विदेश नीति और

सुरक्षा के प्रश्नों पर केन्द्रीय सरकार दृढ़तापूर्वक निश्चय कर सकती है।

5. लचीलापन इसमें केन्द्रीय शासन किसी प्रकार की संवैधानिक मर्यादाओं से बाध्य नहीं होता। वह आवश्यकतानुकूल स्थानीय सरकारों के अधिकार क्षेत्र में परिवर्तन कर सकता है। ई. वी. शुल्ज ने कहा है कि "इस प्रणाली का प्रमुख लाभ प्रादेशिक आधार पर होने वाली शक्तियों के विभाजन एवं पुनः विभाजन में लचीलापन है।"

6. शासन नीतियों में एकरूपता—इसमें नीतियों, कानूनों और प्रशासन में एकरूपता रहती है क्योंकि सत्ता एक ही केन्द्र के हाथों में होती है। इसमें शासन में एकता, सुदृढ़ता और कुशलता रहती है।

7. सरल एवं स्पष्ट—एकात्मक शासन व्यवस्था संघीय शासन की तुलना में सरल एवं स्पष्ट होती है। साधारण से साधारण नागरिक भी इसे समझ सकता है। दूसरी ओर, संघीय शासन व्यवस्था जटिल होती है जो साधारण नागरिक की समझ से बाहर है।

8. कम खर्चीली—यह व्यवस्था कम खर्चीली होती है। इसमें संघीय व्यवस्था की भांति, शासन के दोहरे स्वरूप को बनाये रखने की आवश्यकता नहीं होती। इससे धन की बचत होती है।

9. आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त—इसमें आर्थिक विकास की योजनाओं को लागू करना सरल होता है। इसमें संघीय व्यवस्था की भांति स्थानीय सरकारों या प्रान्तों में प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती। इसमें केन्द्रीय शासन राष्ट्रीय विकास योजनाओं का निर्माण करके उन्हें लागू कर सकता है।

दोष (Demerits)—एकात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्रीय शासन के निरंकुश होने, स्थानीय हितों की उपेक्षा होने और नौकरशाही की शक्तियों में वृद्धि होने का भय रहता है जैसाकि **गार्नर** ने लिखा है कि "एकात्मक शासन का मुख्य दोष यह है कि यह स्थानीय आरम्भन को बढ़ावा नहीं देता तथा सार्वजनिक विषयों में नागरिकों की रुचि को अवरुद्ध करता है; स्थानीय शासन की संस्थाओं की वृद्धि को रोकता है और केन्द्रीय नौकरशाही को बढ़ावा देता है।"

एकात्मक शासन में मुख्यतः निम्न दोष पाये जाते हैं—

1. विशाल राज्यों के लिए अनुपयोगी—एकात्मक व्यवस्था उन राज्यों के लिए उपयोगी नहीं जिनका आकार विशाल है, जिनकी व्यापक जनसंख्या है और जिनमें भिन्न-भिन्न भाषा, धर्मों एवं संस्कृतियों वाली जातियाँ निवास करती हैं। विशाल राज्यों में एकता के साथ विविधता की आवश्यकता होती है जो एकात्मक शासन प्रदान करने में असमर्थ है।

2. स्थानीय आरम्भन का अभाव--इसमें सारी शक्ति केन्द्र में निहित होने के कारण स्थानीय आरम्भन की प्रक्रियाओं को विकास का अवसर नहीं मिलता। इससे प्रशासन में लोगों की रुचि का ह्रास होता है।

3. **निरंकुशता का भय**—इसमें अत्यधिक केन्द्रीकरण के विरुद्ध कोई गारन्टी नहीं होती जिससे शासन के निरंकुश होने का भय रहता है। जैसाकि **ई. बी. शुल्ज** ने लिखा है कि "**यदि केन्द्रीय अभिकरण चाहे तो वे नियन्त्रण और सेवा की शर्तों पर या तो अपना एकाधिकार जमा सकते हैं या राजनीतिक विभागों को महत्त्वहीन स्वविवेक की शक्तियाँ प्रदान कर सकते हैं।**" केन्द्रीय नेतृत्व अधिनायकवादी ढंग से व्यवहार कर सकता है। शक्तियों का केन्द्रीयकरण शक्तियों के दुरुपयोग को जन्म देता है।

4. **कार्य का अत्यधिक भार**—इसमें केन्द्रीय शासन पर कार्य का अत्यधिक भार होता है। इससे आवश्यक कार्यों की उपेक्षा हो जाती है। केन्द्रीय अधिकारी स्थानीय समस्याओं को नहीं समझ सकते क्योंकि वे स्थान विशेष से दूर रहते हैं। फलतः वे उनका समाधान करने के स्थान पर उनकी उपेक्षा करते हैं। कार्य की अधिकता प्रशासनिक कुशलता का ह्रास करती है।

5. **नौकरशाही का बोलबाला**—एकात्मक शासन में नौकरशाही की शक्तियों का विकास होता है। इससे लालफीताशाही को बढ़ावा मिलता है।

6. **गणतन्त्र के विपरीत**—एकात्मक शासन गणतन्त्र के विचार से दूर और राजतन्त्रात्मक शासन के समीप है। यह स्थानीय स्वतन्त्रताओं के विरुद्ध है।

(ब) संघात्मक शासन

परिचय एवं शब्द उत्पत्ति—संघ शब्द की उत्पत्ति, जिसका अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द फेडरेशन (Federation) है, लेटिन भाषा के शब्द "**फोएडस**" (Foedus) से हुई है जिसका अर्थ है **सन्धि या समझौता** अर्थात् **संघ सार्वभौम राज्यों के पारस्परिक समझौते का परिणाम होता है।** कुछ राज्य मिलकर समझौते द्वारा एक नये राज्य को जन्म देते हैं जिसे संघ की संज्ञा दी जाती है। जैसाकि **हेमिल्टन** ने कहा है कि "**संघ कुछ राज्यों का मेल है जो एक नये राज्य का निर्माण करते हैं।**" संघ विकसित नहीं होता, यह निर्मित होता है। इसमें दोहरी राजनीतिक व्यवस्था एक संघ और दूसरी उसके एककों की—पाई जाती है।

संघ का निर्माण प्रायः दो प्रकार की शक्तियों की प्रक्रिया द्वारा होता है—एक **केन्द्रगामी शक्तियों** (Centripetal Forces) की क्रिया द्वारा और दूसरा **केन्द्र विमुख शक्तियों** (Centrifugal Forces) की प्रक्रिया द्वारा **केन्द्रगामी शक्तियों** की प्रक्रिया द्वारा संघ का निर्माण तब होता है जब सार्वभौम राज्य यह अनुभव करने लगते हैं कि कुछ ऐसे सामान्य सुरक्षात्मक, राजनीतिक एवं आर्थिक हित या उद्देश्य हैं जिन्हें पारस्परिक सहयोग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह का संघ नीचे से निर्मित होने के कारण बातचीत, सौदेबाजी और समझौते का परिणाम

होता है। अमरीका और आस्ट्रेलिया के संघ का निर्माण इसी प्रकार हुआ है, परन्तु अनेक बार संघ का निर्माण केन्द्रविमुखि शक्तियों की प्रक्रिया द्वारा होता है अर्थात् जब कोई विशाल आकार वाला एकात्मक राज्य अपने आपको दो, तीन या अनेक राज्यों में विभक्त कर लेता है। कनाडा और भारत का संघ इसी प्रकार स्थापित किया गया है। इस प्रकार का संघ समझौते या सौदेबाजी का परिणाम नहीं होता, इसे ऊपर से थोपा जाता है।

संघ की परिभाषा—संघ की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं।

(1) **मेरियट** के शब्दों में, संघ "मिश्रित या संयुक्त राज्य है।"

(2) **विलोबी** के शब्दों में, संघ "बहुशासनतन्त्रवादी राज्य है।"

(3) **हेमिल्टन** के शब्दों में, संघ "कुछ राज्यों का मेल है जो एक नये राज्य का निर्माण करते हैं।"

(4) स्ट्रांग के शब्दों में, संघ ऐसा राज्य है "जिसमें अनेक समकक्ष राज्य सामान्य उद्देश्यों क लिए एकीकृत हो जाते हैं।"

(5) **डायसी** के शब्दों में, संघ "एक ऐसा राजनीतिक समझौता है जिसमें राज्य के अधिकारों को सुनिश्चित करने के साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता को सुनिश्चित किया जाता है।"

(6) **माण्टेस्क्यू** के शब्दों में, "संघ एक ऐसा समझौता है जिसमें अनेक छोटे-छोटे राज्य एक बड़े राज्य में विलीन हो जाते हैं जिसकी उनके द्वारा स्थापना की जाती है।"

(7) **गार्नर** के शब्दों में संघ एक ऐसी व्यवस्था है जो केन्द्रीय एवं स्थानीय सरकारों को मिला देती है। दोनों केन्द्रीय एवं स्थानीय सरकारें अपने-अपने निश्चित क्षेत्रों में, जिसे सामान्य संविधान द्वारा निर्धारित किया जाता है, सर्वोच्च रहती है।

(8) **के. सी. ह्वीयरे** के शब्दों में, "संघीय सिद्धान्त का अर्थ सत्ता के विभाजन की ऐसी पद्धति से है जिसके द्वारा सामान्य एवं क्षेत्रीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में साथ-साथ होते हुए भी समकक्ष एवं स्वतन्त्र होती हैं।"

संघात्मक शासन के लक्षण या विशेषतायें—संघात्मक शासन के प्रमुख लक्षण निम्न हैं :

1. शक्तियों का विभाजन—संघात्मक शासन में शक्तियों का विभाजन किया जाता है। राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों को केन्द्रीय या संघीय शासन को सौंप दिया जाता है और स्थानीय महत्त्व के विषयों को एककों या क्षेत्रीय सरकारों को सौंप दिया जाता है। उदाहरणतः सुरक्षा, विदेशी मामले, युद्ध, शान्ति, डाक, तार, रेल, मुद्रा, बैंक, सर्वोच्च न्यायालय, आयकर आदि जैसे राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों को केन्द्रीय शासन को सौंप दिया जाता है और स्थानीय स्वशासन, पुलिस, जेल, न्याय, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा आदि स्थानीय महत्त्व के विषयों को एककों या क्षेत्रीय

सरकार को सौंप दिया जाता है। अवशिष्ट शक्तियों को केन्द्रीय या क्षेत्रीय सरकार में से किसी भी सरकार को सौंपा जा सकता है। उदाहरणतः अमरीका, स्विट्जरलैंड एवं सोवियत संघ जैसी संघीय व्यवस्थाओं में अवशिष्ट शक्तियां एककों के पास हैं, परन्तु भारत और कनाडा जैसी संघीय व्यवस्थाओं में अवशिष्ट शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास हैं। संघीय व्यवस्था के एकक अपने क्षेत्र में स्वायत्त अर्थात् स्वतन्त्र होते हैं। वे उसी संविधान से अपनी शक्तियां प्राप्त करते हैं जिससे केन्द्रीय सरकार अपनी शक्तियां प्राप्त करती हैं। वे अपने अस्तित्व के लिए केन्द्र सरकार पर निर्भर नहीं करते।

2. वैध राजनीतिक व्यवस्था—संघीय शासन व्यवस्था में सरकार का रूप दोहरा होता है—एक केन्द्र या संघ का और दूसरा एककों या क्षेत्रों का। संघीय और एककों की सरकारों का क्षेत्र संविधान द्वारा निर्धारित होता है। संघीय सरकार अपने संवैधानिक क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती। एककों की सरकार भी अपने क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती। सामान्य स्थितियों में कोई एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता और यदि काई करता है तो उसका यह कार्य उस सीमा तक अवैध होता है जिस सीमा तक वह अतिक्रमण होता है।

3. लिखित एवं कठोर संविधान—संघीय व्यवस्था में संविधान लिखित और कठोर होता है। संविधान इसलिए लिखा जाता है कि किसी चीज को कल्पना पर न छोड़ा जाये। अमरीका और भारत जैसे संघीय राज्यों के संविधान लिखित हैं। संविधान जितना स्पष्ट होगा उसकी व्याख्या के लिए मुकदमेबाजी उतनी ही कम होगी।

संघीय संविधान केवल लिखित ही नहीं होना चाहिए बल्कि कठोर भी होना चाहिए। यदि संविधान में शीघ्रता से परिवर्तन किये जायेंगे तो संविधान की पवित्रता पर आंच आयेगी। परन्तु संविधान इतना कठोर भी नहीं होना चाहिए कि उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन ही न किये जा सकें। अतः प्रत्येक संघीय संविधान में संशोधन प्रक्रिया की व्यवस्था होती है।

4. सर्वोच्च संविधान—संघीय व्यवस्था में संविधान सर्वोच्च होता है। केन्द्रीय और क्षेत्रीय सरकारें दोनों अपनी शक्तियों को संविधान से प्राप्त करती हैं। वे उसकी उल्लंघना नहीं कर सकतीं। जब कभी केन्द्रीय या क्षेत्रीय सरकार संविधान की उल्लंघना करती है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर प्रभावहीन बना सकता है।

5. स्वतन्त्र न्यायपालिका—संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका स्वतन्त्र होती है। स्वतन्त्र न्यायपालिका संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करती है, एककों तथा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है तथा उन्हें कार्यपालिका की निरंकुशता एवं विधायी अत्याचार से बचाती है। संक्षेप में, संघीय व्यवस्था में न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार होता है।

6. दोहरा संविधान एवं दोहरी नागरिकता—कुछ संघीय व्यवस्थाओं में संघीय संविधान के अतिरिक्त एककों के संविधानों की भी व्यवस्था होती है परन्तु एककों के संविधान संघीय संविधान के अनुरूप ही हो सकते हैं। अमरीका और स्विट्जरलैण्ड में एककों के संविधानों की व्यवस्था है। परन्तु भारत में केवल एक ही संविधान है जो केन्द्रीय एवं एककों के राजनीतिक ढांचे की व्यवस्था करता है। अमरीका जैसे संघीय राज्यों में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था है–एक संघ की (अमरीका की) और दूसरी उस राज्य की (एकक की) जिसमें नागरिक निवास करता है, परन्तु भारतीय संघीय व्यवस्था में इकहरी नागरिकता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

7. द्वि-सदनात्मक व्यवस्था—संघीय यवस्था में केन्द्रीय विधान मण्डल द्वि-सदनात्मक होता है। जहां निम्न सदन समूचे संघ की जनता का प्रतिनिधित्व करता है वहां उच्च सदन संघ के एककों का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणत: भारत में लोक सभा सभी भारतीय नागरिकों का प्रतिनिधित्व करती है जबकि राज्य सभा राज्यों (एककों) का प्रतिनिधित्व करती है।

संघ निर्माण एवं सफलता हेतु आवश्यक शर्तें

संघ के निर्माण एवं उसकी सफलता के लिए मुख्यत: निम्न शर्तों की आवश्यकता होती है—

1. संघ एवं स्वायत्तता की एक साथ भावना—इससे पूर्व कि संघ का निर्माण किया जाय संघ में शामिल होने वाले राज्यों में दो परस्पर विरोधी भावनाओं का होना आवश्यक है। **प्रथम**, उनमें तथा उनके निवासियों में संघ (Union) की दृढ़ इच्छा होनी चाहिए और **दूसरे**, उनमें स्थानीय विषयों में स्वायत्तता को बनाये रखने की इच्छा भी होनी चाहिए अर्थात् उनमें सामान्य विषयों के शासन के लिए तो संघ की भावना होनी चाहिये और स्थानीय विषयों पर स्वायत्तता बनाये रखने की इच्छा होनी चाहिए। जैसाकि **के. सी. व्हीयरे** ने लिखा है कि "संघ में राज्य संघ के अधीन मिलना तो चाहते हैं परन्तु वे एकात्मक शासन के निर्माण के इच्छुक नहीं होते।

संघ के एकक संघ में शामिल होने के लिए सामान्यत: दो उद्देश्यों से प्रेरित होते हैं—(i) सुरक्षा और (ii) आर्थिक विकास। उदाहरणत: आस्ट्रेलियाई संघ जापान के भय से और अमरीकी संघ आर्थिक विकास के लिए बनाया गया था। बाह्य भय जितना अधिक होगा संघ के एककों में निकटता उतनी होगी। **गिलक्राइस्ट** ने लिखा है कि "एकता की भावना सामान्य राष्ट्रीय मस्तिष्क की प्रदर्शक है।" **जे. एस. मिल** ने संघीय एकता की भावना को "समस्त प्रजा की प्रेम भावना" कहा है।

2. **भौगोलिक समीपता**—संघ में शामिल होने वाले राज्यों में भौगोलिक समीपता होनी चाहिये। इससे संघ के निर्माण एवं सफलता में सहायता मिलती है। यदि संघ का निर्माण करने वाले राज्य एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित हैं या किसी दूसरे राज्य की भूमि, समुद्र या पर्वतों की शृंखला उन्हें एक-दूसरे से अलग करती है तो वह संघ न तो स्थायी रह सकता है और न सुदृढ़ क्योंकि उनमें स्वाभाविक एकता उत्पन्न नहीं हो सकती जो संघ निर्माण के लिए आवश्यक होती है और न उन्हें आक्रमण की स्थिति में सहायता पहुँचाई जा सकती है जो संघ की सुरक्षा के लिए आवश्यक होती है। जैसाकि **गिलक्राइस्ट** ने लिखा है कि **"दूरी से केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों दोनों में उपेक्षा और कठोरता उत्पन्न होती है। जहाँ लोग एक-दूसरे से बहुत दूर हों वहाँ राष्ट्रीय एकता प्राप्त करना कठिन होता है।"** उदाहरणतः पूर्वी पाकिस्तान (अब बाँगला देश) और पश्चिमी पाकिस्तान में एक संघ का निर्माण इसलिए नहीं हो सका कि उन दोनों के बीच भारत का विशाल क्षेत्र एक प्रमुख बाधा थी। दूसरी ओर भारत, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड, अमरीका आदि संघों का निर्माण इसलिए हो सका एवं वे सफलतापूर्वक इसलिए कार्य कर रहे हैं कि उनके एककों में भौगोलिक समीपता पाई जाती है।

3. **एककों में समानता**—संघ के निर्माण एवं सफलता के लिए आवश्यक है कि जो राज्य संघ में शामिल होना चाहते हैं उनमें समानता पाई जावे अन्यथा संघ के छिन्न-भिन्न होने का भय हमेशा बना रहेगा। जैसाकि **गिलक्राइस्ट** ने कहा है कि "आदर्श संघ के लिए राज्यों में आकार एवं शक्ति की दृष्टि से पूर्ण समानता वांछनीय है।" **डायसी** ने तो धन की दृष्टि से भी राज्यों में समानता पर बल दिया है। **जे. एस. मिल** ने भी लिखा है कि 'संघ में कोई भी एकक इतना अधिक शक्तिशाली नहीं होना चाहिए कि वह बहुत-से एककों की संयुक्त शक्ति से प्रतिस्पर्द्धा कर सके।" 1867 के जर्मन संघ के पतन का मूल कारण यह था कि उसका एक एकक (प्रशिया Prussia) संघ के अन्य एककों से बहुत शक्तिशाली था। यही कारण है कि आज प्रायः सभी संघीय राज्यों में संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में एककों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। उदाहरणतः अमरीकी सीनेट और स्विस राज्य परिषद् में संघ के एककों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है। भारत में राज्य सभा में संघ के एककों का प्रतिनिधित्व एककों की जनसंख्या पर निर्भर करता है अर्थात् भारतीय राज्य सभा में एककों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है।

4. **साँस्कृतिक राजनीतिक एवं आर्थिक हितों की समानता**—संघ में शामिल होने वाले राज्यों में संस्कृति, वंश, धर्म, भाषा, परम्पराओं आदि की जितनी समानता पाई जायेगी संघ निर्माण में उतनी सरलता और इच्छुकता होगी। ये तत्त्व राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। राजनीतिक हितों एवं राजनीतिक संस्थाओं की एकरूपता भी एकता उत्पन्न करने में सहायक तत्त्व हैं।

जैसाकि ह्वीयरे ने लिखा है कि "जिन लोगों में समान राजनीतिक संस्थायें विद्यमान थीं या जिनमें समान राजनीतिक संस्थाओं के बीज विद्यमान थे उन्हीं में संघ निर्माण की इच्छा हुई।" समान इतिहास और समान घटनाओं में झेले गये दुःख और सुख लोगों में सुदृढ़ता की भावनायें पैदा करते हैं। इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि इनमें भिन्नताओं की गुंजाइश नहीं; भिन्नतायें और असमानतायें तो विद्यमान होंगी, परन्तु वे इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि उनके कारण ईर्ष्या, द्वेष, निराशा या अलगाववादी प्रवृत्तियाँ जन्म लें।

5. पर्याप्त आर्थिक साधन—संघ में शामिल एककों के पास आर्थिक एवं सामाजिक विकास के कार्यों को पूरा करने के लिए पर्याप्त धन होना चाहिए। यदि वे आर्थिक विकास के लिए केन्द्र के अनुदान पर अधिक निर्भर करेंगे तो उतनी मात्रा में उन्हें अपनी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता के साथ समझौता करना पड़ेगा।

6. राजनीतिक शिक्षा—संघ के नागरिकों में राजनीतिक चेतना अधिक होनी चाहिए। उनमें संविधानवाद की भावना भी होनी चाहिए। वे लोग संघ का सही संचालन कर सकते हैं जिनमें अपनी तथा समाज की समस्याओं को समझने और उसका समाधान करने की इच्छा और योग्यता होती है।

7. कुशल नेतृत्व—संघ निर्माण एवं उसकी सफलता के लिए कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। नेतृत्व लोगों में संगठन की प्रेरणा फूंक सकता है। उदाहरणतः अमरीकी संघीय व्यवस्था को जार्ज वाशिंगटन, मुनरो, लिंकन आदि का नेतृत्व प्राप्त हुआ था; कनाड़ा की संघीय व्यवस्था को जॉन मेकडोनाल्ड, अलेक्जेण्डर गाल्ट, जार्ज एटिनी का नेतृत्व प्राप्त हुआ था, रूसी संघ को स्टालिन और भारतीय संघ को पण्डित जवाहर लाल नेहरू का नेतृत्व प्राप्त हुआ था।

एकात्मक एवं संघात्मक शासन व्यवस्थाओं में भेद

एकात्मक और संघात्मक शासन व्यवस्थाओं में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. शक्तियों के केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रीकरण का भेद—एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की सारी शक्तियां एक केन्द्रीय सरकार में निहित होती हैं। इसमें केन्द्रीय शासन और अधीनस्थ स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों में शक्तियों का कोई संवैधानिक विभाजन नहीं होता। इसमें शासन एकीकृत होता है। इसमें जो शक्तियाँ स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों को प्राप्त होती हैं उन्हें कानून द्वारा केन्द्रीय सरकार प्रदान करती हैं जो उन्हें अपनी इच्छानुसार कम या अधिक कर सकती है। दूसरी ओर, संघीय शासन व्यवस्था में शासन की शक्तियों का केन्द्रीय और स्थानीय (राज्य) सरकारों में संवैधानिक विभाजन होता है। सामान्य काल में केन्द्रीय और राज्य सरकारें एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। शासन का रूप दोहरा होता है। संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्य सरकारें दोनों संविधान से शक्ति प्राप्त करती हैं। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में एकमात्र शक्ति का उपयोग करती हैं।

जहाँ ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों में एकात्मक शासन व्यवस्था है वहाँ अमरीका, भारत आदि देशों में संघात्मक शासन व्यवस्था है।

2. संविधान के रूप में अन्तर—एकात्मक शासन व्यवस्था में संविधान लिखित एवं अलिखित हो सकता है। इसमें संविधान सर्वोच्च नहीं होता। इसमें संवैधानिक कानून और साधारण कानून में कोई भेद नहीं किया जाता। इसमें संसद सर्वोच्च होती है और वह संवैधानिक कानून में उसी प्रकार परिवर्तन कर सकती है जिस प्रकार वह साधारण कानून में परिवर्तन कर सकती है। दूसरी ओर, संघीय शासन व्यवस्था में संविधान संघ में शामिल होने वाले सार्वभौम राज्यों के समझौते का परिणाम होता है। इसमें संविधान लिखित और सर्वोच्च दोनों होता है। इसमें केन्द्रीय सरकार स्वेच्छा से संविधान में परिवर्तन नहीं कर सकती। इसमें संवैधानिक कानून और साधारण कानून में भेद होता है। संविधान में संशोधन संघ के एककों की सहमति से किये जा सकते हैं। उदाहरणतः अमरीका में संवैधानिक संशोधन तभी हो सकते हैं जब कांग्रेस के दोनों सदन उसे पृथक्-पृथक् रूप से दो-तिहाई बहुमत से पारित कर देते हैं और 3/4 राज्य विधान सभायें उसका समर्थन कर देती हैं। संक्षेप में, एकात्मक शासन में संविधान लचीला और संघात्मक शासन में संविधान कठोर होता है।

3. स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों की स्थिति में भेद—एकात्मक शासन व्यवस्था में स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों की स्थिति अधीनस्थ निकाय की होती है। वे केन्द्रीय शासन के अंग या अभिकरण मात्र होती हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उनका जन्म-मरण केन्द्र के हाथों में होता है। दूसरी ओर, संघात्मक शासन व्यवस्था में स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारों की स्थिति केन्द्र के समकक्ष होती है वे केन्द्र के अभिकरण मात्र नहीं होते। उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और वे अपने क्षेत्र में एकमात्र शक्ति का उपयोग करते हैं। केन्द्र अपनी इच्छा से उनके क्षेत्र में परिवर्तन नहीं कर सकता। एकात्मक शासन में केन्द्र और स्थानीय सरकारों में अधिकार क्षेत्र के प्रश्नों पर विवाद उत्पन्न नहीं होते जबकि संघात्मक शासन में विवाद उत्पन्न हो सकते हैं और प्रायः उत्पन्न होते हैं।

4. इकहरी एवं दोहरी शासन व्यवस्था का भेद—एकात्मक शासन में शासन का रूप इकहरा होता है अर्थात् एक ही सर्वोच्च व्यवस्थापिका, एक ही सर्वोच्च कार्यपालिका और एक सर्वोच्च न्यायपालिका होती है। शासन का रूप इकहरा होने से कानूनों और नीतियों में एकरूपता रहती है। दूसरी ओर, संघीय शासन में शासन का रूप दोहरा होता है; एक केन्द्रीय सरकार और दूसरा एककों या राज्यों की सरकारें होती हैं। शासन का द्वैध रूप होने से कानूनों और नीतियों में दोहरापन आता है जिससे केन्द्र और एककों में विवाद एवं संघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

5. नागरिकों की निष्ठा में भेद—एकात्मक शासन में नागरिकों की भक्ति एकाग्र और एकनिष्ठ होती है। इसमें शासन में एकता और सुदृढ़ता पाई जाती है। दूसरी ओर, संघात्मक शासन व्यवस्था में नागरिकता दोहरी होती है और नागरिकों की भक्ति केन्द्र और राज्य दोनों में बँटी होती है। संघीय शासन में संकीर्ण एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों के बढ़ने की सम्भावना रहती है। एकात्मक शासन में एकता और संघात्मक शासन में विविधता पाई जाती है।

6. सरलता और कठोरता का भेद—एकात्मक व्यवस्था में शासनतन्त्र सरल एवं लचीला होता है जबकि संघात्मक व्यवस्था में शासन जटिल एवं कठोर होता है।

7. कार्यभार का भेद—एकात्मक शासन में केन्द्रीय शासन पर कार्य का भार अधिक होता है जिसमें स्थानीय हितों की उपेक्षा होने की सम्भावना रहती है। एकात्मक शासन में स्थानीय आरम्भन की कोई गुंजाइश नहीं होती। दूसरी ओर, संघीय शासन में केन्द्रीय शासन पर कार्य का भार अधिक नहीं होता क्योंकि स्थानीय सरकारें अपने उत्तरदायित्व को निभाती हैं। इसमें स्थानीय आरम्भन के विकास की पर्याप्त गुंजाइश रहती है।

8. न्यायिक समीक्षा का भेद—एकात्मक शासन व्यवस्था में न्यायपालिका कानूनों की वैधता की जाँच नहीं करती जबकि संघात्मक शासन में न्यायपालिका कानूनों की समीक्षा कर उन्हें वैध या अवैध घोषित कर सकती है।

9. प्रशासनिक सेवाओं का भेद—एकात्मक शासन में एक ही प्रशासनिक सेवायें होती हैं जबकि संघात्मक शासन में दोहरी प्रशासनिक सेवायें होती हैं। उदाहरणतः भारत में जहाँ केन्द्रीय शासन के लिए अखिल भारतीय सेवायें विद्यमान हैं वहाँ राज्यीय सरकारों के लिए प्रान्तीय सेवायें हैं।

10. एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी होने की सम्भावना अधिक होती है, जबकि संघात्मक शासन में इसकी सम्भावना कम होती है।

संघ एवं परिसंघ (राज्य संघ) - एक तुलनात्मक अध्ययन

संघ और परिसंघ को प्रायः एक समझा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि दोनों शब्दों की उत्पत्ति एक ही लेटिन शब्द **फोएड्स** (Foedus) से हुई है जिसका अर्थ है **सन्धि या समझौता**। दोनों का निर्माण विशिष्ट सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है। दोनों में एक केन्द्रीय संगठन की स्थापना की जाती है। इतिहास में अनेक परिसंघों के उदाहरण मिलते हैं जैसे यूनानी काल में एचियन, लीग, मध्यकाल में रेनिस संघ और आधुनिक काल में जर्मन परिसंघ (1815–1867) एवं अमरीकी परिसंघ (1781–1789)। इस पर भी संघ और परिसंघ में महान भेद पाये जाते हैं।

परिसंघ की परिभाषा—परिसंघ की मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं—

1. गार्नर के शब्दों में, "परिसंघ राज्यों के कुछ घोषित सामान्य उद्देश्यों विशेषकर समान सुरक्षा हेतु निर्मित संघ है।"

2. गेटेल के शब्दों में, "परिसंघ राज्यों का संघ है। सामान्य हितों वाले राज्य समानता के आधार पर एकत्रित होकर एक केन्द्रित शासन का निर्माण करते हैं और उसे कुछ शक्तियाँ प्रदान करते हैं।"

3. स्ट्रांग के शब्दों में, "परिसंघ अनेक राज्यों का ढीलाढाला संघ है जो राज्य नहीं होता।"

संघ और परिसंघ में भेद—संघ और परिसंघ में मुख्य भेद निम्न हैं—

1. परिसंघ स्वतन्त्र एवं सार्वभौम राज्यों की "लीग" होता है जो परिसंघ में शामिल होने के बाद भी अपनी स्वतन्त्रता एवं सार्वभौमता को बनाये रखते हैं। वे दूसरे देशों के साथ राजकीय सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। उनकी अपनी स्वतन्त्र सेनायें होती हैं। दूसरी ओर, संघ **एक संयुक्त राज्य** का रूप ग्रहण कर लेता है। संघ में शामिल होने वाले राज्य अपनी सार्वभौमिकता को त्याग देते हैं और वे दूसरे देशों के साथ सन्धियाँ या समझौता नहीं कर सकते। वे अपनी पृथक् सेनायें नहीं रख सकते। संक्षेप में, परिसंघ में किसी नये राज्य का निर्माण नहीं होता परन्तु इसमें एक नये राज्य का निर्माण या जन्म होता है।

2. परिसंघ अस्थाई होता है। उसके एकक, उससे अलग हो सकते हैं। दूसरी ओर, संघ स्थाई होता है। उसके एकक, उससे अलग नहीं हो सकते।

3. परिसंघ एक समझौते या सन्धि द्वारा निर्मित होता है। इसका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि की भाँति होता है। यह सदस्यों की सहमति पर आधारित होता है। दूसरी ओर, संघ संविधान द्वारा निर्मित होता है जो एक वैधानिक दस्तावेज होता है।

4. परिसंघ में केन्द्रीय शासन की शक्तियाँ परिसंघ में शामिल होने वाले राज्यों के ऊपर निर्भर करती हैं। वे उसकी शक्तियों में वृद्धि एवं कटौती कर सकते हैं। दूसरी ओर, संघ में केन्द्र की शक्तियाँ संविधान द्वारा निश्चित की जाती हैं जिसमें संवैधानिक संशोधनों द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है। केन्द्र अथवा संघ में शामिल होने वाले राज्य केन्द्र की शक्तियों में वृद्धि नहीं कर सकते।

5. परिसंघ की केन्द्रीय सरकार परिसंघ के नागरिकों से सीधे सम्बन्ध नहीं रखती, उसका सम्बन्ध परिसंघ में शामिल होने वाले राज्यों से होता है। परिसंघ के कोई नागरिक या प्रजा नहीं होती जिस पर वह अपनें आदेशों को लागू कर सके। दूसरी ओर, संघ की केन्द्रीय सरकार राज्यों और नागरिकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। वह संघ के नागरिकों को आदेश दे सकती है तथा उन्हें कार्यों को करने या न करने के लिए कह सकती है।

6. परिसंघ की कोई अपनी कार्यपालिका या न्यायपालिका नहीं होती, उसे अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरी ओर, संघ की अपनी व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका होती है। उसे अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए राज्यों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती।

7. परिसंघ के सदस्यों (राज्यों) में उत्पन्न होने वाले संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध समझा जाता है जबकि संघ के राज्यों में उत्पन्न होने वाले संघर्ष को गृहयुद्ध की संज्ञा दी जाती है।

संघात्मक व्यवस्था के गुण-दोष

गुण (Merits)—संघीय व्यवस्था की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। **माण्टेस्क्यू** का मत है कि इसमें "गणतन्त्र और राजतन्त्र दोनों प्रकार की सरकारों के गुण विद्यमान होते हैं।" **ब्री** का मत है कि इसमें "राज्य भावना की उच्चतम सिद्धि प्राप्त होती है।" **सिजविक** का मत है कि "संघवाद ने राज्यों को हड़पने या राज्य विस्तार की समस्या का अन्त कर दिया है। यह राज्यों के एकीकरण की शान्तिपूर्ण पद्धति है। यह स्थानीय स्वशासन एवं राष्ट्रीय स्वाधीनता का आश्वासन है।" **आर० जी० गेटेल** का मत है कि "यह व्यवस्था राजनीतिक कार्य में रुचि को प्रेरित करती है, लघु क्षेत्रों में प्रयोगों को सम्भव बनाती है जिन्हें यदि सम्पूर्ण देश पर लागू किया जाये तो उनके भयंकर परिणाम निकल सकते हैं, विविध राष्ट्रीयताओं और हितों वाले राज्यों में उत्पन्न होने वाले भयों को कम करती है और केन्द्रीय शासन को अनेक बोझिले कार्यों से छुटकारा दिलाती है।" संघात्मक व्यवस्था आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पर छाई हुई है। विश्व के बड़े-छोटे राष्ट्रों ने इसे ही अपनाया है।

संघीय व्यवस्था में मुख्यतः निम्न गुण पाये जाते हैं—

1. राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वायत्तता—इसमें राष्ट्रीय एकता व स्थानीय स्वायत्तता के दोहरे गुण पाये जाते हैं। इसके संगठन में एकता होती है। छोटे-छोटे राज्य मिलकर अपने-आपको एक बड़े राज्य में बदल लेते हैं और एक शक्तिशाली राज्य के लाभों को प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपने पृथक् अस्तित्व को भी बनाये रखते हैं और अपने क्षेत्र पर स्वयं शासन कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, संघीय व्यवस्था में राष्ट्रीय विषयों में एकरूपता और स्थानीय विषयों में विविधता पाई जाती है।

2. छोटे पैमाने पर प्रयोग सम्भव—इसमें छोटे पैमाने पर प्रयोग किये जा सकते हैं। इनके सफल होने पर इन्हें सारे देश में लागू किया जा सकता है। इससे धन की बचत होती है। उदाहरणतः भारत में नागौर जिले में पंचायती राज सफल होने पर राजस्थान राज्य में और बाद में सारे देश में लागू किया गया।

3. विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त—यह व्यवस्था विशाल राज्यों के लिए लाभकारी है। जिन राज्यों में भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की भिन्नतायें पायी जाती हैं उनके लिए यह व्यवस्था अत्यधिक उपयोगी है। इसमें प्रत्येक सांस्कृतिक समूह या राष्ट्रीयता अपने पृथक् अस्तित्व को बनाये रख सकती है। संक्षेप में, संघीय व्यवस्था में विविधता में एकता पाई जाती है।

4. प्रशासनिक दक्षता—इसमें प्रशासनिक दक्षता प्राप्त की जा सकती है। इसमें केन्द्र और एककों में विषयों का विभाजन होता है, जिसमें प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करने का अवसर मिलता है। **दूसरे** केन्द्रीय सरकार बोझीले कार्यों से छुटकारा पा सकती है जिससे वह सामान्य राष्ट्रीय विषयों पर अधिक ध्यान केन्द्रित कर सकती है; स्थानीय सरकारें स्थानीय विषयों पर ध्यान केन्द्रित कर सकती हैं। **तीसरे**, इसमें केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रविमुखी शक्तियों में सन्तुलन बनाये रखा जा सकता है। ये सब तत्त्व मिलकर राष्ट्रीय एवं स्थानीय दोनों सरकारों की दक्षता एवं कुशलता में वृद्धि करते हैं।

5. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान—जब छोटे-छोटे राज्य मिलकर अपने-आपको एक संघीय राज्य में बदल लेते हैं तो उनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर बढ़ जाता है। वे अपने आपको सुरक्षित समझने लगते हैं। कोई अन्य राष्ट्र उन पर आक्रमण करने का साहस नहीं करता और उन्हें अपना विकास करने का अवसर मिल जाता है।

6. सांस्कृतिक प्रगति—इसमें प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपनी भाषा, लिपि, संस्कृति और धर्म के विकास का पूरा अवसर मिलता है। इससे उसकी संस्कृति का विकास होता है। इसमें सभी राष्ट्रीयतायें अपना विकास करती हैं। अतः आदान-प्रदान से भाषा और संस्कृति का विकास होता है। इससे देश में समझौता एवं मेल-जोल की प्रवृत्तियों का विकास होता है जिससे संघीय व्यवस्था सुदृढ़ होती है। **पिनॉक और स्मिथ** ने कहा है कि यह "मतैक्य" उत्पन्न करती है।

7. आर्थिक लाभ—संघीय व्यवस्था से अनेक आर्थिक लाभ होते हैं। छोटे-छोटे राज्यों को सीमाओं की सुरक्षा के लिए सेनाओं का निर्माण नहीं करना पड़ता क्योंकि सुरक्षा का उत्तरदायित्व संघीय सरकार का होता है। दूसरे, छोटे-छोटे राज्यों को अनुसंधान पर अनावश्यक खर्च नहीं करना पड़ता क्योंकि राष्ट्रव्यापी स्तर पर होने वाले अनुसंधानों का लाभ उन्हें प्राप्त हो जाता है।

8. संविधान एवं स्वतन्त्रता—इसमें निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन के विकास के लिए सम्भावना नहीं होती। इसका शासन संविधान द्वारा संचालित होता है जो शक्तियों के केन्द्रीकरण पर अंकुश लगाता है। इसमें सामान्य और स्थानीय हितों में मेल-जोल उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है अतः संघवाद संविधानवाद को पुष्ट करता है। इसमें नागरिकों की स्वतन्त्रतायें सुरक्षित रहती हैं। **ई. बी. शुल्ज** का मत है कि, "स्थानीय स्वायत्तता की संवैधानिक गारण्टी अति केन्द्रीयकरण के

विरुद्ध समुचित प्रभावपूर्ण बाधा प्रस्तुत करती है।" पिनॉक और स्मिथ के अनुसार संघीय व्यवस्था "बहुलवादी राजनीति को बढ़ावा देती है। यह शक्ति का विभाजन करती है और यह दो सामान्य योग्य सरकारी सत्ताओं को उत्पन्न करती है। अतः स्वतन्त्रता विकसित होती है।"

9. सार्वजनिक कार्यों में रुचि—इसमें लोगों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि बढ़ती है। जब स्थान विशेष के विषयों को स्थानीय लोगों द्वारा संचालित किया जाता है तो उनमे सार्वजनिक भावना का विकास होता है। वे अपनी स्थानीय समस्याओं को भली-भाँति समझते हैं, अतः उनका समुचित समाधान निकाल सकते हैं। इस तरह लोगों में राजनीतिक चेतना, विवेक और जागृति उत्पन्न करने में संघवाद की प्रमुख भूमिका है। यदि स्थानीय विषयों को केन्द्रीय शासन को सौंप दिया जाये, जैसाकि एकात्मक शासन में होता है, तो केन्द्रीय सरकार का भार अत्यधिक बढ़ जायेगा जिससे स्थानीय विषयों की उपेक्षा होने की सम्भावना बढ़ जायेगी।

10. विश्व सरकार के लिए आदर्श—संघीय व्यवस्था एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें विश्व सरकार के स्वप्न को पूरा किया जा सकता है। विश्व सरकार के निर्माण के लिए शासन के अन्य रूप अनुपयुक्त हैं।

दोष (Demerits)—संघात्मक शासन के जहाँ प्रशंसक हैं वहाँ इसके अनेक आलोचक भी हैं। **लार्ड ब्राइस** ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि यह (i) विदेशी मामलों के संचालन में निर्बल है; (ii) यह गृह शासन में निर्बल है; (iii) इसकी द्वि-सदनात्मक व्यवस्था में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं; (iv) इसमें राज्यों के सम्बन्ध विच्छेद या विद्रोह से संघ के विघटन की सम्भावना होती है; (v) इसमें गुटबन्दियाँ जन्म ले सकती हैं तथा (vi) इसमें अत्यधिक व्यय होता है। लीकॉक का मत है कि, "संघीय शासन में सुनिश्चित मर्यादायें एवं रचना सम्बन्धी गम्भीर दोष हैं""राजनीतिक एवं बाह्य दृष्टि से शक्तिशाली होने पर भी यह आर्थिक एवं आन्तरिक क्षेत्र में शक्तिहीन है।" **ह्वीयरे** का मत है कि "संघवाद और उत्साहपूर्ण विदेश नीति साथ नहीं चल सकते।"

संघीय व्यवस्था के मुख्य दोष निम्न हैं—

1. विदेश नीति में कठिनाइयाँ—संघीय व्यवस्था के कारण विदेश नीति के संचालन में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। विदेशी सरकारों से सन्धियाँ एवं समझौते करना केन्द्रीय सरकार का विषय होता है अतः उन्हें कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। हो सकता है, कि संघ के एकक उन सन्धियों और समझौतों में व्यक्त दर्शन को स्वीकार ही न करें। इससे केन्द्र और एककों में अनावश्यक टकराव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

2. संकीर्ण एवं क्षेत्रीय भावनाओं का विकास—संघीय व्यवस्था में द्वैध राजनीतिक व्यवस्था होने से प्रान्तीय, क्षेत्रीय, भाषाई या अन्य विघटनकारी तत्त्व

बलशाली हो सकते हैं। उदाहरणतः भारत में क्षेत्र और भाषा सम्बन्धी प्रश्न सर्वदा सक्रिय रहे हैं; उत्तर और दक्षिण को आज भी हिन्दी और अहिन्दी भाषायी क्षेत्र कहा जाता है; इस्पात और सीमेण्ट कारखानों की स्थापना के लिए राज्यों में परस्पर ईर्ष्या एवं प्रतिद्वन्द्विता रही है, नदियों के पानी के वितरण पर भी राज्यों में मनमुटाव रहे हैं।

3. **दोहरी भक्ति**—इसमें नागरिकों की दोहरी भक्ति होती है—एक केन्द्रीय सरकार के प्रति और दूसरी राज्य सरकार के प्रति। राज्य के प्रति नागरिकों की भक्ति का यह विभाजन राष्ट्रीय एकता और देश भक्ति के विरुद्ध जाता है।

4. **धन का अपव्यय**—इसमें हर चीज दोहरी होती है—राजनीतिक व्यवस्था दोहरी होती है, कानून दोहरे होते हैं, आदि। इससे सार्वजनिक पर्स पर अत्यधिक भार पड़ता है। प्रशासनिक मशीनरी एवं प्रक्रिया दोहरी होने से दोहरा खर्च होता है।

5. **गतिरोध एवं मुकदमेबाजी की सम्भावना**—इसमें शक्तियों का विभाजन होने से केन्द्र और एककों के मध्य न केवल गतिरोध उत्पन्न हो सकता है, बल्कि अनावश्यक मुकदमेबाजी भी जन्म ले सकती है। विषय अपना स्थान बदलते रहते हैं। जिन विषयों को कुछ समय पूर्व स्थानीय विषय समझा जाता था उन्हें आज राष्ट्रीय महत्त्व के विषय समझा जाता है। अतः शक्ति का स्थायी एवं समुचित विभाजन होना कठिन है। **गेटेल** के अनुसार, "केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों के बीच वैमनस्य का खतरा निरन्तर बना रहता है।"

6. **दुर्बल शासन**—संघीय व्यवस्था एकात्मक व्यवस्था से स्वाभाविक रूप से दुर्बल होती है। निर्णय लेने में देरी होना स्वाभाविक है क्योंकि महत्त्वपूर्ण विषयों पर एककों से विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। अनेक विषयों में तो उनकी साझेदारी संवैधानिक होती है। एककों की हठधर्मिता आवश्यक एवं वांछनीय संवैधानिक संशोधनों को रद्द कर सकती है।

7. **जटिल संरचना**—इसमें सरकारी मशीनरी जटिल होती है जिसे साधारण नागरिक समझ नहीं सकता। इसमें अनेक सत्तायें होती हैं, उनका क्षेत्र भिन्न-भिन्न होता है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रशासन की एकरूपता न होने से साधारण नागरिक उसकी जटिलताओं को नहीं समझ सकता।

संघीय व्यवस्थाओं में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति

आधुनिक संघीय व्यवस्थाओं में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह प्रवृत्ति बीसवीं शताब्दी में स्थापित किये गये संघीय राज्यों में ही नहीं पायी जाती बल्कि अमरीका, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैंड जैसी परम्परागत संघीय व्यवस्थाओं में भी पायी जाती है। अमरीकी संघीय व्यवस्था को आज **"केन्द्रित प्रजातन्त्र"** कहा जाता है; स्विस संघीय शासन को कैन्टनों का **"शिक्षक एवं निरीक्षक"** कहा जाता

है; सोवियत रूस की संघीय व्यवस्था में "प्रजातान्त्रिक केन्द्रीयकरण" है; भारतीय संघीय व्यवस्था में झुकाव केन्द्र की ओर है। पिनॉक और स्मिथ के अनुसार, "क्षेत्रीय (एककों की) सरकारों से केन्द्रीय सरकार की ओर शक्तियों का हस्तान्तरण की प्रक्रिया द्रुत गति से चल रही है।"[1]

आधुनिक संघीय व्यवस्थाओं में केन्द्र सरकार को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः आधुनिक अणु युग की आवश्यकताओं ने, युद्ध के भय और शीतयुद्ध के वातावरण ने, राष्ट्रीय संकटों और आर्थिक मन्दियों ने, औद्योगिक क्रान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्व-व्यापी व्यापार की प्रवृत्तियों ने, पूँजी और श्रम की समस्याओं ने, नियोजित विकास की आवश्यकताओं ने और सहकारी संघ की प्रवृत्तियों ने केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। जैसाकि के. सी. ह्वीयरे ने कहा है कि "शक्ति की राजनीति, मन्दी की राजनीति, कल्याणकारी राजनीति और आन्तरिक उत्तेजनशील यन्त्र"[2] ने संघीय सरकारों की शक्तियों में वृद्धि की है।

संघीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि के लिए मुख्यतः निम्न कारण उत्तरदायी या सहायक रहे हैं :—

1. युद्ध—युद्ध एवं युद्ध का वातावरण केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि करने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। जब राष्ट्र जीवन-मरण के प्रश्न से संघर्ष कर रहा हो तो सुरक्षा के प्रश्नों को संघ के एककों के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता। युद्ध समूचे राष्ट्रीय जीवन पर नियन्त्रण की माँग करता है। युद्ध सुदृढ़, शक्तिशाली एवं सुसंगठित केन्द्र की माँग करता है। युद्धकाल में न केवल बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र को सुरक्षित रखने की आवश्यकता होती है बल्कि आंतरिक लुटेरों और विघटनकारी तत्त्वों से भी सुरक्षित रखने की आवश्यकता होती है। युद्ध काल में राष्ट्र के प्राकृतिक, भौतिक और [illegible] स्रोतों के पुनर्नियोजन और पुनर्निर्धारण की आवश्यकता होती है। एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार ही इन कार्यों को कर सकती है।

2. परस्पर विरोधी विचारधाराएँ—आज विश्व में दो परस्पर विरोधी विचारधारायें पायी जाती हैं—पूँजीवादी एवं साम्यवादी। ये दोनों अपने विस्तार के लिए दृढ़ संकल्प हैं। इन दोनों के परस्पर विरोध ने विश्व में तनाव एवं शीत-युद्ध की स्थिति पैदा कर दी है जो राष्ट्रों को युद्ध की तैयारी में रखती है। यह स्थिति केन्द्रीय सरकार के शक्तिशाली होने की माँग करती है। लियोनार्ड का मत है कि "रूसी भालू ही स्पष्ट रूप से वह राक्षस है जो हमें केन्द्र की ओर धकेल रहा है।"

---

1. Pennock and Smith : Political Science : An Introduction, p. 542.
2. Wheare, K. C. : Federal Government, p. 239.

3. राष्ट्रीय संकट—राष्ट्रीय संकटों ने भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। राष्ट्रीय संकट आन्तरिक उपद्रवों और विघटनकारी तत्त्वों या आर्थिक मन्दी से उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरणतः राष्ट्रीय अखण्डता और एकता को बनाये रखने के लिए भारतीय संविधान में आपात व्यवस्थाओं की व्यवस्था की गई है। सन् 1930–34 की आर्थिक मन्दी के काल में अमरीकी केन्द्रीय सरकार को विशेष विधेयकों द्वारा विशेष शक्तियां दी गयी थीं।

4. आर्थिक एवं सामाजिक समस्यायें—आधुनिक समय में आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का रूप क्षेत्रीय, प्रादेशिक या राज्यीय नहीं रहा। यह अन्तर्राज्यीय और कुछ सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन गया है; श्रम समस्यायें केवल एक प्रदेश या राज्य तक सीमित नहीं रहीं, ये अन्तर्राज्यीय बन गई हैं। एक स्थान या प्रदेश की समस्याओं का प्रभाव दूसरे प्रदेशों या राज्यों पर पड़ता है। औद्योगिक विकास, स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्यायें राष्ट्रव्यापी हैं। इन सब समस्याओं का समाधान राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही समुचित ढंग से हो सकता है। उदाहरणतः यदि औद्योगिक विकास को संघ के एककों पर छोड़ दिया जाये तो कोई एकक प्राकृतिक साधनों के भाग्यशाली होने से अधिक विकास कर सकता है और दूसरा इनकी कमी के कारण पिछड़ा हुआ रह सकता है। इससे संघ राज्य में असन्तुलन होने की सम्भावना रहती है। अतः केन्द्रीय सरकार एककों में सन्तुलन बनाये रखने के लिए औद्योगिक विकास की राष्ट्रव्यापी नीति का निर्माण करती है।

5. कल्याणकारी राजनीति एवं नियोजन—आधुनिक राज्य का रूप लोक-कल्याणकारी है; यह पुलिस राज्य नहीं रहा। इसे अनेक प्रकार की लोक-कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण कर उन्हें लागू करना पड़ता है। उदाहरणतः बेरोजगारी, लोकोपयोगी एवं सामाजिक नियमन के कार्यों को केन्द्रीय स्तर पर भलीभांति हल किया जा सकता है। इन सबके लिए नियोजन की आवश्यकता है और नियोजन ने केन्द्र को सत्तावान बना दिया है। **अशोक चन्दा** ने कहा है कि "नियोजन ने हमारे संघवाद को उलांघ दिया है और नियोजन आयोग एक 'सर्वोच्च कैबिनेट' की तरह है—यह एक ऐसा मन्त्रिमण्डल है जो संघ और राज्य दोनों के लिए है।"

6. सहायता अनुदान—लोक-कल्याणकारी योजनाओं की कार्यान्विति का उत्तरदायित्व संघ के एककों का होता है, परन्तु एककों के पास इन्हें कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त धन का अभाव होता है। अतः उन्हें आर्थिक सहायता के लिए केन्द्र सरकार पर निर्भर करना पड़ता है। केन्द्र राज्यों को अनुदान देता है। यह अनुदान सशर्त और बिना शर्त हो सकता है। यह सामान्य या विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हो सकता है। जब राज्य केन्द्र से अनुदान प्राप्त करते हैं तो वे केन्द्र के इशारे

पर नाचते हैं और उसके द्वारा लगाई गई शर्तों को स्वीकार करते हैं। आर्थिक अनुदान केन्द्र के हाथों में ऐसा यन्त्र है जो अनुशासनहीन या हठधर्मी राज्य को केन्द्र की नीतियों के अनुरूप लाने के लिए पर्याप्त है। राज्यों की आर्थिक दुर्बलता एवं केन्द्र पर उनकी निर्भरता राज्यों की स्वायत्तता को सारहीन बना देती है। कोरी और हॉजट्स ने कहा है कि "जितनी मात्रा में राज्य केन्द्र से सहायता प्राप्त करते हैं उतनी मात्रा में वे संघीय सरकार के पेन्शन भोगी बनते हैं।[1]

7. अन्तर्निहित शक्तियों का सिद्धान्त—संघीय राज्यों में न्यायालय ने संवैधानिक धाराओं की उदार एवं व्यापक व्यवस्थायें की हैं। न्यायालय ने "अन्तर्निहित शक्तियों के सिद्धान्त" का विकास करके केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि की है। उदाहरणतः अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने केवल 'वाणिज्य' धारा की कम से कम 100 व्याख्यायें की हैं। इससे केन्द्रीय सरकार को उन क्षेत्रों में अधिकार मिल गये हैं जो मूल संविधान में राज्यों के लिए सुरक्षित थे।

8. सहकारी संघ के विचार का विकास—संघीय विचारधारा का जो रूप आज विद्यमान है वह सहकारी है, प्रतिद्वन्द्वी नहीं; वह द्वैध होते हुए भी सहयोगी संघ है। केन्द्र और एककों की सरकारें समकक्ष और स्वायत्त होते हुए भी एक ही व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं जिन्हें सामान्य, राष्ट्रीय एवं लोक-कल्याणकारी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है। अतः राष्ट्रीय एवं लोक-कल्याणकारी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे 'पारस्परिक सहयोग' और 'पारस्परिक समझ' से कार्य करती हैं। उदाहरणतः भारत सहकारी संघ का सर्वोत्तम उदाहरण है। योजना आयोग, क्षेत्रीय परिषदें, संकटकालीन व्यवस्थायें, वित्त आयोग आदि व्यवस्थाओं का उद्देश्य राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करना है तथा राष्ट्रीय समस्याओं का राष्ट्रीय स्तर पर समाधान करना है।

आधुनिक संघीय राज्यों में 'विविधता के संरक्षण' की समस्यायें उत्पन्न होती हैं, इनका समाधान राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग और समन्वय की भावना से किया जा सकता है। उदाहरणतः भारत में नदियों के पानी के बंटवारे की समस्या, भाषा की समस्या, क्षेत्रों के विकास की समस्याओं आदि का समाधान केन्द्रीय नेतृत्व में सहकारी भावना के आधार पर करने का प्रयास किया जा रहा है। ये ऐसी समस्यायें हैं जो वैमनस्य उत्पन्न कर सकती हैं। अतः इनका समाधान सहकारी वातावरण में ही सम्भव है।

---

1. Corry J. A. and Hodgetts J. E. : Democratic Government & Politics. p. 574.

समीक्षा प्रश्न

1. एकात्मक सरकार के गुण-दोषों का परीक्षण कीजिये।
(Raj. 1987, Suppl. 1984)
2. संघात्मक शासन प्रणाली के गुण-दोषों को समझाइये।
(Raj. Suppl. 1985)
3. सभी संघों में केन्द्र या राष्ट्रीय सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति के लिए कौन-से कारण उत्तरदायी हैं?
(Raj. 1981)
4. संघात्मक शासन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए और इसकी सफलता के लिए आवश्यक शर्तों को समझाइये। (Raj. 1979)

23

सरकार का संगठन शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त

(Organization of Government—Theory of Separation of Powers)

शक्ति पृथक्करण का अर्थ—शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि शक्ति भ्रष्ट करती है और निरपेक्ष शक्ति निरपेक्ष रूप से भ्रष्ट कर देती है। अतः शासनांगों को पृथक्-पृथक् कर देने से शक्ति के दुरुपयोग या उसके निरंकुश रूप को रोका जा सकता है।

शक्ति पृथक्करण की मान्यता है कि शासन के मुख्यतः तीन अंग हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका विधियों का निर्माण करती है, कार्यपालिका उन्हें लागू करती है और न्यायपालिका उनकी व्याख्या कर उन्हें विशिष्ट विवादों में लागू करती है। जो सिद्धान्त इस बात का प्रचार करता है कि शासन के तीनों अंग पृथक-पृथक हों और उनकी शक्तियां पृथक-पृथक हाथों में हो, उसे शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त कहते हैं। जैसाकि माण्टेस्क्यू ने कहा है कि "इनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होने चाहिए, उसे अपने कार्य-क्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिए और उसे दूसरे अंग के कार्यों को प्रभावित करने या उन पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।" गेटेल ने भी लिखा है कि "जो सिद्धान्त शासन के कार्यों को पृथक-पृथक व्यक्तियों द्वारा सम्पादित कराना चाहता है, जो प्रत्येक विभाग को अपने क्षेत्र के कार्यों से सम्बन्धित रखना चाहता है, जो किसी विभाग को दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहता एवं उसे अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रखना चाहता है उसे शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त कहते हैं।

शक्तियों का विभाजन प्रायः दो प्रकार से किया जाता है। एक क्षेत्रीय या समतलीय कहलाता है और दूसरा कार्यात्मक या लम्बरूप कहलाता है। क्षेत्रीय या समतलीय आधार पर जब शक्तियों का विभाजन किया जाता है तो उसे शक्तियों का विकेन्द्रीकरण कहते हैं। उदाहरणतः किसी शासन के अन्तर्गत स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को अपने क्षेत्र में प्रदान की गयी स्वायत्तता शक्तियों का विकेन्द्रीकरण

होता है। संघ राज्य में एककों को प्रदान की गई शक्तियां या किसी एकक के अन्तर्गत किसी स्थानीय स्वशासित संस्था को प्रदान की गई शक्तियों का विकेन्द्रीकरण है। दूसरी ओर, **जब शक्तियों को कार्यों के आधार पर विभाजित किया जाता है** अर्थात् जब व्यवस्थापिका कानूनों का निर्माण करे, कार्यपालिका उन्हें लागू करे और न्यायपालिका उन्हें विशिष्ट विषयों में लागू करे **तो उसे शक्तियों का पृथक्करण** कहते हैं।

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के लेखक—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रमुख प्रचारक **माण्टेस्क्यू** है। यह सिद्धान्त उसी के नाम से जुड़ा हुआ है। परन्तु इस सिद्धान्त का समर्थन माण्टेस्क्यू से पूर्व और बाद के लेखकों ने भी किया है। उदाहरणतः माण्टेस्क्यू से पूर्व **अरस्तू, सिसरो, पोलिबियस, जीन बोदां, जॉन लॉक** आदि लेखकों ने इसका समर्थन किया था और माण्टेस्क्यू के बाद **ब्लैकस्टोन, मेडिसन हेमिल्टन** आदि लेखकों ने इसका समर्थन किया है।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की व्याख्या एवं इतिहास—शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि प्लेटो और अरस्तू। **प्लेटो** ने अपनी रचना **"लॉज"** में मिश्रित राज्य के विचार को प्रस्तुत किया था। **अरस्तू** ने अपनी रचना **'पॉलिटिक्स'** में केवल कार्यों का ही पृथक्करण किया था, उन कार्यों को करने वालों का नहीं। उसने कार्यों के आधार पर शासनांगों को क्रमशः विमर्शात्मक, दण्डाधिकारीय और न्यायिक शक्तियों की संज्ञा दी थी। अरस्तू ने केवल प्रशासनिक दृष्टि से शक्तियों का विभाजन किया था। उसने आजकल की भाँति कुशलता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर उनका पृथक्करण नहीं किया था।

रोम में सिसरो और पोलिबियस ने इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया था। रोम के गणराज्य में सीनेट, परिषद और ट्रिब्यून क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्यों को करती थी। चौदहवीं शताब्दी में **मार्सलियो आफ पडुआ** ने कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की शक्तियों के बीच विभाजन रेखा खींचने का प्रयास किया था। मध्ययुग में इस सिद्धान्त को कोई मान्यता प्राप्त नहीं थी।

आधुनिक युग में सर्वप्रथम **जीन बोदां** ने सोलहवीं शताब्दी में अपनी रचना **डी. रिपब्लिका** में इस सिद्धान्त की व्याख्या की थी और व्यवस्थापिका को न्यायपालिका से पृथक् रखने का सुझाव दिया था। उसका कहना था कि **"यदि राजा स्वयं ही विधि निर्माता और न्यायाधीश दोनों हो जाय तो निर्दयी राजा निर्दयतापूर्वक दण्ड व्यवस्था करेगा।"** सत्तरहवीं शताब्दी में इंगलैंड में सुनहरी क्रान्ति के **जेम्स हैरिंगटन** जैसे नेताओं का यह दृढ़ विश्वास था कि कानून बनाने वाले और उन्हें लागू करने वाले की शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे अत्याचारी शासन की स्थापना हो जाती है। संविदा सिद्धान्त के समर्थक **जॉन लॉक** ने अपनी रचना **'नागरिक शासन पर दो निबन्ध'** में शक्ति पृथक्करण का

समर्थन किया था। लॉक का कहना था कि 'यदि विधि निर्माता विधि की जांच करे तो इससे स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति होती है और यदि विधि निर्माता न्याय करने वाला बन जाय तो इससे अत्याचार की सम्भावना रहती है।"

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रमुख प्रवक्ता **माण्टेस्क्यू** है। उसने इसकी विशद् व्याख्या अपनी रचना **'विधि की भावना'** (The Spirit of Laws 1748) में की है। माण्टेस्क्यू व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था और वह उसे सुरक्षित रखना चाहता था। उसकी धारणा थी कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को तभी सुरक्षित रखा जा सकता है जब शक्ति के दुरुपयोग को रोका जा सके और शक्ति को सीमित करके ही उसके दुरुपयोग को रोका जा सकता है अर्थात् उसे समकक्ष शक्ति द्वारा संतुलित करके ही उसके दुरुपयोग को रोका जा सकता है। माण्टेस्यू ने लिखा है कि **"शक्ति द्वारा शक्ति पर रुकावट होनी चाहये।"** माण्टेस्क्यू ने न केवल शासन की तीनों शक्तियों को पृथक् रखने का सुझाव दिया बल्कि यह भी कहा कि उनका संचालन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों द्वारा होना चाहिए क्योंकि यदि दो या तीनों शक्तियों का एकत्रीकरण हो जाये तो सर्वनाश निश्चित है। **माण्टेस्क्यू** के अनुसार "जब विधायी एवं कार्यपालिका शक्तियां एक ही व्यक्ति या शासकों के एक ही निकाय में केन्द्रित हो जाती हैं तो स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं रहता क्योंकि ऐसी सम्भावना रहती है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी विधियों का निर्माण करके उन्हें अत्याचारपूर्ण ढंग से लागू न करने लगे। इसी प्रकार यदि न्यायिक शक्ति को विधायी या कार्यपालिका शक्ति से पृथक् न किया जाय तो स्वतन्त्रता की स्थापना नहीं हो सकती। यदि न्यायिक शक्ति को विधायी शक्ति के साथ मिला दिया जाय तो प्रजा के जीवन व स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार होना पड़ेगा क्योंकि ऐसी स्थिति में न्यायाधीश ही विधि निर्माता होगा। यदि न्यायिक शक्ति को कार्यपालिका शक्ति के साथ मिला दिया जाय तो न्यायाधीश का व्यवहार हिंसायुक्त एवं अत्याचारी हो सकता है। यदि एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में, चाहे वह अभिजात वर्ग या सर्वसाधारण जनता में से ही क्यों न हो, तीनों शक्तियों अर्थात् विधि-निर्माण, सार्वजनिक प्रस्तावों का क्रियान्वयन एवं शक्तियों के विवादों का निपटारा करने के कार्य केन्द्रित कर दिये जायें तो प्रत्येक चीज का अन्त निश्चित है।'

ब्लैकस्टोन ने अपनी रचना **"इगलैण्ड के कानून पर टीकायें"** में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसकी धारणा है कि "जब तक विधि निर्माण करने और उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह को प्राप्त होता है तब तक सार्वजनिक स्वाधीनता नहीं रह सकती।"

हैमिल्टन और मेडिसन ने **"द फेडरेलिस्ट"** में कहा है कि "विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक शक्ति को एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के हाथों में एकत्र करने को अत्याचार की संज्ञा दी जानी चाहिए भले ही वह व्यक्ति या व्यक्ति समूह वंशानुगत आधार पर नियुक्त हो या मनोनीत हो या जनता द्वारा निर्वाचित हो।"

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रभाव—शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यापक प्रभाव रहा है। **मैसाच्यूसेट्स** के संविधान में लिखा हुआ है कि "इस राज्य में व्यवस्थापिका कभी भी न तो कार्यपालिका एवं न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करेगी और न ही न्यायपालिका विधायी एवं कार्यपालिका शक्ति का या उनमें से किसी एक का प्रयोग करेगी ताकि शासन व्यक्तियों की स्वेच्छा पर निर्भर न होकर विधि पर आधारित हो।" अर्थात् **विधि का शासन होगा, व्यक्तियों का नहीं।** 1789 में **फ्राँसीसी क्रान्ति** के नेताओं ने जिस संविधान का निर्माण किया था उसका आधार भी यह धारणा थी कि "**जहाँ शक्तियों का पृथक्करण नहीं होता, वहां कोई संविधान नहीं होता।**"

अमरीकी संविधान के निर्माताओं पर माण्टेस्क्यू के विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ा। यद्यपि अमरीकी संविधान में कहीं भी शक्ति पृथक्करण शब्द का प्रयोग नहीं किया गया परन्तु यह सिद्धान्त उसमें व्याप्त है। **हरमन फाइनर** ने कहा है कि "अमरीकी संविधान निर्माताओं ने जानबूझकर विस्तृत रूप से शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाया है और आज विश्व में इस सिद्धान्त पर चलने वाला यह संविधान सबसे महत्त्वपूर्ण लेख है।" अमरीकी संविधान की **धारा 1** सारी विधायी शक्ति कांग्रेस को देती है; **धारा 2** सारी कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति को देती है और **धारा 3** सारी न्यायिक शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को देती है।

मूल्यांकन—शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की यह कहकर आलोचना की जाती है कि पूर्ण शक्ति पृथक्करण न तो सम्भव है और न व्यावहारिक। यह अनुपयुक्त, अपर्याप्त, अवांछनीय और भ्रमपूर्ण है। **हरमन फाइनर** के अनुसार, "शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त शासन को कभी प्रलाप की ओर और कभी बेहोशी की ओर धकेलता है।"

पूर्ण शक्ति पृथक्करण निम्न कारणों से अव्यावहारिक और अवांछनीय है—

1. शासन सावयव एकता है—शासन सावयव एकता है। इसकी कुशलता शासनांगों की पारस्परिक सहिष्णुता और सहयोग पर निर्भर करती है। यदि शासनांगों को पानी की नालियों की भांति पूर्ण पृथक् कर दिया जाये तो शासन में गतिरोध उत्पन्न हो जायेगा और आधुनिक समाज-सेवी राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करना कठिन हो जायेगा। जैसाकि **फाइनर** ने लिखा है कि पूर्ण पृथक्करण "शासन को निद्रित एवं ऐंठने वाली अवस्था में डाल देता है।"

2. स्वतन्त्रता सतत् जागरूकता की मांग करती है—माण्टेस्क्यू की यह धारणा अर्द्ध सत्य है कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता शक्ति पृथक्करण या अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त पर निर्भर करती है। स्वतन्त्रता लोगों की सतत् जागरूकता पर निर्भर करती है।" जैसाकि **वायरन** ने कहा है कि "सतत् जागरूकता ... है।" यदि नागरिक उदासीन, रूढ़िवादी और डरपोक हैं त

कोई भी संविधान या सिद्धान्त उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता। यदि नागरिक निडर, जागरूक और साहसी हैं तो निरंकुश शासन भी उनकी स्वतन्त्रताओं का हनन नहीं कर सकता। पेरिक्लीज ने ठीक कहा है कि "साहस स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है।"

3. शासनांगों की समानता का विचार भ्रामक है—शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की यह मान्यता भ्रामक है कि शासन के तीनों अंग समान हैं। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों से अधिक शक्तिशाली होती है। उसके पास शासन के अन्य अंगों को नियन्त्रित करने की शक्ति होती है। प्रथम, व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है, अतः जनमत इसमें प्रतिबिम्बित होता है। द्वितीय, व्यवस्थापिका वित्त के नियन्त्रण द्वारा अन्य अंगों को नियन्त्रित करती है। तृतीय, व्यवस्थापिका द्वारा कार्य करने पर ही अर्थात् विधि निर्माण होने पर ही कार्यपालिका उन्हें लागू करती है और न्यायपालिका उन्हें विशिष्ट विवादों में लागू करती है।

4. अन्तर्निहित बुराइयां—यदि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को पूर्णतः लागू कर दिया जाये तो इससे अनेक भयंकर बुराइयां पैदा हो सकती हैं। उदाहरणतः यदि प्रतिनिधि सिद्धान्त को न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए लागू किया जाय तो जिन पदों के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है वे सार्वजनिक अपील की दया के पात्र बन जायेंगे। इससे न्याय प्रशासन में भ्रष्टाचार और दलीय भावनायें व्याप्त होंगी और प्रशासन में गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। न्यायाधीश न्याय या औचित्य की भावना के अनुचर होने के स्थान पर अपने निर्वाचकों के अनुचर बन जायेंगे। यह एक खतरनाक स्थिति है।

5. पूर्ण पृथक्करण कहीं नहीं अपनाया गया—शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को पूर्णतः कहीं भी लागू नहीं किया गया। अमरीकी संविधान में इसे अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त के साथ स्वीकार किया गया है। वहां शासन का प्रत्येक अंग शासन के दूसरे अंगों की शक्तियों में साझेदार है। उदाहरणतः विधायी शक्तियां कांग्रेस के पास हैं परन्तु विधियां तभी लागू होती हैं जब राष्ट्रपति उन पर हस्ताक्षर कर उन्हें स्वीकार कर लेता है। राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित विधियों पर अपने "जेबी निषेधाधिकार" और "निलम्बित विशेषाधिकार" का प्रयोग कर सकता है। दूसरी ओर, नियुक्तियां एवं सन्धियां करना राष्ट्रपति का अधिकार है परन्तु उन्हें लागू होने के लिए सीनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। इसी तरह न्यायिक शक्ति सर्वोच्च न्यायालय के पास है, परन्तु न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट के अनुसमर्थन से करता है और कांग्रेस न्यायाधीशों के लिए वेतन तथा न्यायालय के अन्य खर्चों के लिए धन की अनुमति देती है।

ब्रिटेन में भी शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त विद्यमान नहीं है। वस्तुतः ससदीय शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः वहां शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त विद्यमान नहीं होता। ब्रिटेन में लार्ड

चाँसलर की स्थिति शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की उल्लंघना है। लार्ड चांसलर एक ही समय पर मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है, लार्ड सभा का अध्यक्ष होता है और प्रिवी काउन्सिल की अध्यक्षता करता है।

साम्यवादी देशों में, जैसाकि सोवियत संघ में, शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता। वहां सारा प्रशासनिक ढांचा साम्यवादी दल के नियन्त्रण में रहता है।

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को आधुनिक चुनौतियां

1. शासन का त्रिवर्गीय विभाजन अपूर्ण हैं—आधुनिक लेखक शासन के त्रिवर्गीय विभाजन को, जिस पर शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त आधारित है, स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि शासन के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका अंगों के अतिरिक्त निर्वाचक मण्डल और नौकरशाही जैसे अंग भी विद्यमान हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उदाहरणतः **प्रो. डीले** ने शासन के पाँच अंग बताये हैं; विचार-विमर्शात्मक, विधायी, कार्यपालक, प्रशासकीय और न्यायिक। **प्रो. विलोबी** ने निर्वाचक मण्डल को शासन के पृथक् अंग के रूप में मान्यता दी है। स्विट्ज़रलैण्ड ने जनमत संग्रह और आरम्भन की संस्थाओं ने निर्वाचक मण्डल को शासन का अंग बना दिया है।

2. शक्ति पृथक्करण के स्थान पर शक्ति संचयन की आवश्यकता—आधुनिक लेखकों की मान्यता है कि यदि प्रक्रिया में कार्यकुशलता, उद्देश्यों की एकता और योजनाबद्ध विकास वांछनीय एवं अनिवार्य है तो शक्ति पृथक्करण के स्थान पर शक्ति संचयन की आवश्यकता अधिक है। **हॉब्स, बैन्थम** और **मार्क्स** इस दृष्टिकोण के समर्थक रहे हैं। **बैन्थम** ने लिखा है कि "यदि शक्ति का प्रयोग हितकारी है तो उसका विभाजन क्यों होना चाहिए ? यदि शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है तो उसे क्यों अपनाना चाहिए ?"

3. प्रशासनिक शक्तियों में वृद्धि—आधुनिक राज्य पुलिस राज्य नहीं लोक सेवी राज्य है। इसका कार्य सुरक्षा या व्यवस्था बनाये रखना ही नहीं; यह पोषण और विकास भी करता है। जिस मात्रा में राज्यों के कार्यों में वृद्धि हुई है उसी मात्रा में प्रशासनिक शक्तियों में वृद्धि हुई है। शक्ति पृथक्करण उन कार्यों के निष्पादन में बाधक है जो अर्द्ध-विधायी, अर्द्ध-कार्यपालिका और अर्द्ध-न्यायिक शक्तियों के मिलाप की मांग करते हैं। आधुनिक प्रशासन प्रदत्त विधान और प्रशासनिक न्याय के रूप में अर्द्ध-विधायी और अर्द्ध-न्यायिक शक्तियों का प्रयोग कर रहा है। सामान्य रूप में यह विधि को लागू करता है; अध्यादेश के रूप में यह विधि का निर्माण करता है; प्रदत्त विधान के रूप में यह नियमों का निर्माण करता है और प्रशासनिक न्याय के रूप में यह विधियों की वैधता का निर्धारण करता है। नौकरशाही "न दिखने वाली सरकार" या "सरकार की चतुर्थ शाखा" बन गई है।

4. स्वतन्त्रता निडर एवं साहसी जनमत की मांग करती है-आधुनिक लेखकों की धारणा है कि यदि संस्थायें व्यक्तियों को ढाल सकती हैं तो व्यक्ति भी संस्थाओं को अपनी इच्छाओं एवं भावनाओं के अनुकूल ढाल सकते हैं। अतः स्वतन्त्रता के लिए शासनांगों के औपचारिक पृथक्करण की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि प्रबुद्ध एवं जागरूक जनमत तथा निडर एवं साहसी नागरिकों की आवश्यकता है। यदि नागरिक जागरूक और साहसी हैं तो कोई भी शासन उनकी स्वतन्त्रताओं से खिलवाड़ नहीं कर सकता।

5. एकात्मक नेतृत्व—आधुनिक शासन की आवश्यकतायें और बाह्य परिस्थितियां विभाजित नेतृत्व की नहीं बल्कि एकात्मक नेतृत्व की मांग करती हैं। यही कारण है कि जिन राज्यों में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त विद्यमान है या जहाँ संघीय व्यवस्था है वहां भी शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। आज विकेन्द्रीकरण निम्न स्तरों पर ही अच्छा माना जाता है, उच्च स्तरों पर केन्द्रीकरण को स्वीकार किया जाता है।

6. दलीय व्यवस्था—दलीय व्यवस्था शक्ति पृथक्करण की नहीं शक्ति संचयन की मांग करती है। निर्वाचनों में जनमत का समर्थन प्राप्त करने के बाद दल केवल व्यवस्थापिका पर ही नियन्त्रण नहीं चाहते बल्कि कार्यपालिका और कुछ सीमा तक न्यायपालिका पर भी नियन्त्रण चाहते हैं ताकि जिन नीतियों या उद्देश्यों के लिए निर्वाचक मण्डल ने उन्हें समर्थन दिया है वे उन्हें प्राप्त कर सकें। दलीय व्यवस्था के विकास ने शक्ति पृथक्करण के महत्त्व को समाप्त कर दिया है। **रावर्ट रीनऊ** ने कहा है कि "जैसे-जैसे सर्वोच्च कार्यपालिका और सर्वोच्च दलीय नेता के दायित्वों तथा स्तर का विलीनीकरण होता जा रहा है एकाकी शक्ति पृथक्करण का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता।" दबाव समूहों के प्रभाव ने भी शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को शिथिल बना दिया है।

7. योजनाएं—राष्ट्रीय विकास की योजनाओं ने सारे शासन को एक कड़ी में पिरो दिया है। आज यह जानना कठिन है कि कौन-सा कार्य किसका है। योजनाओं की सफल कार्यान्विति शासनांगों में पृथक्करण की मांग नहीं करती, बल्कि उनमें निरन्तर सहयोग और पारस्परिक विश्वास की मांग करती है।

8. व्यवहारवादी दृष्टिकोण—आधुनिक व्यवहारवादी लेखक शासन के किसी अंग के कोई विशेष कार्य नहीं समझते। उनकी धारणा है कि प्रत्येक राजनीतिक इकाई अनेक कार्यों को करती है। उनका आगत-निर्गत विश्लेषण इसी बात को अभिव्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त वे संस्थाओं के अध्ययन के स्थान पर मानव व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं। वे अनन्यता पर नहीं, समग्रता पर बल देते हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त निरर्थक नहीं। इसका आज भी महत्त्व है। यह निरंकुशतावाद के विरुद्ध भले ही आंशिक रूप से आश्वासन देता हो, परन्तु इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि शक्तियों का

केन्द्रीकरण जितना कम होगा, शक्ति के दुरुपयोग के अवसर उतने ही कम होंगे और नागरिक स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित रहने की उतनी ही सम्भावना होगी।

अवरोध एवं सन्तुलन का सिद्धान्त

शक्ति पृथक्करण का एक उप सिद्धान्त अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि पूर्ण या निरपेक्ष शक्ति पृथक्करण शासन संचालन के कार्य को असम्भव बना देता है। अतः शासन में सन्तुलन बनाये रखने के लिए ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता है जो शासनांगों की स्वेच्छाचारिता और शक्ति के दुरुपयोग को रोक सके और उनमें सन्तुलन बनाये रख सके। अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त शासन के प्रत्येक अंग को दूसरे अंगों की शक्तियों में साझेदार बनाता है, शक्ति के प्रयोग को सीमित एवं नियन्त्रित करता है, शक्ति के दुरुपयोग एवं शासनांगों की स्वेच्छाचारिता को रोकता है तथा शासन में सन्तुलन बनाये रखने का काम करता है।

अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि पोलिबियस और सिसरो। रोमन गणराज्य की श्रेष्ठता अवरोध और सन्तुलन के सिद्धांत में थी। माण्टेस्क्यू और ब्लैकस्टोन के सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त निहित है। वर्तमान समय में यह 'सीमित शासन' की धारणा में निहित है। जहाँ कहीं शासन सीमित शक्तियों का उपयोग करता है वहां अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त विद्यमान है। आज की प्रतिनिधि संस्थाओं पर लिखित एवं अलिखित संविधान की सीमाएँ होती हैं। जहाँ द्वि-सदनात्मक प्रणाली है वहाँ दोनों सदन एक-दूसरे को सन्तुलित करते हैं; स्वतन्त्र न्यायपालिका शासन में सन्तुलन स्थापित करने में सहायक है। जनमत संग्रह और आरम्भन के रूप में निर्वाचक मण्डल स्वयं सन्तुलन का कार्य करता है। प्रबुद्ध जनमत और जागरूक एवं साहसी नागरिक एवं स्वतन्त्र प्रेस स्वयं में एक व्यापक सन्तुलन है। अमरीकी संविधान में भी शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त के साथ स्वीकार किया गया है।

अवरोध और सन्तुलन सिद्धान्त के प्रमुख उदाहरण निम्न हैं—

1. अमरीकी संविधान सारी विधायी शक्ति कांग्रेस को प्रदान करता है परन्तु कांग्रेस द्वारा निर्मित विधियों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति अनिवार्य है। राष्ट्रपति विधेयकों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। उसके पास "जेबी" और "निलम्बित" दो प्रकार के निषेधाधिकार हैं। परन्तु यदि कांग्रेस राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत किसी विधेयक को पुनः दो-तिहाई बहुमत से पारित कर देती है तो फिर वही विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना ही कानून बन जाता है।

2. अमरीकी संविधान सारी कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान करता है, परन्तु महत्त्वपूर्ण पदों पर राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों और दूसरे देशों से की गयी सन्धियों पर सीनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है।

3. राष्ट्रपति सेनाओं का सर्वोच्च कमाण्डर है, परन्तु उसके पास युद्ध की घोषणा करने का अधिकार नहीं। यह अधिकार कांग्रेस का है। यद्यपि राष्ट्रपति ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है जहाँ युद्ध करना अनिवार्य हो जाये।

4. संविधान अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय को कार्यपालिका और कांग्रेस से स्वतन्त्र बनाता है, परन्तु न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ सीनेट के अनुसमर्थन पर राष्ट्रपति करता है और कांग्रेस न्यायाधीशों के वेतन तथा न्यायालय के खर्च निर्धारित करती है। कांग्रेस राष्ट्रपति सहित न्यायाधीशों पर महाभियोग लगा सकती है। दूसरी ओर, न्यायपालिका कार्यपालिका आज्ञप्तियों और कांग्रेस के कानूनों को अवैध घोषित कर सकती है अर्थात् उसे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार है।

5. कांग्रेस के दोनों सदन एक-दूसरे को सन्तुलित करते हैं। प्रतिनिधि सभा द्वारा पारित वित्तीय विधेयकों में सीनेट शीर्षक को छोड़कर गम्भीर परिवर्तन कर सकती है। सीनेट प्रतिनिधि सदन द्वारा लगाये गये महाभियोग के आरोपों की जाँच करती है।

ब्रिटेन में, जहाँ शक्तियों का औपचारिक पृथक्करण नहीं किया गया है वहाँ भी अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है। जैसाकि **कोरी और अब्राहम** ने कहा है कि "यद्यपि ब्रिटेन में शक्तियों का औपचारिक पृथक्करण नहीं है तथापि यह कहना गलत होगा कि शासन के अंग एक-दूसरे पर कोई अंकुश नहीं रखते। लोकसेवा के पदाधिकारी कभी-कभी उन कार्यों को करने में कठिनाई अनुभव करते हैं जो संसद उनसे कराना चाहती है। न्यायालय भी बहुधा कानून की ऐसी व्याख्या करते हैं जो संसद के इरादों और कार्यपालिका की इच्छाओं या आशाओं से भिन्न होते हैं। कभी-कभी (दलीय) बहुमत भी संसद में मन्त्रियों को समर्थन देने में उदासीन रहता है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यदि संसद वास्तव में कोई निश्चय कर ले तो उसके मार्ग को कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता।"[1]

समीक्षा प्रश्न

1. माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। Raj. (1979)
2. सिद्ध कीजिए कि शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त न तो व्यावहारिक है और न वांछनीय है। (Raj. 1981)
3. शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1986)
4. शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए तथा वर्तमान सन्दर्भ में उसके औचित्य का परीक्षण कीजिए। (Raj.. 1978, 83; Suppl. 1986; Ajmer 1988)

---

1. Corry & Abraham : Elements of Democratic Government, p. 104.

24

सरकार का संगठन-व्यवस्थापिका

(Organization of Government The Legislature)

सरकार राज्य का आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण होता है, उसे लागू किया जाता है तथा उसे साकार किया जाता है। जैसाकि **सोल्टाऊ** ने कहा है कि "सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं एवं साधनों से है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्त होती है तथा उसे कार्यान्वित किया जाता है।" **गार्नर** का मत है कि "सरकार वह संगठन है जिसके माध्यम से राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अपने आदेशों को जारी करता है और अपने विषयों का संचालन करता है।"

सरकार के प्रमुख अंग तीन हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्याय-पालिका।

व्यवस्थापिका

व्यवस्थापिका सरकार के तीनों अंगों में सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका कारण यह है कि यह आधुनिक समय में जनता का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें जनमत प्रतिबिम्बित होता है। इसके द्वारा निर्मित विधियों में राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है और उसकी सम्प्रभुता की झलक मिलती है। विधियों के निर्मित होने पर कार्यपालिका उन्हें कार्यान्वित कर सकती है और न्यायपालिका उन्हें विशिष्ट मुकदमों में लागू कर सकती है। इस तरह व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्यों को मूल आधार प्रदान करती है।

व्यवस्थापिका को भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। उदाहरणत: ब्रिटेन, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में इसे संसद कहा जाता है; अमरीका में इसे कांग्रेस, सोवियत संघ में इसे सर्वोच्च सोवियत, जापान में इसे डाइट, फ्रांस में इसे राष्ट्रीय सभा और स्विट्जरलैण्ड में इसे संघीय सभा कहा जाता है।

व्यवस्थापिका का विकास कब हुआ इसमें लेखकों में मतभेद हैं। आधुनिक प्रतिनिधि सभाओं की भांति प्राचीन समय में सम्भवतः कोई विधि निर्मात्री सभा नहीं थी। माण्टेस्क्यू का मत है कि प्राचीन लोगों को प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित व्यवस्थापिका सभाओं का ज्ञान नहीं था। गार्नर का मत है कि आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली का आरम्भ जर्मनी में प्राचीन ट्यूटन की जन-सभाओं में देखा जा सकता है जिसमें कबीले के प्रमुख भाग लेते थे।[1] प्राचीन इंगलैण्ड की विटेनगेमोट (Witenagemot) से इतिहास की प्रथम व्यवस्थापिका सभा, "संसदों की जननी" का विकास हुआ है। सन् 1265 में साइमन डी मान्टफोर्ड ने संसद की बैठक बुलाई थी और 1295 में एडवर्ड प्रथम ने आदर्श संसद को बुलाया था। धीरे-धीरे संसद ने आधुनिक प्रतिनिधि सभा का रूप धारण कर लिया।

व्यवस्थापिका के कार्य

व्यवस्थापिका के कार्य और शक्तियाँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि शासन का रूप कैसा है। यदि शासन का रूप भारत और इंगलैण्ड की भांति संसदीय प्रजातन्त्र है तो व्यवस्थापिका की शक्तियाँ व्यापक एवं विस्तृत होंगी और व्यवस्थापिका कार्यपालिका से श्रेष्ठ होगी। इस शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका कानून निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था होती है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन होती है और उसके विश्वास पर ही कार्यपालिका अपने पद पर बनी रह सकती है। यदि शासन का रूप अमरीका की भांति अध्यक्षात्मक है और वहाँ शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त विद्यमान है तो वहाँ व्यवस्थापिका की शक्तियाँ कार्यपालिका के समकक्ष होती हैं। इस शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका अपने-अपने क्षेत्र में एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं और संविधान द्वारा प्रदान की गयी शक्तियों का उपयोग करती हैं। यदि शासन का रूस साम्यवादी रूप की भांति सर्वसत्तावादी है या नाजी जर्मनी या फासिस्ट इटली की भांति अधिनायकवादी है या निरंकुश राजतान्त्रिक है तो वहाँ व्यवस्थापिका की शक्तियाँ वास्तविक नहीं होतीं। उसकी इच्छा सर्वोच्च नहीं होती। उसकी स्थिति एक 'सलाहकार समिति' से बढ़कर नहीं होती। वह कार्यपालिका की आज्ञप्तियों को केवल पंजीकृत करने के लिए विद्यमान होती है।

आधुनिक व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

1. विधि निर्माण—विधि निर्माण व्यवस्थापिका का सर्वोत्तम एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है। व्यवस्थापिका विधि का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है। व्यवस्थापिका जन इच्छा को विधि के रूप में राज्य इच्छा का रूप देती है। व्यवस्थापिका विधि में संशोधन करती है और नयी विधियों का निर्माण करती है। व्यवस्थापिका द्वारा विधि निर्माण के बाद ही कार्यपालिका उन्हें कार्यान्वित कर सकती है और न्यायपालिका उनकी व्याख्या कर उन्हें विशिष्ट

1. See Garner J. W. : Political Science and Government, 542-543

मुकदमों में लागू कर सकती है। **राबर्ट रीनऊ** ने लिखा है कि **"संसदों को विधि निर्माण के ऐसे औद्योगिक संस्थान समझना चाहिए जहाँ जनमत रूपी कच्चे माल को संविधियों; प्रस्तावों और सार्वजनिक नीतियों में परिवर्तित किया जाता है।"**[1] **विलोबी** का मत है कि व्यवस्थापिका इस बात का निर्धारण करती है कि सरकार की शक्तियों का वितरण किस प्रकार होगा अर्थात् क्या शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होगा कि केन्द्रीकरण।"

2. कार्यपालिका पर नियन्त्रण—संसदीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर प्रभावकारी नियन्त्रण होता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका के विश्वासपर्यन्त अपने पद पर बनी रह सकती है। जब यह विश्वास समाप्त हो जाता है तो कार्यपालिका को पदच्युत होना पड़ता है। संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका के निरंकुश होने की सम्भावना नहीं होती क्योंकि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका प्रश्न पूछकर, निन्दा प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, बजट में कटौती करके या सीधे अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा कार्यपालिका को नियन्त्रित करती है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में, जहाँ कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है, व्यवस्थापिका वित्त के माध्यम से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। अमरीका के राष्ट्रपति द्वारा की गई महत्त्वपूर्ण नियुक्तियों और सन्धियों पर सीनेट (कांग्रेस के उच्च सदन) के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। कांग्रेस की जाँच समितियों से तो सारा अमरीकी शासन कांपता है। **आर. एच. सोलटाऊ** ने लिखा है कि "कैबिनेट और राष्ट्रपति दोनों प्रणालियों में संसद अन्ततः सर्वोच्च होती है और राज्य कार्य के प्रत्येक विभाग में उसकी इच्छा कार्यान्वित होती है।"

3. वित्त पर नियन्त्रण—लोकतान्त्रिक राज्यों में राष्ट्रीय वित्त पर व्यवस्थापिका का पूर्ण नियन्त्रण होता है। व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना न तो एक पाई राजस्व के रूप में एकत्रित की जा सकती है और न एक पाई किसी मद पर व्यय की जा सकती है। कार्यपालिका वार्षिक वित्तीय विधेयक को व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करती है जो उसे पारित करती है। यह एक ऐसा अवसर होता है जब व्यवस्थापिका कार्यपालिका की त्रुटियों को प्रकाश में ला सकती है; उसकी निन्दा कर सकती है, बजट में कटौती कर खर्चों पर नियन्त्रण रख सकती है।

4. संविधान में संशोधन की शक्ति—अनेक देशों में व्यवस्थापिका को या तो स्वयं संशोधन करने का अधिकार होता है या संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उदाहरणतः ब्रिटेन में जहाँ संवैधानिक कानून और साधारण कानून में कोई भेद नहीं किया जाता; संसद स्वयं ही संविधान में संशोधन कर सकती है। भारत में संसद के दोनों सदन 2/3 बहुमत से संविधान

---

1. Rienow Robert : Introduction to Government, p. 383

के अधिकांश भाग को संशोधित कर सकते हैं और कुछ धाराओं में संशोधन के लिए 1/2 विधान सभाओं के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है।

5. विचार विमर्शात्मक कार्य—विधि-निर्माण और विचार-विमर्श प्रायः साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः पार्लियामेन्ट शब्द की उत्पत्ति ऐसे फ्रेन्च शब्द से हुई है (पारले) जिसका अर्थ है "विचार के लिए सभा।" इस तरह संसद विचार-विमर्श करने वाली निकाय है। आधुनिक समय में विधि-निर्माण कार्य एक व्यक्ति विशेष की इच्छा मात्र नहीं। संसद के सदस्य विधेयकों एवं सार्वजनिक समस्याओं पर अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। अमरीकी सीनेट में फिलिबस्टर (Filibuster) की प्रथा सीनेट के सदस्यों को भाषण की अत्यधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है।

व्यवस्थापिका वह स्थल है जहां सर्वसाधारण की शिकायतों को प्रस्तुत किया जाता है तथा उन्हें दूर कराने का प्रयास किया जाता है। **संसद को "शिकायतों की राष्ट्रीय समिति", "जनमत की रंगमंच" और "मतों की कांग्रेस" कहा जाता है। एम. स्टेवर्ट** ने लिखा है कि 'संसद के असाधारण गुप्त सत्रों को छोड़कर जो प्रायः युद्ध काल में ही होते हैं, उसकी सारी कार्यवाही खुले में होती है। जब कोई विषय संसद के समक्ष आता है और जब कोई विधेयक भिन्न-भिन्न चरणों से गुजरता है तो जनमत प्रेस और रेडियो, राजनीतिक दलों, व्यक्तियों, व्यवसायों, औद्योगिक और अन्य संगठनों द्वारा लिखे पत्रों और संसद सदस्यों से हुई मुलाकातों के माध्यम से अभिव्यक्त होता रहता है।

6. न्यायिक कार्य—अनेक प्रजातान्त्रिक देशों में व्यवस्थापिका न्यायिक कार्य भी करती है। उदाहरणतः ब्रिटिश लार्ड सभा अपील के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में कार्य करती है; अमरीकी सीनेट राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, न्यायाधीशों तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों पर लगाये गये महाभियोगों की जाँच करती है; भारत में संसद का कोई भी सदन महाभियोग के आरोपों की जाँच कर सकता है; फ्रांस में राष्ट्रपति एवं किसी मन्त्री पर महाभियोग लगाये जाने पर गणराज्य परिषद् न्यायालय का कार्य करती है।

7. निर्वाचन सम्बन्धी कार्य (Electoral Functions)—अनेक प्रजातान्त्रिक देशों में व्यवस्थापिका उच्च पदाधिकारियों को निर्वाचित करती है। उदाहरणतः भारत में संसद के दोनों सदनों को निर्वाचित सदस्य तथा राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं; अमरीका में यदि राष्ट्रपति पद के लिए किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो प्रतिनिधि सदन के प्रथम तीन उम्मीदवारों में से एक को राष्ट्रपति निर्वाचित करती है; स्विट्जरलैंड में संघीय सभा संघीय परिषद् के सदस्यों और संघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है; सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और प्रॉक्यूरेटर जनरल का निर्वाचन करती है।

8 जांच आयोग एवं समितियाँ—प्रशासन की त्रुटियों और घोटालों का पता लगाने के लिए व्यवस्थापिका अनेक प्रकार के जांच आयोगों और समितियों को नियुक्त कर सकती है। उदाहरणतः अमरीकी कांग्रेस की जांच समितियों से सारा अमरीकी प्रशासन कांपता है।

9. नियामक कार्य—व्यवस्थापिका एक प्रकार से प्रशासन की नियामक है। आय के साधनों पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होता है। अतः यह राजकीय पदों के निर्माण एवं नवीन राजकीय सेवाओं की स्थापना के माध्यम से शासन के अन्य अवयवों की रचना एवं उनके कार्यों पर प्रकाश डाल सकती है।

संक्षेप में, जैसाकि डेनियल विट ने कहा है कि, **"प्रजातान्त्रिक विधानमण्डल प्रतिनिधित्व करते हैं, कानून बनाते हैं, कार्यपालिका का परीक्षण करते हैं, जनता को शिक्षित करते हैं और राजनीतिक नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण भूमि का काम करते हैं।"**

व्यवस्थापिका का गठन अथवा एक-सदनात्मक एवं द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका

व्यवस्थापिका के गठन के सम्बन्ध में लेखकों में एकमत नहीं पाया जाता। जहाँ बेन्जामिन फ्रेंकलिन, एबी सेयीज, जान एडम्स, जर्मी बैन्थम, लेमरटाइन, तुर्गो आदि लेखक एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में हैं वहाँ सर हेनरी मेन, सिजविक, फ्रान्सिस लाइबर, लेकी, लार्ड ब्राइस, हरमन फाइनर, चान्सलर केन्ट, जे. एस. मिल, न्यायमूर्ति स्टोरी आदि लेखक द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में हैं।

एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थकों का कहना है कि जन इच्छा एक होती है अतः दो सदनों की स्थापना द्वारा उसकी एकता को नष्ट नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विश्व में दो सदनों की रचना, अमरीका के सीनेट को छोड़कर, इस तरह की गई है कि वे प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों की उल्लंघना करते हैं। ये प्रायः शक्तिहीन सदन होते हैं। इनका कहना है कि आधुनिक समय में कोई भी विधेयक बिना विचार-विमर्श के पारित नहीं होता। अतः यह कथन मिथ्या है कि विधेयक जल्दबाजी में या बिना विचार-विमर्श के पारित होते हैं। एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थकों का कहना है कि आज विश्व के अनेक देशों में एक सदनात्मक व्यवस्था पाई जाती है। उदाहरणतः फिनलैण्ड, लेटविया, एसथोनिया, बल्गेरिया, कोस्टारिका, हौन्डुरास, सेलवेडोर, स्विट्जरलैण्ड के केन्टनों और भारतीय संघ के अनेक एककों की विधान सभायें एक सदनात्मक हैं।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थकों का कहना है कि एक सदन की निरंकुशता से छुटकारा पाने, विधेयकों पर पुनर्विचार करने, एक सदन के कार्यभार को हल्का करने, योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं को प्राप्त करने, अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने और संघ राज्य में एककों को संघीय सरकार में प्रतिनिधित्व देने के लिए द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका की आवश्यकता होती है।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष और पक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिये जाते हैं—

A. द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष एवं एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिये जाते हैं—

1. जन इच्छा का विभाजन अनुचित—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोधियों की धारणा है कि एक समय पर जनता की इच्छा एक होती है दो नहीं। अतः दो सदनों की स्थापना करके उस जन इच्छा का विरोध नहीं करना चाहिए। एक सदन में जहां जन इच्छा का आदर होगा वहां एकता की भावना बनी रहेगी। जैसाकि **एबी सेयीज ने कहा है कि "कानून जनता की इच्छा है और जनता एक ही समय में एक ही विषय पर दो विभिन्न इच्छायें नहीं रख सकती।"** द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका अनावश्यक विरोध, संघर्ष और विभाजन को जन्म देती है। जैसाकि **एबी सेयीज** ने कहा है कि, **"यदि उच्च सदन प्रतिनिधि सदन से सहमत है तो वह अनावश्यक है और यदि असहमत है तो वह शरारतपूर्ण है।"** लेमरटाइन ने भी लिखा है कि "द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका प्रभुता को विभक्त करके एकता के सिद्धान्त को नष्ट कर देती है।" **बेन्जामिन फ्रेंकलिन** ने "दो सदनों में विभक्त व्यवस्थापिका को ऐसी गाड़ी के समान माना है जिसमें एक घोडा आगे और दूसरा पीछे से विपरीत दिशा में खींच रहा हो।"

2. विधेयक जल्दबाजी में नहीं सोच-विचार कर पारित होते हैं—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोधियों का मत है कि यह कहना कि निम्न सदन विधेयकों को उतावलेपन में या जल्दबाजी में या बिना विचार-विमर्श के पारित कर देता है, मिथ्या है क्योंकि आधुनिक समय में विधेयक शून्य में पारित नहीं होते और न ही ये एक व्यक्ति की इच्छा मात्र होते हैं। संसद की कार्यवाही खुले में होती है और रेडियो प्रसारणों, पत्र-पत्रिकाओं, राजनीतिक दलों तथा अन्य व्यावसायिक संगठनों द्वारा अभिव्यक्त किये गये विचारों से प्रभावित होती है। विधेयकों पर सांसद विचार-विमर्श करते हैं और सदन की समितियां उनकी अच्छी तरह छान-बीन कर अपनी रिपोर्ट देती हैं। अतः द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका आवश्यक है क्योंकि उसका कार्य समितियों द्वारा भली-भाँति किया जा सकता है।

3. शक्तिहीन उच्च सदन—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोधियों का कहना है कि उच्च सदन निम्न सदन की स्वेच्छाचारिता या निरंकुशता से सुरक्षा नहीं करता। उनका कहना है कि विश्व के अधिकांश उच्च सदन, अमरीकी सीनेट को छोड़कर, प्रायः शक्तिहीन हैं। वे निम्न सदन की निरंकुशता को रोकने में असमर्थ हैं। उदाहरणतः ब्रिटिश लार्ड सभा वित्तीय विधेयक को केवल एक माह तक देरी कर सकती है। उसके द्वारा वित्त विधेयक में किये गये संशोधनों को स्वीकार या अस्वीकार करना कॉमन सभा पर निर्भर करता है। साधारण विधेयकों में लार्ड

सभा अधिक से अधिक एक वर्ष तक देर कर सकती है। भारत में भी राज्यसभा वित्त विधेयक में केवल 14 दिन की देरी कर सकती है। यद्यपि साधारण विधेयकों में राज्यसभा को लोकसभा के समान शक्तियाँ प्राप्त हैं, परन्तु दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में लोकसभा की विजय निश्चित होती है क्योंकि उसके सदस्यों की संख्या राज्यसभा के सदस्यों की संख्या से दुगुनी से भी अधिक है।

4. संघीय राज्यों के लिए आवश्यक – प्रायः कहा जाता है कि संघ राज्य में एककों के हितों की रक्षा के लिए उच्च सदन की आवश्यकता होती है। वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। उच्च सदन के सदस्य दलीय आधार पर नियुक्त या मनोनीत या निर्वाचित किये जाते हैं। उन पर दलीय संगठन का नियन्त्रण रहता है। वे एककों के हितों की रक्षा करने के स्थान पर दलीय दृष्टिकोण से विधेयकों का समर्थन या विरोध करते हैं। उदाहरणतः भारत में संसद द्वारा पारित 42वाँ संवैधानिक संशोधन एककों की स्वायत्तता पर सीधा प्रहार करता है फिर भी राज्य सभा के सदस्यों ने एककों के हितों की उपेक्षा करते हुए कांग्रेस दल के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए, उसे पारित कर दिया।

5. प्रतिगामी उच्च सदन—उच्च सदन प्रायः रूढ़िवादी, अनुदारवादी एवं प्रतिगामी होते हैं। वे निम्न सदन की प्रगतिशील नीतियों का विरोध करते हैं। **प्रो. ऑग** ने ब्रिटिश लार्ड सभा को **"राजनीतिक रूप में समय के विपरीत संस्था"** कहा है। लार्ड सभा को **"धनिकों का सामान्य गढ़"**, **"निहित स्वार्थों का गढ़"**, **"धन एवं विशेषाधिकारों का दुर्ग"** कहकर निन्दित किया गया है। उच्च सदन के अप्रजातान्त्रिक एवं अनुदारवादी होने का मूल कारण यह है कि उसकी रचना या तो लार्ड सभा की भाँति वंशानुगत होती है या फ्रेंच सीनेट की भाँति अप्रत्यक्ष रूप से होती है या भारतीय राज्य सभा की भाँति अप्रत्यक्ष निर्वाचन और मनोनयन के आधार पर होती है।

6. अनावश्यक खर्च – विरोधियों की धारणा है कि जब उच्च सदन कोई उपयोगी कार्य नहीं करता, जब वह निम्न सदन की इच्छा में बाधा प्रस्तुत करने में असमर्थ है और उसके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों को विशेषज्ञों की समितियों द्वारा भली प्रकार किया जा सकता है तो द्वितीय सदन की रचना कर उस पर खर्च करना अनावश्यक एवं अनुपयुक्त है। निर्धन देशों में यह राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार है।

B. द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष एवं एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिये जाते हैं—

1. सर्वव्यापी व्यवस्था—विश्व के अधिकांश देशों में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका पाई जाती है। यह तत्त्व इसके गुण और उपयोगिता को प्रकट करता है। जैसाकि लार्ड ब्राइस ने कहा है कि "**बड़े राज्यों में एकसदनीय व्यवस्थापिका**

अपेक्षाकृत कम पायी जाती है और यदि होती भी है तो वह स्थायी नहीं होती।" सी. एफ. स्ट्रांग का मत है कि 'द्वि-सदनात्मकता आज अत्यधिक महत्त्वपूर्ण, राज्यों का लक्षण है।"[1] उदाहरणतः ब्रिटेन में लार्ड सभा और कॉमन सभा के रूप में, अमरीका में सीनेट और प्रतिनिधि सदन के रूप में, सोवियत संघ में राष्ट्रीयताओं की सोवियत और संघ सोवियत के रूप में और भारत में राज्यसभा और लोकसभा के रूप में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका है।

2. जल्दबाजी में पारित किये गये कानूनों में देरी—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका निम्न सदन द्वारा जल्दबाजी में, बिना पूर्ण विचार-विमर्श और विवेक के पारित किये गये कानूनों में देरी करती है जिससे उन पर पुनर्विचार का अवसर मिल जाता है और कानून में रह गई त्रुटियों को दूर किया जा सकता है। निम्न सदन प्रायः आवेशयुक्त और उत्तेजनापूर्ण होता है और कभी-कभी तो वह अधीर, जल्दबाज और प्रमादयुक्त भी होता है। उच्च सदन देरी करके निम्न सदन की इन प्रवृत्तियों को रोकने का प्रयास करता है। **ब्लंशली** ने द्वि-सदनात्मक व्यवस्था की यह कहकर प्रशंसा की है कि **"चार आँखें दो आँखों की तुलना में अधिक स्पष्टता से देखती हैं, विशेषकर उस समय जब किसी विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है।"**

3. एक सदन की निरंकुशता पर रोक—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका निम्न सदन की निरंकुशता पर रोक लगाती है। यदि विधि निर्माण की सारी शक्ति को एक सदन में निहित कर दिया जाय तो वह उसका प्रयोग मनमाने ढंग से करने लगेगा। जैसाकि **लेकी** ने कहा है कि "शासन के समस्त रूपों में जिनकी उत्पत्ति मानव समाज में सम्भव है, मैं एकाकी सर्वशक्तिशाली प्रजातन्त्रात्मक सदन के शासन से निकृष्ट किसी शासन को नहीं जानता।" शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए उसे दो समकक्ष सदनों में विभक्त करना आवश्यक एवं वांछनीय है। **सर हेनरी मैन** ने ठीक कहा है कि **"उच्च सदन की आवश्यकता प्रतियोगी सदन के कारण नहीं बल्कि अतिरिक्त सुरक्षा के कारण है।"**

4. नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा में सहायक— जिन राज्यों में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था नहीं पाई जाती वहाँ द्वितीय सदन की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। लार्ड सभा की उपयोगिता पर बल देते हुए **ऑग और लिक** ने लिखा है कि "विशेषकर ब्रिटेन में जहाँ नागरिकों के लिखित मौलिक अधिकार नहीं, जहाँ स्विट्जरलैंड की भाँति प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की युक्तियाँ उपलब्ध नहीं, जहाँ अमरीका की भाँति न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था नहीं, जहाँ सम्प्रभु केवल नाम मात्र का अधिकारी है और जहाँ वह अपने निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं करता वहाँ संसद और मन्त्रिमण्डल की निरंकुशता पर नियन्त्रण रखने के लिए तथा

1. Strong C. F. : Modern Political Constitutions, p. 194.

राष्ट्रीय विषयों पर जनमत को जागरूक रखने के लिए एक ऐसे रक्षा कवच की आवश्यकता है जो जल्दबाजी और अविवेकपूर्ण रीति से पारित किये गये विधेयकों और नीतियों पर थोड़े समय के लिए रुकावट पैदा कर दे।

5 संघ राज्यों के लिए आवश्यक—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका में संघ के एककों के प्रतिनिधित्व देने का अवसर मिलता है। जहां संघीय सरकार का निम्न सदन सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ उच्च सदन एककों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। **हरमन फाइनर और मेरियट** ने इसी आधार पर द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का समर्थन किया है। **फाइनर** का मत है कि "व्यवस्थापिकायें दो मुख्य एवं पृथक् कारणों से द्वि–सदनात्मक हैं—(i) संघवाद और (ii) संविधान में लोकप्रिय सिद्धान्त को सीमित करने की इच्छा।

6. विशेष हितों का प्रतिनिधित्व—विशेष हितों को प्रतिनिधित्व देने के लिए भी द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका की आवश्यकता होती है। **ड्रिग्वी** ने कहा है कि **"एक श्रेष्ठ व्यवस्थापिका में एक सदन को जनता का प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और दूसरे सदन में उन विभिन्न समूहों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए जिनमें जनता विभाजित हो।"** उदाहरणतः सोवियत रूस की राष्ट्रीयताओं की सोवियत राष्ट्रीयताओं पर आधारित है; भारत में राष्ट्रपति राज्य सभा में कला, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्र से 12 व्यक्तियों को नामजद कर सकता है।

7. योग्य व्यक्तियों की सेवाओं को प्राप्त करने में सहायक—द्वितीय सदन की आवश्यकता इस कारण भी है कि जो व्यक्ति निर्वाचनों में पराजित हो जाते हैं या जो निर्वाचनों में भाग नहीं लेते उन्हें उच्च सदन में मनोनीत करके उनकी सेवाओं को प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण **ब्राइस** ने उच्च सदन को बुद्धि-जीवियों का सदन कहा है।

8. कार्यपालिका की स्वतन्त्रता—द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका में कार्यपालिका अपने आपको अधिक स्वतन्त्र समझती है। जैसाकि **गेटेल** ने लिखा है कि "विधान सभा के दोनों सदनों द्वारा एक-दूसरे को सीमित करने के प्रयासों के कारण कार्यपालिका को अपेक्षाकृत अधिक कार्य करने एवं उत्तरदायित्व को निभाने की अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।"

9. कार्य विभाजन—आधुनिक समय में राज्य का रूप लोक कल्याणकारी होने से व्यवस्थापिका को अनेक प्रकार के कानूनों का निर्माण करना पड़ता है। औद्योगिक विकास ने भी व्यवस्थापिका के कार्य भार को अत्यधिक बढ़ा दिया है। यदि व्यवस्थापिका द्वि-सदनात्मक हो तो उच्च सदन विवादास्पद प्रश्नों का समाधान ढूंढने में सहायक हो सकता है और महत्वपूर्ण विषयों को निम्न सदन के लिए छोड़ा जा सकता है। इससे निम्न सदन का कार्यभार हल्का हो जाता है और वह महत्व-पूर्ण विषयों पर अधिक समय लगा सकता है।

द्वितीय (उच्च) सदन के गठन की विधियाँ

द्वितीय सदन के गठन के बारे में लेखकों में एकमत नहीं पाया जाता। वस्तुतः देशों ने इसके गठन के बारे में किसी सामान्य विधि या सिद्धान्त को नहीं अपनाया। भिन्न-भिन्न देशों ने भिन्न-भिन्न विधियों या सिद्धान्तों के मिश्रण को अपनाया है। द्वितीय सदन के गठन के बारे में जिन विधियों या सिद्धान्तों को अपनाया गया है उनमें मुख्य निम्न हैं--

1. **वंशानुगत सिद्धान्त** (Hereditary Principle)—कुछ द्वितीय सदनों का गठन पूर्णतया या प्रधानतया वंशानुगत सिद्धान्त पर किया गया है। इस श्रेणी में ब्रिटिश लार्ड सभा आती है। इसके कुल सदस्यों का 90% भाग वंशानुगत पीयरों का है यद्यपि इसमें कुछ नामजद पीयर और कुछ निर्वाचित पीयर भी है।

2. **नामजद करने का सिद्धान्त** (Principle of Nomination)—कुछ द्वितीय सदनों का गठन पूर्णतया या प्रधानतः कार्यपालिका द्वारा नामजद किये गये लोगों द्वारा होता है। कार्यपालिका इन्हें जीवन भर के लिए अथवा थोड़े समय के लिए नामजद करती है। इस श्रेणी में मुख्यतः कनाडा सीनेट आती है। भारत की राज्यसभा में भी राष्ट्रपति कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्रों से 12 सदस्यों को नामजद कर सकता है।

3. **प्रत्यक्ष निर्वाचन का सिद्धान्त** (Principle of Direct Election)—कुछ द्वितीय सदनों को प्रत्यक्ष रीति से जनता द्वारा उसी आधार और सिद्धान्त पर चुना जाता है जिस आधार और सिद्धान्त पर निम्न सदन को चुना जाता है। इस श्रेणी में मुख्यतः अमरीका का सीनेट आता है।

4. **अप्रत्यक्ष निर्वाचन का सिद्धान्त** (Principle of Indirect Election)—कुछ द्वितीय सदनों का गठन पूर्णतया या प्रधानतया स्थानीय (राज्य) विधानसभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। इस श्रेणी में मुख्यतः भारत की राज्य सभा आती है। भारतीय राज्य सभा के अधिकांश सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से राज्य विधान सभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर होता है। 1913 से पूर्व अमरीका के सीनेट का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष रूप से राज्य विधान सभाओं द्वारा होता था।

अनेक देशों के द्वितीय सदन के गठन में उपर्युक्त एक या दो या इससे भी अधिक सिद्धान्तों को मिलाया गया है। उदाहरणतः **ब्रिटेन की लार्ड सभा** के गठन में वंशानुगत, नामजद और निर्वाचन सिद्धान्तों को मिलाया गया है। **भारत की राज्य सभा** में अप्रत्यक्ष निर्वाचन और नामजद के सिद्धान्तों को मिलाया गया है। **स्विट्जरलैण्ड की राज्य परिषद्** में प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्तों को मिलाया गया है। यहाँ राज्य परिषद् के सदस्यों को बहुसंख्यक केन्टनों में प्रत्यक्ष रीति से चुना जाता है। केवल सात केन्टनों में केन्टनों की विधान सभायें सदस्यों को अप्रत्यक्ष रीति से चुनती हैं। नार्वे का द्वितीय सदन एक अनोखा सदन

है। इसके सभी सदस्यों को निम्न सदन अपने सदस्यों में से सहयोजित (Co-opt) करता है। **पश्चिम जर्मनी** का द्वितीय सदन भी एक अनोखा सदन है। यहाँ बुन्देसराट (राज्य सभा) के सदस्य राज्य सरकारों के सदस्य होते हैं। इनके अनुपस्थित रहने पर यह अपना प्रतिनिधि भेज सकते हैं। इन स्थानापन्न प्रतिनिधियों की सूची भी प्रत्येक राज्य सरकार तैयार करती है।

भिन्न-भिन्न विधियों के गुण-दोष—द्वितीय सदन के गठन की प्रत्येक विधि में कुछ गुण या दोष पाये जाते हैं।

वंशानुगत सिद्धांत के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यह अप्रजातांत्रिक है। इसमें जनता का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के आधार पर गठित द्वितीय सदन का दृष्टिकोण अनुदारवादी और प्रतिक्रियावादी होता है। ब्रिटेन में, जहाँ इस सिद्धान्त को अपनाया गया है, इसका घोर विरोध होता र_ा है। यद्यपि अभी तक ब्रिटेन में लार्ड सभा के वंशानुगत आधार को समाप्त नहीं किया गया फिर भी उसकी शक्तियों के पर कतर दिये गये हैं। विश्व में अन्य किसी देश में द्वितीय सदन को वंशानुगत सिद्धान्त पर गठित नहीं किया गया।

नामजद सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्ति यह है कि कार्यपालिका इसका दुरुपयोग दलीय हितों के लिए कर सकती है अथवा नीतियों के विरोध का गला घोंटने के लिए उच्च सदन को अपने समर्थकों से भर सकती है। कनाडा में ठीक यही हुआ है। यहाँ मन्त्रिमण्डल ने उन्हीं लोगों को सीनेट में नामजद किया है जिन्होंने दल की अत्यधिक सेवायें की हैं अथवा जिन्होंने दलीय कोष में अत्यधिक धन दिया है। कनाडा में सीनेट की सदस्यता को एक पुरस्कार का पद मान लिया गया है जिसे दल के वयोवृद्ध सेवकों में बाँटा जाता है। **दूसरे** यह सिद्धान्त अप्रजातान्त्रिक है। इस आधार पर गठित सदन न तो जनता के प्रति उत्तरदायी होता है, न वह जनमत से प्रभावित होता है और न ही जनता इस पर विश्वास करती है। **तीसरे**, इस प्रकार का उच्च सदन एक कमजोर सदन होता है। इसे निर्जीव और बेकार सदन समझा जाता है। इन दोषों के बाद भी नामजदगी के सिद्धान्त में एक गुण भी है। प्रत्येक देश में ऐसे अनेक योग्य, अनुभवी एवं समाज सेवी लोग होते हैं जो चुनाव के दाँव-पेच में पड़ना नहीं चाहते अथवा साधनों के अभाव के कारण चुनाव हार जाते हैं। यदि नामजदगी के सिद्धांत का सही प्रयोग किया जाता है तो इसके माध्यम से राष्ट्र को योग्य, अनुभवी एवं समाजसेवी लोगों की सेवाओं का लाभ पहुँचाया जा सकता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त पर गठित द्वितीय सदन आधुनिक समय की माँग है। इस प्रकार का उच्च सदन प्रजातान्त्रिक होता है। परन्तु इसके विरुद्ध आपत्ति यह है कि यह निम्न सदन का ही रूप ग्रहण कर लेता है, यह निम्न सदन के हूबहू (Duplication) होता है। जैसाकि **लीवर** ने कहा है कि "यदि दोनों सदनों को एक ही समय में एक ही निर्वाचकों द्वारा चुना जाता है तो दोनों सदन

एक ही सदन की दो समितियाँ होंगे।" दोनों सदनों की शक्तियाँ समान होने पर उनमें संविधानिक गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक होती है।

द्वितीय सदन के गठन के बारे में लेखकों के विचार : द्वितीय सदन के गठन के बारे में लेखकों ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें मुख्य निम्न हैं—

1. लीबर का मत है कि हमें दो ऐसे सदनों की आवश्यकता है जो वास्तव में एक दूसरे से भिन्न हों : एक भावना (impulse) का प्रतिनिधित्व करता हो तो दूसरा निरन्तरता का, एक प्रगति का प्रतिनिधित्व करता हो तो दूसरा अनुदारवाद का; एक में आगे बढ़ने का उत्साह हो तो दूसरे में उसे थामने की क्षमता हो; एक में नये परिवर्तन लाने की आकांक्षा हो तो दूसरे में किसी मत पर दृढ़ रहने की इच्छा हो; एक का आकार बड़ा हो तो दूसरे का छोटा; एक निर्वाचित हो तो दूसरा नामजद अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो।

2. जॉन स्टूअर्ट मिल द्वितीय सदन में राजनीतिक अनुभव और प्रशिक्षण को अधिक महत्त्व देता है। उसका मत है कि दोनों सदनों का गठन इस प्रकार होना चाहिए कि एक में जनमत की अभिव्यक्ति हो सके और दूसरे में योग्यता और प्रतिभा की अभिव्यक्ति हो सके, जो जनसेवा द्वारा प्रमाणित हो चुकी हो। मिल का विश्वास है कि इस आधार पर गठित द्वितीय सदन एक मामूली निकाय या साधारण नियन्त्रण के रूप में कार्य नहीं करेगा बल्कि एक प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करेगा।

द्वितीय सदन के गठन की श्रेष्ठ विधि : सिजविक ने द्वितीय सदन के गठन की श्रेष्ठ विधि का सुझाव दिया है। उसका मत है कि वही विधि श्रेष्ठ विधि है **जिसमें नामजदगी और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्तों को मिलाया गया हो। उसका कहना है कि नामजदगी के माध्यम से योग्यता और अनुभव को व्यवस्थापिका में स्थान देने का अवसर मिल जाता है और अप्रत्यक्ष निर्वाचन से प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की कुछ सीमा तक पूर्ति हो जाती है।** यह संयोग ही है कि भारत की राज्य सभा के गठन में इन दोनों सिद्धान्तों को मिलाया गया है। जहाँ इसके अधिकांश सदस्यों को राज्य विधान सभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से चुना जाता है वहाँ राष्ट्रपति कला, साहित्य, विज्ञान और समाज के क्षेत्रों से 12 सदस्यों को नामजद कर सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य सभा का आकार लोक सभा की तुलना छोटा है और उसका कार्यकाल उससे लम्बा है। भारतीय राज्य सभा, लोकसभा द्वारा जल्दबाजी में पारित किये गये विधेयकों पर रोक भी लगा सकती है।

व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी

आधुनिक समय में व्यवस्थापिका की वास्तविक शक्तियों में कमी हुई है। सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका आज भी एक सर्वोच्च संस्था है; उसके पास कानून निर्माण की असीमित शक्तियाँ हैं; वह किसी भी प्रकार के कानून का निर्माण कर सकती है;

पुराने कानूनों को रद्द कर सकती है या उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती है। भारत एवं ब्रिटेन जैसे संसदात्मक शासनों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और वह उसके विश्वास पर ही अपने पद पर बनी रहती है। अमरीका जैसे अध्यक्षात्मक शासन में भी, जहाँ कार्यपालिका व्यवस्थापिका (कांग्रेस) से स्वतन्त्र होती है, व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर अनेक प्रकार के वित्तीय एवं प्रशासनिक नियन्त्रण लगा सकती है। उदाहरणतः कांग्रेस की जाँच समितियों से सारा अमरीका प्रशासन कांपता है, परन्तु इन सब तत्वों के बावजूद व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी हुई है। इसके प्रमुख कारण निम्न हैं—

1 राज्य के रूप में परिवर्तन—आधुनिक राज्य का रूप यथेच्छाचारिता या पुलिस राज्य का नहीं रहा जैसाकि अठारहवीं शताब्दी में था। आज का राज्य प्रजातान्त्रिक, समाजवादी एवं लोक कल्याणकारी राज्य है। राज्य के इस स्वरूप के कारण उसके कार्यक्षेत्र में अत्यधिक विस्तार हुआ। उसका कार्य नकारात्मक नहीं रहा बल्कि सकारात्मक और रचनात्मक हो गया है। वह आज नागरिकों की बाह्य आक्रमणों से ही रक्षा नहीं करता या आन्तरिक व्यवस्था ही नहीं करता बल्कि वह उनका पोषण और विकास भी करता है। आज का राज्य उत्पादकों और व्यापारियों से उपभोक्ता की, पूँजीपतियों से श्रमिकों की तथा बड़े-बड़े उद्योगों की प्रतिद्वन्द्विता से छोटे-छोटे उत्पादकों के हितों की रक्षा करता है। राज्य के कार्य क्षेत्र की वृद्धि ने कार्यपालिका और प्रशासन की शक्तियों में अत्यधिक विस्तार किया है। जिस मात्रा में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है उस मात्रा में व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी हुई है।

2. प्रदत्त विधान—राज्य का रूप लोक-कल्याणकारी होने से व्यवस्थापिका के कार्यभार में अत्यधिक वृद्धि हुई है। उसके पास विधेयकों पर पूर्ण विचार-विमर्श करने के लिए समय नहीं होता। आधुनिक विधि निर्माण अत्यधिक तकनीकी होता जा रहा है और व्यवस्थापिका के औसतन सदस्य के पास इस तकनीकी या विशेष ज्ञान का अभाव होता है। कानून निर्माण करते समय व्यवस्थापिका उन सब परिस्थितियों का पूर्वानुमान नहीं कर सकती जिनमें कानून को लागू करना होता है। अतः कानूनों को परिस्थितिनुकूल बनाने के लिए उसमें नम्यता की आवश्यकता होती है। विकास योजनाओं के लिए नये नये प्रयोगों की आवश्यकता होती है। व्यवस्थापिका सभी प्रकार की आपात स्थितियों का भी पूर्वानुमान नहीं कर सकती। इन सब कारणों से व्यवस्थापिका को नियमों के निर्माण का कार्य कार्यपालिका पर छोड़ना पड़ता है। परिणामस्वरूप आधुनिक व्यवस्थापिका कानूनों के मोटे रूप को ही तैयार कर पाती है और विवरण के लिए वह कार्यपालिका को संविधि नियम बनाने का अधिकार दे देती है। **कार्यपालिका द्वारा कानूनों के अन्तर्गत बनाये गये नियमों को प्रदत्त विधान, प्रशासकीय या अधीनस्थ विधान, विभागीय या**

माध्यमिक विधान कहते हैं। प्रदत्त विधान का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि लॉर्ड हेवर्ट ने इसे नवीन निरंकुशता की संज्ञा दी है। इस तरह प्रदत्त विधान की आवश्यकताओं ने व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी की है।

3. कठोर दलीय नियन्त्रण—सुदृढ़ राजनीतिक दलों के विकास और सदस्यों पर उसके कठोर अनुशासन और नियन्त्रण ने जहाँ कार्यपालिका शक्ति में वृद्धि की है वहाँ व्यवस्थापिका शक्ति में कमी की है। आधुनिक समय में निर्वाचन दलीय निर्वाचन होते हैं। चुनाव टिकट दल के सदस्यों को बाँटे जाते हैं। सदस्यों का राजनीतिक भविष्य दलों पर निर्भर करता है। अतः "स्वतन्त्र सदस्यों का युग बीत गया है।" व्यवस्थापिका के सदस्यों की स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी है। "अन्तःआत्मा की आवाज" जैसी कोई चीज नहीं रही। जैसाकि लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि **"जितना दलीय संगठन सुदृढ़ होगा, उतना प्रतिनिधियों का स्वविवेक सीमित होगा। उन्हें अपने नेतृत्व के साथ अपना मत देना पड़ता है।"**[1] दल के सचेतक सदस्यों को दलीय नीतियों का समर्थन करने के लिए चेतावनी देते रहते हैं।

4. मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ—संसदीय प्रणाली में मन्त्रिमण्डल सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है और व्यवस्थापिका उसे पदच्युत कर सकती है। परन्तु व्यवहार में जब तक मन्त्रिमण्डल की पीठ पर व्यवस्थापिका के बहुमत का हाथ है, व्यवस्थापिका उसे पदच्युत नहीं कर सकती। प्रधानमन्त्री व्यवस्थापिका को समय से पूर्व भंग करवा सकता है। मन्त्रिमण्डल के हाथों में व्यवस्थापिका को समय से पूर्व भंग कराने की यह शक्ति न केवल उसके दल के सदस्यों को नियन्त्रित रखती है बल्कि विरोधी दल के सदस्यों के "मुख पर भी ताला" लगा देती है क्योंकि कोई भी सांसद अनिश्चित भविष्य को निमन्त्रण देना नहीं चाहता।

5. कार्यपालिका की पहल कदमी—संसदीय शासन व्यवस्थाओं में कार्य को प्रारम्भ करने का अधिकार कार्यपालिका को होता है। संसद में अधिकांश विधेयक मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। जो विधेयक साधारण सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं उनके पारित होने की तभी आशा होती है जब मन्त्रिमण्डल उनका समर्थन करता है अन्यथा उनकी मृत्यु हो जाती है। दूसरे, बजट पर व्यवस्थापिका का सिद्धान्ततः नियन्त्रण होता है। परन्तु व्यवहार में उसे कार्यपालिका की देख-रेख में तैयार किया जाता है। कार्यपालिका उसे सदन में प्रस्तुत करती है। व्यवस्थापिका उसे ज्यों का त्यों पारित कर देती है। इस तरह विधान और वित्त के क्षेत्र में व्यवस्थापिका कार्यपालिका की इच्छाओं को पंजीकृत करने वाली निकाय से बढ़कर कुछ नहीं। हरमन फाइनर ने ठीक लिखा है कि **"मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रहता है, परन्तु उसको कुन्द नहीं किया जाता; इस पर धमकियाँ पड़ती है, परन्तु इसे दण्ड नहीं**

---

1. Bryce : Modern Democracies.

मिलता; इससे प्रश्न किये जाते हैं, परन्तु इस पर विश्वास नहीं किया जाता; यह राजनीतिक दृष्टिकोण से पक्षपाती है परन्तु इसमें व्यक्तिगत द्वेष नहीं होता।"

6. युद्ध का वातावरण—अणु शक्ति के विकास के कारण विश्व में आज प्राय: भय और आतंक का वातावरण है। इस भय के वातावरण ने, राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों ने, राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्याओं ने तथा कूटनीतिक सम्बन्धों की गोपनीयता ने कार्यपालिका की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि की है। आपातकाल में तो कार्यपालिका की शक्तियाँ चार गुणा बढ़ जाती हैं।

7. संवैधानिक सीमायें – लिखित संविधान व्यवस्थापिका के क्षेत्र को निर्धारित कर देते हैं, जिसका वह अतिक्रमण नहीं कर सकती। जिन देशों में संविधान लिखित न ीं होता, जैसाकि ब्रिटेन में, वहाँ ऐसी संवैधानिक परम्पराओं का विकास हो गया है कि व्यवस्थापिका उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती। जिन देशों में प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थायें विद्यमान हैं, जैसाकि स्विट्जरलैंड में, वहाँ, विधि निर्माण की अन्तिम सत्ता लोगों के हाथों में होती है। इस तरह संविधान, संवैधानिक परम्परायें एवं प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थायें व्यवस्थापिका के क्षेत्र को सीमित कर देती हैं।

8. व्यवस्थापिका की कार्यवाही के नियम—व्यवस्थापिका की कार्यवाही के नियमों ने उसके क्षेत्र को सीमित कर दिया है। उदाहरणत: सामान्य मुख बन्ध, कंगारू समापन की व्यवस्थाओं ने सदस्यों के स्वतन्त्र विचार-विमर्श पर अत्यधिक प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। अनेक बार सार्वजनिक महत्त्व के राष्ट्रीय विषयों पर भी विरोधी एवं बहुमत दल के सदस्यों से मन्त्रणा नहीं ली जाती; उनसे केवल 'मत' लिया जाता है।

9. मिश्रित कारण—ये मुख्यत: निम्न हैं—

(i) वयस्क मताधिकार के विकास ने निर्वाचन क्षेत्रों को अत्यधिक विस्तृत बना दिया है जिससे निर्वाचित प्रतिनिधि और मतदाताओं में निकट का सम्बन्ध नहीं रहता। अनेक बार प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की वास्तविक शिकायतों को भी व्यवस्थापिका में पेश करने में असमर्थ रहते हैं।

(ii) उम्मीदवारों का चयन दल करता है उन्हें निर्वाचकों पर थोप दिया जाता है। अनेक बार प्रतिनिधि उस निर्वाचन क्षेत्र का निवासी भी नहीं होता जहाँ से वह निर्वाचित होता है। परिणामस्वरूप प्रतिनिधि योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि दल के आधार पर निर्वाचित होते हैं। उनका दृष्टिकोण दलीय हो जाता है सार्वजनिक या राष्ट्रीय नहीं रहता। वे अपने निर्वाचकों की इच्छाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने में असमर्थ रहते हैं।

(iii) औसतन सदस्य का बौद्धिक स्तर प्रभावपूर्ण नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि व्यवस्थापिका के वाद-विवाद या उसमें प्रकट किये गये विचार

जनमत निर्माण में अधिक सहायक नहीं होते। जनमत निर्माण में प्रेस, सार्वजनिक मंच, नेतृत्व, सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनों, श्रमिक संगठनों और उनके नेतृत्व का जो महत्त्व है वह संसद में दिये गये वक्तव्यों या वाद-विवादों का नहीं होता।

(iv) राजनीति प्रायः व्यवसाय बन गई है। इसमें जनोत्तेजक निर्वाचित होते हैं, समाजसेवी नहीं। सार्वजनिक भावनाओं से युक्त व्यक्तियों का चयन प्रायः असम्भव है। सांसदों को वेतन देने की प्रणाली ने उनके नैतिक जीवन का पतन किया है। जो सांसद सदस्यता को जीविकोपार्जन का साधन बना लेते हैं वे अपनी स्वतन्त्रता से सौदेबाजी करने में नहीं हिचकिचाते। व्यक्तिगत एवं जातीय प्रलोभनों ने भी सदस्यों के नैतिक स्तर में कमी की है।

(v) दल-बदलुओं ने व्यवस्थापिका की प्रतिष्ठा को अत्यधिक चोट पहुँचाई है।

प्रत्यक्ष विधि निर्माण

आवश्यकता एवं उद्देश्य—आधुनिक प्रजातन्त्र अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र है। इसमें यह सम्भावना रहती है कि प्रतिनिधि किसी विषय विशेष पर जन-इच्छाओं का सही प्रतिनिधित्व न करें या जनइच्छाओं की उपेक्षा करें क्योंकि प्रतिनिधि प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का बोलबाला होता है। अतः यह सम्भव है कि प्रतिनिधि दलीय दबाव, अनुशासन या नियन्त्रण के कारण जन इच्छाओं के स्थान पर दलीय स्वार्थों और हितों की पूर्ति करें। अनेक बार दल प्रतिनिधि प्रजातन्त्र को 'उपहास' बना देते हैं और संसदीय बहुमत के आधार पर अत्याचारी ए' जन-विरोधी कानूनों का निर्माण करते हैं। अतः दलीय निरंकुशता, बहुमत के अत्याचार और प्रतिनिधियों की उदासीनता को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष विधि निर्माण की आवश्यकता महसूस की जाती है ताकि नागरिक विधियों पर निर्णय दे सकें।

प्रत्यक्ष विधि निर्माण के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(a) नागरिकों को (निर्वाचन मण्डल को) विधानमण्डल द्वारा पारित विधियों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार देना।

(b) विधानमण्डल की लुप्तियों और आचरण की त्रुटियों को दूर करना।

(c) विधानमण्डल में दलीय बहुमत के सम्भावित खतरे को दूर करना।

(d) महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विषयों पर लोक निर्णय प्राप्त करना।

(e) भ्रष्ट एवं अकुशल पदाधिकारियों को वापस बुलाना आदि।

प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थायें—प्रत्यक्ष विधि निर्माण की प्रमुख संस्थायें ये हैं—(i) जनमत संग्रह, (ii) आरम्भन, (iii) मत-संग्रह और (iv) प्रत्यावर्तन। इन संस्थाओं के अतिरिक्त अमरीका के कुछ राज्यों में, जैसाकि न्यू इंगलैण्ड में नगर सभा जैसी संस्थायें और स्विट्जरलैण्ड के अत्यधिक कम जनसंख्या वाले कैन्टनों में **लैण्डसजेमिन्दे** जैसी संस्थायें विद्यमान हैं।

(i) **जनमत संग्रह** (Referendum)—जनमत संग्रह का अर्थ है "**लोगों के पास भेजना**" अर्थात् "**लोगों की राय लेना**।" जैसाकि **जरचर** ने कहा है, "**जनमत संग्रह वह साधन है जिसके माध्यम से जनता प्रतिनिधि सभाओं के कार्यों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है**।" इस तरह जनमत संग्रह लोगों के हाथों में एक ऐसा निषेधाधिकार है जिसके प्रयोग द्वारा वे अवांछित विधि को अस्वीकार कर सकते हैं। जनमत संग्रह किसी विधेयक, किसी संवैधानिक संशोधन अथवा लोगों द्वारा आरम्भ किये गये किसी विषय या सामान्य सार्वजनिक नीति पर कराया जा सकता है।

जनमत संग्रह दो प्रकार का होता है—(i) **ऐच्छिक या वैकल्पिक जनमत-संग्रह** और (ii) **अनिवार्य जनमत संग्रह**। जब नागरिकों की कोई निश्चित संख्या (स्विट्जरलैण्ड में यह संख्या 30,000 है) किसी साधारण विधेयक पर जनमत संग्रह की माँग करती है तो इसे ऐच्छिक या वैकल्पिक जनमत संग्रह कहते हैं। अनिवार्य जनमत संग्रह का अर्थ है कि संविधान में तब तक कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जब तक उस पर लोगों की स्वीकृति प्राप्त न कर ली जाये। उदाहरणतः स्विट्जरलैण्ड में संवैधानिक संशोधन के लिए जनमत संग्रह अनिवार्य है। विश्व के कुछ अन्य देशों में भी जनमत संग्रह की व्यवस्था है, जैसाकि आस्ट्रेलिया, डेनमार्क, फ्रांस, इटली, संयुक्त राज्य अमरीका के अनेक राज्यों में। उन राज्यों ने भी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विषयों पर जनमत संग्रह का सहारा लिया है जहाँ इसकी कोई संवैधानिक व्यवस्था नहीं। उदाहरणतः इंगलैण्ड में ई. ई. सी. की सदस्यता के प्रश्न पर 1975 में जनमत संग्रह कराया गया था।

(ii) **आरम्भन** (Initiative)–आरम्भन एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से जनता वांछित विधियों का प्रस्ताव कर सकती है। जैसाकि **हैन्स हूबर** ने कहा है कि आरम्भन "मतदाताओं की एक निश्चित संख्या का ऐसा अधिकार है जिसके द्वारा वे किसी संवैधानिक संशोधन, विधि या किसी एक संवैधानिक या कानूनी अध्यादेश के प्रारूप को तैयार करने या उस पर जनता के मत की माँग का प्रस्ताव रख सकती है।" उदाहरणतः स्विट्जरलैण्ड में 50,000 मतदाता संविधान में पूर्ण या आंशिक संशोधन की माँग कर सकते हैं।

आरम्भन दो प्रकार का होता है—(i) निर्मित आरम्भन और (ii) अनिर्मित आरम्भन। निर्मित आरम्भन अच्छी तरह से लिपिबद्ध किया हुआ होता है और उस पर सीधे जनमत संग्रह करा लिया जाता है। अनिर्मित आरम्भन केवल एक आम प्रस्ताव होता है। यदि व्यवस्थापिका सहमत हो तो उस पर जनमत संग्रह कराया जाता है अन्यथा उस पर जनमत संग्रह कराने से पूर्व उसमें प्रस्तुत सिद्धान्त पर जनमत कराया जाता है और जनता की स्वीकृति मिलने पर उसे निर्मित करके उस पर फिर जनमत संग्रह कराया जाता है।

(iii) मत संग्रह (Plebiscite)—मत संग्रह वह साधन है जिसमें किसी सार्वजनिक विषय पर जनता का मत लिया जाता है। उदाहरणतः कश्मीर के भारत में विलय के प्रश्न पर कभी मत संग्रह की बात कही गयी थी। यद्यपि बाद में उसे अस्वीकार कर दिया गया। जनमत संग्रह और मत संग्रह को अनेक बार समानार्थक शब्दों में प्रयोग किया जाता है। परन्तु सी. एफ. स्ट्रांग ने इन दोनों में अन्तर को स्वीकार किया है। उसके अनुसार मत संग्रह का सम्बन्ध समाज की किसी विवादास्पद राजनीतिक समस्या से होता है और जनता उसके पक्ष या विपक्ष में मत देती है जबकि जनमत संग्रह के माध्यम से जनता विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधि या संवैधानिक संशोधन को स्वीकार या अस्वीकार करती है।

मत संग्रह का प्रयोग ऐसे लोगों द्वारा किया गया है जिन्हें प्रजातन्त्र में विश्वास तक नहीं था। उदाहरणतः नेपोलियन बोनापार्ट ने 1799 में इसका प्रयोग किया था; हिटलर ने 1933 में राष्ट्र संघ की सदस्यता त्यागने के लिए मत संग्रह का सहारा लिया था; 1938 में आस्ट्रिया के जर्मनी में मिलाने के प्रश्न पर मत संग्रह कराया गया था, परन्तु आजकल मत संग्रह का प्रयोग नहीं किया जाता। आजकल जनमत संग्रह का ही प्रयोग किया जाता है।

(iv) प्रत्यावर्तन (Recall)—प्रत्यावर्तन का अर्थ है **जन-प्रतिनिधियों या निर्वाचित पदाधिकारियों को अपने पद से वापस बुलाना।** जब जन-प्रतिनिधि या निर्वाचित पदाधिकारी अत्याचारी, भ्रष्ट या अयोग्य हो जाते हैं तो जनता की निश्चित संख्या उन्हें वापस बुला सकती है। यह प्रणाली अमरीका के कुछ राज्यों और स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैन्टनों में विद्यमान है।

संक्षेप में, प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं में जनमत संग्रह और आरम्भन की संस्थायें ही राज्यों में अधिक प्रचलित हैं। **जनमत संग्रह एक प्रकार की ढाल है जिसके माध्यम से अवांछित विधियों को रोका जाता है; आरम्भन एक ऐसा अस्त्र है जिसके प्रयोग द्वारा वांछित विधि को पारित किया जाता है।**

प्रत्यक्ष विधि निर्माण के गुण-दोष :

A. गुण (Merits)—प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं के प्रमुख गुण अग्रलिखित हैं—

1. जन-इच्छा को जानने के सर्वोत्तम साधन—जनमत संग्रह जनमत जान लेने का सर्वोत्तम साधन है। आरम्भन के साथ मिलकर यह लोक-प्रभुता को पूर्ण करता है। जैसाकि बोन्जोर ने लिखा है कि **"वे (जनमत संग्रह और आरम्भन) जन इच्छा को जानने के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं; वे राजनीतिक वातावरण के श्रेष्ठ बैरोमीटर हैं।" "वे जन आत्मा के वातायन हैं।"**

2. राजनीतिक दलों के कुप्रभाव से मुक्ति—प्रत्यक्ष विधि निर्माण के साधनों से दल-व्यवस्था के दोषों से मुक्ति मिल जाती है। बहुमत अल्पमत का दमन नहीं कर सकता और न अल्पमत बहुमत को धोखा दे सकता है। राजनीतिक दलों के कारण अनेक देशों में राजनीतिक उथल-पुथल हुए हैं, परन्तु स्विट्जरलैण्ड, जहाँ ये संस्थायें पायी जाती हैं, अत्यन्त व्यवस्थित और शान्तिपूर्ण राष्ट्र रहा है।

3. व्यवस्थापिका और जनता के मध्य निरन्तर सम्पर्क—इनके माध्यम से जनता के प्रतिनिधियों और जनता में निरन्तर सम्पर्क बना रहता है। इससे व्यवस्थापिका जन-इच्छा की उपेक्षा करने का प्रयास नहीं करती। **लार्ड ब्राइस** ने लिखा है कि "प्रत्यक्ष विधि निर्माण द्वारा विधानमण्डल आम चुनाव के अलावा अन्य अवसरों पर भी जन-सम्पर्क में आता है। कतिपय सीमाओं में जनमत संग्रह द्वारा सम्पर्क आम चुनाव के सम्पर्क की अपेक्षा अच्छा भी है क्योंकि इससे मतदाताओं को गम्भीर विषयों पर अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है और इसमें दलगत भावना का विनाशकारी प्रभाव भी नहीं रहता।"

4. राजनीतिक शिक्षा के साधन—प्रत्यक्ष विधि निर्माण के साधन जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। जैसाकि **हेन्स हूबर** ने कहा है कि **"जनमत संग्रह जनता की एकता और शिक्षा का सूत्र है।"** इनसे जनता सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी लेना शुरू कर देती है, उसमें राष्ट्र प्रेम और उत्तरदायित्व की भावनायें जागृत होती हैं। उसमें आत्मविश्वास पैदा होता है और वह जागरूक रहतो है।

5. विधियों की अनुपालना सरल—जब लोगों की विधि निर्माण में प्रत्यक्ष, महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका होती है तो उनका नैतिक मूल्य बढ़ जाता है और उनकी अनुपालना स्वाभाविक बन जाती है।

6. जिन राज्यों में कार्यपालिका अपने निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं करती, जहाँ न्यायिक पुनरावलोकन नहीं होता, वहाँ प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। इनके माध्यम से लोग विधान मण्डल की लुप्तियों और आचरण की त्रुटियों को दूर कर सकते हैं।

B दोष (Demerits)—उपर्युक्त गुणों के बाद भी प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थायें आलोचना की पात्र रही हैं। **सर हैनरी मेन, लास्की, फाइनर, एम. डब्बस, एसमीन** आदि लेखक इसके कटु आलोचक रहे हैं। वस्तुतः स्विट्जरलैण्ड और अमरीका के कुछ राज्यों को छोड़कर इनका प्रयोग कहीं नहीं किया गया। विशाल राज्यों में इनका प्रयोग कठिन है।

प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं में मुख्यतः निम्न दोष पाये जाते हैं—

1. विधान मण्डल की प्रतिष्ठा पर प्रहार—प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थायें विधानमण्डल की प्रतिष्ठा और उत्तरदायित्व की भावना पर सीधा प्रहार करती हैं। जैसाकि एम. डब्बस ने कहा है कि यदि **"जनमत संग्रह लागू किया जाय तो विधान-**

मण्डल एक परामर्शदात्री समिति मात्र बनकर रह जाती है। उसका उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है क्योंकि वह किसी बात को निश्चयात्मक ढंग से नहीं कर सकती जब अन्तिम निर्णय जनता के हाथ में होता है।" एसमीन ने भी लिखा है कि "प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का अर्थ है-ज्ञान की अज्ञान के समक्ष और उत्तरदायित्व की अनुत्तरदायित्व के समक्ष अपील।"

2. विधि निर्माण का कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता—प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं के कारण विधानमण्डल का कार्य सही ढंग से नहीं हो पाता। कभी-कभी व्यवस्थापिका प्रतिकूल विधेयकों को इस आशा से पारित कर देती है कि जनता उन्हें अस्वीकार कर देगी और कभी-कभी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विधेयकों को इसलिए पारित नहीं करती कि जनता उन्हें अस्वीकार कर देगी।

3. विधि निर्माण के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता—विधि निर्माण के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है जिसका सर्वसाधारण के पास अभाव होता है। उदाहरणतः किसी ग्वाले या साईस से इस विषय पर मत लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाये या नहीं किया जाये ?

4. प्रगतिशील विधियों के निर्माण में बाधक—प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थायें प्रगतिशील राजनीतिक एवं आर्थिक विधियों के निर्माण में बाधक हैं। इसका मूल कारण यह है कि जनता प्रायः रूढ़िवादी होती है। वह प्रगतिशील नीतियों को सहसा स्वीकार नहीं करती। फाइनर ने ठीक लिखा है कि **"अज्ञानी, अबोध प्रतिशोधी जनता ने प्रायः प्रगतिशील विधान को नष्ट कर दिया है।"**

5. राजनीतिक दलों के प्रभाव में वृद्धि—प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं में राजनीतिक दलों की आवश्यकता कम होने के स्थान पर बढ़ जाती है। उदाहरणतः दल लोगों को जनमत संग्रह में भाग लेने के लिए प्रेरित करते हैं। जनमत संग्रह में असन्तुष्ट दलों को आन्दोलन करने का अवसर मिल जाता है। वे उचित उद्देश्यों के लिए ही आन्दोलन नहीं करते बल्कि घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और बदले की भावना से भी आन्दोलन करते हैं।

6. प्रत्यक्ष विधि निर्माण में मतदाताओं का भाग प्रायः नकारात्मक होता है। जनमत संग्रह में उन्हें सिर्फ "हाँ" या "ना" में ही मत प्रकट करना होता है। लोग प्रस्तुत विधेयक को आंशिक रूप से अस्वीकार नहीं कर सकते।

7. सी. एफ. स्ट्रॉंग का मत है कि प्रत्यक्ष विधि निर्माण की संस्थाओं के कारण "कानूनों को कार्यान्वित करने में इतनी देरी हो जाती है कि समाज उन लाभों से प्रायः वंचित रह जाता है जो वे प्रदान करना चाहते हैं या वह बुराई स्थाई बनी रहती है जिसे वे दूर करना चाहते हैं।"

8. इनसे अनावश्यक खर्च बढ़ जाता है जो निर्धन जनता पर अनावश्यक बोझ होता है।

समीक्षा प्रश्न

1. आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य में व्यवस्थापिका के कार्यों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। क्या इन कार्यों से आजकल व्यवस्थापिका की भूमिका में कमी का संकेत मिलता है?
(Raj. 1979, 81, 82, 87, Suppl. 1986)
2. आधुनिक समय में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका क्यों अधिक लोकप्रिय है?
(Raj. Suppl. 1984)
3. द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के क्या गुण हैं? द्वितीय सदन के गठन की किस विधि को आप सर्वश्रेष्ठ मानते हैं? (Raj. 1981, 84)
4. द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
(Raj. 1986)

25
सरकार का संगठन – कार्यपालिका
(Organization of Government—The Executive)

कार्यपालिका

कार्यपालिका शासन का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका मुख्य कार्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधियों को लागू करना है।

कार्यपालिका शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थों में इसमें कार्यपालिका अध्यक्ष, मन्त्रिमण्डल, सिविल सेवक, सैनिक सेवायें शामिल की जाती हैं। जैसाकि गेटेल ने कहा है कि, "कार्यपालिका में वे सब कर्मचारी शामिल होते हैं जो व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के सदस्य नहीं होते एवं वे सभी अभिकरण भी शामिल होते हैं जो विधियों के रूप में अभिव्यक्त राज्य की इच्छा को लागू करते हैं।" फाइनर ने कार्यपालिका शक्ति को 'अवशिष्ट शक्ति' की संज्ञा दी है। यह वह शक्ति है जिसका प्रयोग न तो व्यवस्थापिका और न न्यायपालिका करती है। संकीर्ण अर्थों में इसमें केवल कार्यपालिका अध्यक्ष शामिल किया जाता है। उदाहरणतः अमरीकी राष्ट्रपति या भारत का राष्ट्रपति।

कुछ लेखक कार्यपालिका और प्रशासन में भेद करते हैं। उदाहरणतः विलोबी के अनुसार कार्यपालिका एक राजनीतिक अंग है। इसका मुख्य कार्य नीतियों और योजनाओं का निर्माण करना, विधियों को लागू करना तथा सैनिक एवं विदेशी सम्बन्धों का संचालन करना है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य या राजनीतिक पदाधिकारी इसके मुख्य उदाहरण हैं। ये नीति निर्धारित करते हैं। ये अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। दूसरी ओर, प्रशासन एक गैर राजनीतिक अंग है। इसका मुख्य कार्य कार्यपालिका के निर्णयों या नीतियों को लागू करना है। सिविल सेवक अर्थात् कर्मचारी इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये सेवक नीति निर्माण में भाग अवश्य लेते हैं, परन्तु निर्णय नहीं लेते। ये शासन के दैनिक कार्यक्रम की देखभाल करते हैं।

कार्यपालिका के प्रकार

कार्यपालिका मुख्यतः अग्र प्रकार की हो सकती है—

(i) **नाम मात्र एवं वास्तविक कार्यपालिका**—नाम मात्र की कार्यपालिका के पास संवैधानिक दृष्टि से शासन की सारी शक्ति होती है, परन्तु वह उसका प्रयोग स्वयं नहीं करती बल्कि मन्त्रिमण्डल करता है। उदाहरणतः ब्रिटिश सम्प्रभु और भारत का राष्ट्रपति नाम मात्र के कार्यपालिका अध्यक्ष हैं, इनकी शक्तियों का प्रयोग उत्तरदायी मन्त्री करते हैं। इंगलैंड में यह कहावत प्रचलित कि **सम्राट राज्य करता है शासन नहीं करता**, शासन तो मन्त्रिमण्डल करता है। शासन का सारा कार्य कार्यपालिका अध्यक्ष के नाम से होता है, परन्तु उसकी स्थिति **"मुकुटधारी ध्वज-मात्र"; "स्वर्णिम शून्य", "रबर की मोहर"** से बढ़कर नहीं होती।

वास्तविक कार्यपालिका की शक्तियाँ वास्तविक होती हैं। संविधान जिन शक्तियों को उसे प्रदान करता है वह उनका प्रयोग स्वयं करता है। उसके कार्य में सहायता करने के लिए कुछ सचिवों की नियुक्ति की जाती है, परन्तु उनकी स्थिति संसदात्मक प्रणाली के मन्त्रियों की भाँति नहीं होती। वे राष्ट्रपति परिवार के सदस्य मात्र होते हैं। वे केवल सेवक एवं सलाहकार होते हैं। उनका कर्त्तव्य राष्ट्रपति के निर्णयों और इच्छाओं को लागू करना होता है। सचिवों की स्थिति "कार्यालय के नौकरों" या "सैकण्ड लैफ्टिनेन्ट" की होती है। अमरीका का राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका का प्रमुख उदाहरण है।

(ii) **एकल और बहुल कार्यपालिका**—एकल कार्यपालिका में कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होती है। वह उसके प्रयोग के लिए उत्तरदायी होता है। इसके कार्य में सहायता के लिए मन्त्री या सचिव हो सकते हैं, परन्तु अन्ततः उत्तरदायित्व उसी व्यक्ति का होता है जिसके हाथों में संवैधानिक शक्ति होती है। अमरीका का राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका का श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतीय राष्ट्रपति और ब्रिटिश सम्प्रभु भी एकल कार्यपालिका के उदाहरण हैं। यहाँ मन्त्रिमण्डल का संयुक्त उत्तरदायित्व होता है।

बहुल कार्यपालिका में कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में नहीं होती बल्कि अनेक व्यक्तियों के हाथों में होती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् है जिसमें कार्यपालिका 7 व्यक्तियों के हाथों में विभक्त है। बहुल कार्यपालिका में संयुक्त उत्तरदायित्व नहीं होता। इसमें सभी पार्षदों की स्थिति समान होती है। इसे कॉलिजयेट या सामूहिक कार्यपालिका भी कहते हैं। सोवियत संघ की प्रेजीडियम भी बहुल कार्यपालिका का उदाहरण है।

(iii) **उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी कार्यपालिका**—इन्हें संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका भी कहते हैं। प्रथम का उदाहरण भारत और ब्रिटेन हैं, दूसरे का उदाहरण अमरीका। उत्तरदायी कार्यपालिका में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके विश्वास पर ही अपने पद पर बनी रहती है। इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका में बहुमत दल के सदस्य होते हैं। अनुत्तरदायी

कार्यपालिका में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। यह व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है। इसके सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और वे उसकी बैठकों में हिस्सा भी नहीं लेते।

(iv) **अस्थाई एवं स्थाई कार्यपालिका**—नौसिखियों और विशेषज्ञों के भेद के आधार पर कार्यपालिका को स्थाई और अस्थाई में बांटा जाता है। मन्त्री अस्थाई कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व करते हैं; सिविल सेवक या नौकरशाही स्थाई कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व करती है। एक अपने राजनीतिक गुण के कारण और दूसरी अपने विशेष ज्ञान के कारण विद्यमान होती है।

(v) **वंशानुगत एवं निर्वाचित कार्यपालिका**—वंशानुगत कार्यपालिका में कार्यपालिका का पद पैतृक होता है। इसमें उत्तराधिकार के लिए ज्येष्ठता का नियम लागू होता है। ब्रिटेन में वंशानुगत कार्यपालिका है। निर्वाचित कार्यपालिका में कार्यपालिका का निर्वाचन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता है। अमरीकी राष्ट्रपति प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कार्यपालिका और भारतीय राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कार्यपालिका के उदाहरण हैं।

कार्यपालिका की शक्तियाँ एवं कार्य

आधुनिक राज्य पुलिस राज्य नहीं। वे समाजसेवी राज्य हैं। उनका स्वरूप प्रजातान्त्रिक, समाजवादी एवं लोक कल्याणकारी है। अतः आधुनिक राज्य का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक एवं विस्तृत हो गया है। जिस मात्रा में राज्य के कार्य क्षेत्र का विस्तार हुआ है उसी प्रकार कार्यपालिका की शक्तियों एवं कार्यों का विस्तार हुआ है। आज स्थिति यह है कि राष्ट्रीय कोष पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होते हुए भी कार्यपालिका ही उसे राजस्व के रूप में एकत्रित करती है और उसे लोक कल्याणकारी योजनाओं पर खर्च करती है। सी. एफ. स्ट्रांग ने लिखा है कि "आधुनिक शासन में विधायी कार्य का विशाल महत्त्व होते हुए भी इस पर कार्यपालिका छायी रहती है। प्रथम तो इसलिए कि आधुनिक कार्यपालिका कानूनों को केवल लागू करने से ही सम्बन्धित नहीं होती, अनेक स्थितियों में वह उस नीति को प्रारम्भ करती है जिस पर व्यवस्थापिका अपनी स्वीकृति प्रदान करती है।.........आधुनिक संवैधानिक राज्यों में प्रजातन्त्र के विकास ने इस विरोधाभास को उत्पन्न किया है—विधान की मात्रा जितनी अधिक होती है अनियन्त्रित कार्यपालिका का क्षेत्र उतना ही अधिक होता है।"[1]

आधुनिक कार्यपालिका के मुख्य कार्य निम्न हैं—

1. प्रशासनिक कार्य—कार्यपालिका का प्रमुख कार्य प्रशासन का संचालन करना है। इस क्षेत्र में कार्यपालिका अग्र कार्यों को करती है—

---

1. Strong C.F. : Ibid p. 212.

(i) व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित **कानूनों को लागू करना** तथा उनकी उल्लंघना करने वालों को दण्ड दिलाना। कार्यपालिका का यह कार्य जितनी कुशलता और निष्पक्षता के साथ किया जाता है, नागरिक उतने ही विधि-पालक बनते हैं।

(ii) शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना—इससे नागरिकों का जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति सुरक्षित रहती है।

(iii) प्रशासनिक विभागों का गठन एवं उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति—इसमें विभागों के कार्यों का निरीक्षण, पदाधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति एवं विमुक्ति, कर्मचारियों का मनोबल, विभागों में समन्वय आदि शामिल हैं।

(iv) नियुक्तियाँ—कार्यपालिका अध्यक्ष सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियाँ करता है। उदाहरणत: भारत में राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों, तीनों सेनाओं के अध्यक्षों, सर्वोच्च न्यायालयों एवं अन्य उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, केन्द्रीय एवं संयुक्त लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों, राज्यों के राज्यपालों आदि की नियुक्ति करता है।

2. विदेशी सम्बन्ध, युद्ध, शान्ति सन्धियाँ—राज्य का प्रमुख कार्य सुरक्षा प्रदान करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्यपालिका निम्न कार्यों को करती है—

(i) बाह्य आक्रमणों से रक्षा—इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्यपालिका जल, थल, वायु सेनाओं की रचना करती है तथा उन्हें सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बनाने का प्रयास करती है।

(ii) विदेशी सम्बन्ध—कोई भी राज्य शून्य में निवास नहीं करता। वह अकेला नहीं रह सकता। अतः कार्यपालिका का मुख्य कार्य विदेशों में मित्रों की खोज करना तथा विरोधी तत्त्वों को समाप्त करना है। इसके लिए कार्यपालिका दूसरे राज्यों से राजनयिक सम्बन्धों को स्थापित करती है, राजदूतों की नियुक्ति करती है तथा उनके राजदूतों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करती है। यह व्यापार और वाणिज्य के विकास हेतु अनेक प्रकार के समझौते करती है।

(iii) युद्ध, शान्ति एवं सन्धियाँ—कोई भी राज्य चाहे कितना ही शान्ति-प्रिय क्यों न हो, उसे कभी न कभी युद्ध या आक्रमण का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका को युद्ध की घोषणा करनी पड़ती है। यह घोषणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि युद्ध शुरू होने से गम्भीर एवं दूरगामी परिणाम निकलते हैं।

(iv) सन्धियाँ—कार्यपालिका दूसरे देशों के साथ भिन्न-भिन्न विषयों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की सन्धियाँ कर सकती है। कार्यपालिका के इस कार्य का प्रभाव विधि-निर्माण जैसा होता है। **रूसक तथा अन्य लेखकों** ने कहा है कि "सन्धि निर्माण

वस्तुतः विधि निर्माण है क्योंकि जब सन्धियों को लागू किया जाता है तो उनकी शक्ति और प्रभाव विधि की भाँति होता है।"[1]

3. विधायी कार्य—विधि का निर्माण करना व्यवस्थापिका का कार्य है। इस पर भी विधान के क्षेत्र में कार्यपालिका को अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह इसका गौण कार्य बन गया है। रोडी, एण्डरसन और क्रिस्टल ने कार्यपालिका को "मुख्य विधायक" की संज्ञा दी है।[2] विधायी क्षेत्र में कार्यपालिका मुख्यतः निम्न कार्य करती है—

(i) कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधिवेशन बुलाती है; उसे स्थगित एवं भंग करती है।

(ii) भारत और ब्रिटेन जैसे संसदीय शासन व्यवस्था वाले देशों में कार्यपालिका विधियों को प्रारम्भ करती है। मन्त्री विधेयकों को सदन में पेश करते हैं। अमरीका जैसी अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति विधयों को प्रारम्भ नहीं करता, परन्तु वह कांग्रेस को सन्देश भेज सकता है। कांग्रेस सामान्यतः उनका आदर करती है और उनमें निहित सिद्धान्तों पर विधि का निर्माण करती है।

(iii) व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक तभी लागू होते हैं जब कार्यपालिका अध्यक्ष उन पर हस्ताक्षर कर देता है। कार्यपालिका अध्यक्ष के पास प्रायः निषेधाधिकार का अधिकार होता है। वह इसका प्रयोग कर विधेयकों की मृत्यु कर सकता है या उन्हें पुनर्विचार के लिए वापस लौटा सकता है।

(iv) अध्यादेश—विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर सकती है। इन अध्यादेशों की शक्ति संसद द्वारा पारित कानूनों के समान होती है। यद्यपि इन पर बाद में संसद की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। अध्यादेशों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। ये कानूनों की व्याख्या कर सकते हैं या किसी कार्य को रोक सकते हैं, आदि।

(v) प्रदत्त विधान—कार्यपालिका को कानूनों के अन्तर्गत उप-नियम बनाने का अधिकार होता है। इसे प्रशासकीय या अधीनस्थ विधान, विभागीय या माध्यमिक विधान भी कहते हैं। प्रदत्त विधान ने कार्यपालिका की शक्ति का इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि लार्ड हर्वर्ट इसे नवीन निरंकुशता की संज्ञा देता है।

4. वित्तीय कार्य—वित्त पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होता है। इस पर भी वित्त विधेयक कार्यपालिका की देख-रेख में तैयार होता है। संसदात्मक शासन प्रणाली में बजट वित्त मन्त्री द्वारा तैयार किया जाता है और उसके द्वारा व्यवस्थापिका में पेश किया जाता है। सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका बजट में किसी प्रकार की कटौती कर सकती है, परन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं। बजट व्यवस्थापिका द्वारा वैसे ही पारित हो जाता है जैसाकि मन्त्रिमण्डल ने उसे प्रस्तुत किया होता है

1. Roucek, J.S. and Others : Introduction to Political Science, p. 302.
2. See Rodee, Anderson and Christol : Introduction to Political Science p. 122.

5. न्यायिक कार्य—कार्यपालिका अनेक प्रकार के न्यायिक कार्य करती है। उदाहरणत: (i) वह न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है और विशेष परिस्थितियों में उन्हें पदच्युत भी कर सकती है, (ii) वह न्यायालय द्वारा दण्डित अपराधियों को क्षमा कर सकती है, दण्ड को कम या स्थगित कर सकती है, (iii) जिन देशों में प्रशासनिक न्यायालय पाये जाते हैं वहाँ कार्यपालिका अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी करती है।

कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि

आधुनिक समय में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के मुख्य कारण निम्न हैं—

(i) राज्य के रूप में परिवर्तन।
(ii) प्रदत्त विधान।
(iii) कठोर दलीय नियन्त्रण।
(iv) व्यवस्थापिका को समय से पूर्व भंग कराने की मन्त्रिमण्डल की शक्ति।
(v) विधान के क्षेत्रों में कार्यपालिका की पहलकदमी।
(vi) युद्ध का वातावरण।
(vii) समस्याओं की जटिलता एवं विधि निर्माण कार्य में विशेष ज्ञान की आवश्यकता।
(viii) नियोजन।

उपर्युक्त सभी विन्दुओं की व्याख्या **अध्याय 24 में** "व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी" शीर्षक के अन्तर्गत की गई है। अतः इनका अध्ययन उसी शीर्षक के अन्तर्गत कीजिए। जिन तत्वों अर्थात् कारणों ने व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी की है उन्हीं ने कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि की है।

व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सम्बन्ध

व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करते हैं कि शासन का रूप कैसा है। यदि शासन का रूप नाजी जर्मनी या फासिस्ट इटली जैसा अधिनायकवादी या सोवियत संघ जैसा सर्वसत्तावादी है तो व्यवस्थापिका कार्यपालिका के अधीन होगी और उसकी स्थिति कार्यपालिका की इच्छाओं को पंजीकृत करने वाली निकाय से बढ़कर नहीं होगी। यदि शासन का रूप मन्त्रिमण्डलात्मक जैसा है तो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन होगी और वह अपने पद पर तब तक बनी रहेगी जब तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास होगा। यदि शासन का रूप अध्यक्षात्मक जैसा है तो कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होगी और दोनों बराबर होंगी—

A. संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों की विशेषतायें निम्न हैं—

(i) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। दोनों में सहयोग, सद्भावना और समन्वय का वातावरण रहता है। इसमें कार्य-

पालिका के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और वे उस दल से सम्बन्ध रखते हैं जिसका व्यवस्थापिका में बहुमत होता है। मन्त्री व्यवस्थापिका की बैठकों में, विचार-विमर्श और वाद-विवाद में भाग लेते हैं और अपनी नीतियों का समर्थन करते हैं। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है।

(ii) कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इसमें कार्यपालिका अपने पद पर उस समय तक बनी रह सकती है जब तक व्यवस्थापिका का उस पर विश्वास रहता है। जब कार्यपालिका व्यवस्थापिका का विश्वास खो बैठती है तो उसे अपने पद से पदच्युत होना पड़ता है। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका की उपेक्षा नहीं कर सकती। व्यवस्थापिका कार्यपालिका को प्रश्नों, पूरक प्रश्नों, स्थगन प्रस्तावों, निन्दा प्रस्तावों, काम रोको प्रस्तावों द्वारा परेशान कर सकती है। यदि आवश्यक हो तो व्यवस्थापिका अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है। दूसरी ओर, अक्खड़ और उद्दण्ड व्यवस्थापिका को सीधा करने के लिए कार्यपालिका व्यवस्थापिका को भंग करा सकती है।

(iii) विधान के क्षेत्र में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में सहयोग बना रहता है। यदि विधियों को व्यवस्थापिका पारित करती है तो कार्यपालिका उन्हें प्रारम्भ करती है। इसमें कार्यपालिका अध्यक्ष के पास निषेधाधिकार होता है जो निरपेक्ष और निलम्बित दोनों प्रकार का होता है।

(iv) कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधिवेशनों तथा विशेष अधिवेशनों को बुलाती है, उन्हें स्थगित करती है तथा उसे भंग करती है।

(v) कार्यपालिका कानूनों के अन्तर्गत प्रदत्त विधान की शक्तियों का प्रयोग करती है।

(vi) कार्यपालिका व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में कुछ सदस्यों को नामांकित कर सकती है। उदाहरणत: भारत में राष्ट्रपति राज्य सभा में 12 और लोकसभा में 2 सदस्यों को नमांकित कर सकता है।

(vii) कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर सकती है।

B. अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

(i) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों में बराबर होती हैं।

(ii) कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती हैं। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और न उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेतृत्व नहीं करती।

(iii) इसमें व्यवस्थापिका कार्यपालिका को पदच्युत नहीं कर सकती और न कार्यपालिका व्यवस्थापिका को समय से पूर्व भंग कर सकती है। इसमें व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर महाभियोग लगाकर उसे अपदस्थ कर सकती है परन्तु यह प्रणाली

इतनी जटिल होती है कि अब तक किसी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया नहीं गया।

अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में भी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निकट के सम्बन्ध बने रहते हैं और दोनों में सहयोग बना रहता है। उदाहरणत: यदि विधि निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका के हाथ में होता है तो विधियों को तभी लागू किया जा सकता है जब राष्ट्रपति उन पर हस्ताक्षर कर देता है। अमरीका में राष्ट्रपति के पास 'जेबी' और 'निलम्बित' दो प्रकार के निषेधाधिकार होते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति सन्देशों के माध्यम से व्यवस्थापिका को किसी विशेष विषय पर कानून निर्माण के लिए प्रार्थना कर सकता है। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका को प्रभावित करने के लिए सीधे जनता से भी अपील कर सकता है।

समीक्षा प्रश्न

1. आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य में कार्यपालिका के कार्यों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। क्या इन कार्यों से कार्यपालिका के बढ़ते हुए महत्त्व का संकेत मिलता है? (Raj. Suppl. 1979)

26
सरकार का संगठन—न्यायपालिका
(Organization of Government—The Judiciary)

न्यायपालिका

न्यायपालिका सरकार का बहुत कम चर्चित परन्तु आवश्यक अंग है। इसका विकास आधुनिक पूँजीवाद की देन है। प्राचीन समय में न्याय कुटुम्ब, जाति तथा सामन्त के हाथ में होता था। यूनान में न्याय के लिए "ज्यूरी" प्रथा विद्यमान थी। मध्ययुग में सम्राट के अतिरिक्त श्रमिक न्यायालय विद्यमान थे। निरंकुश राजतन्त्रों में राजा कानून का निर्माण करने वाला, उसे लागू करने वाला तथा न्याय का स्रोत होता था। लॉक ने न्याय विभाग को कार्यपालिका में शामिल किया था। अठारहवीं शताब्दी में माण्टेस्क्यू ने पहली बार अपनी रचना में 'कानून की भावना' में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा था कि "यदि एक ही प्रकार के लोग कानून का निर्माण करते हैं, उसे लागू करते हैं तथा उसकी व्याख्या करते हैं तो न्याय के बदले अन्याय होगा और लोगों की स्वतन्त्रताओं का अन्त हो जायेगा।" धीरे-धीरे शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त और पूँजीवादी प्रजातन्त्र के विकास ने नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु एक स्वतन्त्र न्याय विभाग की आवश्यकता को महसूस करा दिया। वर्तमान समय में सभी प्रजातान्त्रिक देशों में स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है।

न्यायपालिका की आवश्यकता—न्याय विभाग को सभ्य समाज के लिए अनिवार्य समझा जाता है। चान्सलर केन्ट ने कहा है कि "जहाँ कानून की व्याख्या करने और उसे लागू करने के लिए, विवादों का निपटारा करने के लिए और अधिकारों को लागू करने के लिए न्याय विभाग नहीं, वहाँ शासन या तो अपनी शक्तिहीनता के कारण नष्ट हो जायेगा या शासन के अन्य विभाग, शक्ति प्राप्त करने के लिए, स्वतन्त्रता के विनाश पर, शक्ति को अनाधिकार ग्रहण कर लेंगे।" लार्ड ब्राइस ने कहा है कि "न्याय विभाग राज्य की केवल आवश्यकता ही नहीं बल्कि किसी शासन की श्रेष्ठता की कसौटी भी है। न्याय व्यवस्था की कुशलता से बढ़कर शासन की श्रेष्ठता की और कोई दूसरी कसौटी नहीं। शीघ्र और निश्चित न्याय के विश्वास पर ही औसत नागरिक की सुरक्षा एवं कल्याण निर्भर करता है।

संघात्मक राज्य में एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की आवश्यकता और भी अधिक होती है। संघात्मक राज्यों में जहाँ संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करने की आवश्यकता होती है वहाँ उसके एककों की स्वायत्तता की रक्षा की भी आवश्यकता होती है। नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा हेतु स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना अनिवार्य है। **स्वतन्त्र न्यायपालिका के अभाव में नियमानुकूल शासन, उत्तरदायी शासन, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा आदि का आश्वासन नहीं मिल सकता।**

न्यायपालिका के कार्य

न्यायपालिका के मुख्य कार्य निम्न हैं :—

1. कानून को विशिष्ट मुकद्दमों में लागू करना तथा दण्ड निश्चित करना—न्यायालय का प्रथम कार्य विवादों की सुनवाई करना एवं उन्हें निश्चित करना है। कानून को लागू करते समय न्यायालय व्यक्तियों और दस्तावेजों को मँगवा सकती है, अधिकारों का पता लगा सकती है और उन्हें निश्चित कर सकती है। वह कानूनों की व्याख्या करती है और उनके उचित अर्थ को विशिष्ट मुकद्दमों में लागू करती है। न्यायालय न्याय प्रदान करती है, उसकी देख-रेख करती है और निर्दोष को हानि से बचाती है।

कानून की व्याख्या करते समय या निर्णय देते समय न्यायालय कानून के औचित्य पर ध्यान नहीं देती। वह कानून को उसी रूप में देखती है जैसा वह है। न्यायालय इस बात पर निर्णय नहीं देती कि कानून को कैसा होना चाहिए। न्यायालय किसी शाश्वत या दैवी कानून की व्याख्या नहीं करती, बल्कि उस लौकिक या मानवीय कानून की व्याख्या करती है जिसका निर्माण राज्य द्वारा होता है।

न्यायालय दण्ड की मात्रा को निर्धारित करती है। **लास्की** ने कहा है कि **"अधिकांश राज्यों में आज कानून दण्ड की अधिकतम सीमा निर्धारित करता है और इसकी वास्तविक प्रकृति को न्यायाधीशों के स्वतन्त्र विवेक पर छोड़ देता है।"**[1]

न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय मान्य होते हैं। उनका निरादर न्यायालय की मानहानि होती है। न्यायालय मानहानि के लिए दण्ड दे सकती है।

2. निर्णय विधि—न्यायालय कानून को विशिष्ट मुकद्दमों में लागू ही नहीं करती बल्कि वह इसका निर्माण और विकास दोनों करती है। इस दृष्टि से न्यायालय व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों की पूरक है। वस्तुतः व्यवस्थापिका द्वारा पारित किये गये महत्त्वपूर्ण कानून न्यायालय की संवैधानिक घोषणाओं से कुछ अधिक नहीं होते। अनेक बार कानून अपर्याप्त होता है या किसी विशिष्ट परिस्थिति के लिए कानून विद्यमान नहीं होता। उस स्थिति में न्यायाधीश प्राकृतिक न्याय, न्याय

---

1. Laski, Harold J. : A Grammar of Politics, p. 563.

की भावना और औचित्य के आधार पर निर्णय देता है। इस निर्णय को जब उसी प्रकार के दूसरे मुकदमों में लागू किया जाता है तो उसे "दृष्टान्त" कहते हैं जो समय पाकर नजीरें या निर्णय विधि बन जाता है। लौकॉक ने न्यायालय को ठीक ही "अर्द्ध विधानमण्डल" की संज्ञा दी है।

3. संविधान की संरक्षक—संघीय संविधानों में न्यायपालिका संविधान की संरक्षक होती है। जब कभी कार्यपालिका के आदेश या व्यवस्थापिका के कानून संवैधानिक धाराओं के विपरीत होते हैं तो न्यायालय उन्हें अवैध घोषित कर सकती है। इसे न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कहते हैं।

संघीय संविधान में केन्द्र और राज्यों (एककों) में शक्तियों का विभाजन होता है। जब कभी केन्द्र या एकक की सरकार अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करती हैं तो न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर प्रभावहीन बना सकती है। डायसी ने ठीक लिखा है कि "कानूनों को अवैध घोषित करने की शक्ति न्यायाधीशों को संविधान का संरक्षक बनाती है और असंवैधानिक कानूनों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करती है।"

4. नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षक—न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों के रक्षक के रूप में कार्य करती है। यदि नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार न हो तो नागरिकों के मूल अधिकारों का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। नागरिक अधिकारों की रक्षा हेतु न्यायालय अनेक प्रकार के लेख जारी कर सकती है, जैसे **बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख, परमादेश लेख और अधिकार पृच्छा-लेख** आदि।

5. सलाहकारी मत—अनेक देशों में न्यायालय को तकनीकी, कानूनी एवं संवैधानिक विषयों के जटिल प्रश्नों पर सलाहकारी मत देने का अधिकार होता है। उदाहरणत: भारतीय संविधान की धारा 143 (1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति यदि आवश्यक समझे तो सार्वजनिक महत्त्व के किसी विषय पर सर्वोच्च न्यायालय से सलाहकारी मत प्राप्त कर सकता है। न्यायालय का सलाहकारी मत निर्णय नहीं होता। अत: वह बाध्यकारी नहीं होता।

कुछ लेखक न्यायालय के सलाहकारी मत के पक्ष में नहीं। उदाहरणत: इल्हू रूट ने इस प्रथा को सभी न्यायिक सिद्धान्तों की उल्लंघना कहा है। न्यायमूर्ति जॉन वैसेट की धारणा है कि यह "स्पष्टत: न्यायिक कार्य नहीं।" अमरीका की सर्वोच्च न्यायालय ने कभी सलाहकारी मत नहीं दिया।

6. घोषणात्मक निर्णय—न्यायालय अनेक बार, जैसाकि इंगलैण्ड में, ऐसे फैसले सुनाती है जिन्हें घोषणात्मक निर्णय कहा जाता है। इस प्रकार की घोषणाओं द्वारा व्यक्ति बिना किसी मुकदमे के न्यायालय में कानूनों का स्पष्टीकरण या उनके अनौचित्य-औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय प्राप्त कर सकते हैं।

7. प्रशासनिक कार्य—न्यायालय के प्रशासनिक कार्य मुख्यत: अग्र हैं—

(a) न्यायालय के पदाधिकारियों की नियुक्ति ।
(b) अनुज्ञा-पत्र जारी करना; जैसे ओथ कमिश्नर और अधिवक्ताओं आदि के अनुज्ञा पत्र जारी करना ।
(c) संरक्षकों और न्यासियों की नियुक्ति करना ।
(d) वसीयतनामों को प्रमाणित करना ।
(e) नागरिक विवादों को पंजीकृत करना ।
(f) विदेशियों को नागरिकता प्रदान करना ।
(g) व्यक्तियों या नियमों की विवादास्पद सम्पत्ति का प्रबन्ध करने हेतु प्रापकों की नियुक्ति करना ।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ एवं महत्त्व—न्यायपालिका की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितनी मात्रा में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष है और न्यायाधीश कितनी मात्रा में भय और आतंक से रहित होकर कितनी कुशलता और निष्पक्षता से निर्णय देते हैं। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि न्यायालय विवादों पर निर्णय देते समय सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं व्यक्तिगत प्रभावों से स्वतन्त्र हो तथा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त हो। संविधान की सर्वोच्चता की सुरक्षा, विवादों का सुनिश्चित एवं निष्पक्ष निपटारा, नागरिकों की कार्यपालिका के स्वेच्छाचारी आदेशों व व्यवस्थापिका के अत्याचारी कानूनों से सुरक्षा तथा नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा आदि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर निर्भर करती है। लार्ड ब्राइस ने कहा कि "यदि कानून को कुटिलतापूर्वक लागू किया जायेगा तो समझना चाहिए कि नमक ने अपना स्वाद खो दिया है; यदि इसे दुर्बलतापूर्वक और उत्तेजनापूर्वक लागू किया जायेगा तो व्यवस्था की आशायें धूल में मिल जायेंगी क्योंकि अपराधियों का दमन दण्ड की कठोरता से बढ़कर दण्ड की निश्चितता द्वारा अधिक होता है। यदि न्याय का दीपक स्वयं काला हो जाय तो कितना अन्धकार छा जायेगा।"[1]

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बनाये रखने के साधन—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता इस बात पर निर्भर करती है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति किस प्रकार होती है और उनकी सेवा की शर्तें क्या हैं? जैसाकि लास्की ने कहा कि "जिन लोगों के न्यायालयों में न्याय करना है, जिस ढंग से उन्हें अपने कार्य को करना है, जिस ढंग से उन्हें चुना जाना है और जिन शर्तों पर उन्हें शक्ति दी जानी है—ये सब बातें और इनसे सम्बन्धित समस्यायें राजनीतिक दर्शन के आधार हैं।" **यदि न्यायाधीशों की नियुक्ति उनके राजनीतिक विचारों और राजनीतिक सम्बन्धों को ध्यान में रखे बिना उसकी कानूनी योग्यता, कुशलता और निष्पक्षता के आधार पर होती है, यदि**

1. Bryce: Modern Democracies, Vol. II p. 384.

उनकी सेवा की शर्तें सुनिश्चित एवं सुरक्षित होती हैं, यदि उन्हें कार्यपालिका की सनक से पद विमुक्त नहीं किया जाता, यदि वे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त हैं, यदि उनमें सेवा निवृत्ति के बाद अन्य प्रतिष्ठित पदों को प्राप्त करने की लालसा नहीं, यदि उनके निर्णयों के प्रति आदर भाव है तो न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है अन्यथा नहीं।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए प्रमुखतः निम्न साधनों की आवश्यकता होती है—

1. नियुक्ति का तरीका—न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के लिए प्रायः निम्न तीन तरीके अपनाये जाते हैं—

(A) सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचन—कुछ राज्यों में, जैसा कि अमेरिका के कुछ राज्यों और स्विट्जरलैण्ड के कुछ केन्टनों में, निम्न स्तर पर न्यायाधीशों की नियुक्ति सर्वसाधारण के निर्वाचन द्वारा होती है। परन्तु जैसा कि लॉस्की ने कहा है, "सर्वसाधारण द्वारा न्यायाधीशों के चयन का तरीका सबसे बुरा है।" इस तरीके के विरुद्ध मुख्य आपत्तियां निम्न हैं—

(i) न्यायाधीशों का चयन कानूनी योग्यता एवं कुशलता के आधार पर नहीं होगा अपितु राजनीतिक कारणों से होगा जो न्याय की भावना के ठीक विपरीत है।

(ii) साधारण लोगों में न्यायाधीशों की योग्यता आंकने की क्षमता नहीं होती।

(iii) न्यायाधीश पुनर्निर्वाचन के लिए जन-भावना को अपील करने वाले निर्णय देंगे जिससे न्याय के गिरने की सम्भावना अधिक होगी।

(iv) न्यायाधीशों को दलीय सहायता की जरूरत पड़ेगी जिससे वे सब बुराइयां उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जायेंगी जो दलीय राजनीति में विद्यमान होती हैं।

(v) न्यायाधीशों के भ्रष्ट होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। उनके चरित्र के पतन की सम्भावना अधिक होगी आदि।

(B) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—विश्व के कुछ देशों में न्यायाधीशों का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है। उदाहरणतः सोवियत संघ में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन सर्वोच्च सोवियत द्वारा होता है; स्विट्जरलैण्ड में संघीय न्यायाधिकरण के सदस्यों का चयन संघीय सभा द्वारा होता है, परन्तु न्यायाधीशों का व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन भी आपत्तिजनक और अवांछनीय है। प्रथम, व्यवस्थापिका के साधारण सदस्यों के पास न्यायाधीशों की योग्यता परखने की क्षमता नहीं होती। दूसरे, न्यायाधीश दलगत राजनीति के अखाड़े में फंस जायेंगे उससे न्याय को क्षति पहुँचती है

(C) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—प्रायः सभी देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है, परन्तु न्यायाधीशों की नियुक्ति में यदि कार्य-

पालिका को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो उस पर भी राजनीतिक प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो सकती है। अतः प्रत्येक देश में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए संविधान में व्यवस्था की जाती है या न्यायाधीशों की नियुक्ति कुछ निश्चित नियमों द्वारा की जाती है।

न्यायाधीशों की कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति में मुख्यतः निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए :—

(a) कानूनी ज्ञान रखने वाले योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों को विधि मन्त्री की सिफारिश पर न्यायाधीश नियुक्त किया जाना चाहिए।

(b) विधि मन्त्री की सिफारिश न्यायाधीशों की स्थायी समिति की सहमति पर आधारित होनी चाहिए।

(c) न्यायाधीशों की स्थायी समिति में वे न्यायाधीश होने चाहिए जो अपने कार्य के सभी पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हों क्योंकि न्यायाधीश ही न्यायाधीशों की योग्यता पहचानने की क्षमता रखते हैं।

(d) न्यायाधीशों की पदोन्नति ज्येष्ठता के आधार पर हो।

2. सुनिश्चित, सुरक्षित एवं लम्बा कार्यकाल—न्यायाधीशों का कार्यकाल सुनिश्चित, सुरक्षित एवं लम्बा होना चाहिए। यदि न्यायाधीशों को थोड़े समय के लिए नियुक्त या निर्वाचित किया जाता है तो वे कभी निष्पक्षता से कार्य नहीं कर सकते। उनके भ्रष्ट होने की सम्भावना अधिक रहेगी और वे नियुक्ति प्राधिकारी को प्रसन्न करने का प्रयास करेंगे।

न्यायाधीशों की सेवा की शर्तें सुनिश्चित एवं सुरक्षित होनी चाहिए, उन्हें अपने पद की चिन्ता नहीं होनी चाहिए और वे राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त होने चाहिए। एक बार नियुक्त होने के पश्चात् न्यायाधीशों को जीवन पर्यन्त या सदाचरण-पर्यन्त बने रहने का अधिकार होना चाहिए। यदि न्यायाधीशों का पद सुरक्षित नहीं है तो उनमें उस आदत का विकास नहीं होगा जो इस पद के लिए अनिवार्य है।

न्यायाधीशों की विमुक्ति या पदच्युति कार्यपालिका की सनक या स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर नहीं रहनी चाहिए। न्यायाधीशों को 'प्रमाणित कदाचार' और अयोग्यता के आधार पर महाभियोग के प्रस्ताव द्वारा ही, जिसे व्यवस्थापिका अपने दोनों सदनों में पृथक्-पृथक् रूप से दो-तिहाई बहुमत से पारित करे, कार्यपालिका द्वारा हटाया जाना चाहिए। प्रत्यावर्तन की प्रथा न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए घातक है।

3. समुचित एवं पर्याप्त वेतन—न्यायाधीशों के वेतन समुचित ही नहीं बल्कि पर्याप्त भी होने चाहिए। यदि न्यायाधीशों का वेतन पर्याप्त नहीं होगा तो वे न अपना समुचित जीवन-स्तर बनाये रख सकेंगे और न ही वे अपने आपको धन के प्रलोभन से मुक्त रख सकेंगे। न्यून वेतन भ्रष्टता और घूसखोरी को निमन्त्रण

देना है। सेवाकाल में न्यायाधीशों के वेतनों तथा अन्य सुविधाओं में, उनको हानि पहुँचाने के उद्देश्य से, कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। सेवा निवृत्ति के पश्चात् भी न्यायाधीशों की पेन्शन की दरें समुचित होना चाहिए अन्यथा वे सेवानिवृत्ति के बाद कार्यपालिका से अन्य प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त होने की लालसा करेंगे। यह तत्त्व न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए घातक है। उदाहरणतः यदि अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों को मन्त्री, राज्यपाल, राजदूत तथा अन्य प्रशासकीय या राजनीतिक पदों पर नियुक्त करने की प्रथा विद्यमान है तो न्यायाधीश अवकाशोपरान्त किसी नियुक्ति की आशा में कार्यकारिणी के समक्ष दीनता का भाव प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।

4. कार्यपालिका से स्वतन्त्रता—न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतन्त्र होना चाहिए। यह जहाँ शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की मांग है वहाँ यह व्यावहारिक उपयोगिता भी है; यह संविधान एवं नागरिक स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक भी है। यदि कार्यपालिका न्यायपालिका के निर्णयों को अपनी इच्छानुसार गढ़ सकती है तो वह राज्य शक्ति की निर्बाध स्वामिनी बन जायेगी। कानूनों की व्याख्या का अधिकार सर्वदा न्यायपालिका के हाथों में होना चाहिए। न्यायपालिका में कार्यपालिका को उत्तरदायी ठहराने की क्षमता होनी चाहिए।

5. न्यायाधीशों के प्रति औचित्यपूर्ण व्यवहार—कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सदस्यों का सदन या सार्वजनिक स्थानों पर न्यायाधीशों के प्रति व्यवहार औचित्यपूर्ण होना चाहिए। यदि मन्त्री या सांसद न्यायालय के निर्णयों की आलोचना करते हैं या न्यायाधीशों पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हैं तो यह न्यायाधीशों की निष्पक्षता, स्वतन्त्रता, निर्भयता और निःस्वार्थ भावना के विपरीत है। इससे न्यायपालिका से विश्वास उठने का खतरा रहता है। न्यायिक निर्णयों के प्रति आदर भाव होना चाहिए।

6. कार्यवाही को नियन्त्रित करने एवं निर्णयों को लागू कराने की शक्ति—न्यायपालिका को अपनी कार्यवाही को नियन्त्रित करने और अपने निर्णयों को लागू करवाने की शक्ति होनी चाहिए। इसके लिए न्यायपालिका को मुख्यतः निम्न अधिकार होने चाहिए—

(a) अपराधियों की न्यायिक जांच करने का अधिकार होना चाहिए।

(b) व्यक्तियों और दस्तावेजों के मँगवाने और उनकी समीक्षा करने का अधिकार होना चाहिए।

(c) लेखों को जारी करने का अधिकार होना चाहिए।

(d) अपने आदेशों और निर्णयों को लागू कराने की शक्ति होनी चाहिए।

(e) न्यायालय को मानहानि के लिए दण्ड देने का अधिकार होना चाहिए।

संक्षेप में, जैसा कि विलोबी ने कहा है कि "स्वतन्त्र न्यायपालिका के लिए न्यायाधीशों को उनके राजनीतिक विचारों को ध्यान में रखे बिना ही नियुक्त किया

जाना चाहिए; एक बार नियुक्त किये जाने पर उनको दीर्घकाल तक अर्थात् जीवन-पर्यन्त या सदाचरण पर्यन्त पदारूढ़ रहना चाहिए एवं कार्यपालिका को उन्हें पदच्युत करने सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत महाभियोग पद्धति के अनुसार प्रस्ताव पारित होने पर न्यायाधीशों को पदच्युत किया जाना चाहिए। न्यायाधीशों के कार्यकाल के दौरान उनके वेतन को न तो रोका जाना चाहिए और न ही कम किया जाना चाहिए।"

समीक्षा प्रश्न

1. स्वतन्त्र न्यायपालिका के महत्त्व की विवेचना कीजिये। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता कैसे बनाये रखी जा सकती है? (Raj. 1983, Suppl. 1984)
2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से न्यायापालिका को स्वतन्त्र रखने हेतु उपयोगी सुझाव दीजिए। (Raj. Suppl. 1984)
3. न्यायपालिका के कार्यों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (Raj. 1986)
4. स्वतन्त्र न्यायपालिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1980, 84; Ajmer 1988)

27
दलीय व्यवस्था
(Party System)

मिलकर कार्य करना मानव का स्वाभाविक गुण है। अतः समान विचार रखने वाले व्यक्ति एकत्रित होकर कार्य करते हैं। लोकतान्त्रिक राज्यों में, जहाँ भाषण, अभिव्यक्ति, संघ एवं समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता होती है, वहाँ व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों का निर्माण करते हैं। नागरिक अपने हितों की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः दो प्रकार के संगठनों का निर्माण करते हैं जिन्हें राजनीतिक शब्दावली में दबाव समूह और राजनीतिक दल कहते हैं। आधुनिक जीवन में यह सर्वव्यापी तथ्य है।

अर्थ, परिभाषा एवं प्रकृति (Meaning, Definition and Nature)—राजनीतिक दल के अर्थ को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ के अनुसार यह "व्यक्तियों का संगठित समूह है जो शासन सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं ताकि वे उन लाभों का उपयोग कर सकें जो उसके नियन्त्रण से उत्पन्न होते हैं।" कुछ के अनुसार राजनीतिक दल "ऐसा इन्जन है जिसके द्वारा बहुमत उत्पन्न किया जाता है और राजनीतिक सत्ता को कार्यान्वित किया जाता है। "डीग्रन और शूमां ने लिखा है कि "राजनीतिक दल हितबद्ध समूहों के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक राजनीतिक संस्थायें बन गई हैं।" लीकॉक का मत है कि दल "एक ऐसी संयुक्त पूंजी कम्पनी है जिसमें प्रत्येक सदस्य अपनी शक्ति का अंश प्रदान करता है।"

राजनीतिक दलों की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं—

1. एडमण्ड बर्क के अनुसार, "राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसार अपने संयुक्त श्रम से राष्ट्रीय हितों की उन्नति करना चाहते हैं।"

2. कार्ल जे. फ्रेडरिक के अनुसार, "राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो अपने नेताओं के लिए शासकीय नियन्त्रण प्राप्त करने तथा उसे बनाये

रखने के उद्देश्य से स्थायी रूप से संगठित हों तथा इसके माध्यम से दल के सदस्यों को आदर्श और भौतिक लाभ प्रदान करें।"

3. गिलक्राइस्ट के अनुसार, राजनीतिक दल "नागरिकों से ऐसे संगठित समूह को कहते हैं जो राजनीतिक दृष्टि से समान विचार के हों तथा जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करके शासन पर अधिकार करने की इच्छा रखते हों।"

4. मैकाइवर के अनुसार राजनीतिक दल "ऐसा समुदाय है जो किसी सिद्धान्त या नीति के समर्थन में संगठित होकर संवैधानिक ढंग से शासन का आधार बनाने का इच्छुक हो।"

5. **रेनी और केण्डल** के अनुसार राजनीतिक दल ऐसे "स्वायत्त समूह हैं जो इस आशा से चुनाव लड़ते हैं और प्रत्याशियों का नामांकन करते हैं कि वे अन्तत: शासन सत्ता को प्राप्त करेंगे और उसके कर्मचारीगण और नीतियों पर नियन्त्रण रखेंगे।"

राजनीतिक दलों की विशेषताएँ

राजनीतिक दलों की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं। ये विशेषतायें ही उन्हें अन्य समूहों, गुटों, क्लबों, अल्पजातीय वर्गों, भीड़ आदि से भिन्न करती हैं—

1. **सिद्धान्तों में एकता**—व्यक्तियों का जो समूह अपने आपको राजनीतिक दल में संगठित करना चाहता है उसमें मूलभूत सिद्धान्तों में एकता होनी चाहिए। सिद्धान्त की व्यापक व्यवस्था में भिन्नतायें हो सकती हैं, परन्तु जब तक मूल सिद्धान्तों पर उनमें एकमत नहीं, तब तक राजनीतिक दल का निर्माण नहीं हो सकता।

2. **सुदृढ़ संगठन**—दल कुछ व्यक्तियों का ढीला संगठन नहीं होता। यह लोगों का सुदृढ़ एवं निरन्तर बने रहने वाला संगठन होता है। सुदृढ़ता और निरन्तरता उसकी शक्ति के आधार हैं। उसका जीवन उसके वर्तमान नेताओं या सदस्यों पर निर्भर नहीं करता। जैसाकि जे. सी. जौहरी ने लिखा है कि "दल कोई फर्म या साझेदारी नहीं जो इसके सदस्यों की मृत्यु या चले जाने से विघटित हो जायेगा।"

3. **सदस्यों में घनिष्ठ एवं नियमित सम्बन्ध**—दल के सभी सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध होने चाहिए ताकि समस्याओं पर व्यापक एवं लोकतान्त्रिक ढंग से विचार-विमर्श हो सके। दल के नेताओं का दल के साधारण सदस्यों और दल की राष्ट्रीय इकाइयों का स्थानीय इकाइयों के साथ क्षणिक सम्बन्ध नहीं होते बल्कि निश्चित सम्बन्ध होते हैं।

4. **सामान्य हित**—दल का उदय किसी विशिष्ट हित से आरम्भ होता है, परन्तु उसके व्यापक आधार के लिए यह आवश्यक है कि उसकी अपील विशिष्ट वर्ग या हित या समस्या तक सीमित न रहे बल्कि व्यापक हो। उसके उद्देश्य जितने सामान्य एवं राष्ट्रीय होंगे उसकी अपील उतनी ही व्यापक होगी। जैसाकि ब्लॉण्डल

ने लिखा है कि दल "केवल थोड़े से विषयों तक अपने आपको सीमित नहीं रखते। वे सभी राष्ट्रीय निर्णयों में दिलचस्पी रखते हैं। वे क्षणिक प्रभाव तक सीमित नहीं रह सकते। ये व्यापक प्रभाव से सम्बन्धित होते हैं।"[1]

5. संवैधानिक साधन—सभी राजनीतिक दल सत्ता के लिए संघर्ष करते हैं और उसकी प्राप्ति के इच्छुक होते हैं। परन्तु इसके लिए वे गोली का नहीं मतपत्रों का सहारा लेते हैं। दलों में यह मौन समझौता होता है कि वे सत्ता प्राप्ति के लिए क्रान्ति या हिंसा का सहारा नहीं लेंगे बल्कि संवैधानिक साधनों का सहारा लेंगे। वे अनुनय और राजनीतिक शिक्षा द्वारा जनमत को अपने पक्ष में करके विधान मण्डल में बहुमत प्राप्त कर सत्ता को प्राप्त करेंगे। हिंसा या क्रान्ति पर बल देने वाले दल वस्तुतः राजनीतिक दल की परिभाषा में नहीं आते।

राजनीतिक दलों के कार्य

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के मुख्य कार्य निम्न हैं—

1. स्थिर राजनीतिक प्रक्रिया—दल राजनीतिक प्रक्रिया को सगठित, सरल एवं स्थिर बनाते हैं। वे भिन्न-भिन्न एवं बिखरे हुए लोगों को इकट्ठा करते हैं, उनमें भौगोलिक दूरी को कम करते हैं और मेल-मिलाप करते हैं। दल भिन्न-भिन्न हितों को बोलने के साधन प्रदान कर उनमें मेल-मिलाप उत्पन्न करते हैं। दल भिन्नता में एकता, अस्थिरता में स्थिरता और अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। फाइनर ने लिखा है कि "राजनीतिक दल सम्पूर्ण राष्ट्र को एक शिविर के नीचे एकत्रित करते हैं और नागरिकों में ऐसा भाई-चारा स्थापित करते हैं कि वे इतिहास, भू-भाग और जातीयता के द्वेष भूल जाते हैं।"

2. लोकतन्त्र के वाहन—दलों के अभाव में प्रतिनिधि एवं सहमति पर आधारित शासन असम्भव है। दल लोकतन्त्र की "धुरी" एवं "वाहन" हैं। वे उसकी "रीढ़ की हड्डी" हैं। लीकॉक का मत है कि दल "लोकतान्त्रिक शासन को व्यावहारिक बनाते हैं।" मैकाइवर का मत है कि दलों के बिना "सिद्धान्त का एक-सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास, संसदीय चुनावों की वैधानिक विधि को निश्चित रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता और न ही किसी प्रकार की स्वीकृत संस्थायें हो सकती हैं जिनके द्वारा कोई दल शक्ति प्राप्त करना चाहता है या उसे स्थिर रखना चाहता है।"

3. निर्वाचनों का सहज संचालन—दलों के अभाव में निर्वाचन अव्यवस्थित और लोकतन्त्र दिशाहीन बन जायेगा। स्वतन्त्र उम्मीदवारों का युग समाप्त हो गया है। निर्वाचन की सारी प्रक्रिया दलों पर निर्भर करती है। दल प्रत्याशी खड़े करते हैं; दल उनके लिए प्रचार करते हैं आदि। निर्वाचन जीत कर सदस्य संसद में दलीय नीतियों का समर्थन करते हैं। विधानमण्डल में दलीय बहुमत शासन को

1. Blondel J. : An Introduction to Comparative Government, P. 102.

स्थिरता प्रदान करता है और विधि निर्माण एवं कार्यान्विति में सहायता करता है।

4. पक्ष और विपक्ष – दल पक्ष और विपक्ष दोनों रूपों में कार्य करते हैं। बहुमत दल सरकार का निर्माण करता है; अल्पमत दल विपक्ष के रूप में कार्य करता है। विपक्ष सर्वदा आगामी चुनावों पर अपनी दृष्टि रखता है और जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयास करता है।

5. निरंकुशतन्त्र से रक्षा—विपक्ष के रूप में दल सत्तारूढ़ दल को निरंकुश होने से रोकता है। वह भ्रष्टाचार और अकुशलता का भण्डाफोड़ करता है। सूचनाओं द्वारा वह नागरिकों को सार्वजनिक हितों के प्रति जागरूक रखने का प्रयास करता है। वह विधानमण्डल में प्रश्नों, पूरक प्रश्नों, स्थगन एवं निन्दा और अविश्वास प्रस्तावों तथा आलोचनाओं द्वारा शासकों को सावधान करता है। इस तरह दल नागरिकों की निरंकुशतन्त्र से रक्षा करते हैं। **जेनिंग्स** ने लिखा है कि "जब तक विपक्ष विद्यमान है अधिनायकतन्त्र हो नहीं सकता।"

6. विचारों के दलाल—दल विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं। वे जनता के समक्ष नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। वे "छलनी" का कार्य करते हैं। वे विचारों को निरन्तर स्पष्ट करते रहते हैं, उन्हें क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित करते हैं तथा उन्हें अपने सिद्धान्तों के रूप में पेश करते हैं। **डॉ. आशीर्वादम** ने कहा है कि "दल लोकतन्त्र के आधार हैं। सामान्य इच्छा के निर्माण एवं विकास को सम्भव बनाते हैं।" **न्यूमैन** ने कहा है कि दल "अव्यवस्थित जन इच्छा को संगठित करते हैं।" वे जनमत के निर्माण में सहायक होते हैं। **ब्राइस** ने लिखा है कि दल मतदाताओं के समूह की अराजकता में व्यवस्था पैदा करते हैं।"

7. राजनीतिक शिक्षा—दल नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं और उन्हें सार्वजनिक नीतियों में दिलचस्पी लेने के लिए प्रेरित करते हैं। वे राजनीतिक साहित्य, मंच भाषण, निजी सम्पर्क, प्रेस, रेडियो एवं मनोरंजन के साधनों द्वारा उदासीन एवं अनभिज्ञ मतदाताओं को शिक्षित, जागरूक एवं क्रियाशील बनाते हैं। दल जनता के समक्ष जटिल राजनीतिक समस्याओं को सरल रूप में प्रस्तुत करते हैं। दल अमूर्त मतदाताओं को मूर्त बनाते हैं। दलों के अभाव में मतदाता या तो निष्क्रिय हो जायेंगे या विनाशकारी।

8. शासन और जनता के बीच कड़ी—दल प्रसारण के दोहरे साधन के रूप में कार्य करते हैं। एक तरफ वे नागरिकों को शासन की नीतियों, प्रोग्रामों और उपलब्धियों को समझाने का प्रयास करते हैं और दूसरी ओर वे उनकी शिकायतों, कठिनाइयों और समस्याओं को सरकार तक पहुँचाते हैं। इस तरह दल, शासन और जनता के बीच कड़ी का कार्य करते हैं। **बार्कर** ने ठीक लिखा है कि "दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्यों

गों । यह एक ऐसा पाइप है जिसमें सामाजिक विचारधारा बहती है जो राज्य के तरल बना कर उसके पहियों को घुमाती है ।"[1]

9. **उद्देश्यों का निर्धारण**—प्रत्येक राजनीतिक दल अपना एक दार्शनिक आधार होता है जिस पर वह सामाजिक मूल्यों और उद्देश्यों को निर्धारित करता है । उदाहरणतः जर्मनी में नाज़ी दल का उद्देश्य जातीय पवित्रता था; समाजवादी राज्यों में समाजवादी दलों का उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक समानता है; भारत में, कांग्रेस का उद्देश्य प्रजातान्त्रिक समाजवाद है ।

10. **नेतृत्व की भर्ती**—शासन को नेतृत्व की आवश्यकता होती है और नेतृत्व को समर्थकों की । दल इन दोनों की पूर्ति करते हैं । जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं में दलीय व्यवस्था परिपक्व नहीं होती वहाँ नेतृत्व प्रायः वंशानुगत शासक घरानों या शिष्ट वर्ग से प्राप्त होता है । सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में नेतृत्व एक ही दल की श्रेणियों से प्राप्त होता है । जैसाकि सोवियत संघ में नेतृत्व साम्यवादी दल से प्राप्त होता है । उदार लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में नेतृत्व भिन्न-भिन्न प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दलों से प्राप्त होता है ।

11. **शासनांगों में सहयोग**—दल शासन के भिन्न-भिन्न अंगों में सहयोग उत्पन्न करते हैं । संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में बहुमत दल से होता है । अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में जहाँ शक्ति पृथक्करण के कारण व्यवस्थापिका से पृथक् होती है, वहाँ दल उनमें सहयोग उत्पन्न करते हैं । जैसाकि गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "दलीय व्यवस्था ने अमरीकी शासन प्रणाली की जटिलता को नष्ट कर दिया है । दलों के अभाव में शासनांगों में गतिरोध की सम्भावना बढ़ जायेगी और शासन को सुचारु रूप से चलाना कठिन हो जायेगा । संघीय व्यवस्था वाले राज्यों में दल केन्द्र और एककों की शासन व्यवस्थाओं में मेल मिलाप उत्पन्न करते हैं ।"

12. **शान्तिपूर्ण परिवर्तन के वाहन**—दल विचार-विमर्श के अवसर प्रदान कर क्रान्ति और हिंसा के तत्त्वों को प्रारम्भ में ही शान्त कर देते हैं । दल सत्ता प्राप्त करने के लिए गोली का सहारा नहीं लेते बल्कि मतों का सहारा लेते हैं । वे निरंकुश एवं अत्याचारी शासकों को अपदस्थ करने के लिए क्रान्ति का सहारा नहीं लेते बल्कि जनमत एवं निर्वाचन का सहारा लेते हैं । जैसाकि मैकाइवर ने कहा है कि दल "विवशता की अपेक्षा प्रेरणा को अधिक उचित और शस्त्र-संघर्ष की बजाय विचार-विमर्श को अधिक रचनात्मक मानते हैं ।"

13. **समाज कल्याण सम्बन्धी कार्य**—दल अपने सामाजिक आधार को व्यापक बनाने हेतु अनेक प्रकार के राहत कार्यों में सहायता करते हैं तथा निरक्षरता, छुआछूत और अनभिज्ञता जैसी बुराइयों को दूर करने का प्रयास करते हैं ।

1. Barker : Reflections on Government, p. 39.

14. राजनीतिक एकत्रीकरण एवं आधुनिकीकरण—विकासशील राष्ट्रों में जहाँ राजनीतिक आदतें अभी परिपक्व नहीं हुई और जहाँ जाति, धर्म, परम्परा आदि का प्रभाव अधिक है वहाँ राजनीतिक दल एकत्रीकरण और राजनीतिक आधुनिकीकरण की भूमिका निभाते हैं। वे शासन के ढांचे को स्थिर बनाते हैं; भिन्न-भिन्न आर्थिक और सामाजिक समूहों में कड़ी का कार्य करते हैं; परम्परागत आदतों और व्यवहारों, कबायली या जातीय वफादारियों और धार्मिक नामकरणों में परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। दल भिन्न-भिन्न लोगों को अपने संगठन के अन्तर्गत एकत्रित कर उन्हें संगठित करते हैं।

राजनीतिक दलों के गुण-दोष

गुण (Merits)—राजनीतिक दलों के प्रमुख गुण निम्न हैं—

1. मानव प्रकृति के अनुकूल—दल मानव प्रकृति के अनुकूल हैं। भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न विचार एवं विश्वास होते हैं। कुछ रूढ़ियों और परम्पराओं में विश्वास करते हैं; कुछ यथास्थिति में विश्वास करते हैं; कुछ प्रगतिवादी होते हैं और कुछ आमूल परिवर्तनवादी होते हैं। दल समान विचार वाले व्यक्तियों को एकत्रित होने और विचारों को संगठित रूप में प्रसारित करने के अवसर प्रदान करते हैं। लीकॉक ने लिखा है कि "दलीय" एकता के बिना लोकतान्त्रिक राज्य व्यक्तिगत विचारों की उपद्रवी व्यवस्था मात्र बनकर रह जायेगा।[1]

2. लोकतन्त्र के वाहन
3. निर्वाचनों का सहज संचालन
4. निरंकुशतन्त्र से रक्षा
5. विचारों के दलाल (जनमत का निर्माण)
6. राजनीतिक शिक्षा
7. शासनांगों में सहयोग
8. शान्तिपूर्ण परिवर्तन के वाहन
9. राजनीतिक एकत्रीकरण एवं आधुनिकीकरण

} इन बिन्दुओं की विस्तृत व्याख्या **दलों के कार्यों में** व्यक्त की गई है। अतः इनका अध्ययन उसी शीर्षक के अन्तर्गत कीजिये।

10. विधि निर्माण में सुविधा - दलों के कारण विधि निर्माण का कार्य सरल हो गया है। इससे जहां विधियों में एकरूपता रहती है वहाँ प्रत्यक्ष विधान के खतरों से बचाव हो जाता है।

11. नैतिक गुणों का विकास—दल अपने सदस्यों में अनुशासन, आत्म-संयम और सार्वजनिक कल्याण की भावना पैदा करते हैं। जैसाकि **लावेल** ने कहा है कि "दल संगठन राजनीतिक सनकियों को नियन्त्रित करता है।" दलों को विधान मण्डल में बहुमत प्राप्त करने के लिए सभी वर्गों से अपील करनी पड़ती है, अतः वे

---

1. Leacock : The Elements or political Science. p. 912.

वर्गीय एवं क्षेत्रीय भावनाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्तर पर चिन्तन करते हैं । वे सभी वर्गों, जातियों और धर्मावलम्बियों को अपने दल के संगठन में एकत्रित करते हैं दलों के कारण, जैसाकि मैकाइवर ने कहा है, "वर्गीय राज्य राष्ट्रीय राज्य का रूप ग्रहण कर लेता है ।"

दोष (Demerits)—दलों के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. अप्राकृतिक राजनीतिक घटना—दल पद्धति मानव की स्वाभाविक प्रकृति नहीं । यह ऐसे लोगों का समूह है जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने आपको संगठित कर लेते हैं ।

2 गुटबन्दियों को बढ़ावा—दल देश में गुटबन्दियों को बढ़ावा देते हैं । गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि दल राजनीतिक जीवन को **"यान्त्रिक और कृत्रिम"** बनाते हैं । दल झूठे भय, ईर्ष्या-द्वेष घृणा और अरुचि पैदा करते हैं तथा अनावश्यक उपद्रवों को जन्म देते हैं । **वाशिंगटन** ने कहा था कि "दल एक **शरारतपूर्ण पद्धति है** ।"

3. अनावश्यक आलोचना—दल संसद भवन को दो दलों के संघर्ष का अखाड़ा बना देते हैं । विरोधी पक्ष केवल आलोचना के लिए आलोचना करता है । समस्याओं पर विचार दलीय दृष्टिकोण से किया जाता है । अनेक बार वाद-विवाद, असभ्य और अनैतिकता की स्थिति में पहुँच जाता है जिससे संसद की प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ।

4. योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा—दल **"लूट प्रथा"** को प्रोत्साहन देते हैं । लाभकारी पदों पर दल के सदस्यों को नियुक्त किया जाता है । अन्य दलों के ज्ञानी, योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को भी शासन में नहीं लिया जाता । इससे समाज अपने योग्य व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जाता है ।

5. दलीय हितों की प्रधानता—दल दलीय हितों को राष्ट्रीय हित मान लेते हैं । दलीय भक्ति राष्ट्रीय भक्ति का स्थान ले लेती है । इससे कपट और पाखण्ड को बढ़ावा मिलता है; निष्क्रियता और कर्त्तव्यहीनता, भ्रष्टाचार, पक्षपात और भाई-भतीजावाद को बढ़ावा मिलता है । दल ऐसे दूषित चक्र को जन्म देते हैं जो स्वार्थी, चापलूसों और अवसरवादियों की श्रेणी को जन्म देते हैं । **मेरियट** ने लिखा है कि "यदि दलीय वफादारी को अति सीमा तक ले जाया जाय तो देश-भक्ति के दावे फीके पड़ सकते हैं । यदि दल के नेता या दल के प्रबन्धक अपने आपको मतों के प्राप्त करने के व्यवसाय तक सीमित रखें तो देश की उच्च मांगों की उपेक्षा होने या टालने का खतरा रहता है ।"

6. निजी स्वतन्त्रता का ह्रास— दल के सदस्यों पर दलीय नियन्त्रण इतना कठोर होता है कि उनकी निजी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है । दलीय आदेशों की अवहेलना राजनीतिक मृत्यु का निमन्त्रण हो सकती है । दल उसी स्वतन्त्रता का ह्रास करते हैं जिस पर लोकतंत्र आधारित है । स्वतंत्र विचार वालों को "सनकी"

और "झक्की" कहकर निन्दित किया जाता है। **ब्राइस** ने लिखा है कि "**दलीय अनुशासन प्रतिनिधि को दास बना देता है तथा स्वतन्त्र विचार एवं उसकी अभिव्यक्ति समाप्त हो जाती है।**" जन प्रतिनिधि दलीय यन्त्र के पुर्जे मात्र बन कर रह जाते हैं।

7. सार्वजनिक नैतिकता का पतन—राजनैतिक दल पर स्थिति में अपने आपको सत्ता में बनाये रखना चाहते हैं। इसके लिए वे घृणा पैदा करते हैं, लालच देते हैं, भ्रष्टाचार फैलाते हैं, धोखा देते हैं आदि। **आशीर्वादम** ने लिखा है कि "मतदाताओं को रिश्वत दी जाती है, उनकी खुशामद की जाती है, उन्हें फुसलाया जाता है।" **डॉ. परमात्मा शरण** के अनुसार दल "**संगठित मक्कारी**" है। **ब्राइस** के अनुसार दल "**पतित कुत्सित**" संगठन है। दल वास्तविकता का दमन कर अवास्तविकता को बढ़ावा देते हैं।

विविध राजनीतिक व्यवस्थाओं में दलों का रूप

लोकतान्त्रिक और सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में दलों के रूप में अन्तर होता है। जहाँ लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में दलों का अस्तित्व स्वतन्त्र होता है और राज्य में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रखने वाले अनेक राजनीतिक दल विद्यमान होते हैं वहाँ सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में केवल एक ही दल को मान्यता प्राप्त होती है। उदाहरणतः नाजी जर्मनी में नाजी पार्टी को, फासिस्ट इटली में फासिस्ट पार्टी को और सोवियत संघ में साम्यवादी दल को मान्यता प्राप्त है। लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में दल गैर-संवैधानिक संगठन होते हैं परन्तु सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में दल को संवैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। उदाहरणतः ब्रेझनेव संविधान की धारा 100 केवल साम्यवादी दल तथा उसके सहयोगी संगठनों को निर्वाचन लड़ने का अधिकार देती है। लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में दलों को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होती है परन्तु सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद और स्व-आलोचना के सिद्धान्त प्रचलित होते हैं। लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में दल "खुले" होते हैं उनकी सदस्यता सभी को प्राप्त हो सकती है, उनके नेता नीचे से प्राप्त होते हैं। अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्था में दल "बन्द" होता है, उसकी सदस्यता सीमित होती है और उसके नेता ऊपर से प्राप्त होते हैं।

विकसित और विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में दलों की भूमिका में अन्तर होता है। जहाँ विकसित राजनीतिक व्यवस्था में दलों की नीतियाँ और प्रोग्राम स्पष्ट एवं निश्चित होते हैं वहां विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में दलों को अनेक भूमिकायें निभाने के साथ-साथ राजनीतिक एकत्रीकरण और आधुनिकीकरण की भूमिका भी निभानी पड़ती है।

समाजवादी और सर्वोदयवादी विचारधारा में विश्वास रखने वाली राजनीतिक व्यवस्था में दलों की भूमिका नगण्य होती है क्योंकि ये अन्ततः वर्गविहीन, दल-विहीन समाज की कल्पना करती हैं।

लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। लोकतान्त्रिक सरकारों की कल्पना राजनीतिक दलों के बिना नहीं की जा सकती। किसी ने भी यह बताने का प्रयत्न नहीं किया कि प्रतिनिधि सरकार राजनीतिक दलों के बिना किस प्रकार कार्य कर सकती है। लॉवेल ने ठीक लिखा है कि "किसी महान् राष्ट्र में सम्पूर्ण जनता द्वारा सरकार की धारणा निस्सन्देह एक मनगढ़न्त कल्पना है क्योंकि जहाँ कहीं मताधिकार व्यापक है वहां दलों का अस्तित्व निश्चित है और नियन्त्रण वास्तव में उस दल के हाथों में होगा जिसका बहुमत होगा अर्थात् जिसके पक्ष में सर्वसाधारण का बहुमत होगा।"

राजनीतिक व्यवस्था में दलों की भूमिका एवं महत्व

राजनीतिक व्यवस्था का रूप कैसा भी हो, उनमें दलों की भूमिका एवं महत्त्व निश्चित है। शासन का रूप लोकतान्त्रिक हो अथवा अधिनायकवादी, उसकी विचारधारा उदारवादी हो या अनुदारवादी अथवा समाजवादी हो या सर्वसत्तावादी वह औद्योगिक दृष्टि से विकसित हो अथवा अल्पविकसित, वह परम्परागत हो अथवा आधुनिक, सभी में दल सर्वव्यापी हैं और उनकी आवश्यकता यन्त्र में तेल या चिकनाई के समान हैं।

लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में दलों की भूमिका एवं महत्त्व को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. लोकतन्त्र के वाहन—दल लोकतन्त्र के साधन हैं। दल उसके 'प्राण' 'हृदय' और 'आत्मा' हैं। वे शासन के चतुर्थ अंग हैं। लोकतान्त्रिक राज्यों में निर्वाचन दलीय निर्वाचन होता है, नीतियां दलीय नीतियां होती हैं, सरकार का निर्माण दलीय आधार पर होता है। निर्वाचन घोषणा-पत्र दल निकालते हैं, निर्वाचन के लिए प्रत्याशी दल के आधार पर खड़े किये जाते हैं, उनके लिए प्रसार दल करते हैं, चुनाव खर्च दल करते हैं। लोकतान्त्रिक सरकार आरम्भ से अन्त तक दलीय सरकार होती है। मैकाइवर ने ठीक लिखा है कि राजनीतिक दलों के अभाव में, "सिद्धान्त का एक-सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास एवं संसदीय चुनावों वैधानिक विधि को निश्चित रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता और न ही सी प्रकार की स्वीकृत संस्थायें हो सकती हैं जिनके द्वारा दल शक्ति प्राप्त करना हता है या उसे स्थिर रखना चाहता है।"

2. निरंकुशता से रक्षा—दल पक्ष और विपक्ष दोनों रूपों में कार्य करते हैं। मत प्राप्त दल सरकार का निर्माण करता है और अल्पमत प्राप्त दल जनहित आधार पर उनकी नीतियों की आलोचना करता है। अतः दल शासन के रक्षक, लोचक और सुधारक के रूप में कार्य करते हैं। दल जहाँ सत्तारूढ़ दल को निरंकुश ने से बचाते हैं वहाँ वे नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा भी करते हैं। इस दृष्टि दल स्वतन्त्रता के प्रहरी हैं। वे नागरिकों की निरंकुशता से रक्षा करते हैं। नम्स ने लिखा है "जब तक विपक्ष विद्यमान है अधिनायकतन्त्र नहीं हो सकता।"

3. सूचना पहुँचाने वाले यन्त्र—दल सूचना पहुँचाने वाले यन्त्र हैं। वे लोगों की समस्याओं और शिकायतों को प्रस्तुत करते हैं तथा उन्हें दूर कराने का प्रयास करते हैं। वे शासन की कठिनाइयों, नीतियों और प्रोग्रामों को लोगों को समझाने का प्रयास करते हैं। दल शासन को सतर्क करते हैं। **पिनॉक और स्मिथ** ने ठीक लिखा है कि दलों के अभाव में "आवश्यकता और माँग दोनों के प्रति अनुकरण की सम्भावना मन्द होगी, उत्तरदायित्व को लागू करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायेगा, नेतृत्व अपर्याप्त होगा और शासन प्रभावहीन होगा।"[1]

4. जनमत निर्माण में सहायक—दल विचारों और सिद्धान्तों में एकमत उत्पन्न करते हैं। वे विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं। वे उदासीन एवं अनभिज्ञ मतदाताओं को शिक्षित, जागरूक एवं क्रियाशील बनाते हैं। वे जटिल राजनीतिक समस्याओं को सरल रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और राष्ट्रीय विषयों पर जनमत का निर्माण करते हैं। वे अमूर्त मतदाताओं को मूर्त बनाते हैं। ब्राइस ने लिखा है कि "दल मतदाताओं के समूह की अराजकता में व्यवस्था पैदा करते हैं। दलों के अभाव में मतदाता या तो निष्क्रिय हो जायेंगे या विनाशकारी।

संक्षेप में, लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में, दल सरकार, संसद और जनता के बीच कड़ी का काम करते हैं। वे लोकतान्त्रिक शासन को व्यावहारिक बनाते हैं। समुद्र में ज्वार-भाटे की तरह लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में उनका स्थान निश्चित है।

दलों का वर्गीकरण

मॉरिस डुवर्गर[2] ने राजनीतिक दलों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है—एक दलीय पद्धति, द्वि-दलीय पद्धति और बहुदलीय पद्धति। इस वर्गीकरण को अप्रतिस्पर्द्धात्मक और प्रतिस्पर्द्धात्मक की संज्ञा भी दी जाती है। एक दलीय पद्धति अप्रतिस्पर्द्धात्मक पद्धति है, द्वि-दलीय और बहुदलीय पद्धतियाँ प्रतिस्पर्द्धात्मक पद्धतियाँ हैं। कुछ लेखक दलीय पद्धति के इस वर्गीकरण को अपूर्ण मानते हैं क्योंकि इनकी उप-श्रेणियों को कुछ राजनीतिक व्यवस्थाओं में देखा जा सकता है। मोटे तौर पर मॉरिस डुवर्गर द्वारा किया गया वर्गीकरण पर्याप्त है।

एक दलीय पद्धति

अर्थ एवं स्वरूप—एक दलीय पद्धति में एक दल की प्रधानता होती है अथवा एक दल को संवैधानिक तौर पर मान्यता प्राप्त होती है। जैसाकि **मांइकेल कर्टिस** ने कहा है कि एक दलीय पद्धति में **"सत्तारूढ़ दल या तो अन्य समूहों पर अधिकार**

---

1. Pennock and Smith : Political Science : An Introduction. p. 327
2. Duverger, Maurice : Political Parties.

रखता है और राजनीतिक विरोध को अपने में मिलाने का प्रयास करता है या प्रतियोगिता की स्थिति में, सभी विरोधी समूह को शान्ति विरोधी या शासन के लिए विनाशकारी समझते हुए जो राष्ट्रीय इच्छा को विभक्त करते हैं, उनका दमन करता है।"

एक दलीय पद्धति को दो उप-श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति और दूसरी सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति। लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति दूसरे दलों के अस्तित्व से इन्कार नहीं करती। इस व्यवस्था में अनेक दल विद्यमान होते हैं और उन्हें स्वतन्त्र रूप से बने रहने की स्वतन्त्रता होती है। परन्तु वे इस स्थिति में नहीं होते कि एक प्रधान दल का अकेले या संयुक्त रूप से विकल्प प्रस्तुत कर सकें। उदाहरणतः मार्च 1977 के छठे सामान्य चुनाव से पूर्व भारत में अखिल भारतीय कांग्रेस, 1923 से 1946 तक तुर्की की पीपुल्स रिपब्लिकन पार्टी, 1975 से पूर्व बंगला देश में आवामी लीग और कीनिया में अफ्रीकन नेशनल यूनियन ऑफ कीनिया आदि लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति के उदाहरण हैं। एशिया और अफ्रीका के नव स्वतन्त्र देशों के राष्ट्रीय नेताओं की धारणा है कि राष्ट्रों के निर्माण के लिए एक व्यापक दल (Mass Party) की आवश्यकता है। जुलियस न्येरेरे का मत है कि "सभी व्यक्तियों को व्यापक दल में शामिल होना चाहिए जिसके नेतृत्व में देश ने स्वाधीनता प्राप्त की हो और उसी को स्वतन्त्रता के बाद शासन का संचालन करना चाहिए। यू थां का मत है कि "यह विचार कि प्रजातन्त्र में संगठित विरोधी पक्ष का होना आवश्यक है सत्य नहीं।"

सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति अन्य दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। इस राजनीतिक व्यवस्था में संविधान एक ही दल को मान्यता प्रदान करता है। उदाहरणतः 1977 का ब्रेझनेव संविधान साम्यवादी दल को एकमात्र दल घोषित करता है जो सोवियत निर्वाचनों में भाग ले सकता है। ब्रेझनेव संविधान नागरिकों को सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित होने का अधिकार देता है परन्तु राजनीतिक दृष्टि से वे केवल साम्यवादी दल के ही सदस्य हो सकते हैं। चीन, उत्तरी कोरिया तथा पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों में एक दलीय पद्धति विद्यमान है।

विचारधारा के आधार पर सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति को पुनः दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक यथास्थिति का समर्थन करने वाली पद्धति और दूसरी आमूल परिवर्तन करने वाली पद्धति। पहली को दक्षिण पंथी और दूसरी को वामपंथी कहते हैं। नाजी जर्मनी में नाजी दल और फासिस्ट इटली में फासिस्ट दल दक्षिणपंथी विचारधारा के समर्थक थे और सोवियत संघ का साम्यवादी दल वामपंथी विचारधारा का समर्थक है।

विशेषतायें (Features)—सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय पद्धति की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

1. दल और शासन में एकता—इसमें दल और शासन एक-से ही होते हैं। राज्य, शासन और दल पर्यायवाची शब्द होते हैं। दल के प्रति निष्ठा राज्य और शासन के प्रति निष्ठा होती है। दल के संगठन के अनुकूल ही शासन के स्तर होते हैं। इसमें यह कहना कठिन होता है कि दल कहां समाप्त होता है और शासन कहां शुरू होता है।

2. दल सर्वोच्च निर्देशक शक्ति—इसमें दल शासन पर छाया रहता है। दल के निर्णय शासन के निर्णय होते हैं। दल निर्णय करता है और शासन उसे लागू करता है। जैसाकि स्टालिन ने कहा कि **"दल सर्वोच्च निर्देशक शक्ति है।" कार्टर** का मत है कि "दल क्रान्ति का रक्षक, समाजवादी व्यवस्था का प्रेरक, आदर्श एवं शिक्षक है; दल सूचना प्रदान करता है एवं दल ही शासक है।"

3. राज्य शासन और समाज में भेद का अभाव—इसमें राज्य, शासन और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता। हर चीज राज्य के अधीन होती है। फासिस्ट इटली में यह कहावत प्रसिद्ध थी कि "राष्ट्र के अन्दर ही सब कुछ है और राष्ट्र के अन्दर ही सब कुछ सम्भव है; राज्य के विरुद्ध या राष्ट्र के बाहर कुछ भी नहीं।"

4. विरोध की अनुपस्थिति—इसमें "एक संकल्प और एक आदेश" का सिद्धान्त कार्य करता है। इसमें विरोध अनुपस्थित होता है। इसमें आलोचना के स्थान पर स्वआलोचना पर बल दिया जाता है और वह भी निम्न स्तरों पर। इसमें उच्च स्तरों या नेतृत्व के विरुद्ध विरोध स्वीकार नहीं किया जाता। विरोधियों का या तो सफाया कर दिया जाता है या उन्हें देशद्रोही समझकर श्रमिक शिविरों में भेज दिया जाता है या उन्हें देश निकाला दे दिया जाता है।

5. नेतृत्व पूजा—इसमें नेता और राष्ट्र को एक मान लिया जाता है। नेता दल और राष्ट्र बन जाता है। इसमें "वीर की पूजा" का सिद्धान्त विद्यमान रहता है। फासिस्ट इटली में मुसोलिनी, नाजी जर्मन में हिटलर, सोवियत संघ में लेनिन, स्टालिन और ख्रुश्चेव, चीन में माऊ त्से तुंग, ताइवान में च्यांग काई शेक, स्पेन में जनरल फ्रांको, पुर्तगाल में डॉ. सालाजर के नेतृत्व के प्रति निष्ठा रही है। इसमें नेतागण जन इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत जैसी लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में भी "इन्दिरा भारत और भारत इन्दिरा" का नारा लगाया गया था।

6. लोकतान्त्रिक केन्द्रीकरण—इसमें लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद का सिद्धान्त सर्वत्र विद्यमान रहता है। इसमें समय-समय पर निर्वाचनों का ढोंग रचा जाता है परन्तु वे आरोपित "जनमत संग्रह" से अधिक नहीं होते। इसमें व्यवस्थापिका स्वतंत्र विचार-विमर्श करने वाली निकाय नहीं होती बल्कि दल द्वारा निर्धारित नीतियों एवं निर्णयों को पंजीकृत करने वाली निकाय मात्र होती है। **बार्कर** ने ठीक लिखा

है कि "एक दलीय पद्धति संसदीय संस्थाओं का उन्मूलन नहीं करती बल्कि उन्हें निष्क्रिय बना देती है।"

7. नागरिक कर्त्तव्यों पर बल—इस पद्धति में नागरिक अधिकारों के स्थान पर नागरिक कर्त्तव्यों पर बल दिया जाता है। इसमें स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के स्थान पर उत्तरदायित्व, अनुशासन, शिष्ट वर्ग की योग्यता और सीढ़ीनुमा शासन पर बल दिया जाता है।

8. बन्द दलीय व्यवस्था—इस पद्धति में दल की सदस्यता खुली नहीं होती, बन्द होती है। सोवियत संघ में साम्यवादी दल की सदस्यता सोवियत नागरिकों के केवल 3 प्रतिशत भाग को प्राप्त है। इसमें केवल कट्टर और अनुभवी सिद्धांतवादियों को ही दल का सदस्य बनाया जाता है इसमें दल का स्वरूप अखण्डित होता है।

9. साम्राज्यवादी नीतियां—इसमें दल की नीतियां साम्राज्यवादी, युद्धप्रिय और हिंसक होती हैं। इससे युद्ध और हिंसा को "मानव उपलब्धि की सर्वोत्तम चरमावस्था" समझा जाता है।

गुण (Merits)—एक दलीय पद्धति के मुख्य गुण निम्न हैं—

1. सुदृढ़ एवं कुशल शासन—इसमें शासन सुदृढ़, कुशल एवं स्थिर रहता है। इसमें शासन का विरोध करने या उसका स्थान लेने के लिए कोई अन्य दल विद्यमान नहीं होता। अतः शासन दीर्घकालीन विकासवादी योजनाओं का निर्माण कर सकता है। इसमें शासन की दिशा सुनिश्चित होती है। सुदृढ़ शासन बाह्य आक्रमणों का सामना सुचारु रूप से कर सकते हैं।

2. गुटबन्दियों का अभाव—एक दलीय पद्धति में समाज भिन्न-भिन्न वर्गों या हितों में विभक्त नहीं होता। इसमें विघटनकारी ताकतों का ह्रास होता है। इसमें राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास नहीं होता है। इसमें खिचाव एवं तनाव उत्पन्न नहीं होता और लोगों की निष्ठा राज्य के प्रति बनी रहती है।

3. समय की बचत—इस पद्धति में विषयों पर अनावश्यक वाद-विवाद नहीं होता अर्थात् इसमें विचार-विमर्श पर समय नष्ट नहीं होता। भ्रष्टाचार, कुनबा-परस्ती और पक्षपात का प्रायः अभाव होता है।

दोष (Demerits)—बीसवीं शताब्दी के अनेक देशों में एक दलीय पद्धति को जनता का पर्याप्त समर्थन रहा है और इसकी अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी रही है। फिर भी यह पद्धति शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के विपरीत है। इस पद्धति के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. मानव स्वभाव के विपरीत—मानव स्वभाव एकरूपता नहीं चाहता, वह विभिन्नता चाहता है। साधारण जीवन में मानव एक स्थिति में बना रहना पसन्द नहीं करता। परिवर्तन मानव का स्वभाव है। मनुष्य के जीवन में उसकी आदतों, खान-पान, रुचि आदि में परिवर्तन होता रहता है। एक दलीय पद्धति मानव को एक ही साँचे में ढालती है। अतः यह मानव स्वभाव के विपरीत है।

2. लोकतन्त्र विरोधी—लोकतन्त्र का आधार स्वतन्त्र विचार-विमर्श होता है। एक दलीय पद्धति इस आधार को स्वीकार नहीं करती। इसमें आलोचना का अभाव होने से विविध विचारों का अभाव होता है। इसमें स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के सभी साधनों पर सरकारी नियन्त्रण होता है। देश में गुप्तचरों की भरमार होती है। इसमें निरपेक्षता और सर्वसत्तावाद का नग्न रूप विद्यमान होता है।

3. राज्य, समाज और व्यक्ति में भेद नहीं किया जाता—इसमें राज्य समाज, और व्यक्ति में भेद नहीं किया जाता। इससे व्यक्ति का गौरव और प्रतिष्ठा नष्ट होती है। इसमें मानव मूल्यों का दमन किया जाता है और राज्य के मूल्यों को आरोपित किया जाता है।

4. उत्तराधिकार की समस्या—इसमें उत्तराधिकार की समस्या जटिल होती है। इसमें सत्ता के लिए संघर्ष छिड़ जाता है। इसमें सत्ता का हस्तान्तरण शान्तिमय साधनों से नहीं होता। उदाहरणतः सोवियत संघ में स्टालिन ने सत्ता को प्राप्त करने के लिए लेनिन के सभी साथियों का सफाया कर दिया था। इसी प्रकार ख्रुश्चेव ने सत्ता प्राप्ति के लिए सभी दावेदारों को खत्म कर दिया था। माओ की मृत्यु के बाद चीन में सत्ता प्राप्ति के लिए कुछ समय तक संघर्ष चलता रहा है।

5. गुटीय भावना—यह कहना मिथ्या है कि एक दलीय पद्धति में वर्ग या गुट विद्यमान नहीं होते। वस्तुतः एक दलीय पद्धति में गुट विद्यमान होते हैं। ऐसा नहीं होता तो साम्यवादी दलों में शुद्धिकरण की प्रथा क्यों विद्यमान होती।

6. इसमें दल का स्वरूप खुला नहीं होता, बन्द होता है।

7. इसमें आतंक और भय का वातावरण घुटन पैदा करता है। इसमें सेना और गुप्तचरों की भूमिका बढ़ जाती है। इसकी नीतियाँ साम्राज्यवादी होती हैं जो विश्व शान्ति के लिए खतरा होती हैं।

द्वि-दलीय पद्धति

अर्थ एवं स्वरूप—द्वि-दलीय पद्धति में **दो दलों की प्रधानता** होती है। दो प्रमुख दल समय-समय पर बारी-बारी से सत्ता का उपयोग करते हैं क्योंकि वे दोनों ही निर्वाचक मतों के अधिकांश भाग को आपस में बाँट लेने की स्थिति में होते हैं। वे विधान मण्डल में बारी-बारी से बहुमत प्राप्त करते रहते हैं।

द्वि-दलीय पद्धति का यह अर्थ नहीं कि वहाँ अन्य दल विद्यमान नहीं होते। अन्य दल विद्यमान तो होते हैं परन्तु उनकी स्थिति प्रायः गौण या महत्त्वहीन होती है। उन्हें निर्वाचन मतों का थोड़ा अंश ही प्राप्त होता है। अच्छी से अच्छी स्थिति में वे दो प्रमुख दलों के सहायक के रूप में कार्य कर सकते हैं अथवा कभी-कभी मिली-जुली सरकार के साझेदार बन जाते हैं।

ब्रिटेन और अमरीका द्वि-दलीय पद्धति के प्रमुख उदाहरण हैं। ब्रिटेन में दो प्रमुख दल हैं—**अनुदार दल और श्रमिक दल;** यद्यपि वहां उदार दल भी विद्यमान

है। अमरीका में दो प्रमुख दल है—डेमोक्रेटिक पार्टी और रिपब्लिकन पार्टी, यद्यपि वहां साम्यवादी, समाजवादी जैसे छोटे दल भी विद्यमान हैं।

विचारधारा की दृष्टि से द्वि-दलीय पद्धति को पुनः दो उप श्रेणियों में बांटा जा सकता है। जहां दलों की नीतियां और प्रोग्राम स्पष्ट और निश्चित होते हैं वहां सुस्पष्ट द्वि-दलीय पद्धति होती है परन्तु जहां दलों की नीतियां और प्रोग्राम सुस्पष्ट नहीं होते, अर्थात् जहां दो प्रमुख दलों की विचारधारा में कोई भिन्नता नहीं होती, परन्तु विषयों के सम्बन्ध में उनमें भिन्नता होती है, वहां अस्पष्ट द्वि-दलीय पद्धति विद्यमान होती है। ब्रिटेन के अनुदार और श्रमिक दल सुस्पष्ट द्वि-दलीय पद्धति के उदाहरण हैं जबकि अमरीका के डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दल अस्पष्ट द्वि-दलीय पद्धति के उदाहरण हैं। फाइनर का मत है कि अमरीका में एक ही दल है। रिपब्लिकन-डेमोक्रेटिक दल। लार्ड ब्राइस का मत है कि अमरीकी दल "दो खाली बोतलों के समान है जिसमें प्रत्येक पर दो भिन्न प्रकार की शराब के लेबल चिपके हुए हैं।"

विशेषतायें (Features)—द्वि-दलीय पद्धति की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. इसमें शासन का निर्माण सरल होता है। इसमें संसद में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाता है।

2. इसमें वैकल्पिक सरकार सरलता से उपलब्ध हो जाती है। जब कभी सत्तारूढ़ दल विधानमण्डल में विरोधी मत के कारण गिर जाता है तो विरोधी पक्ष, जो पहले से ही छाया मन्त्रिमण्डल के रूप में कार्य कर रहा होता है, शासन की बागडोर सम्भाल लेता है।

3. इसमें शासन का उत्तरदायित्व स्पष्ट और निश्चित होता है।

4. इसमें जनता को सही राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त होता है।

5. इसमें दलीय अनुशासन और नियन्त्रण कड़ा होता है। इसमें दल बदलुओं का बाजार गर्म नहीं होता।

6. इसमें दलों की नीतियां स्पष्ट और सुनिश्चित होती हैं।

7. इसमें लोकतान्त्रिक नेतृत्व की भूमिका अत्यधिक होती है। इसमे मतदाता भावी प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति का चयन करते हैं।

8. इसमें 'संसदीय सर्वोच्चता' और विधि के शासन के सिद्धान्त विद्यमान होते हैं।

गुण (Merits)—द्वि-दलीय पद्धति लेखकों की प्रशंसा की पात्र रही है। लास्की, फाइनर, ब्राइस, मेकाइवर, सेट आदि लेखक इसके प्रशंसक रहे हैं। प्रो. लास्की का मत है कि यही एक ऐसी पद्धति है जिसमें लोगों को निर्वाचन के समय प्रत्यक्ष रूप से अपनी सरकार का चुनाव करने का अवसर मिलता है। इसमें सरकार अपनी नीतियों को कानून का रूप दे सकती है, अपनी असफलताओं के कारणों को

प्रकट करती है और सबको समझाती है। इसमें एक वैकल्पिक सरकार तत्काल अस्तित्व में आ सकती है।"[1] फाइनर का मत है कि "जिस देश में द्वि-दलीय पद्धति होगी वहाँ के लोग कर्त्तव्य परायण और सुखी होंगे "जहाँ दो दलों में संघर्ष रहता है वहाँ त्रुटियाँ आसानी से पकड़ी जा सकती हैं, सार्वजनिक इच्छाओं का दमन कम होता है और पूर्ण विनाश की सम्भावनायें कम हो जाती हैं।"[2] **मैकाइवर** का मत है कि द्वि-दलीय पद्धति मे जहाँ "अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है "वहाँ उत्तरदायित्व का भी केन्द्रीकरण होता है और उसे लागू करने का ढंग सरल होता है।"

द्वि-दलीय पद्धति के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं -

1. शासन का निर्माण सरल—इसमें शासन का निर्माण सरल होता है। विधानमण्डल में जिस दल को बहुमत प्राप्त होता है राज्याध्यक्ष उसके नेता को शासनाध्यक्ष (प्रधानमन्त्री) नियुक्त कर देता है। बहुदलीय पद्धति में शासनाध्यक्ष को नियुक्त करना कठिन होता है क्योंकि विधानमण्डल में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता।

2. स्थिर एवं कुशल शासन—इसमें मन्त्रिमण्डल को विधानमण्डल में बहुमत दल का पूर्ण एवं निरन्तर समर्थन प्राप्त होता है। अतः उसे अस्थिरता भयभीत नहीं करती। स्थिरता होने के कारण शासन में दृढ़ता और कुशलता बनी रहती है। बहुदलीय पद्धति में संयुक्त मन्त्रिमण्डल को, जिसमें कहीं की ईंटें और कहीं के रोड़े शामिल होते हैं, विधानमण्डल में बहुमत के समर्थन का आश्वासन नहीं होता। अतः वह नीतियों को सुदृढ़ता से नहीं अपना सकती और उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से लागू नहीं कर सकती।

3. दलीय एवं राष्ट्रीय एकता—इसमें दलीय एकता बनी रहती है। इससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ होती है। मन्त्रिमण्डल का निर्माण एक दल के सदस्यों से होता है जिनमें राजनीतिक एकरूपता होती है। इसमें 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' कार्य करते हैं। इसमें सिद्धान्तों और प्रोग्रामों की एकता होती है। निर्वाचनों में दल वर्ग विभेदों को नहीं उभारते क्योंकि बहुमत प्राप्त करने के लिए उन्हें समाज के सभी वर्गों से अपील करनी पड़ती है। बहुदलीय पद्धति में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों में न तो सिद्धान्तों की एकता होती है और न प्रोग्रामों की। वे अवसरवादी होते हैं। वे चुनावों में वर्ग-विभेदों को उभारते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता का ह्रास होता है।

4. निश्चित उत्तरदायित्व—द्वि-दलीय पद्धति में सत्तारूढ़ दल अपनी त्रुटियों के लिए स्पष्ट रूप से उत्तरदायी होता है। विरोधी पक्ष भी सत्तारूढ़ दल की त्रुटियों और कमजोरियों का पर्दाफाश करने के लिए तैयार रहता है। इससे जहाँ शासन

1. Laski, Harold J. : Grammar of Politics; p. 314.
2. Finer, H : The Theory and Practice of Modern Government, p. 350.

की निरंकुशता पर रोक लगती है वहाँ सत्तारूढ़ दल सतर्क हो जाता है और वह सार्वजनिक हितों की उपेक्षा नहीं करता।

5. वैकल्पिक शासन—इसमें विरोधी पक्ष उसी प्रकार से संगठित होता है जिस प्रकार सत्तारूढ़ दल। जब कभी सत्तारूढ़ दल विधानमण्डल में विरोधी मत के कारण गिर जाता है तो विरोधी दल, जो पहले से ही छाया मन्त्रिमण्डल के रूप में कार्य कर रहा होता है तत्काल उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

6. सत्ता का शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण—इसमें दलों में यह मौन समझौता होता है कि वे शासन सत्ता को हिंसा या क्रान्ति द्वारा प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि संवैधानिक साधनों द्वारा प्राप्त करेंगे। अतः दल निर्वाचकों के माध्यम से विधान मण्डल में बहुमत प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

दोष (Demerits)—द्वि दलीय पद्धति के जहाँ प्रशंसक हैं वहाँ इसके आलोचक भी हैं। रेम्जे म्यूर का मत है कि द्वि-दलीय पद्धति **"विधान मण्डल के गौरव को कम करती है और मन्त्रिमण्डल की तानाशाही को जन्म देती है।"**

द्वि-दलीय पद्धति के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

1. **मन्त्रिमण्डल का अधिनायकवाद**—इसमें संसदीय बहुमत के नशे में मंत्रि-मण्डल अधिनायक बन जाता है। इसमें कानूनों का निर्माण सर्वसम्मति के आधार पर नहीं होता बल्कि दलीय बहुमत के आधार पर होता है। लार्ड हर्वर्ट ने इसे नवीन निरंकुशता की संज्ञा दी है।

2. **विधानमण्डल का गौण महत्त्व**—इसमें विधानमण्डल बहुमत के निर्णयों को पंजीकृत करने वाला निकाय बनकर रह जाता है। दल के सदस्यों पर दल के सचेतकों का नियन्त्रण रहता है। वे दल की नीतियों का समर्थन करते हैं। सदस्यों के लिए दलीय आदेशों की अवहेलना करना राजनीतिक मृत्यु को निमन्त्रण देना हो सकता है। इससे सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन होता है और अन्ध दल भक्ति जन्म लेती है।

3. **लूट प्रथा**—इसमें सत्तारूढ़ दल के सदस्यों को ही लाभ के पदों पर नियुक्त किया जाता है और विरोधी दल के योग्य सदस्य भी पदों से वंचित रह जाते हैं। इससे देश व समाज योग्य व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जाता है।

4. इसमें राष्ट्र दो वर्गों में विभक्त हो जाता है। इसमें उम्मीदवारों तथा कार्यक्रम के दो विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं। इससे मतदाताओं की पसन्दी सीमित हो जाती है। यह उन लोगों को व्याकुल छोड़ देती है जो दोनों में से किसी एक को स्वीकार नहीं करते। रेम्जे म्यूर ने कहा है कि **"द्वि-दलीय पद्धति होने से जनमत का शुद्ध प्रकाशन नहीं हो पाता और बहुत से हितों व मतों की आवाज दबकर रह जाती है।"**

बहुदलीय पद्धति

अर्थ एवं स्वरूप—बहुदलीय पद्धति में अनेक राजनीतिक दल होते हैं। इनमें से कोई भी एक दल निर्वाचक मतों का बहुमत प्राप्त करने या विधानमण्डल में बहुमत को स्वयं नियन्त्रित करने और शासन सत्ता को सम्भालने की स्थिति में नहीं होता। इसमें संयुक्त (मिले-जुले) मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है। इसमें शासन का अस्तित्व अनेक दलों के सहयोग और समर्थन पर निर्भर करता हैं। यह प्रणाली संसदात्मक शासन प्रणाली वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में विद्यमान हो सकती है। इंगलैंड को छोड़कर महाद्वीपीय यूरोप और स्केन्डेनेवियन देशों में प्रायः यही प्रणाली विद्यमान है। स्विट्जरलैंड, फ्रांस, इटली आदि देशों में यही पद्धति विद्यमान है। भारत में भी बहुदलीय पद्धति है।

बहुदलीय पद्धति को दो उप-श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक स्थिर बहुदलीय पद्धति और दूसरी अस्थिर बहुदलीय पद्धति। पहली पद्धति का उदाहरण स्विट्जरलैंड है जहाँ सोशल डेमोक्रेट्स, रेडिकल डेमोक्रेट्स, लिबरल डेमोक्रेट्स और समाजवादी दल राजनीतिक अस्थिरता और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न किये बिना सत्ता के लिए संघर्ष करते हैं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे राजनीतिक विघटन उत्पन्न नहीं होता। दूसरी पद्धति का उदाहरण है–फ्रांस। यहाँ समाजवादी, साम्यवादी, गालिस्ट, उदारवादी और रिपब्लिकन दलों का व्यवहार राजनीतिक अस्थिरता और विघटन उत्पन्न कर देता है। इटली की बहुदलीय पद्धति भी फ्रांस का आदि रूप (Prototype) है।

विशेषतायें—बहुदलीय पद्धति की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

1. इसमें मन्त्रिमण्डल संयुक्त (मिले-जुले) होते हैं।

2. इसमें मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल अल्प होता है और संयुक्त दलों के सहयोग और समर्थन पर निर्भर करता है।

3. इसमें गठजोड़ और विघटन का क्रम निरन्तर बने रहने से दल बदलुओं और अवसरवादियों का बाजार गर्म रहता है।

4. इसमें निर्दलीय सदस्यों का महत्त्व अधिक होता है।

5. इसमें सरकारी नीतियों का निर्माण सौदेबाजी और मेल-मिलाप के आधार पर होता है।

6. इसमें निश्चित विचारधारा का अभाव होता है। इसमें सरकारी नीतियाँ निश्चित या सुदृढ़ नहीं होतीं। इसमें स्पष्ट कार्यक्रम का अभाव होता है। इसमें सहयोग केवल विषयों तक सीमित रहता है।

7. इसमें दलीय भक्ति सुदृढ़ या एकाग्र नहीं होती।

8. इसमें शासन में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है।

9. इसमें वैकल्पिक विरोध निश्चित और स्पष्ट नहीं होता।

10. इसमें दलों का रूप दबाव समूह जैसा होता है। इसमें दल व्यापक हितों के स्थान पर विशिष्ट हितों से सम्बन्धित रहते हैं। इनका आधार कृषि, उद्योग, अल्पमत, धर्म या क्षेत्र होता है।

11. इसमें दलों का व्यापक आधार नहीं होता। इसमें दलों की जड़ें गहरी नहीं होतीं। अतः इसमें दलों के संगठन सुदृढ़ नहीं होते, उनमें मानव शक्ति और स्रोतों का अभाव रहता है।

गुण (Merits)—बहुदलीय पद्धति के गुण निम्न हैं—

1. पसन्दगी का व्यापक क्षेत्र—द्वि-दलीय पद्धति में मतदाताओं की पसन्दगी का क्षेत्र केवल दो दलों तक सीमित होता है परन्तु बहुदलीय पद्धति में उनकी पसन्दगी का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। ये उन दलों के प्रत्याशियों को मत दे सकते हैं जो उनके विचारों के अधिक निकट होते हैं। इससे मतदाताओं की स्वतन्त्रता का दायरा बढ़ जाता है और उनकी अभिव्यक्ति की भावना का विकास होता है।

2. सही प्रतिनिधित्व—इसमें समाज के सभी वर्गों और हितों को विधान मण्डल में सही प्रतिनिधित्व का अवसर मिल जाता है। इसमें मन्त्रिमण्डल संयुक्त होते हैं। अतः अल्पमत समूहों को अपने हितों की रक्षा हेतु सौदेबाजी करने का अवसर मिल जाता है। इसमें अल्पमत भी अपने लिए शक्ति जुटा लेता है।

3. अनुकरणशीलता—इसमें सरकार जनता की इच्छाओं का अनुकरण करती है। इसमें लोगों की शासन तक पहुंच सुगम होती है। इसमें भिन्न-भिन्न दल सौदेबाजी की स्थिति में होते हैं अतः शासन उनकी इच्छाओं और धारणाओं का आदर करता है।

4. बहुमत की निरंकुशता से मुक्ति—द्वि-दलीय पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सत्तारूढ़ दल संसदीय बहुमत के नशे में निरंकुश हो जाता है और मनमानी करने लगता है। अनेक बार तो वह लोकतान्त्रिक प्रणाली और जनहितों की उपेक्षा भी करने लगता है। विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल के हाथों की कठपुतली मात्र बनकर रह जाता है। परन्तु ये सभी दोष बहुदलीय पद्धति में विद्यमान नहीं होते। इसमें मन्त्रिमण्डल निरंकुश नहीं हो सकता और विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल के हाथों की कठपुतली नहीं बनता। इसमें सभी दल बराबर होते हैं। अतः मन्त्रि-मण्डल को साझेदारों (भिन्न-भिन्न दलों) के सुझावों को स्वीकार करना पड़ता है। इसमें समझौता एवं समन्वय प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। विधानमण्डल प्रभाव-शाली स्थिति में होता है और उसके सदस्यों में विचार-विमर्श की स्वतन्त्रता पर्याप्त बनी रहती है। विधानमण्डल हठधर्मी शासन को अपदस्थ करने की स्थिति में होता है।

5. मानव प्रकृति के अनुकूल—बहुदलीय पद्धति मानव स्वभाव के अनुकूल है। मानव केवल दो मतों में चयन नहीं करना चाहता। वह अनेक मतों में चयन करना चाहता है। जैसा कि रेम्जे म्यूर ने लिखा है कि "राज्य में कम से कम तीन राजनीतिक दल अवश्य होने चाहिये क्योंकि मानव की तीन मूलभूत राजनीतिक प्रवृत्तियाँ होती हैं—दक्षिणपन्थी, मध्यवर्गीय और वामपन्थी।"

6. प्रशासन में योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति—द्वि-दलीय पद्धति में मन्त्रिमण्डल में केवल उन्हीं व्यक्तियों को लिया जाता है जो सत्तारूढ़ दल के सदस्य होते हैं। अन्य दलों के सदस्यों को, चाहे वे कितने ही योग्य क्यों न हों, प्रशासन में नहीं लिया जाता। इससे प्रशासन योग्य व्यक्तियों से और देश व समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जाता है, परन्तु बहुदलीय पद्धति में संयुक्त मन्त्रिमण्डल होने से भिन्न-भिन्न दलों के योग्य व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में शामिल किया जाता है।

दोष (Demerits)—बहुदलीय पद्धति के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. निर्बल एवं अस्थिर शासन—बहुदलीय मन्त्रिमण्डल स्वभाव से ही निर्बल और अस्थिर होते हैं। मन्त्रिमण्डल ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिनमें सिद्धान्तों, प्रोग्रामों और नीतियों में कोई एकरूपता नहीं पायी जाती। इसी प्रकार के मन्त्रि-मण्डल "भानुमति के कुनवे" होते हैं। यदि मन्त्रिमण्डल संयुक्त रहता भी है तो भी वह प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर सकता क्योंकि सकारात्मक कार्यों के लिए सभी सदस्यों में सहमति और सम्बद्धता प्राप्त करना कठिन होता है और जब वह विभक्त हो जाता है तो शासन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है और नीतियों की कार्यान्विति को तब तक स्थगित कर दिया जाता है जब तक नये संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं हो जाता। संयुक्त मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल इसलिए अल्प होता है कि इसमें शामिल होने वाले दल केवल कार्यसाधकता के आधार पर इकट्ठे होते हैं, उनमें सिद्धान्तों पर कोई एकता नहीं होती। फ्रांस में ऐसे मन्त्रिमण्डलों के उदाहरण हैं जिनका निर्माण प्रातःकाल हुआ और सायंकाल को उनका पतन हो गया।

2. विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा—दलों की बहुलता विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। इसमें राजनीतिक सहनशीलता कम होती है। भिन्न-भिन्न मत रखने वालों में अलगाव के तत्व गहरे पैठ जाते हैं जो 'फूट' डालकर नये छोटे-छोटे दलों को जन्म देते हैं। भिन्न-भिन्न मत रखने वालों की अतिवादिता के कारण राष्ट्रीय नीतियों में मध्यमार्गी नीति अपनाना कठिन हो जाता है।

3. दलीय नियन्त्रण का अभाव—इसमें दलों का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण ढीला हो जाता है जिससे दल बदलुओं और अवसरवादियों का बाजार गरम हो जाता है। एफ ब्रियाँ का मत है कि "फ्रांस में जिस दिन प्रधानमन्त्री अपना पद ग्रहण करता है उसी दिन उसके किसी साथी द्वारा उसके पतन के लिए कार्य करना

प्रारम्भ कर दिया जाता है।" "मतों का यह व्यापार" जहाँ राजनैतिक नैतिकता को दुर्बल करता है वहाँ सार्वजनिक जीवन को भ्रष्ट करता है।

4. चुनावी आश्वासनों का पूरा न होना—बहुदलीय पद्धति में द्वि-दलीय पद्धति की तुलना में कथनी और करनी में गम्भीर अन्तर होता है। जहाँ द्वि-दलीय पद्धति में सत्तारूढ़ दल चुनाव आश्वासनों को पूरा करने की स्थिति में होता है वहाँ बहुदलीय पद्धति में कोई एक दल शासन निर्माण की स्थिति में नहीं होता। अतः वह चुनाव आश्वासनों को पूरा नहीं कर सकता।

5. उत्तरदायित्व का अभाव—इसमें उत्तरदायित्व को निश्चित करना कठिन होता है। इसमें प्रत्येक दल श्रेय तो प्राप्त करना चाहता है, परन्तु त्रुटियों के लिए वह दूसरे घटक को उत्तरदायी बनाता है। इससे शासन में न तो कुशलता लायी जा सकती है और न दीर्घकालीन योजनायें अपनायी जा सकती हैं।

6. मतदाता की कठिनाइयों में वृद्धि—इसमें मतदाता की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। विचारों की विविधता के कारण निरक्षर और अनभिज्ञ मतदाता सही चयन नहीं कर पाता। वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि कौनसा दल सही दिशा प्रदान करने की स्थिति में है।

7. बहुदलीय पद्धति सदस्यों को विधानमण्डल में इतनी अधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर देती है कि स्थिति अराजकता तक पहुँच सकती है।

8. इसमें दल के पास संगठन, मानव शक्ति और वित्तीय स्रोतों का अभाव रहता है।

उपर्युक्त दोषों के बाद भी बहुदलीय पद्धति स्थिरता उत्पन्न कर सकती है यदि दलों में स्विट्जरलैण्ड की भाँति मूलभूत संवैधानिक प्रश्नों और आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्तों पर एकमत हो।

समीक्षा प्रश्न

1. लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना कीजिए। (Raj. 1978, 85)
2. राजनीतिक दल से क्या आशय है? इसकी विशेषतायें क्या हैं? जनतांत्रिक राज्य में इसके कौन-कौन से कार्य हैं? (Raj. 1984, 87)
3. राजनीतिक दलों की परिभाषा दीजिए और जनमत के निर्माण में इनकी भूमिका का परीक्षण कीजिए। (Raj. Suppl. 1983)
4. द्वि-दलीय व्यवस्था पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (Raj. Suppl. 1986)

28

दबाव समूह

(Pressure Groups)

परिचय—मिलकर कार्य करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। अतः समान हित रखने वाले व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति हेतु अपने-आपको संघों या समूहों में संगठित कर लेते हैं। यही कारण है कि समाज में कृषकों, मजदूरों, औद्योगिक मजदूरों, मालिकों, भू-पतियों, अध्यापकों, विद्यार्थियों, व्यापारियों, डाक्टरों, इन्जीनियरों, सरकारी कर्मचारियों आदि के अलग-अलग संघ पैदा हो जाते हैं। ये संघ ऐच्छिक होते हैं। इनका क्षेत्र एक उद्योग, कार्यालय, प्रशासनिक विभाग, प्रान्त, राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। संचार और आवागमन के साधनों के विकास और लोकतान्त्रिक प्रणाली के विद्यमान होने से ये संघ आधुनिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं। कोरी और अब्राहम ने लिखा है कि **"एक ऐसा निरन्तर बना रहने वाला समूह जीवन आरम्भ हो चुका है जिसका इतिहास में कोई उदाहरण नहीं।"**[1]

खुले और औद्योगिक समाजों में तथा लोकतान्त्रिक शासन प्रणालियों में जहाँ स्वतन्त्र भाषण, अभिव्यक्ति, संघ एवं समूह बनाने की स्वतन्त्रता होती है तथा नागरिक अपनी शिकायतों को दूर कराने के लिए याचिका प्रस्तुत कर सकते हैं, वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदायों, संघों या समूहों का विद्यमान होना स्वाभाविक है। मतदाता अपने हितों की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः दो प्रकार के संगठनों का निर्माण करते हैं, जिन्हें राजनीतिक शब्दावली में दबाव समूह और राजनीतिक दल कहते हैं। जहाँ दबाव समूह मतदाताओं के विशेष हितों—औद्योगिक, व्यावसायिक, आर्थिक, वर्गीय, जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय, उपभोक्ता आदि को अभिव्यक्त करने के साधन प्रदान करते हैं वहाँ राजनीतिक दल सामान्य हितों को अभिव्यक्त करने के साधन प्रदान करते हैं।

अर्थ, प्रकृति एवं परिभाषा—दबाव समूह गैर-राजनीतिक, गैर-सरकारी, ऐच्छिक तथा औपचारिक रूप से संगठित समूह होते हैं जो अपने समूह के सदस्यों

1. Corry and Abraham : Elements to Democratic Government, p. 346.

की आवश्यकताओं और हितों की पूर्ति से सम्बन्धित होते हैं। ये नागरिकों के सामान्य हितों को अभिव्यक्त नहीं करते और उन्हें अभिव्यक्त करने का दावा भी नहीं करते। इनके उद्देश्य सीमित, संकीर्ण और विशेष प्रश्न या समस्या या मसले तक केन्द्रित होते हैं। ये राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना नहीं चाहते। ये मत-दाताओं की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए कोई प्रोग्राम या घोषणा पत्र नहीं निकालते। ये निर्वाचन में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते। इनके कोई राजनीतिक प्रोग्राम या नीतियाँ नहीं होतीं। ये स्वयं निर्णय नहीं लेते बल्कि निर्णय लेने वाली प्रक्रियाओं, सार्वजनिक अधिकारियों, विधायकों आदि को प्रभावित करने का काम करते हैं।

दबाव समूहों की अपनी कोई ठोस नीति या कार्यक्रम नहीं होता। फिर भी ये "शक्ति संगठन" हैं और अपने सदस्यों के हितों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सक्रिय रहते हैं। ये सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं और अपने सदस्यों के लिए लाइसेन्स प्राप्त करते हैं, करों को लगाने या न लगाने में दिलचस्पी रखते हैं, सरकारी सहायता, संरक्षण और सुविधा प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, किसी अमुक विधेयक को पास करवाने या न करवाने में हिस्सा लेते हैं।

दबाव समूह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विविध साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। ये पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन, व्यक्तिगत सम्पर्क, मनोरंजन के साधन जैसाकि भोजन, मद्यपान, कामुक स्त्रियों का प्रयोग, विदेश यात्रा का लालच, धन, घूस, जनमत का दबाव, लॉबीइंग, रैलियाँ, महान प्रदर्शन, सर्वव्यापी हड़ताल, बन्द, धरना आदि का प्रयोग कर सकते हैं।

परिभाषा—दबाव समूह की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. **मायरन वीनर के शब्दों में**, "हित या दबाव समूह ऐसा स्वेच्छिक संगठित समूह है जो प्रशासनिक ढाँचे से बाहर रहकर सरकारी कर्मचारियों के नामांकन अथवा नियुक्ति तथा सार्वजनिक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।"

2. **ओडीगार्ड के शब्दों में**, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को, इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करें कि उनके अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि हो।"

3. **मैकाइवर के शब्दों में**, "दबाव समूह ऐसे संगठित या असंगठित व्यक्तियों का जोड़ है जो दबाव के दावपेंचों का प्रयोग करता है।"

4 **हिचनर और हर्बोल्ड के शब्दों में**, "हितबद्ध समूह कोई भी ऐसा समूह है जो सरकार से कुछ चाहता है।"

5. एच जेगलर के शब्दों में, ''दबाव समूह ऐसा संगठित समूह है जो अपने सदस्यों को सरकारी पदों पर बिठाये बिना सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने की जिज्ञासा रखता है।''

6. हेनरी ए. टर्नर के शब्दों में, ''दबाव समूह गैर राजनीतिक संगठन है जो सार्वजनिक नीति के किसी चरण को प्रभावित करने का प्रयास करता है।''

हितबद्ध गुट, दबाव समूह एवं लॉबी में भेद

हितबद्ध गुट, दबाव समूह और लॉबी तीनों का मूल उद्देश्य अपने समूह के हितों की पूर्ति करना है। फिर भी इन तीनों में कुछ भेद पाये जाते हैं जिन्हें समझ लेना आवश्यक है। रोसिटर ने इनके भेदों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है। समूहों को हम ''हितबद्ध गुट तब कहते हैं जब हम अपने आपको ''रोगी'' समझते हैं; जब हम अपने-आपको ''संकटमय'' समझते हैं तो वे समूह दबाव समूह बन जाते हैं और जब हम उन्हें ''राजधानियों में कार्य करते'' देखते हैं तो वे लॉबी का रूप धारण कर लेते हैं।'' दूसरे शब्दों में, जब समान हित वाले व्यक्ति संगठित हो जाते हैं और अपने विशेष वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं तो उन्हें हितबद्ध गुट कहते हैं। जब ये संगठित हितबद्ध गुट विधायकों, प्रशासनिक अधिकारियों या निर्णय लेने वाले अन्य अधिकारियों पर दबाव या प्रभाव डालते हैं तो उन्हें दबाव समूह कहते हैं और जब दबाव समूहों का समर्थन करने वाले व्यक्ति या अभिकर्त्ता या वैतनिक प्रचारक विधान सभा के बरामदों में विधायकों पर प्रभाव डालते हैं कि वे किसी विधेयक या नीति के पक्ष या विपक्ष में मतदान करें तो उसे **लॉबीइंग** कहते हैं। दबाव समूह लॉबी नहीं। दबाव समूह की गतिविधियाँ लॉबी से व्यापक और विशाल होती हैं जबकि लॉबिस्ट की गतिविधियाँ सीमित होती हैं। जहाँ दबाव समूह विधेयकों और जनहित दोनों को प्रभावित करने का प्रयास करता है वहाँ लॉबी या लॉबिइस्ट केवल विधानमण्डल या विधायकों को प्रभावित करने का प्रयास करता है। लॉबी तभी क्रियाशील होती है जब विधानमण्डल के अधिवेशन हो रहे होते हैं और जब वे किसी विधेयक के पक्ष या विपक्ष में दिलचस्पी रखते हैं। अधिकांश दबाव समूह राजधानियों में अपनी लॉबियों को बनाये रखते हैं। **अमरीका में ''चीनी लॉबी'' और ''कृषि लॉबी''** अत्यधिक प्रसिद्ध है।

दबाव समूह के लक्षण या विशेषतायें

दबाव समूह के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. विशेष हित—विशेष हित दबाव समूह के निर्माण का मूल आधार है। इसके अभाव में दबाव समूह का निर्माण नहीं हो सकता। विशेष हित व्यक्तियों को संगठित होने की प्रेरणा देता है। जिस तरह एक ही रंग के पक्षी इकट्ठे उड़ते हैं उसी तरह समान हित रखने वाले व्यक्ति अपने हितों की सुरक्षा, सिद्धि और वृद्धि के लिए इकट्ठे कार्य करते हैं। समूह के सदस्य समूह की क्रियाओं में जितना सक्रिय भाग लेंगे एवं समूह की क्रियायें जितनी व्यापक होंगी उतना ही वह अपने हितों की

पूर्ति में सहायक होता । भीड़ या किसी मैच को देखने वाले दर्शक या किसी प्रस्ताव को पास करने हेतु एकत्र होने वाले लोग दबाव समूह नहीं कहलाते । दबाव समूह के लिए सामूहिक, संगठित, सक्रिय क्रिया का होना आवश्यक है ।

2 राजनीति में लुका-छिपी की भूमिका—दबाव समूह खुलकर राजनीति में भाग नहीं लेते । वे गुप्त रूप से, परदे के पीछे रहकर, राजनीति और राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं । वे अपने-आपको गैर-राजनीतिक, गैर सरकारी संगठन बताकर अपनी तटस्थता को अभिव्यक्त करते हैं । वे हितों की पूर्ति के लिए अस्थिर राजनीतिक वफादारियों का सहारा लेते हैं । वे चुनाव नहीं लड़ते और न ही चुनाव में अपने उम्मीदवारों को खड़ा करते हैं । वे उम्मीदवारों के नामांकन को प्रभावित करते हैं तथा उनके चुनाव प्रचार के लिए धनराशि देते हैं । वे शासन के पदों को प्राप्त करना नहीं चाहते । वे पदाधिकारियों के निर्णयों को प्रभावित करते हैं । वे विधायक नहीं बनना चाहते, परन्तु वे उनके विचारों को प्रभावित करते हैं । इस तरह "दबाव समूह राजनीतिक और गैर राजनीतिक में मध्य स्तरीय क्रिया का गठन करते हैं ।" प्रो. एस. फाइनर ने इन्हें "गुमनाम साम्राज्य" की संज्ञा दी है ।" पार्सटन सेलिन और रिचर्ड डी. लाम्बर्ट ने इन्हें "गैर-सरकारी शासन" कहा है । डी. डी. मैकीयन ने इन्हें "अदृश्य शासन" कहा है । इन्हें "विधान मण्डल के पीछे विधान मण्डल" की संज्ञा दी जाती है ।

3. सीमित एवं परस्पर व्यापी सदस्यता—दबाव समूहों की सदस्य संख्या सीमित होती है । इनकी सदस्यता परस्पर व्यापी होती है । एक व्यक्ति एक समय पर अनेक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है । उदाहरणतः एक व्यक्ति एक समय पर मित्र समूहों, उपभोक्ता संघों, मुहल्ला संघों या शिक्षक संघों का सदस्य हो सकता है ।

4. स्वार्थसिद्धि—दबाव समूहों के निश्चित प्रोग्राम या नीतियाँ नहीं होतीं । उनके केवल विशेष हित होते हैं । ये विशेष विषय तक सीमित रहते हैं । ये राजनीति में व्यवसाय के कारण नहीं बल्कि स्वार्थ के कारण विद्यमान होते हैं ।

5. वर्गीय दृष्टिकोण—दबाव समूह नागरिकों के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, वे इसका दावा भी नहीं करते । ये समाज के एक वर्ग या वर्ग के एक भाग या विशिष्ट मसले तक सीमित रहते हैं । ये उसी का प्रतिनिधित्व करते हैं और उसी के हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

दबाव समूहों और राजनीतिक दलों में भेद

दबाव समूह और राजनीतिक दल दोनों अनौपचारिक संगठन हैं । वे संविधान से बाहर उत्पन्न होते हैं । फिर भी दोनों अनौपचारिक संवैधानिक अभिकरणों एवं संस्थाओं को प्रेरणा देते हैं दोनों राजनीतिक प्रक्रिया के हिस्से हैं । दोनों सरकारी नीतियों की दिशा को तय करने, बनाने या परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं । दोनों में राजनीतिक प्रक्रिया के क्षेत्र में पर्याप्त समानता है । दोनों मूलतः नीतियों की

कार्यान्विति से सम्बन्धित हैं। परन्तु दोनों के उद्देश्यों और कार्य क्षेत्रों में अत्यधिक भिन्नताएँ हैं। दोनों में मुख्य भिन्नताएँ निम्न हैं—

1. दबाव समूह शासन सत्ता को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते। ये पदों को प्राप्त करना नहीं चाहते और न ही अपने सदस्यों को पद दिलाने की इच्छा रखते हैं। ये विधायकों, निर्वाचित पदाधिकारियों, प्रशासनिक अधिकारियों तथा कर्मचारियों पर दबाव डालकर सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये स्वयं शासक नहीं होते। ये "शासक निर्माता" होते हैं। दूसरी ओर, राजनीतिक दल शासन सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं। ये अपने दल के सदस्यों को सार्वजनिक पद दिलवाने के लिए इच्छुक रहते हैं। ये शासन सत्ता को प्राप्त कर सार्वजनिक नीतियों को स्वयं निर्धारित एवं कार्यान्वित करते हैं।

2. दबाव समूह निर्वाचनों में अपने प्रत्याशियों को उम्मीदवार के रूप में खड़ा नहीं करते। ये निर्वाचनों में कोई प्रोग्राम या नीतियों की घोषणा नहीं करते। ये दलों के प्रत्याशियों के चयन में दिलचस्पी रखते हैं और चुनाव प्रचार में वित्तीय या अन्य प्रकार की सहायता देते हैं। दूसरी ओर, राजनीतिक दल निर्वाचनों के माध्यम से ही शासन सत्ता को प्राप्त करते हैं। ये चुनावों में अपने प्रत्याशियों को खड़ा करते हैं तथा उन्हें जिताने का प्रयास करते हैं। दल अपने कार्यक्रम की घोषणा करते हैं। चुनाव में जीतने और शासन सत्ता को प्राप्त करने के बाद दल उसी के आधार पर नीतियों को कार्यान्वित करते हैं।

3. विचारधारा की दृष्टि से दबाव समूह अधिक संयुक्त और जातीय समूह होता है। यह उन्हीं व्यक्तियों का समूह होता है जिनका विशेष विषय या मसले पर समान हित होता है विचारों की यह संगति दबाव समूह को राजनीतिक दृष्टि से प्रभावी बनाती है। दूसरी ओर, राजनीतिक दल का आधार और उद्देश्य व्यापक होता है। यह किसी विशिष्ट विषय या मसले से सम्बन्धित नहीं होता बल्कि सार्वजनिक उद्देश्यों से सम्बन्धित होता है। दलों का प्रभाव उनके व्यापक सामाजिक और राजनीतिक आधार पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से दलों के कार्य विविध होते हैं। दबाव समूहों को जहां समाज के एक वर्ग या एक वर्ग के एक भाग का समर्थन प्राप्त होता है वहाँ राजनीतिक दल को समाज के अनेक वर्गों का समर्थन प्राप्त होता है।

4. दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है। एक व्यक्ति एक समय पर उतने ही दबाव समूहों का सदस्य बन सकता है जितने कि उसके हित होते हैं। उदाहरणतः एक व्यक्ति एक समय पर पितृ समूहों, उपभोक्ता समूहों, मुहल्ला संघों, शिक्षक संघों आदि का सदस्य हो सकता है। दबाव समूहों के सदस्यों की भक्ति विभाजित होती है। समूहों के सदस्यों की निजी स्वतन्त्रता बनी रहती है। यही कारण है कि दबाव समूह एक ढीला संगठन होता है। दूसरी ओर, राजनीतिक दलों की सदस्यता अनन्य होती है। कोई व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का

सशक्त हो सकता है। दल के सदस्यों की भक्ति एकाग्र होती है चाहे वे उसकी नीति से सहमत हों या न हों। दल की सदस्यता स्वतन्त्र विचारों का हनन करती है। दलीय अनुशासन या निर्देशन की उपेक्षा सदस्य के लिए राजनीतिक मृत्यु का निमन्त्रण हो सकती है। इस दृष्टि से दल एक सुदृढ़ संगठन होते हैं।

दबाव समूह और राजनीतिक दल— एक-दूसरे के पूरक

दबाव समूहों और राजनीतिक दलों में भिन्नताओं के बाद भी वे एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं। ये एक-दूसरे के सहायक एवं पूरक होते हैं। वे एक-दूसरे के शत्रु नहीं मित्र हैं। जहां एक विशेष हितों की रक्षा कर समाज की सेवा करता है वहां दूसरा सार्वजनिक हितों पर बल देकर विशेष हितों को सार्वजनिक हितों के साथ मिलाने का प्रयास करता है।

दबाव समूह राजनीतिक मांगों को स्पष्ट और संयुक्त करते हैं। ये सौदेबाजी द्वारा या तार्किक ढंग से दूसरे समूहों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। वे राजनीतिक नेता में लगे व्यक्तियों तथा सार्वजनिक नीति निर्माण और क्रियान्वयन की विभिन्न प्रक्रियाओं को प्रभावित करके मांगों को अधिकाधिक सार्वजनिक नीति में बदलने का प्रयास करते हैं। इस तरह दबाव समूह राजनीतिक दलों को विशेष हितों की उपेक्षा करने से रोकते हैं और उन्हें अनुकूल नीति अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। यही कारण है कि दबाव समूह को विशेष हितों, व्यवसायों, कार्यों या वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में भौगोलिक प्रतिनिधित्व के पूरक माना जाता है। दूसरी ओर, राजनीतिक दलों का यह प्रयास रहता है कि वैचारिक और सैद्धान्तिक कठोरता में समुचित लचीलापन रखते हुये वे सामुदायिक भावना से कार्य करें और अधिकाधिक हित समूहों को एक विशाल और संयुक्त रूप देने का प्रयास करें। वस्तुतः दलों की स्थिति मध्यस्थता की होती है। वे हित समूह और अधिकारिक नीति-निर्माण अभिकरणों में मध्य मार्ग अपनाते हैं। जहां दल दबाव समूहों के विघटनकारी और संकीर्ण हितों से सार्वजनिक हितों की रक्षा करते हैं वहाँ वे भिन्न-भिन्न हितों को मिलाकर उन्हें सार्वजनिक रूप देने का प्रयास करते हैं। दल और समूह मिलकर ऐसे कानून का निर्माण करते हैं जो सामान्य और विशेष दोनों हितों की रक्षा कर सकें। ये दोनों मिलकर समाज में असन्तोष को दूर कर सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करते हैं।

दबाव समूह द्वि-मार्गीय सन्तुलन का कार्य भी करते हैं। एक ओर वे जन-इच्छा को विधायकों और प्रशासनिक अधिकारियों तक पहुँचा कर उनके निर्णयों को उसके अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं और दूसरी ओर वे प्रशासन की नीतियों और दृष्टिकोणों को जनता तक पहुँचा कर उसे शान्त करने का प्रयास करते हैं।

दबाव समूहों के प्रकार

दबाव समूहों का वर्गीकरण करना कठिन है। ये समय, परिस्थिति, आवश्यकता और हितों पर निर्भर करते हैं। समाज में जितने अधिक हित, वर्ग या

समूह होंगे उतने ही अधिक दबाव समूह होंगे। दबाव समूहों की प्रकृति और मात्रा समाज के औद्योगीकरण और विकास, शासन प्रणाली के रूप और आकार पर निर्भर करती है। इतना अवश्य है कि कुछ दबाव समूह स्थायी एवं अस्थायी, कुछ संगठित एवं असंगठित, कुछ आकार से छोटे एवं बड़े, कुछ व्यावसायिक एवं वर्गीय, कुछ धार्मिक एवं सामाजिक, कुछ आर्थिक एवं औद्योगिक, कुछ उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के, कुछ मालिकों एवं श्रमिकों के, कुछ सांस्कृतिक एवं साम्प्रदायिक हो सकते हैं। कुछ ऐसे भी दबाव समूह हैं जैसे भारत में गाँधीवादी संगठन, जो केवल विचारधारा से सम्बन्धित हो सकते हैं। कुछ दबाव समूह इतने अनियमित होते हैं कि उनका कोई स्थायी संगठन नहीं होता और वे माँगों के समर्थन या असन्तोष, को अभिव्यक्त करने के लिये आयोजित किये गये प्रदर्शनों, रैलियों आदि से ही उत्पन्न हो जाते हैं। भारत में इन्होंने 'धरना'; 'बन्द'; 'घेराव', 'जबरदस्ती त्यागपत्र लेने' आदि के साधनों को अपनाया है।

दबाव समूहों को मुख्यतः अग्रलिखित चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. संस्थागत दबाव समूह—इनके प्रमुख उदाहरण शासन के भिन्न-भिन्न विभाग हैं जो शासन के भिन्न-भिन्न कार्यों को पूरा करने के लिए विद्यमान होते हैं। ये दबाव समूह सरकारी प्रक्रिया को जारी रखते हैं।

2. गैर-सामुदायिक दबाव समूह—ये वर्ग, जाति, रक्त सम्बन्ध, धर्म या अन्य किसी परम्परागत लक्षण पर आधारित होते हैं। ये अनौपचारिक और मौसमी होते हैं।

3. अनियमित दबाव समूह—ये सहज ही उत्पन्न होने वाले दबाव समूह हैं। उदाहरणतः प्रदर्शन, जुलूस, रैलियाँ, उपद्रव आदि।

4. सामुदायिक दबाव समूह—ये औपचारिक रूप से संगठित होते हैं। ये विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उनकी सुरक्षा, सिद्धि और विकास के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये अपने सदस्यों को लाभ पहुँचाने हेतु लॉबी, निजी सम्पर्क, धन, लालच तथा अन्य सभी प्रकार के उचित एवं अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। इन्हें व्यावसायिक या कार्यात्मक दबाव समूह भी कहते हैं।

दबाव समूहों की तकनीक

दबाव समूह उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मुख्यतः अग्र तकनीकों का प्रयोग करते हैं—

1. लाबीइंग—लॉबीइंग का सामान्य अर्थ है विधानमण्डल के सदस्यों को प्रभावित करना। इसका व्यापक अर्थ है। शासन के अंगों अर्थात् अभिकरणों तथा निर्णय लेने वाले अधिकारियों को प्रभावित करना। जब दबाव समूहों के सदस्य या प्रतिनिधि अपने समूहों के विशिष्ट हितों की सुरक्षा हेतु विधायकों को किसी विधान के पक्ष या विपक्ष में मतदान करने के लिए प्रभाव डालते हैं या निर्णय लेने वाले

किसी प्रशासनिक अधिकारी पर किसी विषय या मसले में निर्णय न लेने के लिए प्रभाव डालते हैं तो उसे लॉबीइंग कहते हैं। "लाबीइंग एक राजनीतिक तकनीक है जिसका एकमात्र उद्देश्य "शासन को प्रभावित करना है।" लॉबीइंग निजी सम्पर्क, प्रतिनिधिमण्डल, शिष्टमण्डल, पत्र-तार, टेलीफोन, जुलूस, प्रदर्शन आदि का सहारा ले सकती है। विधायकों के मनोरंजन के लिए दबाव समूह दावतों, भोजनों, नाटक उत्सवों का आयोजन कर सकते हैं तथा अनेक प्रकार की सुविधाओं, तोहफों, नरक्कियों, धन आदि का आश्वासन दे सकते हैं।

2. दलों के मंच को प्रभावित करना—दबाव समूह विशेष प्रकार के दर्शन का समर्थन करते हैं। जब दल निर्वाचनों के लिए अपने प्रत्याशियों का चयन करते हैं तो दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों का चयन कराते हैं जो उनके हितों के समर्थक होते हैं या उनके हितों से हमदर्दी रखते हैं। इनके बदले दबाव समूह प्रत्याशियों के चुनाव जीतने में आर्थिक सहायता और चुनाव प्रचार का आश्वासन देते हैं।

3. आधार स्तरीय तरीके—अनेक बार दबाव समूह अपने हितों के लिए सार्वजनिक जनता का समर्थन प्राप्त करके विधायकों या निर्णय लेने वाले अधिकारियों को प्रभावित करते हैं। इसके लिए वे हर प्रकार के जनसाधनों का प्रयोग करते हैं।

4. असाधारण एवं सनसनी फैलाने वाले तरीके—इन्हें बाधा प्रस्तुत करने वाले या दुःखदाई तरीके भी कहा जाता है। कीफ इन्हें असभ्य लाबीइंग (Bizarre Lobbying) की संज्ञा देता है। यह तरीका उन दबाव समूहों द्वारा अपनाया जाता है जो किसी उद्योग, कार्यालय या प्रतिष्ठान द्वारा छँटनी किये गये कर्मचारियों द्वारा निर्मित होते हैं और जो अपनी समस्या के प्रति विधायकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उद्योग, कार्यालय या प्रतिष्ठान या सार्वजनिक मार्गों की नाकेबन्दी करते हैं।

5. न्यायालय—अनेक बार दबाव समूह अपने हितों की रक्षा हेतु न्यायालय की शरण लेते हैं अर्थात् न्यायालय में याचिका पेश कर अपने पक्ष में निर्णय लेने का प्रयास करते हैं।

6. बल प्रयोग—जब "अनुनय की राजनीति" असफल हो जाती है, अन्य साधन कारगर नहीं होते और न्यायालय संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ रहता है तो दबाव समूह निर्णयों को प्रभावित करने के लिए हड़ताल, बन्द, धरना, घेराव आदि सीधी कार्यवाही के साधनों का सहारा लेते हैं। भारत में इन साधनों का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। वस्तुतः भारतीय राजनीति इस तत्त्व से अत्यधिक प्रभावित हुई है कि किसी मांग के समर्थकों में "अव्यवस्था फैलाने" या "विनाश" करने की कितनी क्षमता है।

राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका या प्रभाव

राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका अग्र तत्त्वों पर निर्भर करती है—

(i) शासन एवं समाज का रूप

(ii) राजनीतिक दल विज्ञान (Stasiology)

(iii) दबावसमूह का काल (age), स्वरूप एवं मेल-मिलाप ।

(i) शासन एवं समाज का रूप—जहाँ शासन और समाज का रूप लोकतान्त्रिक है, जहाँ स्वतन्त्र भाषण, अभिव्यक्ति, संघ तथा समूह बनाने की स्वतन्त्रता है, जहाँ शासन और समाज खुला, सभ्य और औद्योगिक है वहाँ दबाव समूहों का विद्यमान होना स्वाभाविक है । इस प्रकार के समाजों में दबाव समूहों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है और उन्हें स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की आज्ञा होती है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सर्वसत्तावादी एवं बन्द समाजों में दबाव समूह विद्यमान नहीं होते । इनमें भी दबाव समूह विद्यमान होते हैं, परन्तु इनमें स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती । इनमें दबाव समूह शासन के यन्त्र के रूप में कार्य करते हैं । यहाँ इनकी भूमिका अत्यन्त सीमित होती है और वह भी राज्य द्वारा निर्धारित उद्देश्य के लिए । यहां सेना, अधिकारी तन्त्र और दल दबाव समूहों की भूमिका निभाते हैं ।

दबाव समूह की भूमिका शासन के अध्यक्षात्मक और संसदात्मक रूप पर भी निर्भर करती है । यदि शासन का रूप अमरीका की भाँति अध्यक्षात्मक है तो दबाव समूह की भूमिका अधिक होगी । यहाँ राजनीतिक दलों का अपने सदस्यों पर कठोर नियन्त्रण और अनुशासन का अभाव होने से कांग्रेस के सदस्यों पर विशेष हितों का प्रभाव अधिक रहता है । दूसरे, यहाँ शक्ति पृथक्करण के कारण विधान का कार्य कांग्रेस के हाथों में होता है । यहाँ कार्यपालिका काँग्रेस का नेतृत्व नहीं करती । कांग्रेस की "लॉग रोलिंग और पार्क बैरल" की पद्धति ने दबाव समूहों को संगठित कर दिया है । यह कहा जाता है कि अमरीका में भिन्न-भिन्न प्रकार के तीन लाख से भी अधिक दबाव समूह हैं । **वुडरो विल्सन के अनुसार, "कांग्रेस की इच्छायें वस्तुतः हितबद्ध गुटों की इच्छायें होती हैं ।"** उसका कहना है कि समिति कक्षों में ही उन विधेयकों की हत्या कर दी जाती है जिन्हें हित गुट पसन्द नहीं करते । समिति कक्षों से केवल वे ही विधेयक बाहर आते हैं जिनमें गुटों के हित पूरे होते हैं । अमरीका में दबाव समूह कार्यपालिका और न्यायपालिका पर भी प्रभाव डालते हैं ।

ब्रिटेन जैसे संसदात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में भी दबाव समूह विद्यमान हैं परन्तु यहाँ "पार्क बैरल 10 डाउनिंग स्ट्रीट के ताले में बन्द रहता है ।"[1] संसदात्मक शासन वाले देशों में दलीय व्यवस्था सुदृढ़ होती है और उनके प्रोग्राम और नीतियाँ निश्चित होती हैं । यहाँ दल नीतियों के प्रति कटिबद्ध होते हैं । यहां कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है ।

---

1. Jennings J : Parliament. p. 200.

(ii) राजनीतिक दल विज्ञान (Stasiology)—किसी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ किस प्रकार की दलीय व्यवस्था है। द्वि-दलीय राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों का प्रभाव अधिक होता है। बहुदलीय व्यवस्थाओं में दल स्वयं ही दबाव समूहों के रूप में कार्य करते हैं।

(iii) दबाव समूह का काल, रूप एवं मेल-मिलाप—किसी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका और प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि (a) समूह का जीवन काल (age) और सामाजिक स्तर क्या है? (b) समूह के पास धन की मात्रा तथा उसे व्यय करने की इच्छा और क्षमता और उसके सदस्यों की संख्या तथा उसके सदस्यों में ताल-मेल की मात्रा कितनी है? (c) समूह के नेतृत्व में योग्यता और सुदृढ़ता की मात्रा कितनी है? (d) लॉबीइंग के समय समर्थकों की योग्यता और कुशलता कितनी है? (e) सामाजिक प्रणाली के प्रति उसका बहाव कितना है? (f) हित की तीव्रता कितनी है? आदि।

दबाव समूहों के कार्य

दबाव समूहों के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

1. मांगों में तालमेल बैठाना—दबाव समूह लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विद्यमान अनेक लोगों की मांगों, शिकायतों और रचनात्मक विचारों में तालमेल बैठाते हैं। इस तरह वे सामाजिक असन्तोष और गुटीय हताशा पैदा करने वाले तत्त्वों को रोकते हैं।

2. समान रुचि रखने वाले व्यक्तियों को संगठित करना—सरकारें प्राय: बुद्धिजीवियों, समाज सेवकों या साधारण नागरिकों के व्यक्तिगत विचारों के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाती है। अत: दबाव समूह उन्हें अर्थात् समान रुचि रखने वाले व्यक्तियों को गुटों में संगठित होने के अवसर प्रदान कर शक्तिशाली और प्रभावशाली बनाने का प्रयास करते हैं।

3. विशिष्ट राय प्रदान करना—ये अत्यधिक जटिल प्रश्नों पर विधायकों को विशेष राय प्रदान करते हैं। इनका ज्ञान, अनुभव और विशेषज्ञता विधायकों के लिए अत्यधिक लाभकारी सिद्ध होती है।

4 सूचनायें प्रसारित करना—ये सार्वजनिक विषयों पर सूचनायें प्रसारित करते हैं। ये अपने सदस्यों की इच्छाओं और हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और लॉबीइंग द्वारा उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। ये जहाँ विधायकों और निर्णय अधिकारियों को अपने हितों से अवगत कराते हैं वहां ये अपने सदस्यों को शासन की नीतियों और कार्यों के बारे में जानकारी और सूचनायें भी प्रदान करते हैं। इस तरह शासन और हित के मध्य ये सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करते हैं। अनेक बार दबाव समूहों के आँकड़े और तथ्य इतने विश्वसनीय होते हैं कि विधान

मण्डल उन्हीं के आधार पर कानूनों का निर्माण करता है और प्रशासन अपनी नीतियों को निर्धारित करता है।

5. प्रतितुलित व्यवस्था—दवाव समूह आपस में संदिग्ध पहरेदार की भाँति कार्य करते हैं। ये विधायकों एवं प्रशासनिक अधिकारियों को अनुकूल नीति अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। इससे भिन्न-भिन्न हितों की उपेक्षा नहीं होती। इस तरह दवाव समूह प्रति-तुलन का कार्य करते हैं।

6. भौगोलिक प्रतिनिधित्व के पूरक—दवाव समूह भौगोलिक या क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के पूरक हैं। ये व्यावसायिक या कार्यात्मक या वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली क्षेत्रीय प्रणाली का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे क्षेत्रीय हितों में एकरूपता आती है और सामान्य कल्याण की सुरक्षा होती है। **सेमुअल एच. फाइनर** ने इन्हें "प्रतिनिधित्व के द्वितीय या सहायक क्षेत्र" कहा है।

7. सामाजिक संघर्ष को कम करने में सहायक—दवाव समूह अपने समूह के सदस्यों में, जो प्रायः रंग-विरंगी विचारधारा के होते हैं एक मध्यस्थ का कार्य करते हैं। इस तरह ये सामाजिक संघर्ष के तापमान को कम करते हैं।

8. जनमत निर्माण में सहायक—ये कुछ उद्देश्यों के लिए व्यापक प्रचार करते हैं। ये जनमत का निर्माण करते हैं और आवश्यक हो तो आन्दोलनों का सहारा लेकर किसी अमुक नीति के पक्ष या विपक्ष में वातावरण उत्पन्न करते हैं।

9. प्रयोजनों को सिद्ध करना—ये शासनाधिकारियों से निजी सम्पर्क बढ़ाकर अपने प्रयोजनों के औचित्य को सिद्ध करते हैं। इसके लिए ये संसदीय समितियों के समक्ष गवाही भी देते हैं।

10. राजनीतिक दलों की सहायता—ये राजनीतिक दलों के साथ सहयोग करते हैं। ये उम्मीदवारों के चयन में सहायता करते हैं। ये धन राशि से दलों की सहायता करते हैं।

दबाव समूहों का मूल्यांकन : गुण-दोष

दोष—दवाव समूह को प्रायः बुरी नजर से देखा जाता है। उनके प्रति सामान्य दृष्टिकोण शत्रुता का है। **फ्रेडरिक** इन्हें **'शैतानी शक्ति"** की संज्ञा देता है। इन्हें ऐसी **पाप आत्मायें** समझा जाता है जो सार्वजनिक अनैतिकता, भ्रष्टाचार और घूसखोरी को बढ़ावा देती हैं।

दवाव समूह की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. भ्रष्टाचार के गढ़—दवाव समूह भ्रष्टाचार के गढ़ हैं। लॉबीइंग जैसे साधन छल और कपट से भरे हुए हैं। लॉबी का अर्थ ही भ्रष्टाचार और धोखाधड़ी है। इससे सामान्य नैतिक स्तर और चरित्र का ह्रास होता है। इसलिए इन्हें हानिकारक समझा जाता है।

2. सार्वजनिक हितों की उपेक्षा—दवाव समूह केवल अपने ही स्वार्थी हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन्हीं की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इससे

उन महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक हितों की उपेक्षा होती है जो संगठन के अभाव में अपना प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हैं। हिचनर और हर्बोल्ड ने लिखा है कि "उत्पादक और उपभोक्ता का संघर्ष असमान होता है। हितों के हठी और कोलाहलपूर्ण वातावरण में सार्वजनिक हित छुप कर रह जाते हैं।"

3. अप्रजातान्त्रिक—दबाव समूह ऐसे संगठन हैं जो प्रभाव और शक्ति का प्रयोग तो करते हैं परन्तु वे उनके लिए उत्तरदायी नहीं होते। वे लुका-छिपी और गुप्त रूप से इनके लाभ उठाते हैं। उन्हें उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उनके नेताओं को सार्वजनिक कार्यालयों से बाहर नहीं निकाला जा सकता। उन्हें निर्वाचनों में दण्डित नहीं किया जा सकता। इस तरह दबाव समूह अप्रजातान्त्रिक समूह हैं।

4. संकीर्णता के द्योतक—दबाव शब्द स्वभाव से ही संकीर्णता का द्योतक है। यह इस बात का प्रतीक है कि अमुक कार्य को इसलिए नहीं किया गया या अमुक नीति को इसलिए नहीं अपनाया गया कि उसके करने या अपनाने का कोई औचित्य है बल्कि उसे इसलिए किया गया या अपनाया गया कि उसके करने या अपनाने के लिए किसी सुदृढ़ संगठित समूह का दबाव था।

गुण—उपर्युक्त दोषों के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि दबाव समूह अनावश्यक और बेहूदा है। ये प्रजातान्त्रिक और औद्योगिक प्रणाली के लिये आवश्यक हैं। सर विन्सटन चर्चिल का मत है कि "हितों के अभाव की बात करना व्यर्थ है क्योंकि यह स्वर्ग में सम्भव है, यहाँ नहीं।"

दबाव समूहों के मुख्य गुण निम्न हैं। ये गुण ही उनकी आवश्यकता को प्रमाणित करते हैं—

1. लोकतन्त्र के पूरक—दबाव समूह लोकतन्त्र की कार्यान्विति में बाधक नहीं बल्कि ये उसके पूरक हैं। ये प्रशासन में नागरिकों की साझेदारी और योगदान में सहायक होते हैं। जहाँ निर्वाचन में मतदान के समय असंगठित समूह कुछ प्राप्त करने में शक्तिहीन होते हैं वहाँ दबाव समूह उन्हें संगठित करते हैं और लॉबीइंग द्वारा उनके लिए बहुत-कुछ प्राप्त करते हैं। दबाव समूहों के कारण शासन असंगठित समूहों पर अनुचित भार नहीं लाद सकता।

2. प्रतिनिधित्व की क्षेत्रीय प्रणाली के पूरक—दबाव समूह प्रतिनिधित्व की क्षेत्रीय प्रणाली के पूरक हैं। जहाँ प्रतिनिधित्व की क्षेत्रीय प्रणाली सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करती है और उन्हीं की पूर्ति के लिए कार्यरत रहती है वहाँ दबाव समूह व्यावसायिक, कार्यात्मक या विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी रक्षा करने का प्रयास करते हैं। दबाव समूह व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व करके क्षेत्रीय प्रणाली को एकरूपता प्रदान करते हैं। सेमुअल एच. फाइनर ने इन्हें ठीक ही प्रतिनिधित्व के "द्वितीय या सहायक क्षेत्र" कहा है।

3. अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त के पोषक—दबाव समूह सत्ता के निरंकुश प्रयोग पर एक शक्तिशाली नियन्त्रण का कार्य करते हैं। एक दूसरे पर

अवरोध और सन्तुलन के रूप में कार्य करते हैं। जैसाकि मिलर ने कहा है कि "राजनीति अन्ततः उन हितों के संघर्ष और मेल-मिलाप पर निर्भर करती है जो समाज में अनगिनत असमानताओं से उत्पन्न होते हैं। मोटे तौर पर राजनीतिक निर्णय वही मार्ग अपनाता है जिस ओर हितों की सापेक्ष शक्ति उसे ले जाना चाहती है।"

4. **सूचना प्रसारण के केन्द्र**—दबाव समूह सूचना प्रसारण के रूप में कार्य करते हैं। ये जनसम्पर्क के साधनों द्वारा जनमत को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इन्हीं के माध्यम से लाखों लोग अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं। ये अनिर्णीत एवं अस्पष्ट भावनाओं को स्पष्ट करते हैं। ये, जैसाकि फाइनर ने कहा है "तृतीय सदन" और "सहायक शासन" के रूप में कार्य करते हैं। स्टीफन के. बेली का मत है कि ये "बौद्धिक नेतृत्व के समर्थन के अतिरिक्त अपने संगठन में राय को जुटाते हैं, सामान्य राजनीतिक फ्रन्ट को निर्मित करने के लिए एक-दूसरे को मिलाने का प्रयास करते हैं, ये आधार स्तर को उपजाऊ बनाते हैं, ये जन साधनों का प्रयोग करते हैं, और अपने जनसम्पर्क के साधनों का निर्माण करते हैं, ये सुस्त एवं क्रियाहीन अधिकारी वर्ग को क्रियाशील बनाते हैं……कभी कभी ये प्रति उद्देश्यों (Cross Purposes) के रूप में कार्य करते हैं, परन्तु जब ये सुदृढ़ और एकजुट नेतृत्व के अधीन इकट्ठे होकर कार्य करते हैं तो ये राजनीतिक प्रक्रिया में अनिवार्य कार्य को सम्पन्न करते हैं।" संक्षेप में, दबाव समूह सार्वजनिक आकांक्षाओं और नीति के मध्य पुल का कार्य करते हैं। ये स्वाभाविक हैं।

समीक्षा प्रश्न

1. 'राजनीतिक दल' और 'दबाव समूह' में क्या अन्तर है ? राजनीतिक दल के कार्यों को स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1983, 86)
2. दबाव समूहों से आप क्या समझते हैं ? राजनीतिक व्यवस्था में इनकी भूमिका का वर्णन कीजिए। (Raj. Suppl. 1979)

29

जनमत

(Public Opinion ,

जनमत आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्राण है। कोई भी सरकार अपने अस्तित्व का खतरा मोल लेकर ही इसकी उपेक्षा कर सकती है। प्रजातान्त्रिक शासनों का आरम्भ और अन्त जनमत पर निर्भर करता है। यदि जनमत का एक झोंका किसी को सत्तारूढ़ कर सकता है तो उसी का एक झोंका अपदस्थ भी कर सकता है। सोवियत संघ जैसी सर्वसत्तावादी और नाजी जर्मनी एवं फासिस्ट इटली जैसी अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी सरकार अपने-आपको जन हितैषी बताकर ही जनमत को अपने पक्ष में करने का निरन्तर प्रयास करती रहती है। यही कारण है कि आधुनिक सरकारें प्रचार साधनों पर अत्यधिक व्यय करती हैं और उन पर नियन्त्रण रखती हैं। गेस्सट ने कहा है कि "विश्व में किसी ने भी जनमत के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर शासन नहीं किया····सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही भ्रष्ट क्यों न रही हों, अपनी सत्ता के लिए जनमत पर निर्भर रहती हैं।"

शब्द उत्पत्ति—यह कहना कठिन है कि जनमत शब्द की उत्पत्ति कब और कैसे ़ई। इस शब्द की उत्पत्ति भूत के गर्भ में छुपी हुई है। ग्रीक और रोमन लेखकों ने ़सका प्रयोग किया था, परन्तु उन्होंने इसे राजनीतिक सन्दर्भ में इस्तेमाल नहीं ़केया था। "जन सहमति" शब्द का प्रयोग रोमन लेखक न्यायिक अर्थों में करते थे। ़ध्य युग में "जनवाणी को प्रभुवाणी" कहा जाता था। अठारहवीं शताब्दी में ़लेक्जेण्डर पोप ने कहा था कि "जनवाणी एक विषम शब्द है। यह ईश्वर की ़ाणी नहीं। जन साझेदारी के रूप में अर्थात् सार्वजनिक नीति की उत्पत्ति, आधार, ़नयन्त्रण, निष्पादन और आलोचना के रूप में इसका प्रयोग फ्रांसीसी क्रांति के ़मय हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में नेपोलियन का मत था कि "मत ही सर्वत्र शासन ़रता है।" बीसवीं शताब्दी में प्रजातान्त्रिक दर्शन के विकास के साथ ही इसका ़त्यधिक प्रयोग किया जाने लगा। प्रजातान्त्रिक शासन में इसकी भूमिका और ़हत्त्व अत्यधिक है। आधुनिक समय में जनता स्वयं सार्वजनिक नीति में दिलचस्पी

रखती है, उसके लिए दिशा निर्धारित करती है और समय-समय पर उसे निर्देशन देती है। सरकारें स्वयं भी जनता से समय-समय पर विचार-विमर्श करती हैं, उसे सूचनायें देती हैं और नीतियों के लिए समर्थन प्राप्त करती हैं।

प्रकृति, अर्थ एवं परिभाषा—बीसवीं शताब्दी का प्रजातान्त्रिक साहित्य जनमत शब्दावली से भरा हुआ है। फिर भी इसकी प्रकृति और अर्थ के बारे में सहमति नहीं। **फाइनर** ने कहा है कि "व्यापक अध्ययन के बाद भी जनमत के सम्बन्ध में सम्भवतः अभी भी विश्लेषणात्मक परिभाषा का अभाव है।"

जनमत शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कुछ के अनुसार **जनमत "सार्वजनिक विषय पर व्यक्तियों की मनोदशा है।"** इस अर्थ का समर्थन करने वालों का मत है कि जनमत दो शब्दों—**जन+मत** से मिलकर बना है। "**जन**" सार्वजनिक अर्थ की अभिव्यक्ति करता है और "**मत**" मनोदशा या मनोवृत्ति को। कुछ के अनुसार जनमत विश्वासों, धारणाओं, पूर्वाग्रहों और आकांक्षाओं का मिश्रण है। **फाइनर** के अनुसार जनमत "तथ्य, विश्वास और इच्छा" है। **वाल्टर लिपमैन** जैसे लेखक "व्यक्तिगत विचारों" को ही जनमत के समान समझते हैं। उसकी धारणा है कि हमारे मस्तिष्क में जो तस्वीरें हैं वे हमारे विचारों को प्रभावित करती हैं। **वी. ओ. की. जूनियर** जैसे लेखकों का मत है कि "विषय" (समस्या) और "विवाद" के अभाव में जनमत हो नहीं सकता। यदि समस्या न हो तो कोई विवाद नहीं होता और विवाद के अभाव में कोई विचार या मत नहीं होता। अतः विषय और "विवाद" जनमत के लिए आवश्यक हैं। कुछ का मत है कि चुनाव परिणाम चुनाव अभियान के दौरान उठाये गये विषयों पर जनमत को अभिव्यक्त करता है। कुछ का मत है कि नागरिकों द्वारा अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों को प्रेपित किये गये विचार ही जनमत हैं। कुछ के अनुसार जनमत रूसो की सामान्य इच्छा की भांति रहस्यात्मक शक्ति है जिसका प्रयोग सभी अच्छी और शुद्ध चीजों के लिए किया जाता है। कुछ के अनुसार बहुमत की इच्छा ही जनमत है, यदि वह एक मत और सामान्य कल्याण पर आधारित है। यदि बहुमत की इच्छा भय, दमन या अल्पमत की उपेक्षा और तिरस्कार पर आधारित है तो वह जनमत की अभिव्यक्ति नहीं। बहुमत की इच्छा तभी जनमत है जब अल्पमत उसे भय के कारण नहीं बल्कि इस दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार करे कि उसके असहमत होने पर भी वह सामान्य कल्याण के लिए है। **ई. बी. शुल्ज** जैसे लेखक जनमत को सामाजिक शक्ति मानते हैं जिसकी उपेक्षा कठिनाई को उत्पन्न कर सकती है।

जनमत को नागरिकों द्वारा निर्मित या सूत्रबद्ध नहीं किया जाता। इसे किन्हीं थोड़े परन्तु उद्यमी व्यक्तियों द्वारा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सूत्रबद्ध किया जाता है जो उसे प्राप्त करना चाहते हैं। उद्यमी व्यक्ति ही अपने मतों को व्यापक स्वीकृति प्रदान करने का प्रयास करते हैं और जब उन्हें स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तो वह जनमत का रूप धारण कर लेता है।

नागरिकों का जनमत अभिव्यक्ति के साधनों पर कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं होता। समाजवादी राज्यों में प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, फिल्में, स्कूल, शिक्षा, परिवार, व्यवसाय आदि सब साधन सरकारी नियन्त्रण में रहते हैं और लोकतान्त्रिक राज्यों में ये हितों, वर्गों, जाति, धर्म आदि के नियन्त्रण में रहते हैं। दोनों ही व्यवस्थाओं में जनमत अभिव्यक्ति के साधन नागरिक हितों के यन्त्र मात्र बनकर रह जाते हैं। ये स्वतन्त्र मतों का निर्माण नहीं कर पाते।

महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक विषयों पर निरपेक्ष मत उत्पन्न करना कठिन है। किसी ऐसे राजनीतिक यन्त्र का निर्माण नहीं किया जा सका जो जनता के मतों को माप सके या उन्हें लिपिबद्ध कर सके। सामाजिक मनोवैज्ञानिक धारणायें जनमत को समूह की सामाजिक गतिविधियों में ढूँढने का प्रयास करती हैं।

जनमत की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

1. विलियम एलबिग के शब्दों में "जनमत किसी समूह के सभी सदस्यों की अभिव्यक्ति है जब वे किसी निश्चित विषय पर विचार-विमर्श कर रहे हों।"

2. वी. ओ. की के शब्दों में, "जनमत गैर-सरकारी व्यक्तियों के वे विचार हैं जिनकी ओर ध्यान देना सरकारें विवेकपूर्ण समझती हैं।"

3. लार्ड ब्राइस के शब्दों में, जनमत "उन विषयों पर व्यक्तियों के विचारों का योग है जो समुदाय को प्रभावित करते हैं या उससे सम्बद्ध होते हैं। इस अर्थ में जनमत सभी प्रकार के विश्वासों, धारणाओं, पूर्वाग्रहों और आकांक्षाओं का मिश्रण है।"

4. आर. एच. सोल्टाऊ के शब्दों में, "सामान्य जीवन के बारे में लोग जो सोचते और चाहते हैं वही जनमत है।"

5. कोरी और हाजट्स के शब्दों में, "जनमत वह है जो सरकार के कार्य निर्धारित या प्रभावित करता है या जिससे सरकार को प्रभावित करने की आशा की जा सकती है।"

6. किम्बाल यंग के शब्दों में, "किसी समय विशेष पर एक जन के विचारों को जनमत कहते हैं।"

7. मौरिस जिन्सबर्ग के शब्दों में, "जनमत अनेक व्यक्तियों के विचारों की प्रतिक्रिया का सामाजिक प्रतिफल है।"

जनमत के लक्षण या विशेषतायें—जनमत के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. जनमत का सम्बन्ध सर्वदा सार्वजनिक विषय या नीति से होता है। यह उसे निर्मित, निर्देशित या नियमित करता है।

2. किसी मत का उद्भव एक व्यक्ति, नगण्य अल्पवस्तु, वर्ग या समूह से हो सकता है। यह तभी जनमत का रूप ग्रहण करता है जब लोगों की पर्याप्त संख्या उसका समर्थन करती है। ए. एल. लावेल ने कहा है कि "किसी मत के सार्वजनिक

बनने के लिए आवश्यक है कि वह नागरिकों के बहुमत से अधिक लोगों को स्वीकृत हो ।"

3. विवादास्पद विषयों पर जनमत की आवश्यकता होती है । निर्विवाद विषयों पर इसकी आवश्यकता नहीं होती ।

4. जनमत में भावनाओं और मनोवेगों का समावेश होता है परन्तु इसमें अनुनय, विचार-विमर्श और तर्क की भी भूमिका होती है । नये तथ्यों की जानकारी जनमत को प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकती है । **कोरी और हाजट्स** ने कहा है कि **"जनमत विचार-विमर्श की उपज होता है जिसमें भावनायें सर्वदा भूमिका निभाती हैं, परन्तु परिणामों को पूर्णतः निश्चित नहीं करतीं ।"**

5. यह भय, हिंसा या दमन द्वारा उत्पन्न नहीं होता । इसका आधार विचार या विवाद है ।

6. इसका महत्त्व तभी है जब शासन के न्यूनतम उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक मत विद्यमान हो । इसके होने पर ही न्यायिक व्यवहार की अपेक्षा की जा सकती है ।

7. इसका सम्बन्ध जनकल्याण से होता है, व्यक्ति, वर्ग या दल के कल्याण से नहीं ।

जनमत को परिभाषित करने में कठिनाइयाँ—जनमत की परिभाषा देने में मुख्य कठिनाइयाँ निम्न हैं—

1. एक समाज में एक जन (a Public) नहीं होता बल्कि अनेक जन (Publics) होते हैं । प्रत्येक जन की अपनी प्रकृति, रूप, हित और क्षेत्र हो सकता है । उदाहरणतः भौगोलिक आधार पर कस्बे, नगर क्षेत्र, प्रदेश और राष्ट्र के जन हो सकते हैं । वस्तुतः जितने विषय या समस्यायें होती हैं उतने ही जन हो सकते हैं ।

2. एक विषय या समस्या से सम्बन्धित जन के सदस्यों की रुचि और दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हो सकता है; कुछ उग्र, कुछ नम्र और कुछ उदासीन हो सकते हैं । यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक जन की प्रत्येक विषय पर अभिरुचि हो । यह हो भी सकता है और नहीं भी । नये तथ्यों की जानकारी जनमत को अस्थिर और अस्पष्ट बना देती है । कुछ लेखकों का मत है कि जिस समय निर्वाचन हो रहा होता है उस समय भी जनमत में परिवर्तन हो रहा होता है ।

3. अनेक बार जनमत पूर्वाग्रहों, विश्वासों, परम्परागत विचारों, जल्दी में लिये गये निर्णयों पर आधारित होता है । कभी-कभी ज्ञान, चिन्तन तथा विचार-विमर्श के अभाव पर आधारित होता है । यदि ऐसा है तो सही जनमत को जानना कठिन हो जाता है । मतों की अभिव्यक्ति करते हुए भी भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न उद्देश्य एव प्रयोजन हो सकते हैं ।

जनमत निर्माण एवं अभिव्यक्ति के साधन—जनमत सूचना देने वाले किसी एक साधन द्वारा निर्मित या अभिव्यक्त नहीं होता। यह भिन्न-भिन्न साधनों के संयुक्त प्रभावों का फल होता है। इसके निर्माण और अभिव्यक्ति में मुख्यत: निम्न साधनों का सहयोग रहता है—

1. प्रत्यक्ष निजी अनुभव—लिपमैन ने कहा है कि राजनीतिक विचार अधिकांशत: उस सूचना द्वारा निर्मित होते हैं जो व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द के वातावरण से प्राप्त करता है। घटनाओं में साझेदारी या निजी अनुभव ऐसा ही स्रोत है। निजी अनुभव ज्ञानेन्द्रियों को छूते हैं। अत: वे स्वत: पोषित होते हैं। इनके पोषण के लिए सूचना के द्वितीय या तृतीय प्रकार के साधनों अर्थात् प्रेस, रेडियो आदि की आवश्यकता नहीं होती। दूसरों के तर्क चाहे कितने ही सशक्त क्यों न हों, यदि वे निजी अनुभवों के अनुकूल नहीं होते तो वे अधिक प्रभाव नहीं डाल सकते।

2. परिवार—जनमत निर्माण में परिवार की भूमिका सहज, परन्तु निश्चित और महत्त्वपूर्ण होती है। परिवार वह मूल एवं प्रारम्भिक संस्था है जहाँ व्यक्ति को जीवन के पहले अनुभव प्राप्त होते हैं, उसकी भावनाओं को सहारा मिलता है, उसकी आदतें परिपक्व होती हैं, उसकी मान्यतायें निर्धारित होती हैं और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। परिवार से व्यक्ति उन पारिवारिक परम्पराओं और पूर्वाग्रहों को प्राप्त करता है जो उसके जीवन का पथ-प्रदर्शन करते हैं। परिवार से वह जीवन के मूल्यों, सत्ता, स्वतन्त्रता और सामाजिकता के दृष्टिकोणों को प्राप्त करता है। परिवार व्यक्ति के लिए सूचना का प्रथम केन्द्र है। यहीं पर उसका समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र निर्धारित होता है। इन्हें व्यक्ति परिवार मे औपचारिक ज्ञान के रूप में नहीं बल्कि सहज वृत्ति और नकल से प्राप्त करता है।

3. धर्म—व्यक्ति के विचारों पर धर्म का प्रभाव होता है। धर्म एक सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक दवाव समूह के रूप में कार्य करता है। धर्म व्यवहार के सही और गलत मूल्य निर्धारित करता है और नैतिक नियमों की ऐसी संहिता तैयार करता है जिसका प्रभाव अन्य व्यक्तियों और देश के दीवानी और फौजदारी कानून पर भी पड़ता है। धर्म द्वारा प्रचारित सामाजिक स्वीकृतियाँ और निषेधाज्ञायें व्यक्ति के विचारों और क्रियाओं को नियन्त्रित करती हैं तथा राजनीति को प्रभावित एवं नियन्त्रित करने का प्रयास करती हैं।

4. शिक्षा—यदि परिवार का व्यक्ति पर प्रभाव अनौपचारिक है तो स्कूल, अध्यापक और पाठ्यक्रम का प्रभाव औपचारिक है। शिक्षा व्यक्ति को तथ्यों से अवगत कराती है, उसमें व्याख्या और खोज की आदत डालती है तथा उसे गुण और निगुणता प्रदान करती है। शिक्षा केन्द्रों में होने वाले विचार-विमर्श या विवाद व्यक्ति को विषयों के प्रति जागरूक करते हैं। यद्यपि शिक्षा प्राय: व्यवसाय वन गई है परन्तु यह एक लक्ष्य अर्थात् सेवा भी है और यदि यह लक्ष्य है तो इसका प्रभाव

गहरा होगा। सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में शिक्षा को राज्य के नियन्त्रण में इसलिए रखा जाता है कि व्यक्ति के विचारों और क्रियाओं को नियन्त्रित किया जा सके।

5. प्रेस या दैनिक पत्र-पत्रिकायें—सूचना प्रसारण के साधनों में प्रेस सर्वोत्तम साधन है। इसे प्रजातन्त्र की रीढ़ की हड्डी कहा जाता है। प्रेस लोगों को घटनाओं की सूचनायें देता है। यह सार्वजनिक एवं विशिष्ट महत्त्व की समस्याओं पर विचार प्रस्तुत करता है, विवादास्पद विषयों पर टिप्पणी करता है। प्रेस के सम्पादकीय लेख समस्याओं को सुलझाने में सहायक होते हैं। प्रेस दोहरे सूचना केन्द्रों के रूप में कार्य करता है। यह जहाँ जन-समस्याओं, शिकायतों और कठिनाइयों को शासन तक पहुँचाता है। वहाँ यह सर्वसाधारण को शासन की नीतियों और कार्यक्रमों से भी अवगत कराता है। प्रेस उन व्यक्तियों के विचारों के निर्माण में सहायता करता है जिनके पास अपने कोई विचार नहीं होते। प्रेस लिखित शब्दों में घटनाओं को जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है जिसे कुछ लोग प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रेस तथ्यों का उल्लेख करता है, उनकी व्याख्या करता है तथा पाठकों के विचार-विमर्श के लिए एक मंच तैयार करता है। **लिपमैन** ने समाचार-पत्रों को **"प्रजातन्त्र की बाइबल"** कहा है।

प्रेस तभी स्वस्थ जनमत का निर्माण करने में सहायक होता है जब वह स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष होता है और पूर्वाग्रहों से मुक्त होता है। यदि प्रेस शासन द्वारा नियन्त्रित है या निहित स्वार्थों या बड़े-बड़े उद्योगों का प्रतिनिधित्व करता है और संकीर्ण एवं एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाता है तो वह जनमत के निर्माण या उसके परिवर्तन में भूमिका नहीं निभा सकता। यदि प्रेस के विचार और आँकड़े सही हैं, उसकी सूचनाएँ प्रामाणिक हैं और अनुसन्धान एवं अनुभव पर आधारित हैं तो उनका प्रभाव स्वस्थ होगा। यदि प्रेस "सनसनीपूर्ण खोजों" या "खबरों" या उत्तेजनापूर्ण लेखों को प्रकाशित करता है तो उसका प्रभाव स्वस्थ नहीं होगा।

6. रेडियो या सिनेमा—रेडियो तथा सिनेमा प्रायः मनोरंजन के साधन समझे जाते हैं परन्तु जनमत निर्माण में इनकी भूमिका पर्याप्त है। जहाँ दैनिक पत्रों, पुस्तकों आदि का प्रयोग केवल शिक्षित वर्ग कर सकता है वहाँ रेडियो और सिनेमा का प्रयोग शिक्षित और अशिक्षित दोनों कर सकते हैं।

7. विधानमण्डल—राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से विधानमण्डल के विवाद अत्यधिक प्रभावी होते हैं। जनमत के विकास में इनकी भूमिका पर्याप्त होती है। दैनिक पत्र विधानमण्डलों की कार्यवाही को प्रकाशित करते हैं। इनसे पाठक तथ्यों को जान सकते हैं तथा शासन एवं विरोध पक्ष की योग्यता एवं तर्कसंगतता का मूल्यांकन कर सकते हैं।

8. सार्वजनिक सभायें—जिस उद्देश्य को प्रेस लिखित शब्दों द्वारा प्राप्त करना चाहता है। सार्वजनिक सभायें उसे बोलकर प्राप्त करती हैं। सार्वजनिक

सभाओं में अभिव्यक्त किये गये विचार जनता को सीधे प्रभावित करते हैं। निर्वाचनों के समय सार्वजनिक सभाओं का प्रयोग खुलकर किया जाता है। सभाओं में सरकारी नीतियों की समीक्षा की जाती है और राष्ट्रीय विषयों को जनता तक पहुँचाया जाता है। इसमें प्रत्येक वक्ता अपने दल की नीतियों का समर्थन करता है जिससे सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर लोगों के समक्ष भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत होते हैं। सार्वजनिक सभायें उन लोगों को सक्रिय बना देती हैं जो प्रायः उदासीन, निरक्षर और अनभिज्ञ होते हैं।

9. नेतृत्व—जिन देशों में नागरिक निरक्षर हैं या लोग सामाजिक और आर्थिक समस्याओं में डूबे हुए हैं या जहाँ जाति, धर्म और परम्परा का प्रभाव अधिक है वहाँ जनमत निर्माण में नेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की भूमिका अधिक होती है। ये नेता और राजनीतिक कार्यकर्त्ता लोगों के समक्ष मौलिक एवं नवीन विचारों को प्रस्तुत करते हैं और तथ्यों, तर्कों या चमत्कार (करिश्मा) द्वारा जनमत को प्रभावित करते हैं। लिपमैन का मत है कि कुछ लोग तो "मतों के पिता" होते हैं।

10. प्रचार—प्रचार ऐसा वक्तव्य या कार्य है जिसका उद्देश्य दूसरे के मतों या कार्यों को प्रभावित या नियन्त्रित करना है। "यह किसी को किसी के बारे में मनवाने के लिए सचेत प्रयास हैं।" प्रचारक अनुनय के सभी साधनों का प्रयोग करते हैं। वे तर्क करते हैं, तथ्यों को बताते हैं, झूँठ बोलते हैं, पूर्वाग्रहों एवं भावनाओं को अपील करते हैं। वे सूचना के साधनों जैसे कला, चिन्ह, झण्डों, संकेतों, चरित्र आदि का प्रयोग करते हैं। जनमत निर्माण में प्रचार की भूमिका निश्चित एवं महत्त्वपूर्ण है।

11. सरकारी गतिविधियाँ—आधुनिक समय में सरकार स्वयं सूचना का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। सभी सरकारें सूचना और प्रसारण विभाग के माध्यम से लोगों को सूचनायें प्रदान करती हैं। सरकारी गतिविधियों की जानकारी लोगों को इसी के माध्यम से प्राप्त होती है।

12. अफवाहें—जनमत को प्रभावित करने में अफवाहों का प्रयोग भी किया जाता है। निर्वाचन के समय फैलाई गई अफवाहों का प्रभाव पर्याप्त होता है। अफवाहें फैलाने के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं—सत्य का पता लगाना, आतंक फैलाना, स्वार्थ सिद्ध करना, गलत या सही दिशा देना आदि।

13. दबाव समूह—दबाव समूह भी जनमत निर्माण में सहायक हैं। वे उन हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके लिए उन्हें संगठित किया जाता है। दूसरे, वे अपने सदस्यों के लिए सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करते हैं। तीसरे, वे अपने सदस्यों को सचेत करते हैं, उन्हें एकत्रित होने, बात करने और एक-दूसरे के विचारों से प्रभावित होने के अवसर प्रदान करते हैं। वे अपने हितों की रक्षा हेतु वैतनिक

प्रचारकों को नियुक्त करते हैं। वे लॉबीइंग तथा जन-सम्पर्क के साधनों द्वारा विधायकों और निर्णय लेने वाले अधिकारियों को प्रभावित करते हैं।

14. राजनीतिक दल—जनमत निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। वे विचारों और सिद्धान्तों में एकमत उत्पन्न करते हैं। वे विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं और उदासीन एवं अनभिज्ञ मतदाताओं को शिक्षित, जागरूक एवं क्रियाशील बनाते हैं। दल जटिल राजनीतिक समस्याओं को सरल रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और राष्ट्रीय विषयों पर जनमत का निर्माण करते हैं। निर्वाचन के समय दलों की रिपोर्टिंग कारगर सिद्ध होती है। वे अमूर्त मत-दाताओं को मूर्त बनाते हैं।

15. निर्वाचन—निर्वाचन स्वयं जनमत निर्माण का साधन है। चुनाव परिणाम जनमत की अभिव्यक्ति करते हैं। निर्वाचन के समय नेता, नागरिक, दबाव समूह, दल, प्रेस, रेडियो, सार्वजनिक सभायें आदि सक्रिय हो जाते हैं। निर्वाचन प्रचार में सरकार के कार्यों की समीक्षा की जाती है तथा आगामी कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया जाता है। चुनाव में लोगों की नीतियों और कार्यक्रम को निर्धारित करने का अवसर मिलता है।

जनमत निर्माण में बाधायें—विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में जनमत निर्माण को मुख्यतः निम्न चुनौतियों या बाधाओं का सामना करना पड़ता है—

1. निरक्षरता—निरक्षरता स्वस्थ जनमत का घोर शत्रु है। विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं को इसका सामना करना पड़ रहा है। शिक्षा का न्यून स्तर होने से साधारण नागरिक सार्वजनिक समस्याओं पर सही मतों को अभिव्यक्त करना तो दूर, वे उन्हें ठीक प्रकार से समझ भी नहीं सकते।

2. उदासीनता—निरक्षरता की प्रचुर मात्रा नागरिकों को उदासीन बना देती है। उदासीनता निरक्षरता से भी अधिक घातक है।

3. साम्प्रदायिकता—विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में रहने वाले लोग भिन्न-भिन्न जातियों के हैं जो भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास करते हैं। ये जातियाँ अपनी भिन्न-भिन्न मान्यताओं को दूसरों से श्रेष्ठ समझती हैं जो जातीय कटुता को जन्म देती हैं। इससे वे सार्वजनिक समस्याओं पर व्यापक या सार्वजनिक दृष्टिकोण नहीं अपनातीं। मतों को अभिव्यक्त करते समय वे इन्हीं संकीर्ण विचारों से प्रभावित होती हैं।

4. प्रतिबद्ध प्रेस—विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रेस की भूमिका निष्पक्ष या स्वतन्त्र नहीं होती। यहाँ प्रेस न्यूनाधिक मात्रा में प्रतिबद्ध होता है। यदि कुछ दैनिक पत्र राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाते हैं तो कुछ प्रादेशिक, कुछ दलीय, कुछ वर्गीय और कुछ साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। प्रतिबद्ध प्रेस के कारण जनता के पास निष्पक्ष सूचनायें नहीं पहुँचतीं; सूचनायें तोड़-मरोड़ कर जनता के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं। अतः जनता सही दृष्टिकोण अभिव्यक्त नहीं कर पातीं। जब तथ्य ही गलत हों तो निर्णय सही नहीं हो सकते।

5. दलों में सिद्धान्तों का अभाव—विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में दल सुदृढ़ आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होते। उनका आधार प्रदेश, क्षेत्र या जाति होता है। इससे राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव रहता है। दल भ्रामक प्रचार करते हैं जिससे राष्ट्रीय उद्देश्य पिछड़ जाते हैं और तुच्छ या स्थानीय समस्यायें उभर आती हैं।

6. दरिद्रता—विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में दरिद्रता सबसे बड़ा अभिशाप है। दरिद्रता नागरिकों को अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों से विमुख करती है। यह उनमें दुर्बलता और उपेक्षा की भावना पैदा करती है। ये सब तत्त्व स्वस्थ जनमत निर्माण में बाधायें प्रस्तुत करते हैं।

स्वस्थ जनमत के लिए अनिवार्य शर्तें स्वस्थ जनमत के लिए मुख्यतः निम्न शर्तों की आवश्यकता होती है—

1. शिक्षित एवं प्रबुद्ध नागरिक—स्वस्थ जनमत के लिए शिक्षित एवं प्रबुद्ध नागरिकों का होना अनिवार्य है। निरक्षर एवं अनभिज्ञ नागरिक न तो अपनी समस्याओं को समझ सकते हैं और न सार्वजनिक समस्याओं को। नागरिकों में चिन्तन की क्षमता होनी चाहिये और उन्हें पूर्वाग्रहों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त होना चाहिये। यदि नागरिकों में सार्वजनिक समस्याओं को समझने की क्षमता नहीं हो तो उन्हें उन मतों को अभिव्यक्त करने के लिए कहना मिथ्या है।

2. सार्वजनिक समस्याओं में अभिरुचि—स्वस्थ जनमत के लिए नागरिकों में सार्वजनिक समस्याओं के प्रति अभिरुचि होनी चाहिए। निर्वाचन के समय दिखाई गई उदासीनता जनमत एवं लोकतन्त्र के लिए खतरा हो सकती है। नागरिकों को स्वार्थी एवं भ्रष्ट राजनीतिज्ञों को दण्डित करना आना चाहिये। नेताओं में अन्ध-विश्वास उतना ही खतरनाक हो सकता है जितना कि उदासीनता।

3. समूहों एवं दलों का निर्माण—लोकतन्त्र में कोई भी अकेला व्यक्ति प्रभावशाली नहीं हो सकता चाहे उसके विचार कितने ही तर्कपूर्ण और लाभकारी क्यों न हों। यह आवश्यक है कि एक जैसे विचार रखने वाले लोग संगठित हो कर कार्य करें। स्वस्थ जनमत के लिए संगठित समूहों और संगठित राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। दलों का आधार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक नीतियाँ होना चाहिये; क्षेत्र, प्रदेश, जाति, भाषा या धर्म नहीं। साम्प्रदायिकता या क्षेत्रीयता पर आधारित दल स्वस्थ जनमत के लिए हानिकारक होते हैं।

4. स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस—स्वस्थ जनमत के लिए सूचना प्रसारण एवं जनसम्पर्क के साधन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष होने चाहिये। यदि प्रेस पर सरकारी नियन्त्रण है या प्रेस वर्गीय या धनाढ्यों के हितों का समर्थक है तो स्वस्थ जनमत का निर्माण नहीं हो सकता। जिस मात्रा में प्रेस और प्रसारण घटनाओं को तोड़-मरोड़ कर रखते हैं उसी मात्रा में जनमत अस्वस्थ होता है। सूचना के साधन जितने स्वस्थ एवं स्वतन्त्र होंगे, जनमत उतना ही स्वस्थ होगा।

5. विचार-विमर्श एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—स्वस्थ जनमत के लिए भाषण, अभिव्यक्ति, संघ और समूह निर्माण की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि समस्याओं पर विचार-विमर्श की आज्ञा नहीं, आलोचना और प्रत्यालोचना का अधिकार नहीं और संगठित विरोध विद्यमान नहीं तो जनमत स्वस्थ नहीं हो सकता।

6. गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अभाव—स्वस्थ जनमत के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों की न्यून आवश्यकतायें—रोटी, कपड़ा और मकान—पूरी होती हों। यदि नागरिकों का अधिकांश समय अपने जीविकोपार्जन में व्यतीत हो जाता है तो उसके पास सार्वजनिक समस्याओं के बारे में चिन्तन करने का समय नहीं रहेगा। विकासशील देशों में प्रबुद्ध और सक्रिय जनमत के न होने का मूल कारण यही है कि नागरिकों का जीवन "रोटी" की समस्या हल करने में व्यतीत हो जाता है।

7. गम्भीर सामाजिक विषमताओं का अभाव—स्वस्थ जनमत के लिए सामाजिक विषमताओं का अभाव होना चाहिये। यदि समाज में सामाजिक विषमतायें विद्यमान हैं तो लोग संकीर्ण वर्गीय या जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर सार्वजनिक हितों की पूर्ति नहीं कर सकेंगे।

8. सचेत एवं दूरदर्शी नेता—जनमत निर्माण में नेतृत्व की भूमिका अत्यधिक होती है। अतः नेताओं का चरित्र उच्च और निर्मल होना चाहिये। उन्हें सचेत और दूरदर्शी होना चाहिये। उन में आरम्भन की शक्ति होनी चाहिये। उनका दृष्टिकोण शान्त और परिपक्व होना चाहिये।

9. राजनीतिक ढांचे के सम्बन्ध में सहमति—नागरिकों में राजनीतिक व्यवस्था के बारे में सहमति होनी चाहिए। यह स्वस्थ जनमत और राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में जनमत का रूप—लोकतान्त्रिक, समाजवादी एवं सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में जनमत का निर्माण एवं अभिव्यक्ति एक प्रकार के साधनों से होती है। फिर भी भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में जनमत का रूप भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरणतः लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिकों की भूमिका ऐच्छिक और स्वतन्त्र होती है। इनमें नागरिकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के संघ, समूह, दल आदि के निर्माण की स्वतन्त्रता होती है। इनमें नागरिक परस्पर विरोधी विचारों में स्वतन्त्रता से चयन करते हैं।

दूसरी ओर, समाजवादी तथा अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिकों की भूमिका निर्देशित, नियन्त्रित और आदेशित होती है। इन्हें न तो विरोधी समूहों एवं राजनीतिक दलों में संगठित होने की आज्ञा होती है और न वे स्वतन्त्रता से चयन कर सकते हैं। इनमें जनमत को वस्तुतः जनमत कहना इस शब्द का 'मजाक' करना है। इनमें जिस चीज को जनमत कहा जाता है वह वस्तुतः न तो जनता का मत होता है और न उसकी अभिव्यक्ति जनता द्वारा की जाती है।

इनमें 'मतों' या 'विचारों' को राज्य, नेता या दल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिन्हें जनता को स्वीकार करने के लिए कहा जाता है। इनमें विषयों या समस्याओं का चयन जनता नहीं करती बल्कि स्वयं राज्य करता है। इनमें विरोधी विचारों का अभाव होता है। इनमें नागरिकों के पास कोई अपनी पसन्द नहीं होती। इनमें नागरिकों को समय-समय पर रंगमंच पर लाया जाता है और "जन सहमति" एवं निर्वाचनों का ढोंग रचा जाता है। परन्तु इनमें नागरिकों की स्थिति "बन्दी नायक" से बढ़कर नहीं होती। इनमें समाज की सभी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों पर राज्य का नियन्त्रण होता है। इनमें राज्य लोगों के कार्यों को निर्धारित करता है तथा उन्हें इस बात का निर्देशन देता है कि उन्हें कब, क्या, कैसे और कहाँ करना है। इनमें राज्य ही नागरिकों के अवकाश, खेल, विवाह, प्रेम, शिक्षा, धर्म आदि को निर्धारित करता है। इनमें जन-सम्पर्क एवं प्रचार के सभी साधनों अर्थात् सिनेमा, रेडियो, थियेटर, नाटक, साहित्य आदि पर राज्य का नियन्त्रण होता है।

समीक्षा प्रश्न

1. जनमत से क्या तात्पर्य है ? जनमत का निर्माण किस प्रकार होता है ? (Raj. Suppl. 1984)
2. जनमत पर एक टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1982, 84, Suppl. 1986)
3. जनमत किसे कहते हैं ? इसका निर्माण कैसे होता है ? लोकतान्त्रिक राज्य में जनमत के महत्व को स्पष्ट कीजिए। (Raj. 1987)

30

स्थानीय शासन

(Local Government)

अर्थ, प्रकृति एवं परिभाषा (Meaning, Nature and Definition)—किसी भी देश के लिए, जिसका क्षेत्र विशाल और जनसंख्या अत्यधिक होती है, एक केन्द्र या राजधानी से समूचे देश के शासन को सुचारु रूप से चलाना एक जटिल समस्या है। आधुनिक लोकतान्त्रिक, लोक-कल्याणकारी, समाज-सेवी राज्य के कार्यों का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि सभी कार्यों को करने के लिए एक शासन के पास समय का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त, सभी समस्यायें राष्ट्रीय स्तर की नहीं होतीं। यदि कुछ समस्यायें राष्ट्रीय स्तर की होती हैं तो कुछ प्रान्तीय स्तर की और कुछ स्थानीय स्तर की होती हैं। ये सब तत्त्व मिलकर सत्ता, अधिकार, शक्ति और उत्तरदायित्व के विकेन्द्रीकरण की मांग करते हैं जो स्थानीय शासन को जन्म देती है।

स्थानीय शासन को भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इंगलैण्ड में इसे "स्थानीय सरकार" कहा जाता है जिसके प्रमुख उदाहरण हैं—पैरिश, ग्रामीण जिला, शहरी जिला, नॉन काउण्टी बरो, काउण्टी बरो और प्रशासनिक काउण्टी। **अमरीका में इसे "नगरपालिका शासन"** कहते हैं। अमरीका में इसकी लगभग 48 सरकारें हैं, जिनकी प्रमुख इकाइयाँ हैं—नगर, टाउनशिप, टाउन और काउण्टी। **फ्रांस में इसे "स्थानीय शासन"** कहते हैं। फ्रांस में इसकी सबसे छोटी इकाई कम्यून और सबसे ऊपर डिपार्टमेन्ट है। सम्पूर्ण फ्रांस 90 डिपार्टमेन्टों में विभाजित है। **भारत में इसे "स्थानीय स्वशासन"** कहते हैं। ग्रामीण स्तर पर इसके प्रमुख उदाहरण हैं—पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद्। शहरी स्तर पर इसके प्रमुख उदाहरण हैं—पोर्ट ट्रस्ट, छावनी बोर्ड, नगर विकास न्यास, नगरपालिकायें और नगर निगम। **सोवियत संघ में इसे "म्युनिसिपल सोवियत"** कहते हैं। यहाँ ग्रामीण और शहरी सोवियतें विद्यमान हैं। इनसे ऊपर रायोन और ओवलास्ट हैं।

स्थानीय शासन और स्थानीय स्वशासन में अन्तर होता है। स्थानीय शासन में स्थान विशेष का शासन प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन के अधिकारियों द्वारा चलाया जाता है जबकि स्थानीय स्वशासन में स्थान विशेष का शासन स्थानीय लोगों द्वारा

बनाया जाता है अर्थात् स्थान विशेष के लोग (निवासी) स्थानीय संस्थाओं को वयस्क मताधिकार के आधार पर गुप्त मतदान प्रणाली द्वारा निर्वाचित करते हैं जो उनके प्रति उत्तरदायी होती हैं। उदाहरणत: भारत में पंचायत के सदस्यों का निर्वाचन पंचायत क्षेत्र में रहने वाले लोग करते हैं।

स्थानीय शासन या स्थानीय स्वशासन की संस्थायें सार्वभौम नहीं होतीं। उन्हें केन्द्रीय या प्रान्तीय शासनों की भांति कोई संवैधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं होता। ये अधीनस्थ निकाय होती हैं जो वरिष्ठ सरकारों (केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारो) के अधीन होती हैं। इसलिए इन्हें "कनिष्ठ सरकार" कहा जाता है। इनकी सृष्टि केन्द्रीय या प्रान्तीय विधानमण्डल की संविधि द्वारा होती है जिसमें उनकी रचना, शक्ति और कार्यों का उल्लेख होता है। इनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सार्वजनिक सेवाओं का स्वरूप प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं से भिन्न होता है यद्यपि कुछ एक विषय दोनों में समान हो सकते हैं जैसे स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा आदि। स्थानीय शासन की संस्थाओं को अपने क्षेत्र में पर्याप्त स्वतन्त्रता होती है और सामान्यत: प्रान्तीय या केन्द्रीय सरकार उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करतीं। यदि स्थानीय संस्थायें अपनी सत्ता का दुरुपयोग करती हैं या ये ऐसे उप-नियम बनाती है जो प्रान्तीय या केन्द्रीय कानून के विपरीत होते हैं या ये अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करती हैं तो इनके कार्यों को रद्द किया जा सकता है और इन्हें भंग कर इनके शासक को प्रान्तीय या केन्द्रीय सरकार अपने हाथों में ले सकती है या इनकी सविधि में परिवर्तन कर सकती है।

स्थानीय स्वशासन स्थानीयता और सीमित स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। इसकी संस्थाओं की रचना स्थानीय लोगों द्वारा स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करने के लिए की जाती है। जैसाकि एल. गोल्डिंग ने कहा है कि **"स्थानीय स्वशासन एक बस्ती के लोगों द्वारा अपने विषयों का स्वयं द्वारा प्रबन्ध है।"**

स्थानीय शासन की प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

1. जॉन जे. क्लार्क के शब्दों मे, "स्थानीय शासन एक राष्ट्र या राज्य शासन का वह भाग है जो मुख्य रूप से ऐसे विषयों पर विचार करता है जिनका सम्बन्ध एक विशेष जिले या स्थान के लोगो से होता है। साथ ही उन विषयों पर भी विचार करता है जिन्हें संसद द्वारा प्रशासित होने के लिए निश्चित किया जाता है। ये स्थानीय संस्थायें केन्द्रीय शासन के अधीन रहकर कार्य करती हैं। ये प्राय: निर्वाचित होती हैं।"

2. गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "स्थानीय संस्थायें अधीनस्थ संस्थायें हैं जिन्हें सीमित क्षेत्र में कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है।"

3. ब्रिटानिका विश्व शब्दकोष के अनुसार—"स्थानीय शासन का अर्थ है पूर्ण राज्य की अपेक्षा आन्तरिक एवं लघु प्रतिबन्धित क्षेत्र में निर्णय लेने तथा उनको कार्यान्वित करने की सत्ता। स्थानीय स्वशासित शासन को इसलिए महत्त्व-

पूर्ण माना जाता है कि यह स्थानीय लोगों को निर्णय लेने एवं कार्य करने की स्वतन्त्रता पर जोर देता है।"

स्थानीय संस्थाओं का महत्त्व एवं उपयोगिता

स्थानीय स्वशासित संस्थाओं के महत्त्व एवं उपयोगिता को निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. लोकतन्त्र की आधारशिलायें—ये संस्थायें लोकतन्त्र की आधारशिलायें हैं। **इन्हें लोकतन्त्र को 'रीढ़ की हड्डी' कहा जाता है।** इनके अभाव में लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। ये संस्थायें नागरिकों को लोकतन्त्र के लिए आवश्यक राजनीतिक प्रशिक्षण देती हैं, उनमें स्वतन्त्र भावनाओं को जागृत करती हैं, उनमें सार्वजनिक भावनाओं और सामान्य समस्याओं के समाधान के लिए पारस्परिक समझ विकसित करती हैं, उसमें आत्मविश्वास और पारस्परिक सहयोग पैदा करती हैं तथा राष्ट्रीय स्तर के लिए भावी नेतृत्व तैयार करती हैं। इन्हें **लोकतन्त्र की 'नर्सरी', 'पाठशाला' एवं 'प्रयोगशाला'** कहा गया है। ये राष्ट्र की शक्ति और स्वतन्त्रता की द्योतक हैं। **डी. टॉकविल** ने कहा है कि "नागरिकों की स्थानीय सभायें राष्ट्र की शक्ति है। विज्ञान के लिए जो महत्त्व प्रारम्भिक पाठशालाओं का है वही महत्त्व स्वतन्त्रता के लिए नगर सभाओं का है....किसी राष्ट्र द्वारा स्वतन्त्र शासन की स्थापना की जा सकती है, परन्तु स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के अभाव में स्वतन्त्रता की भावना नहीं आ सकती।"[1] पंचायती राज इन्हीं संस्थाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

2. लोकतान्त्रिक प्रशिक्षण एवं भावी नेतृत्व—ये संस्थायें भावी प्रशासकों और राजनीतिज्ञों को तैयार करती हैं। इन सस्थाओं के निर्वाचनों में नागरिक मतों के सही प्रयोग और सही पदाधिकारियों के चयन की कला सीखते हैं। इन संस्थाओं में जब स्थानीय विषयों पर विचार-विमर्श होता है और बजट को पारित किया जाता है तो नागरिकों की उनमें रुचि बढ़ती है और प्रशासकों को प्रशासनिक अनुभव प्राप्त होता है जो भावी नेतृत्व के लिए लाभकारी सिद्ध होता है। **विलसन** ने लिखा है कि **"स्वशासित संस्थायें कुछ सेवायें ही प्रदान नहीं करतीं बल्कि नागरिक उत्तरदायित्व और राजनीतिक प्रशिक्षण भी देती हैं।"**

3. नागरिक गुणों का विकास—ये संस्थायें नागरिकों में अनेक प्रकार के नागरिक गुणों का विकास करती हैं। उदाहरणत: उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण, सहयोग एवं सार्वजनिक सेवा की भावना, पारस्परिक समझ, सार्वजनिक उत्साह, ईमानदारी, सच्चरित्रता, आत्मविश्वास की भावनायें आदि इन्हीं संस्थाओं की क्रियान्विति से उत्पन्न होती हैं। ये संस्थायें भिन्न-भिन्न जातियों और धर्म के लोगों में समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इकट्ठा मिलकर कार्य करने की भावना पैदा

---

1. Tocqueville, De : Democracy in America.

करती हैं। लार्ड ब्राइस ने ठीक लिखा है कि "स्थानीय संस्थायें सामान्य कार्यों में नागरिकों का सामान्य हित जागृत करती हैं। ये लोगों को दूसरों के हित के लिए कार्य करने का प्रशिक्षण ही नहीं देतीं वरन् उन्हें प्रभावशाली ढंग से दूसरों के साथ कार्य करना भी सिखाती हैं। ये सहज ज्ञान, तर्कसंगतता, न्यायप्रियता एवं सामाजिकता का विश्वास करती हैं।"

4. **केन्द्रीय एवं प्रान्तीय कार्यभार में कमी**—आधुनिक समय में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को इतना कार्य करना पड़ता है कि यदि उन्हें स्थानीय विषयों का कार्य-भार सौंप दिया जाये या "उन्हें विदेशी वार्ता से लेकर कस्बे या नगर के कूड़े के ढेरों तथा नालियों की सफाई की देख-रेख का कार्य करना पड़े तो वे कार्य-भार से इतना दब जायेंगी कि वे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय या प्रान्तीय विषयों को कुशलता-पूर्वक नहीं कर पायेंगी।" यह ठीक कहा गया है कि **"स्थानीय संस्थायें केन्द्रीय शासन को मिर्गी और प्रान्तीय शासन को लकवे के रोगों से बचाती हैं।"**

5 **स्थानीय समस्याओं का सही निवारण**—स्थानीय संस्थायें स्थानीय समस्याओं का सही निवारण करने में अधिक उपयुक्त होती हैं। स्थानीय संस्थाओं के पदाधिकारी स्थानीय समस्याओं को निकट से जानते हैं। यदि स्थानीय प्रशासन केन्द्रीय या प्रान्तीय पदाधिकारियों द्वारा चलाया जाय तो वे न तो उन्हें निकटता से जान सकते हैं और न ही उनमें वह रुचि उत्पन्न हो सकती है जो स्थानीय लोगों में हो सकती है। स्थानीय लोग स्थानीय समस्याओं में पहल करते हैं और उनका सही समाधान निकालते हैं।

6. **केन्द्रीयकरण के दोषों से मुक्ति**—स्थानीय संस्थायें अत्यधिक केन्द्रीकरण और अधिनायकतन्त्र के विरुद्ध सुदृढ़ रक्षा पंक्ति है। इनके कारण नौकरशाही और लालफीताशाही के दोष उत्पन्न नहीं होते; कठोर नियमबद्धता और औपचारिकता घर नहीं करती और सर्वसाधारण में भय, आतंक, घृणा या विध्वंस की प्रवृत्तियाँ जन्म नहीं लेतीं। फाइनर ने ठीक लिखा है कि **"स्थानीय शासन संघवाद एवं आनुपातिक प्रतिनिधित्व जैसी पद्धतियों की श्रेणी में है। वह भीड़ के अत्याचार के विरुद्ध संरक्षण है।"**

7. **व्यय में बचत**—स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय संस्थाओं द्वारा होने से प्रशासनिक व्यय में बचत होने की सम्भावना होती है। इसके अधिकांश पदाधिकारी अवैतनिक होते हैं। ये प्रान्तीय या केन्द्रीय पदाधिकारियों की भाँति वैतनिक नहीं होते। इसके अतिरिक्त स्थानीय पदाधिकारियों का स्थानीय समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण एवं सुधारात्मक होता है। ये अनावश्यक अड़चन पैदा नहीं करते। स्थानीय पदाधिकारियों में सहयोग और सेवा की भावना भी अधिक होती है।

8. **विकास कार्यों में सहायक**—स्थानीय संस्थायें आर्थिक और सामाजिक विकास की योजनाओं को लागू करने में अत्यधिक सहायक होती हैं। उदाहरणतः

भारत में सामुदायिक विकास की योजनाओं को ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों और जिला परिषदों के माध्यम से लागू करने का प्रयास किया गया है। **प्रो. हिक्स** का मत है कि "राष्ट्रीय परियोजनाओं के प्रसार के लिए जिन सेवाओं की आवश्यकता होती है उन्हें स्थानीय स्तर पर भली प्रकार सम्पन्न किया जा सकता है। इनको संगठित करने का सुगम मार्ग स्थानीय शासन है।"

स्थानीय शासन के कार्य

स्थानीय शासन के कार्य देश, संविधि, स्थान विदेश की आवश्यकताओं और स्थान विशेष के निवासियों की जागृति और शासन में रुचि लेने की इच्छा पर निर्भर करते हैं। ग्रामीण और शहरी स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में भिन्नता हो सकती है। इनके कार्यों का रूप और क्षेत्र इनके पास उपलब्ध धनराशि पर भी निर्भर करता है। इनके कार्य संविधि द्वारा मर्यादित होते हैं। स्थानीय शासन केवल उन कार्यों को कर सकता है जिनका संविधि में उल्लेख होता है। यह संविधि से बाहर कार्य नहीं कर सकता।

स्थानीय शासन के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

1. **सुरक्षात्मक सेवायें**—इन सेवाओं के अन्तर्गत स्थानीय शासन मुख्यत: निम्न सेवायें प्रदान करता है—

(a) **सार्वजनिक स्वास्थ्य**—सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा हेतु चिकित्सालय अस्पताल, शिशुगृहों की व्यवस्था करना, रोगों की रोकथाम के लिए समय-समय पर टीके लगाना तथा महामारी की स्थिति में उसकी रोकथाम के लिए कार्य करना, गलियों तथा सड़कों आदि की सफाई कराना आदि।

(b) अग्नि तथा अन्य प्रकार की दुर्घटनाओं से सुरक्षा करना।

(c) पुलिस आदि की व्यवस्था करना।

2. **भौतिक सेवायें**—इन सेवाओं के अन्तर्गत स्थानीय शासन, सड़कों, पुलों, रोशनी, गैस, पानी, बस परिवहन, ट्राम परिवहन आदि की व्यवस्था करता है।

3. **आर्थिक सेवायें**—इन सेवाओं के अन्तर्गत स्थानीय शासन खाद्य पदार्थों की देखभाल करता है, कृषि की उन्नति के लिए अच्छी खाद और बीजों आदि की व्यवस्था करता है; कुटीर उद्योगों का विकास करने का प्रयास करता है; व्यापारिक वस्तुओं के आवागमन पर नियन्त्रण रखता है; निर्धन एवं वृद्ध लोगों और अन्य असहाय लोगों की देखभाल भी करता है।

4. **लोक कल्याणकारी सेवायें**—इन सेवाओं के अन्तर्गत स्थानीय शासन शिक्षा, पुस्तकालयों और वाचनालयों की व्यवस्था करता है। सामान्यत: प्राथमिक शिक्षा इन संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती है। अनेक स्थानों पर माध्यमिक और उच्च शिक्षा की व्यवस्था भी इन संस्थाओं के माध्यम से की जाती है।

5. **मनोरंजन सम्बन्धी सेवायें**—स्थान विशेष की संस्कृति की रक्षा हेतु स्थानीय शासन समय-समय पर मेलों, तमाशों, प्रदर्शनियों आदि का आयोजन करता है तथा बगीचों (पार्कों) आदि की व्यवस्था करता है।

6. नैतिक सेवायें—ये संस्थायें नागरिकों के चरित्र को ऊँचा रखने के लिए वेश्यावृत्ति और भिखमंगी पर प्रतिबन्ध लगाती है।

7. प्रशासनिक सेवायें—उपर्युक्त सभी सेवाओं को प्रदान करने, करों को वसूल करने, स्थानीय उन्नति के लिए योजनायें बनाने तथा उन्हें लागू करने के लिए स्थानीय शासन अपने कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है।

स्थानीय शासन द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवायें स्थान विशेष के निवासियों को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। जैसा कि वारेन ने कहा है कि "समाज का कोई ऐसा वर्ग नहीं जिसकी स्थानीय संस्थायें सेवा नहीं करतीं। समाज के कुछ वर्गों की सेवा तो ये गर्भस्थल से मरघट तक करती हैं।"

स्थानीय शासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

स्थानीय शासन की सफलता के लिए निम्न शर्तों की आवश्यकता होती है—

1. *स्थानीय लोगों में रुचि एवं पहलकदमी की भावना*—स्थानीय शासन की सफलता के लिए आवश्यक है कि स्थान विशेष के लोगों में सामान्य समस्याओं के प्रति रुचि एवं पहलकदमी की भावना हो। स्थानीय शासन उसी मात्रा में सफल होगा जितनी मात्रा में स्थान विशेष के लोग कुशल, कुशाग्र बुद्धिशाली, साक्षर और रुचि लेने वाले होंगे। प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन स्थानीय शासन को चाहे कितना ही प्रोत्साहन क्यों न दें जब तक स्थान विशेष के लोग नागरिक और सार्वजनिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत नहीं होते तब तक स्थानीय शासन सफल नहीं हो सकता।

2. साक्षरता—*स्थानीय* लोग शिक्षित एवं उदार भावना से ओतप्रोत होने चाहिये। शिक्षित नागरिक ही अपनी तथा समुदाय की समस्याओं को समझ सकते हैं। उदार भावनाओं से प्रेरित नागरिक ही सभी वर्गों की सेवायें कर सकते हैं। यदि नागरिकों में जाति, बिरादरी या वर्ग की भावनायें हैं तो स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद जन्म ले लेगा जो स्थानीय शासन के लिए हानिकारक होता है।

3. दल विहीन *स्थानीय शासन*—स्थानीय शासन की संस्थाओं के चुनाव दल के आधार पर नहीं लड़े जाने चाहिये बल्कि योग्यता और समाज-सेवा के आधार पर लड़े जाने चाहिए ताकि जो पदाधिकारी निर्वाचित हों वे निर्दलीय भावना से कार्य कर सकें।

4. पर्याप्त उचित नियन्त्रण—स्थानीय शासन पर प्रान्तीय शासन या केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण एवं निरीक्षण आवश्यक है ताकि वह सही एवं समुचित कार्य कर सके और सार्वजनिक धन का अपव्यय न हो। परन्तु यह नियन्त्रण एवं निरीक्षण इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि स्थानीय शासन के दैनिक कार्यक्रम में ही हस्तक्षेप होना शुरु हो जाये। यदि हस्तक्षेप आवश्यक है तो उसमें हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। नियन्त्रण ऐसा होना चाहिये कि वह स्थानीय शासन की पहलकदमी को नष्ट न करे। नियन्त्रण रचनात्मक होना चाहिये। इसे नकारात्मक नहीं होना चाहिये। प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन को स्थानीय शासन को समय-समय पर

प्रोत्साहन देना चाहिए और आवश्यक हो तो धन एवं विशेष ज्ञान से सहायता करनी चाहिये ।

5. पर्याप्त आर्थिक साधन—स्थानीय शासन की सबसे बड़ी समस्या आर्थिक साधनों की होती है । साधनों के अभाव में स्थानीय शासन उन कार्यों को करने में असमर्थ रहता है जो आवश्यक होते हैं । यह आवश्यक है कि स्थानीय शासन के पास आय के स्वतन्त्र एवं पर्याप्त साधन हों । उन्हें कर लगाने, ऋण लेने, व्यापार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए । प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन पर स्थानीय शासन की वित्तीय निर्भरता उसकी स्वायत्तता के लिए घातक सिद्ध होती है । इससे स्थानीय शासन पर प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण बढ़ जाता है जो केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है ।

6. उच्च नैतिक स्तर—लोगों का नैतिक स्तर जितना उच्च होगा उतना ही स्थानीय शासन सफल होगा । उच्च नैतिक स्तर लोगों में, विशेषकर पदाधिकारियों में कर्त्तव्यपरायणता, नि:स्वार्थता और सार्वजनिक सेवा की भावनायें पैदा करता है ।

स्थानीय शासन के गुण-दोष

गुण (Merits)—स्थानीय शासन के गुणों की विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में "स्थानीय शासन के महत्त्व" शीर्षक के अन्तर्गत दी गई है । अत: इसके गुणों को अध्ययन उसी शीर्षक के अन्तर्गत कीजिए ।

दोष (Demerits)–स्थानीय शासन से उत्पन्न होने वाले प्रमुख दोष निम्न है–

1. स्थानीय भावनाओं का विकास—स्थानीय शासन से नागरिकों में स्थान विशेष से इतना लगाव पैदा हो जाता है कि वे स्थान विशेष के हितों और लाभों को प्राथमिकता देना शुरू कर देते हैं । इससे संकीर्ण भावनायें जन्म लेती हैं जो व्यापक राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं । राष्ट्रीय हित पिछड़ जाते हैं और स्थानीय हित बलशाली हो जाते हैं ।

2. दूषित राजनीति—स्थानीय शासन ने दूषित राजनीति को जन्म दिया है । यदि किसी स्थानीय क्षेत्र में किसी वर्ग, जाति या सम्प्रदाय का बहुमत है तो वह वर्ग, जाति या सम्प्रदाय उस स्थान विशेष की प्रतिनिधि संस्थाओं पर हावी हो जाता है और उनका प्रयोग संकीर्ण, वर्गीय या जातीय हितों के लिए करता है । इससे अन्य वर्गों और हितों की उपेक्षा होती है, जो संघर्ष को जन्म देती है । इससे दूषित राजनीति, पक्षपात, भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद को बढ़ावा मिलता है । उदाहरणत: भारतीय पंचायती राज की सभी संस्थायें इन दोषों से पीड़ित रही हैं ।

3. विशेष ज्ञान का अभाव—स्थानीय शासन के पास धन का अभाव होने से यह विशेषज्ञों की सहायता लेने में असमर्थ रहता है । उदाहरणत: इसके पास भवन निर्माण के लिए वास्तुकारों का अभाव होता है; स्वास्थ्य रक्षा के लिए निपुण चिकित्सकों का अभाव होता है पुलों आदि के निर्माण के लिए इंजीनियरिंग ज्ञान का अभाव होता है आदि ।

4. विषयों का दोषपूर्ण विभाजन—अनेक बार विषयों के दोषपूर्ण विभाजन से स्थानीय शासन को ऐसे कार्यों का भार सौंप दिया जाता है जिन्हें वह सुचारु रूप से नहीं कर सकते। उदाहरणत: शिक्षा एक ऐसा विषय है जो प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन के पास होना चाहिए, परन्तु जब इसे स्थानीय शासन को सौंप दिया जाता है तो इसकी दुर्दशा हो जाती है। उदाहरणतः प्राथमिक शिक्षा की जो दुर्दशा भारत में हुई है उससे समाज को अत्यधिक हानि हुई है।

5. परिसीमन की समस्या—स्थानीय शासन के क्षेत्र की सीमा को निर्धारित करना कोई सरल कार्य नहीं। इसके लिए न कोई भौगोलिक सीमायें और न ऐतिहासिक परम्परायें कार्य करती हैं यहाँ दो तत्त्व ही कार्य करते हैं—जनसंख्या और प्रदान की जाने वाली सेवायें।

6 वित्तीय साधनों का अभाव—स्थानीय शासन वित्तीय साधनों के अभाव से पीड़ित रहता है। इससे उसे प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन के अनुदानों पर निर्भर करना पड़ता है जिससे केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलता है। इस स्थिति में स्थानीय शासन नाममात्र का बनकर रह जाता है।

समीक्षा प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन से आप क्या समझते है? लोकतन्त्र में स्थानीय स्वशासन के महत्त्व पर प्रकाश डालिये। (Raj. Suppl. 1985)
2. स्थानीय सरकार के कार्यों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (Raj. 1987)

31

मताधिकार

(Suffrage)

परिचय—'मतदान', 'मतदाता', 'मतपत्र' निर्वाचन और 'प्रतिनिधि' प्रतिनिधि शासन के मूल तत्त्व हैं। '**मतदान**' नागरिकों द्वारा सार्वजनिक पदाधिकारियों की स्वीकृति या अस्वीकृति को पंजीकृत करने की क्रिया है। '**मतदाता**' वे लोग हैं जिन्हें राज्य कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता है। जिन्हें मताधिकार प्राप्त होता है उन्हें सामूहिक रूप से 'मतदाता' या 'निर्वाचकगण' कहते हैं। राज्य में सभी व्यक्तियों को मताधिकार नहीं होता। जिन देशों में वयस्क मताधिकार पाया जाता है उनमें भी नाबालिग, विदेशियों, पागलों या न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त नहीं होता। जिस साधन या उपकरण द्वारा नागरिक मताधिकार का प्रयोग करते हैं उसे **मतपत्र** कहते हैं। जिस सभा में मतदान की क्रिया सम्पन्न होती है उसे **निर्वाचन** कहते हैं। जिस व्यक्ति को मतों के बहुमत अथवा निर्वाचन कोटे के आधार पर निर्वाचित किया जाता है उसे '**प्रतिनिधि**' कहते हैं।

मताधिकार की प्रकृति या सिद्धान्त (Nature or Theories or Suffrage)—मताधिकार की प्रकृति के सम्बन्ध में लेखकों में एक मत नहीं पाया जाता। इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में मुख्यत: निम्न चार विचार पाये जाते हैं—

1. मताधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है—कुछ लेखकों का मत है कि व्यक्ति प्रकृतिशः समान हैं। अत: मताधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है जो सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तभी सम्भव है जब उसे दूसरों के समान समझा जाता है और व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं किया जाता। प्रजातन्त्र में 'लोक प्रभुता' का सिद्धान्त मान्य होता है। इसलिए भी मताधिकार मानव का एक प्राकृतिक अधिकार है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का अमरीकी और फ्रांसीसी राजनीतिक दर्शन इसी विचार से प्रभावित था। पेन, मांटेस्क्यू और रूसो इसके प्रमुख समर्थक हैं। मांटेस्क्यू ने लिखा है कि "समस्त निवासियों को प्रति-

निधियों के निर्वाचन में मतदान का अधिकार होना चाहिए। केवल उन लोगों को इस अधिकार से वंचित किया जाना चाहिए जो इतनी बुरी दशा में हों कि उनकी अपनी कोई इच्छा ही न हो।" रूसो का मत है कि सम्प्रभुता लोगों में निवास करती है। अतः प्रत्येक नागरिक का यह अहरणीय अधिकार है कि वह उस प्रभुता के उपयोग में हिस्सा ले।

2. मताधिकार एक सार्वजनिक पद या कार्य है जिसे योग्यता पर आधारित होना चाहिए—मताधिकार के सम्बन्ध में दूसरा विचार यह है कि यह एक प्राकृतिक अधिकार नहीं। यह एक सार्वजनिक पद या कार्य है। यह उस व्यक्ति को प्राप्त होना चाहिए जिसके पास इसके लिए योग्यतायें हैं। दूसरे शब्दों में, मताधिकार एक सामाजिक उपयोगिता है। इस कार्य के सुचारु रूप से सम्पन्न होने पर समाज का कल्याण सम्भव है। अत- यह अधिकार उन्हें प्राप्त होना चाहिए जो इसके योग्य हैं और जिनमें इनके सम्पादन की क्षमता है। एस्मीन इसे 'सामाजिक कार्य' मानता है। ब्लंशली, जे. एस. मिल, सर हेनरी मेन, लेकी आदि लेखकों का कहना है कि सम्पत्ति, करों की अदायगी, शिक्षा, आयु आदि योग्यतायें मताधिकार के लिए आवश्यक हैं।

3. मताधिकार अधिकार एवं कर्त्तव्य दोनों हैं—कुछ लेखक मताधिकार को अधिकार और कर्त्तव्य दोनों मानते हैं। ड्विगी, मेलवर्ग और एस्मीन आदि लेखकों का यही विचार है। मेलवर्ग ने लिखा है कि "मताधिकार क्रमश: अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी। यह व्यक्ति का वहां तक अधिकार है जहां तक वह इसका प्रयोग करता है, परन्तु प्रभावों की दृष्टि में यह कर्त्तव्य है।" जेम्सन का मत है कि "मताधिकार अधिकार बिल्कुल नहीं। यह कर्त्तव्य है। यह ऐसा "दायित्व" है जिसे सबको नहीं कुछ नागरिकों को सौंपा जाता है।"

उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त **प्रो. शेपर्ड** ने अन्य तीन विचार व्यक्त किये हैं। पहला, आदिम जाति विषयक विचार है जो प्राचीन काल के नगर राज्यों में प्रचलित था। इसमें मताधिकार को राज्य की सदस्यता का आवश्यक गुण माना जाता है। दूसरा, सामन्तवादी विचार है। इसमें मताधिकार एक विशेष सामाजिक स्थिति का सूचक होता है। इसमें मताधिकार भू-स्वामित्व से सम्बन्धित विशेषाधिकार होता है। तीसरा, नैतिक विचार है। इसमें मताधिकार को चरित्र या व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक तत्त्व समझा जाता है।

क्या मताधिकार के लिए योग्यतायें आवश्यक हैं? लॉर्ड मैकाले, लेकी, जेम्स स्टीफेन, सर हेनरी मेन, ब्लंशली, जे. एस. मिल जैसे अनेक लेखकों की मान्यता है कि इससे पूर्व कि नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया जाये उनमें कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक है। इन लेखकों ने मताधिकार के लिए सम्पत्ति, करों की अदायगी शिक्षा, जाति, धर्म, नागरिकता, आयु आदि की योग्यताओं को आवश्यक माना है। जे. एस. मिल ने लिखा है कि "जो कर नहीं चुकाते और अपने मतों से अन्य लोगों

के धन को व्यय करने हैं वे हर स्थिति में फिजूल खर्च होंगे और उनमें मितव्ययिता का अभाव होगा। मिल लिखता है कि **"सार्वजनिक मताधिकार के द्वार खोलने से पूर्व सार्वजनिक शिक्षा के द्वार खोलने चाहिए।"** एक अन्य लेखक का मत है कि "अनभिज्ञ को मताधिकार देने का अर्थ होगा आज अराजकता और कल निरंकुशता।" दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में आज भी केवल श्वेत जातियों को ही मताधिकार प्राप्त है। नाजी जर्मनी में यहूदियों को मताधिकार प्राप्त नहीं था। स्विट्जरलैण्ड में 1971 में ही महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हुआ है।

वर्तमान समय में मताधिकार के सम्बन्ध में नागरिकता, आयु और कुछ अन्य परिस्थितियों को छोड़कर (जैसे पागलपन, विदेशी, न्यायालय द्वारा दण्डित या नाबालिग) अन्य किसी योग्यता को स्वीकार नहीं किया जाता। मताधिकार के लिए सम्पत्ति की योग्यता को इसलिए स्वीकार नहीं किया जाता कि यह असमानता पर आधारित है। सम्पत्ति समाज में भिन्नताओं को जन्म देगी और उन्हें सुदृढ़ करेगी। धन स्वयं में कोई योग्यता नहीं। यह कहना बहुत कठिन है कि धनिकों को मताधिकार प्रदान कर सार्वजनिक हितों की रक्षा सही ढंग से की जा सकेगी। करों की अदायगी को भी मताधिकार का आधार नहीं बनाया जा सकता। राज्य कोई संयुक्त बीमा कम्पनी नहीं जिसमें उन्हें ही अपना मत प्रकट करने का अधिकार हो जो उसके मूल धन में चन्दा देते हैं। यह सत्य है कि शिक्षा मताधिकार के सही प्रयोग के लिए आवश्यक है, परन्तु उसे भी मताधिकार के लिए आवश्यक नहीं बनाया जा सकता। अनुभव यह सिद्ध करता है कि निरक्षर, अज्ञानी और परम्परा एवं जातीय भावनाओं से प्रभावित लोगों ने भी सही ढंग से मतदान किया है और निरंकुश एवं अत्याचारी शासन को शान्तिमय साधनों से अपदस्थ कर दिया। सन् 1977 के छठे आम चुनाव में भारतीय मतदाता ने ठीक यही किया। वर्तमान समय में मताधिकार का एक ही आधार है और वह है नागरिकता।

वयस्क मताधिकार (Adult Franchise)—आधुनिक समय में प्राय: सभी देशों तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में वयस्क मताधिकार की प्रणाली विद्यमान है। जैसाकि आर. रीनाऊ ने कहा है कि **"वयस्क मताधिकार प्रजातान्त्रिक धर्म का संस्कार बन गया है।"**[1] जहाँ वयस्क मताधिकार विद्यमान है वहाँ किसी भेदभाव के बिना देश के सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होता है। फिर भी प्रत्येक देश में वयस्क की परिभाषा भिन्न-भिन्न है। उदाहरणत: ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका, चीन, सोवियत संघ आदि देशों में 18 वर्ष की आयु के स्त्री-पुरुष को वयस्क मान कर मताधिकार प्रदान किया जाता है; जापान में यह अधिकार 20 वर्ष की आयु पर प्रदान किया जाता है; भारत में 21 वर्ष की आयु पर और कुछ देशों में 25 वर्ष की आयु पर मताधिकार प्रदान किया जाता है। इस पर भी

1. Rienow, R.: Introduction to Government, p. 324.

विदेशियों, नाबालिगों, पागलों और न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त नहीं होता ।

गुण (Merits)—वयस्क मताधिकार के प्रमुख गुण निम्न हैं—

1, पूर्ण प्रजातन्त्र का समर्थन—प्रजातन्त्र में लोगों को 'राजनीतिक सम्प्रभु' की संज्ञा दी जाती है । वयस्क मताधिकार लोगों की इस प्रभुता को सम्भव बनाता है । यदि मताधिकार सीमित हो या उसके लिए सम्पत्ति, शिक्षा आदि की योग्यताओं को अनिवार्य बना दिया जाय तो लोगों की राजनीतिक प्रभुता उसी मात्रा में कम हो जायेगी जिस मात्रा में योग्यतायें लगायी जायेंगी । मताधिकार से वंचित करने का अर्थ सत्ता के लाभों से वंचित करना है और यह प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के विपरीत है ।

2 व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक—वयस्क मताधिकार साधारण से साधारण नागरिकों में भी आत्मसम्मान और उत्तरदायित्व की भावनाओं का विकास करने में सहायक है । यह तत्त्व ही व्यक्ति में सार्वजनिक भावनायें पैदा कर देता है कि शासन संचालन में उसका हिस्सा है । यह विचार ही व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध करता है कि उसे मताधिकार प्राप्त नहीं और वह निर्वाचन नहीं लड़ सकता, प्रतिनिधि नहीं बन सकता, विधानसभा में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता । ये तत्त्व व्यक्ति में उदासीनता और उपेक्षा की भावनायें पैदा करते हैं ।

3. न्यायोचित शासन—न्यायोचित शासन के लिए आवश्यक है कि जो नीतियाँ या कानून सभी को प्रभावित करते हैं उनमें सभी की साझेदारी हो । जे. एस. मिल ने ठीक लिखा है कि **"यदि किसी व्यक्ति को कर देने या युद्ध करने के लिए बाध्य किया जाता है तो उसे कानूनी तौर पर यह जानने का अधिकार है कि वह क्यों कर दे या क्यों युद्ध में जाये ।"** वयस्क मताधिकार एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से साधारण से साधारण नागरिक प्रशासन के कार्यों में सीधा भाग ले सकता है और पदाधिकारियों की नीतियों पर निर्णय दे सकता है । सीमित मताधिकार में शासकों का दृष्टिकोण सार्वजनिक होने के स्थान पर वर्गीय या सामुदायिक हो सकता है ।

4. राजनीतिक शिक्षा—वयस्क मताधिकार साधारण से साधारण नागरिक को भी शिक्षित कर देता है । यह उसमें राजनीतिक समानता की भावनायें पैदा करता है और उसमें राजनीतिक जागृति पैदा करता है । नागरिक अपने आपको शासन का निर्माता समझने लगता है । निर्वाचनों के माध्यम से वह अपने शासन के कार्यों की समीक्षा कर सकता है । चुनाव के समय नेताओं, राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों को मतदाता को रिझाना पड़ता है । चुनाव प्रचार उदासीन और अनभिज्ञ व्यक्ति में भी 'चयन', 'विचार-विमर्श' और 'तर्क' के भाव पैदा कर देता है । ये सब तत्त्व उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित करने में सहायक होते हैं ।

5. नागरिक अधिकारों की सुरक्षा—वयस्क मताधिकार नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रता की सुरक्षा करने में सहायक है। जब कभी शासक अपनी शासन सत्ता का दुरुपयोग करते हैं या नागरिक अधिकारों पर चोट पहुँचाते हैं तो नागरिक निर्वाचनों में उन्हें अपदस्थ कर सकते हैं। सीमित अधिकार से पक्षपातपूर्ण व्यवहार, भ्रष्ट आचरण और भाई-भतीजावाद की अधिक सम्भावना रहती है।

दोष (Demerits)—लॉर्ड मैकाले, लेकी, जेम्स स्टीफेन, सर हेनरी मेन, ब्लंशली, जे. एस. मिल, इमाइल आदि लेखक वयस्क मताधिकार के प्रमुख आलोचकों में से हैं। **मैकाले** का मत है कि वयस्क मताधिकार 'विशाल अपहरण' को जन्म देगा। **लेकी** का मत है कि यह "विचार की सत्ता का अन्तिम स्रोत सबसे निर्धन, सबसे अज्ञानी और सबसे अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में हो एक ऐसा सिद्धान्त है जो समस्त प्राचीन मानव अनुभवों को उलट देता है।" **इमाइल** का मत है कि संसदीय शासन प्रणाली में वयस्क मताधिकार से "स्वतन्त्रता, व्यवस्था और सभ्यता का ह्रास होगा।"

वयस्क मताधिकार की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. वयस्क मताधिकार प्राकृतिक अधिकार नहीं—आलोचकों का मत है कि वयस्क मताधिकार मानव का प्राकृतिक अधिकार नहीं। यह राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकार है। इसे उन्हीं लोगों को प्राप्त होना चाहिए जिनमें इसका प्रयोग करने की योग्यता है।

2. निरक्षर एवं अनभिज्ञ लोग—निरक्षर एवं अनभिज्ञ लोगों को मताधिकार प्रदान करना न्यायपूर्ण नहीं। जो लोग अपनी ही समस्यायें नहीं समझते उन्हें सार्वजनिक विषयों के बारे में मतदान करने के लिए कहना अनुचित है। राजनीतिक समस्यायें इतनी जटिल होती हैं कि उनके लिए अनुभव और विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। जो लोग संघवाद, राष्ट्रीयकरण, असंलग्नता आदि विषयों को नहीं समझते उन्हें इनके सम्बन्ध में मतदान के लिए कहना मूर्खता है।

3. प्रगति के विरुद्ध—साधारण लोग प्रायः रूढ़िवादी, परम्परावादी और अनुदारवादी होते हैं। उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की न तो योग्यता होती है और न ही इच्छा। **हेनरी मेन** का मत है कि यदि मताधिकार का विकास पहले हुआ होता तो उसने "सूत कातने के यन्त्र और शक्ति से चलने वाले करघों का निषेध कर दिया होता।"

4. मताधिकार का दुरुपयोग—निरक्षर और अनभिज्ञ व्यक्तियों में निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती। ये जनोत्तेजकों के हाथों की कठपुतली मात्र बनकर रह जाते हैं। वे तर्क और विवेक के स्थान पर नारों और मन को आकर्षित करने वाली भाषा से प्रभावित होते हैं। वे मताधिकार को बेच सकते हैं या जाति और धर्म के आधार पर उसका प्रयोग कर सकते हैं। **इमाइल** का मत है कि अज्ञानी व्यक्तियों

को मताधिकार देने से "आज अराजकता जन्म लेगी और कल स्वेच्छाचारी शासन।"

5. वयस्क मताधिकार से महिलाओं को भी पुरुषों के साथ समानता प्राप्त हो जाती है जो हानिकारक है। महिलाओं में राजनीतिक मामलों में न तो हिस्सा लेने की क्षमता होती है और न ही उनमें ऐसी प्रवृत्ति होती है। इससे पारिवारिक प्रबन्ध में जहाँ हानि होगी वहाँ इससे पारिवारिक संघर्ष जन्म ले सकते हैं।

समीक्षा प्रश्न

1. सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के अर्थ एवं उपयोगिता को स्पष्ट कीजिये।
2. 'वयस्क मताधिकार' पर एक टिप्पणी लिखिए। (Raj 1982, 85, 86)

32

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

(Theories of Representation)

परिचय—आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं का रूप बहुत बड़ा है। मताधिकार की वयस्क प्रणाली प्रायः सर्वव्यापी है। नागरिकों के लिए एक स्थान पर एकत्रित होकर शासन संचालन में प्रत्यक्ष भाग लेना असम्भव है। अतः जन-इच्छा की अभिव्यक्ति और शासन को जनइच्छा पर आधारित करने के लिए किसी न किसी प्रकार के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है। लार्ड एक्टन ने ठीक कहा है कि "प्रतिनिधित्व आधुनिक समय की महत्त्वपूर्ण खोज है।[1]

अर्थ एवं प्रकृति—प्रतिनिधित्व की निश्चित एवं सुस्पष्ट परिभाषा देना कठिन है। लेखकों में इस सम्बन्ध में मतभेद रहे हैं। कुछ का मत है कि प्रतिनिधि जिस निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित होकर जाता है वह वहां के व्यक्तियों और उनके मतों का प्रतिनिधित्व करता है। कुछ का मत है कि वह वहाँ के विशिष्ट हितों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। कुछ का मत है कि वह उस दल का प्रतिनिधित्व करता है जिसका वह सदस्य है और कुछ का कहना है कि वह नागरिकों के सामान्य हितों, सामान्य आवश्यकताओं और सामान्य मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। **कर्टिस**[2] का मत है कि प्रतिनिधि शब्द अस्पष्ट है। इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। प्रतिनिधि का कार्य उस वकील के कार्य के समान हो सकता है जो अपने मुवक्किल के लिए कार्य करता है या उसका कार्य उनके लक्षणों के निकट या समान होना हो सकता है जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है या वह उनके घोषित हितों का मूर्त रूप हो सकता है जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है वह निर्वाचकों की ओर से ऐसे कार्यों को करने की क्षमता रख सकता है जिन्हें वह सबसे अधिक वाँछनीय समझता है।

---

1. Lord Acton : Quoted by Johari, J. C. : Comparative Politics, p. 523.
2. Curtis : Comparative Government and Politics, p. 98.

ब्रिटानिका विश्व शब्द कोष के अनुसार, "प्रतिनिधित्व एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण नागरिकों या उनके किसी भाग की अभिवृत्तियों, पसन्दगियों, दृष्टिकोणों और इच्छाओं को उनकी निश्चित अनुमति से उनकी ओर से उनमें से कुछ थोड़े से व्यक्तियों द्वारा, सरकारी कार्य का रूप दिया जाता है जिसका उन सब पर, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, बाध्यकारी प्रभाव होता है।"

प्रतिनिधि के रूप के सम्बन्ध में पायी जाने वाली भिन्नताओं को गार्नर ने निम्न तीन दृष्टिकोणों में अभिव्यक्त किया है[1]—

1. **प्रतिनिधि विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्र का, जो उसे निर्वाचित करता है, डिप्टी, दूत या अभिकर्त्ता**—उसका मुख्य कार्य अपने निर्वाचन क्षेत्र के स्थानीय हितों को बढ़ाने के लिये कानूनों का निर्माण कराना, सार्वजनिक कार्यों को कराने के लिए धन प्राप्त करना तथा उन सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने का प्रयास करना है जो व्यवस्थापिका की शक्तियों की सीमाओं में हैं तथा जिन्हें शासन प्रदान करना चाहता है।

2. **सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधि**—उसका कार्य दूसरे प्रतिनिधियों के साथ मिलकर सामान्य हितों को बढ़ाना है। अपने निर्वाचन क्षेत्र के विशिष्ट हितों की पूर्ति करना उसका गौण कार्य है।

3. **राजनैतिक दल का अधिवक्ता**—वह दल की इच्छा अर्थात् दल की विधायी नीतियों को मानने के लिये बाध्य है, उनके औचित्य के सम्बन्ध में उसके निजी विचार चाहे कुछ भी हों।

प्रतिनिधि को केवल निर्वाचकों का ही अधिवक्ता मानने वाला दृष्टिकोण बुरा है, क्योंकि इसमें राष्ट्रीय या सामान्य हित गौण हो जाते हैं और स्थानीय हित प्रधान हो जाते हैं। इसमें प्रतिनिधि का दृष्टिकोण भी संकीर्ण हो जाता है। इसमें विधान मण्डल का रूप और स्तर गिर जाता है। इसमें योग्य व्यक्ति सेवा करने से कतराते हैं। इसमें दलों का अपने प्रतिनिधियों के ऊपर नियन्त्रण बढ़ जाता है।

प्रतिनिधि के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण सर्वमान्य है कि वह राज्य या राष्ट्र का प्रतिनिधि है किसी व्यक्ति, समूह या निगम का नहीं। जैसाकि ब्लंशली ने कहा है कि "प्रतिनिधि राज्य का प्रतिनिधि है किसी व्यक्ति, निगम या समुदाय का नहीं, और उसका कर्त्तव्य राज्य के प्रति है।" एडमण्ड बर्क ने सन् 1870 में ब्रिस्टल के निर्वाचकों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि "संसद विविध और विरोधी हितों के राजदूतों की परिषद् नहीं जिसमें प्रत्येक सदस्य एक अभिकर्त्ता की भांति अपने हितों का दूसरों के विरुद्ध समर्थन करें। संसद राष्ट्र की एक परिषद् है जिसका एक ही हित है अर्थात् समूचे राष्ट्र का और जहां मार्गदर्शन स्थानीय उद्देश्यों एवं विचारों द्वारा प्रस्तुत नहीं होता बल्कि सबकी सामान्य बुद्धि द्वारा निर्णित सबके कल्याण के

1. See Garner, J. W. : Political Science and Government. p. 605

लिए होना चाहिए । आप सदस्य को अवश्य चुनते हैं परन्तु उसका चयन करने के बाद वह ब्रिस्टल का सदस्य नहीं रहता, वह संसद का सदस्य बन जाता है ।[1]

प्रतिनिधि के वापस बुलाने (Recall) की प्रथा को सही नहीं माना जाता। इससे प्रतिनिधि पर जहाँ दलीय नियन्त्रण बढ़ता है, वहाँ उसकी स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जाती है । सोवियत संघ में प्रतिनिधि को वापस बुलाने की प्रथा को 'शरारतपूर्ण' एवं 'उपद्रवी' माना जाता है । वहाँ यह प्रथा प्रतिनिधियों पर दलीय नियन्त्रण को सुदृढ़ करने का तरीका है ।

प्रो. बाल[2] ने प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों की निम्न दो श्रेणियाँ बताई हैं—

(i) उदार लोकतान्त्रिक सिद्धान्त और

(ii) समष्टिवादी-समाजवादी सिद्धान्त

(i) उदार लोकतान्त्रिक सिद्धान्त (Liberal Democratic Theory:— प्रतिनिधित्व के उदार लोकतान्त्रिक सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(a) इसमें व्यक्ति और उसके गौरव पर बल दिया जाता है । इसमें व्यक्ति के अधिकारों को अहरणीय माना जाता है । इसमें शासन की श्रेणियां सीमित होती हैं, मताधिकार विस्तृत और समान होता है । इसमें प्रतिनिधि का निर्वाचन वर्गीय या व्यावसायिक आधार पर नहीं होता बल्कि क्षेत्रीय या भौगोलिक आधार पर होता है । इसमें प्रतिनिधि व्यक्ति, उसके मतों और हितों का प्रतिनिधित्व करता है ।

(b) यह सिद्धान्त व्यक्ति को विवेकशील मानता है जो अपने तथा समुदाय के हितों को समझ सकता है । इसमें व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग अपनी बुद्धि से कर सकता है । अतः उसे प्रतिनिधि के चयन में हिस्सा मिलना चाहिए ।

(c) इसमें वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली, निष्पक्ष, स्वतन्त्र एवं निश्चितकालिक निर्वाचन प्रतिनिधियों के चयन के मूल आधार हैं ।

(ii) समष्टिवादी समाजवादी सिद्धान्त—प्रतिनिधित्व के समष्टिवादी समाजवादी सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(a) इसमें व्यक्ति के स्थान पर वर्ग या समुदाय को महत्त्व दिया जाता है ।

(b) इसमें लोकतन्त्र का अर्थ सामाजिक समानता और आर्थिक शोषण के अभाव से लिया जाता है ।

(c) सामाजिक युग में न वर्ग हित होंगे और न वर्ग संघर्ष । अतः इसमें भिन्न-भिन्न दलों की आवश्यकता नहीं होगी । इसमें सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति के लिए एक दल होगा जिसे साम्यवादी दल की संज्ञा दी जाती है ।

---

1. Burke, Edmund : Quoted by Garner, J. W. . Ibid, p. 609.
2. Ball : Modern Politics and Government. pp. 123-26, Quoted by Johari, J. C. : Ibid. pp. 526-527.

क्षेत्रीय या भौगोलिक प्रतिनिधित्व

निर्वाचन क्षेत्र (Constituency)—प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए जब किसी निश्चित क्षेत्र या सारे देश को निर्वाचन जिलों में बांटा जाता है तो उसे क्षेत्रीय या भौगोलिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त कहते हैं। ये निर्वाचन जिले प्रशासनिक जिलों से बड़े या छोटे हो सकते हैं। निर्वाचन जिलों को राजनीतिक भाषा में क्षेत्र कहा जाता है। निर्वाचन क्षेत्र, जैसा कि जे. एच कोरी ने कहा है, "कोई एक समुदाय नहीं बल्कि एक पट्टी है जिसमें मतदाता निवास करते हैं।"[1]

एक सदस्यीय एवं बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Single Mamder and Multi-Member Constituency)—निर्वाचन क्षेत्र दो प्रकार के होते हैं, (i) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र और (ii) बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र। जब पूर्ण क्षेत्र को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा जाता है जितने प्रतिनिधियों का निर्वाचन होना होता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि निर्वाचित होता है तो उसे एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। विश्व के अधिकांश देशों में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पाये जाते हैं। उदाहरणतः भारत, ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, सोवियत संघ आदि देशों में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पाये जाते हैं। दूसरी ओर, जब पूर्ण क्षेत्र को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त नहीं किया जाता जितने कि प्रतिनिधियों का निर्वाचन होना होता है बल्कि उसे कम निर्वाचन क्षेत्र में बांटा जाता है तथा प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं तो उसे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। फ्रांस, स्विट्जरलैंड आदि देशों में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पाये जाते हैं। डेनमार्क, स्वीडन और इटली जैसे देशों में सारे देश को निर्वाचन समूहों में बांटा जाता है और प्रत्येक समूह में अनेक प्रतिनिधियों को निर्वाचित किया जाता है। डेनमार्क में प्रत्येक समूह में से 23, स्वीडन में 28 और इटली में 32 प्रतिनिधियों को निर्वाचित किया जाता है। इजराइल मोनाको और नीदरलैंड में सारे देश को एक क्षेत्र निर्वाचन में रखा जाता है और राजनीतिक दलों को उस अनुपात में स्थान प्राप्त हो जाते हैं जिस अनुपात में उन्हें मतों का अनुपात प्राप्त होता है।[2]

एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रायः छोटे भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्र होते हैं, जो जनसंख्या की दृष्टि से लगभग बराबर होते हैं। दूसरी ओर, बहुसदस्यीय क्षेत्र प्रायः बड़े निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। कभी-कभी त्रिकोणीय या चौकोणीय मुकाबले में यह भी होता है कि जिस उम्मीदवार को डाले गये मतों का पूर्ण बहुमत (50%) प्राप्त नहीं होता वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है क्योंकि उसे अन्य उम्मीदवारों से अधिक मत प्राप्त होते हैं। इसके

1. Corry, J. A., Democratic Government and Politics, p. 208.
2. See Johari, J. C.: Ibid. p. 531.

दोषों को दूर करने के लिए फ्रांस जैसे देशों में द्वितीय मत प्रणाली की व्यवस्था है और आयरलैण्ड जैसे देशों में एकल संक्रमकीय प्रणाली की व्यवस्था है। दूसरी ओर, बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली विद्यमान होती है और उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए पूर्ण बहुमत की आवश्यकता नहीं होती बल्कि निर्वाचन कोटा की आवश्यकता होती है। इसमें मतदाताओं के पास उतने ही मत होते हैं जितने प्रतिनिधि निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित होने होते हैं। इसमें मतदाता अपनी वरीयता अभिव्यक्त कर सकते हैं और मतों का हस्तान्तरण भी होता है। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन समय-समय पर होता रहता है।

एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के गुण—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के प्रमुख गुण निम्न हैं—

1. यह पद्धति सरल है। साधारण मतदाता इसे समझ सकता है।

2. इसमें निर्वाचन क्षेत्र छोटे होते हैं। इसमें निर्वाचन का कार्य आसानी से पूरा हो जाता है।

3. इसमें निर्वाचन खर्च कम होता है।

4. इसमें निर्वाचित प्रतिनिधि और निर्वाचकों के मध्य निकट का सम्पर्क रहता है। इसमें प्रतिनिधि और निर्वाचक एक-दूसरे को भली-भाँति पहचाने हैं। इस निकट सम्पर्क से स्थानीय समस्याओं का निवारण सरलता से किया जा सकता है। इसमें स्थानीय हितों की उपेक्षा नहीं होती।

5. यह पद्धति दलों की सख्या को सीमित करने और द्वि-दलीय पद्धति का विकास करने में सहायक है। यह सुदृढ़ और स्थिर सरकार के निर्माण में सहायक है।

6. इसमें प्रतिनिधियों में उत्तरदायित्व की भावना जागरूक होती है।

7. इसमें अल्पसंख्यकों का सही ढंग से प्रतिनिधित्व हो सकता है।

एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के दोष—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. यह पद्धति गणितीय दृष्टि से अनुचित है। इसमें अधिकांशतः जो उम्मीदवार विजयी घोषित होता है उसे डाले गये मतों का पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता। त्रिकोणीय या चौकोणीय मुकाबले में यह प्रायः होता है।

2. इस पद्धति में निर्वाचन क्षेत्रों को समय-समय पर परिसीमित करने की आवश्यकता होती है जो जैरीमेन्डरिंग की बुरी प्रथा को जन्म देती है। इसमें सत्तारूढ़ दल निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन अपने पक्ष में करा सकता है। शासक वर्ग तरफदारियों और पक्षपात द्वारा निर्वाचनों को नियन्त्रित करने की स्थिति में होता है।

3. इस पद्धति में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होने की सम्भावना होती है क्योंकि स्थानीय हितों और भावनाओं को बढ़ावा मिलता है।

4. इसमें मतदाताओं की पसन्दगी का क्षेत्र प्रायः सीमित होता है।

बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के गुण—बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के प्रमुख गुण निम्न हैं—

1. इसमें निर्वाचक मतों को संसद में ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

2. इसमें निर्वाचकों के पास पसन्दगी का क्षेत्र व्यापक होता है और वे योग्य व्यक्तियों का चयन कर सकते हैं।

3. इसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण व्यापक होता है।

बहुसदस्यीय निर्वाचन के दोष—इसके प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. यह पद्धति अनेक दलों के निर्माण में सहायक है। जहाँ बहुदलीय पद्धति निर्वाचकों को व्याकुल करती है वहां व्यवस्थापिका में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता। इसमें सरकारें प्रायः संयुक्त सरकारें होती हैं जो अस्थिर और अकुशल होती हैं। इसके लिए सुदृढ़ नीति अपनाना कठिन होता है।

2. इसमें निर्वाचन क्षेत्र बड़े होते हैं। इसमें निर्वाचन व्यय अधिक होता है। इसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों का अपने निर्वाचकों के साथ निकट सम्पर्क नहीं रहता। इसमें अपने प्रतिनिधि निर्वाचन क्षेत्र का सही ढंग से पोषण नहीं कर सकते।

3. यह पद्धति जटिल होने से साधारण निर्वाचकों की समझ से बाहर है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व

आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति इस मान्यता पर आधारित है कि मतों को केवल 'गिना' या "जोड़ा" नहीं जाना चाहिए बल्कि उनका "महत्व" होना चाहिए। इसकी धारणा है कि सच्चा समान प्रजातन्त्र केवल संख्यात्मक बहुमत नहीं बल्कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए अर्थात् मतों के अनुपात में प्रतिनिधित्व सच्चा प्रतिनिधित्व है, विधियों की अधिकाधिक पालना व्यापक जन समर्थन पर निर्भर करती है जो केवल आनुपातिक प्रतिनिधित्व से ही सम्भव है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दो रूप हैं—(1) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली और (2) सूची प्रणाली।

1. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली (Single Transferable Vote System) इस प्रणाली का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक में इतनी योग्यता पैदा करना है कि जहाँ तक सम्भव हो वह स्वेच्छा से और पूर्ण रूप से अपने प्रतिनिधियों का चयन कर सके। इस प्रणाली का सर्वप्रथम विकास डेनमार्क के मन्त्री श्री कार्ल आन्द्रे ने किया था। उसके बाद इंगलैंड में थॉमस हेयर ने अपनी रचना "प्रतिनिधियों का निर्वाचन" में इसमें सुधार किया और उसके बाद हूप ने इसमें थोड़ा सुधार किया। इस प्रणाली की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

(i) बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय नहीं होते। इसमें बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। इसमें एक

निर्वाचन क्षेत्र में एक से अधिक सदस्यों का चयन होता है। आदर्श बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में 5 सदस्यों का निर्वाचन होता है ताकि कम से कम यथार्थ अल्पसंख्यकों को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अवसर मिल जाये। बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में कम से कम 3 सदस्यों का निर्वाचन होना चाहिए।

(ii) वरीयता—एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में मतदाता को एक ही मत देने का अधिकार होता है परन्तु मतदाता मतपत्र में अपनी **वरीयता के क्रम** को अभिव्यक्त कर सकता है। मतदाता मतपत्र में उम्मीदवारों के नामों के आगे 1, 2, 3, 4, 5 या A, B, C, D, E लिखकर अपनी वरीयता के क्रम को अंकित कर सकता है। उसकी वरीयता स्पष्ट और सुपाठ्य होनी चाहिए अन्यथा मत के रद्द होने का भय रहता है।

(iii) निर्वाचन कोटा (Quota)—एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए किसी निरपेक्ष या सापेक्ष बहुमत की आवश्यकता नहीं होती बल्कि **वैध मतों के निर्वाचन कोटा** की आवश्यकता होती है जिसे निम्न फार्मूले द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह **फार्मूला आन्द्रे प्रणाली या हेयर प्रणाली या ड्रूप फार्मूला** कहलाता है—

$$\text{निर्वाचन कोटा} = \frac{\text{कुल वैध मत}}{\text{कुल स्थानों की संख्या} + 1} + 1$$

दूसरे शब्दों में, कुल डाले गये मतों में से रद्द किये गये मतों को निकाल कर जो कुल वैध मत रह जाते हैं उन्हें कुल स्थानों में एक जोड़कर विभाजित किया जाता है और जो भाज्यफल (Quotient) आता है उसमें एक जोड़ दिया जाता है। जो संख्या आती है उसे निर्वाचन कोटा कहते हैं। जिस उम्मीदवार को निर्वाचन कोटा के बराबर या अधिक मत प्राप्त होते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

(iv) निष्कासन की प्रक्रिया एवं मतों का संक्रमण—यदि पूर्ति किये जाने वाले स्थानों के लिए उम्मीदवारों को निर्वाचन कोटा प्राप्त नहीं होता तो सबसे कम मतों को प्राप्त करने वाले उम्मीदवार के नाम को निकाल दिया जाता है और उसके मतों को उन पर अंकित द्वितीय वरीयता के आधार पर दूसरे उम्मीदवारों में बांट दिया जाता है। यह क्रम उस समय तक चलता है जब तक सब स्थानों की पूर्ति नहीं हो जाती या जब तक निर्धारित उम्मीदवार क्षेत्र में नहीं रह जाते। एकल संक्रमणीय प्रणाली में यह आवश्यक नहीं कि मतदाता की प्रथम वरीयता वाला उम्मीदवार ही निर्वाचित हो। यह हो सकता है कि उसकी दूसरी, तीसरी, चौथी या पांचवीं वरीयता वाला उम्मीदवार निर्वाचित हो जाये।

(v) गणितीय ढंग—एकल संक्रमणीय प्रणाली में मतों को गणितीय ढंग से रखा जाता है और कोई मत व्यर्थ या फालतू नहीं जाता।

2 सूची प्रणाली (List System)—इस प्रणाली में उम्मीदवारों की सूची उनके राजनीतिक दलों के लेवल के अनुसार तैयार की जाती है। प्रत्येक दल उतने ही या उससे कम नामों की सूची पेश कर सकता है जितने कि स्थान होते हैं। इसमें मतदाता मतदान करते समय किसी अमुक उम्मीदवार को अपना मत नहीं देता बल्कि किसी दल की विशिष्ट सूची को मत देता है। इसमें मतदाता सूची के सम्बन्ध में वरीयता अभिव्यक्त करता है। कभी-कभी सूची में वरीयता अभिव्यक्त करने के साथ मतदाता को दल की सूची में वर्णित उम्मीदवारों के सम्बन्ध में भी अतिरिक्त वरीयता व्यक्त करने का अधिकार दिया जा सकता है। इस प्रणाली में निर्धारित कोटा उसी तरह निर्धारित किया जाता है जिस तरह एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में निर्धारित किया जाता है। जिस अनुपात में दलों ने मतों के अनुपात को प्राप्त किया होता है उसी अनुपात में उन्हें स्थानों का अनुपात प्राप्त होता है। उदाहरणतः यदि कोई दल वैध मतों का 40 प्रतिशत प्राप्त करता है तो उसे स्थानों का 40% प्राप्त हो जाता है। यह हो सकता है कि किसी दल को इतना प्रतिशत प्राप्त न हो कि उसे कोई स्थान दिया जा सके। यह भी हो सकता है कि किसी दल को अपने मतों का कुछ प्रतिशत छोड़ना पड़े या किसी पड़ोसी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में अपने प्रतिशत को मिलाना पड़े या अवशेष बचतों को एकत्रित कर एक या अधिक स्थान प्राप्त कर ले या किसी दूसरे दल को अतिरिक्त प्रतिशत देकर किसी सामान्य उम्मीदवार के लिए समझौता कर ले आदि।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का प्रयोग—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का प्रयोग अनेक देशों में किया गया है। परन्तु दोषयुक्त और जटिल होने के कारण इसका व्यापक प्रयोग नहीं किया गया। इसका सीमित प्रयोग ही किया गया है। इसका प्रयोग फ्रांस, इटली, वीमर, जर्मनी और आस्ट्रेलिया में किया गया है। इस पद्धति का प्रयोग ग्रेट ब्रिटेन में इंगलैंड के चर्च की राष्ट्रीय परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन, स्काटलैंड में शिक्षा अधिकारियों के चयन, उत्तरी आयरलैंड की संसद के दोनों सदनों, आयरलैंड के निम्न सदन तथा दक्षिणी अफ्रीका में सीनेट एवं कुछ नगरपालिकाओं के निर्वाचन, कनाडा में कुछ नगरपालिकाओं के निर्वाचन तथा भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन में प्रयोग किया जाता है।

गुण (Merits)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनेक समर्थक हैं। मिल ने अपनी रचना 'प्रतिनिधि शासन' में लिखा है कि "यह प्रजातन्त्र का सारभूत तत्व है कि अल्पसंख्यकों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो; इसके अभाव में सच्चा प्रजातंत्र सम्भव नहीं बल्कि वह प्रजातन्त्र का मिथ्या प्रदर्शन मात्र ही होगा।" लार्ड एक्टन का मत है कि "आनुपातिक प्रतिनिधित्व पूर्णतः प्रजातन्त्र है। इससे उन असंख्य लोगों का प्रभाव बढ़ता है जिनकी अन्यथा शासन में कोई आवाज नहीं होगी। इसमें कोई मत नष्ट नहीं होता और प्रत्येक मतदाता अपनी राय के किसी सदस्य को व्यवस्थापिका में पहुंचा सकता है। इस तरह यह प्रणाली व्यक्तियों में अधिक

समानता स्थापित करती है।" **हैलेट** आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को 'प्रजातन्त्र की कुञ्जी' मानता है। **रेम्जे म्यूर** का मत है कि **"एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के दोषों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली से दूर किया जा सकता है।"**

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न हैं—

1. यह **समाज के सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व** को निश्चित करने का सर्वोत्तम तरीका है। इससे लोकतन्त्र अर्थपूर्ण बनता है। इससे संसद राष्ट्रीय विचारों का दर्पण बन जाती है।

2. यह **अल्पसंख्यकों में सुरक्षा** की भावना पैदा करती है। इससे अल्पसंख्यक मत शक्ति के आधार पर स्थानों को प्राप्त कर सकते हैं।

3. यह लोगों को **राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में सहायक** है। जब लोग उम्मीदवारों के सम्बन्ध में अपनी वरीयता अभिव्यक्त करते हैं तो वे उनकी योग्यता और कुशलता पर दृष्टि डाल सकते हैं। यह सार्वजनिक विषयों में रुचि पैदा करती है।

4. यह **मतदाताओं को पसन्दगी का व्यापक क्षेत्र** प्रदान करती है। इससे मतदाताओं की स्वतन्त्रता बढ़ जाती है और बुरी प्रथाओं पर रोक लगाने में मदद मिलती है।

5. इसमें कोई भी **मत बेकार नहीं** होता। इसमें प्रत्येक मत का महत्त्व होता है।

6. इसमें विधानमण्डल के कानूनों के प्रति अधिक निष्ठा होती है और उन्हें लागू करना सरल होता है। इसमें अल्पसंख्यक असन्तुष्ट नहीं होते। वे शासन को अच्छा सहयोग दे सकते हैं।

7. इसमें मन्त्रिमण्डल के निरंकुश या बहुमत के अत्याचारी होने की सम्भावना नहीं होती क्योंकि विधान मण्डल में किसी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता। इसमें मन्त्रिमण्डल प्राय: संयुक्त होते हैं।

8. इसमें जैरीमेन्डरिंग के दोष नहीं होते।

दोष (Demerits)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के कटु आलोचक भी हैं। **एकस्टीन** के अनुसार, "आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रतिनिधि शासन को बहुलवादी निष्क्रियता में परिवर्तित करता है, बहुलवादी निष्क्रियता सामान्य बुराई को जन्म देती है जो लोकतान्त्रिक संस्थाओं को अन्ततः विफल करती है......आनुपातिक प्रतिनिधित्व राजनीतिक शक्तियों को उग्र बनाने के साथ-साथ उन्हें विखण्डित करता है, अधिक हठधर्मी, अधिक सैद्धान्तिक और अधिक कठोर बनाता है। केवल निर्वाचन स्तर पर ही नहीं, संसदीय स्तर पर भी यह एकीकरण की शक्तियों में बाधा प्रस्तुत करता है।"[1] **एसमीन** का मत है कि "आनुपातिक प्रति-

1. Eckstein and Apter : Comparative Politics, pp. 250-251.

निर्विष्य प्रणाली की स्थापना करना मानों द्विसदनात्मक प्रणाली द्वारा प्रस्तुत उपचार को विष में परिवर्तित कर देना है; इसका अर्थ है कि मन्त्रिपरिषदों के स्थायित्व एवं एकरूपता को नष्ट कर देना तथा संसदीय शासन प्रणाली को असम्भव बना देना।"[1] सिजविक का मत है कि यह प्रणाली निम्न कोटि के वर्गीय कानून को प्रोत्साहन देती है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रमुख दोष निम्न हैं—

1. यह प्रणाली छोटे-छोटे समूहों को जन्म देती है जो अन्ततः जनोत्तेजकों के वर्ग को जन्म देते हैं। यह ऐसे नेतृत्व को जन्म देती है जो अपने समूह के पृथक् अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अन्य समूहों में समानताओं के स्थान पर भिन्नताओं पर बल देते हैं। यह संकीर्ण, केन्द्रविमुखी एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है जो अन्ततः राष्ट्र के लिए हानिकारक होती हैं।

2. इसके कारण विधान मण्डल में कोई भी दल पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर सकता जिससे मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार का सुचारु रूप से चलाना कठिन हो जाता है। जिन संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया जाता है वे स्वभाव से निर्बल और अस्थिर होते हैं। विधानमण्डल में बहुमत का अभाव उत्तरदायित्व के अभाव को जन्म देता है।

3. यह प्रणाली जटिल होने से सामान्य नागरिकों के बौद्धिक स्तर से परे है। सामान्य नागरिक निर्धन और उदासीन होते हैं। वरीयता की प्रक्रिया उन्हें और अधिक उदासीन बना देती है।

4. इसमें राष्ट्रीय या सामान्य हितों को सबसे अधिक हानि पहुँचती है या उनकी उपेक्षा होती है। छोटे-छोटे समूहों का दायरा अपने समूहों तक सीमित होता है। वे व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि से समस्याओं पर विचार नहीं करते। राष्ट्रीय कानून वर्गीय कानून बनकर रह जाते हैं।

5. इसे उप निर्वाचनों में लागू नहीं किया जा सकता।

6. यह बहुदलीय प्रणाली का विकास करती है जो दलों के अनुशासन और सुदृढ़ संगठन के लिए हानिकारक है।

7. इसमें निर्वाचन क्षेत्र बहुसदस्यीय होते हैं जो स्वभाव से बड़े होते हैं। इससे जहाँ निर्वाचन व्यय अधिक होता है वहाँ मतदाताओं और प्रतिनिधियों में दूरी बढ़ती है। इसमें मतदाताओं और प्रतिनिधि में कम सम्पर्क होता है।

8. इसमें अल्पसंख्यकों को उचित से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है जो संसदीय भ्रष्टाचार को जन्म देता है। इसमें बहुमत के साथ अन्याय हो सकता है। यह सभी प्रकार के दाँवपेचों को जन्म देती है।

---

1. Esmein : Quoted by Garner J. W. : Ibid. p. 254

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की पद्धतियाँ

आवश्यकता (Necessity)—प्रजातन्त्र बहुमत का शासन होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व ही न हो। यही कारण है कि प्रजातन्त्र में अल्पसंख्यकों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व की समस्या लेखकों के विवेचनों का विषय रही है। **जे. एस. मिल** इसे प्रजातन्त्र का आवश्यक अंग मानता है। **मिल** इस बात को स्वीकार करता है कि प्रतिनिधि प्रणाली में बहुमत का शासन होना चाहिए और अल्पमत को उसकी इच्छा के सामने झुकना चाहिए। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि अल्पमत वालों का प्रतिनिधित्व ही न हो। **मिल** ने लिखा है कि "किसी भी सच्चे समान प्रजातन्त्र में प्रत्येक समुदाय का आनुपातिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए। निर्वाचकों के बहुमत को सर्वदा अधिक प्रतिनिधि मिलेंगे परन्तु निर्वाचकों के अल्पमतों के प्रतिनिधि भी सर्वदा अल्पमत में होंगे। अल्पमत वालों का भी उतना ही पूर्ण प्रतिनिधित्व होगा जितना कि बहुमत वालों का और जब ऐसा नहीं होता तो वह समान शासन नहीं बल्कि असमान तथा विशेषाधिकार भोगी समुदाय का शासन होगा जो बात न्यायपूर्ण शासन के सिद्धान्त का विरोध है और इससे अधिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल है जिसका आधार ही समानता का सिद्धान्त है।"

परिभाषा (Definition)—अल्पसंख्यक की एक सुनिश्चित एवं आदर्श परिभाषा देना कठिन है। साधारण भाषा में यह ऐसे लोगों का एक समूह है जो दूसरों से संख्यात्मक दृष्टि से थोड़े होते हैं। राजनीतिक दृष्टि से यह लोगों का ऐसा निर्बल समूह है जिसकी अपनी सजातीय, धार्मिक या भाषाई परम्परायें व विशेषतायें होती हैं, जो राजनीतिक समुदाय के अन्य भागों से भिन्न होती हैं और जिन्हें वह सुरक्षित रखना चाहता है। **ब्रिटानिका विश्व शब्दकोष** के अनुसार, अल्पसंख्यक "ऐसे लोगों का समूह है जो सामान्य वंश, भाषा या धार्मिक विश्वासों के बन्धनों से बंधे हुए हों और जो इस सम्बन्ध में राजनीतिक समुदाय के निवासियों के बहुमत से अपने आपको भिन्न समझते हों।"[1] विशिष्ट जाति, धर्म या भाषा, परम्परायें या विशेषतायें अल्पसंख्यक होने के लिए आवश्यक हैं। **अल्पसंख्यक बनने के लिए केवल इच्छा ही पर्याप्त नहीं बल्कि पृथक पहचान भी आवश्यक है।** जो जातियाँ अपने आपको बहुमत में शामिल करने की इच्छुक होती हैं और पृथक् पहचान नहीं बनाये रखना चाहतीं, जैसे भारत में अनुसूचित जातियाँ, उन्हें सही अर्थों में अल्पसंख्यक नहीं कहा जा सकता।

अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के साधन या पद्धतियाँ—अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिए मुख्यतः अग्र पद्धतियों का प्रयोग किया गया है—

---

1. Cited by Johari, J. C.: Ibid p. 535.

1. द्वितीय मत प्रणाली (Second Ballot System)—इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय होते हैं परन्तु उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए मतदान में पड़े कुल मतों के पूर्ण बहुमत को (पचास प्रतिशत से अधिक मत) प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। यदि निर्वाचन में किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो निर्वाचन को रद्द कर दिया जाता है और दोबारा निर्वाचन कराये जाते है। परन्तु दोबारा केवल उन दो उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने का अधिकार होता है जिन्होंने रद्द किये गये पहले निर्वाचन में सबसे अधिक मत प्राप्त किये होते हैं। इस तरह सफल उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो जाता है। फ्रांस में इस प्रणाली का अत्यधिक प्रयोग किया गया है।

द्वितीय मत प्रणाली में अल्पसंख्यकों को अपनी स्थिति सुधारने का अवसर मिल जाता है। वे अपने मत को अभिव्यक्त करने से पूर्व दो उम्मीदवारों में से किसी एक से राजनीतिक सौदेबाजी कर सकते हैं और अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। इसमें त्रिकोणात्मक या चौकोणात्मक मुकाबले में कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार की विजय से उत्पन्न होने वाले दोष दूर हो जाते हैं।

द्वितीय मत प्रणाली का दोष यह है कि इसमें धन का दुगुना खर्चा होता है। यह भी आवश्यक नहीं कि अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो ही जाय। राजनीतिक सौदेबाजी भ्रष्ट साधनों और आर्थिक प्रलोभनों को बढ़ावा देती है। द्वितीय मत में मतदाता उदासीन भी हो सकते हैं और हिंसा को बढ़ावा भी मिल सकता है।

2. वैकल्पिक मत प्रणाली (Alternate Vote System)—इस प्रणाली में अधिमानिक या आकस्मिक (Preferential or Contingent) मत प्रणाली भी कहते हैं। द्वितीय मत प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए वैकल्पिक मत प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें मतदाता को एक ही मत डालना पड़ता है परन्तु इसमें वह अपनी पसन्दगियों को अभिव्यक्त कर सकता है। यदि प्रथम वरीयता में किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो जाता है तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है परन्तु यदि किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो जिस उम्मीदवार को सबसे कम मत पड़े होते हैं उसे निकाल दिया जाता है और उसके मतों को दूसरी वरीयता के अनुसार दूसरे उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। निष्कासन और हस्तान्तरण की यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो जाये।

इसमें अल्पसंख्यकों की स्थिति तो सुदृढ़ हो जाती है और दोहरे खर्च व द्वितीय निर्वाचन के झंझट से भी छुटकारा मिल जाता है परन्तु निर्वाचन से पूर्व विभिन्न दलों में जो दलीय सौदेबाजी होती है वह बनी रहती है।

3. सीमित मत प्रणाली (Limited Vote System)—इस प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में कम से कम तीन स्थान होते हैं। इसमें मतदाता को स्थानों की कुल संख्या से कम मत प्राप्त होते हैं। यदि कुल स्थान तीन हैं तो मतदाता को दो मत प्राप्त होंगे। इसे सीमित मत प्रणाली इसलिए कहते हैं कि इसमें मतदाता को कुल सदस्यों से कम सदस्यों को मत देने का अधिकार होता है। मतदाता एक उम्मीदवार को एक ही मत दे सकता है। यह प्रणाली पुर्तगाल तथा अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित है।

इस प्रणाली का लाभ यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों को तीन में से एक स्थान प्राप्त होने की सम्भावना होती है। परन्तु इसका दोष यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों को अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता और यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में अल्पसंख्यक समुदाय कम संख्या में है तो वह प्रभावहीन रहता है। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में इसे लागू नहीं किया जा सकता और बहुदलीय प्रणाली में यह अव्यावहारिक है।

4. एकल असंक्रमणीय मत प्रणाली (Single-Non-transferable Vote System)–इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र बहुसदस्यीय होते हैं, परन्तु प्रत्येक मतदाता को एक ही मत प्रदान किया जाता है। उम्मीदवारों का निर्वाचन बहुमत के आधार पर होता है। इसका प्रयोग जापान में कुछ वर्षों तक किया जाता रहा है।

इसमें अल्पसंख्यकों को अपनी स्थिति सुधारने का अवसर मिल जाता है। अल्पसंख्यक समुदाय के सभी सदस्य अपने उम्मीदवारों को मतदान कर सकते हैं जबकि बहुमत सदस्यों के मतों के भिन्न-भिन्न उम्मीदवारों में विभक्त होने की सम्भावना रहती है। परन्तु इनमें दलीय प्रभाव बढ़ जाता है। साथ में यह प्रणाली अवैधानिक भी है।

5. संचयी मत प्रणाली (Cumulative Vote System)—इसे पलम्पिंग मत प्रणाली भी कहते हैं। इसमें बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। इसमें प्रत्येक मतदाता के पास उतने ही मत होते है जितने कि निर्वाचक क्षेत्र में स्थान। मतदाता चाहे तो अपने सभी मत एक ही उम्मीदवार को दे दे या उन्हें भिन्न-भिन्न उम्मीदवारों में बाँट दे। इसमें अल्पसंख्यक समुदाय के उम्मीदवारों के निर्वाचित होने की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि उस समुदाय के सभी मतदाता अपने सभी मतों को अपने उम्मीदवार को दे सकते हैं। यह प्रणाली इंगलैंड में विधानमण्डलों और अमरीका के कुछ राज्यों में विद्यमान है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता और अनेक बार उन्हें अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व

प्राप्त हो जाता है। इसमें मतों के व्यर्थ जाने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। इसमें दलबन्दी की बुराइयां भी बढ़ जाती हैं,

6. पृथक् या साम्प्रदायिक मत प्रणाली (Separate or Communal Vote System) —इस प्रणाली को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारतीय राष्ट्रीयता को विभाक्त करने और अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों द्वारा लागू किया था। इसमें निम्नलिखित दो विधियाँ अपनायी जा सकती हैं—

(i) निर्वाचन क्षेत्रों को क्षेत्रीय या भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटने के स्थान पर उन्हें धर्म, जाति या सम्प्रदाय के आधार पर बाँटा जाये और सम्बन्धित धर्म या जाति या सम्प्रदाय के मतदाताओं को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दिया जाए। उदाहरणतः ब्रिटिश भारत में मुसलमान-मुस्लिम प्रतिनिधियों का, हिन्दू-हिन्दू प्रतिनिधियों का, सिख-सिख प्रतिनिधियों का. आंग्ल भारतीय अपने सजातीय प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते थे।

(ii) निर्वाचन की संयुक्त प्रणाली को बनाये रखा जाये, परन्तु जातियों के लिए स्थानों को सुरक्षित रखा जाये। उदाहरणत. ब्रिटिश भारत में अनुसूचित जातियों के लिए स्थानों को सुरक्षित रखा गया था।

उपर्युक्त दोनों विधियों में गुरुभार पद्धति को अपनाया जा सकता है अर्थात् अल्पसंख्यकों के लिए जो स्थान सुरक्षित रखे जायें, यह आवश्यक नहीं कि वे उनकी जनसंख्या के अनुपात में हों। वे उनकी जाति के "महत्व" के आधार पर भी निर्धारित किये जा सकते हैं। उदाहरणतः ब्रिटिश भारत में मुसलमानों के लिए गुरुभार पद्धति का प्रयोग किया गया था।

यह प्रणाली विषभरा सर्प है जो किसी भी राजनीतिक समुदाय को डसकर उसे विघटित कर सकता है। यह प्रणाली प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त और राष्ट्रीय हितों के विपरीत है। इससे जातियों में घृणा, कटुता, वैमनस्य और संघर्ष की भावनायें पैदा होती है।

7. संरक्षण एवं नामांकन प्रणाली (Reservation and Nom nat on System)—अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए संरक्षण प्रणाली का प्रयोग भी किया जाता है। इसमें निर्वाचन क्षेत्र संयुक्त एवं एक सदस्यीय होते हैं परन्तु कुछ स्थान अल्पसंख्यक जातियों के लिए, उनकी जनसंख्या के आधार पर सुरक्षित कर दिये जाते हैं। उदाहरणत; भारत में अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित हैं।

नामांकित प्रणाली का प्रयोग भी वहाँ किया जाता है जहाँ अल्पसंख्यक जाति की संख्या बहुत कम हो और वह संसद या विधानमण्डल में कोई स्थान प्राप्त करने में सफल न हो। भारत में राष्ट्रपति ऐंग्लो इण्डियन समुदाय के दो प्रतिनिधियों को लोकसभा में और राज्यपाल एक प्रतिनिधि को विधानसभा में नामांकित

कर सकता है, यदि इस समुदाय को संसद या विधान सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की संरक्षण एवं नामांकन प्रणाली राष्ट्रीय एकता और सामाजिक सुदृढ़ता के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती है परन्तु यदि इनका प्रयोग अल्पसंख्यकों की तुष्टि के लिए किया जाये या अल्पसंख्यक अपने विशेष लाभों का दुरुपयोग करें या उनका व्यवहार शरारतपूर्ण हो तो यह हानिकारक भी हो सकती है। अल्पसंख्यकों को अपनी जाति, धर्म, भाषा या संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार होना चाहिए परन्तु उन्हें सामाजिक उत्पात पैदा करने या "मत बैंक" का दुरुपयोग करने और राष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचाने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

व्यावसायिक या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व

व्यावसायिक या कार्यात्मक (Occupational and Functional) प्रतिनिधित्व की प्रणाली क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया हैं। यह आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। इसकी धारणा है कि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली समाज के भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती और यह भिन्न-भिन्न हितों के प्रति अन्याय है। क्षेत्रीय सीमायें कृत्रिम होती हैं और वे भिन्न-भिन्न वर्गों के हितों की वास्तविक सीमाओं को, जिनसे आधुनिक समाज रचित हैं, सुस्पष्ट नहीं करतीं। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के समर्थकों का मत है कि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली का स्थान व्यावसायिक, कार्यात्मक या वर्गीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली को ले लेना चाहिए। **जी. डी. एच. कोल** व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को सच्चा लोकतान्त्रिक प्रतिनिधित्व मानता है और क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को "अलोकतन्त्रीय" कहता है। उसका कहना है कि संसद "समस्त नागरिकों का सभी विषयों में प्रतिनिधित्व का दावा करती है परन्तु वह किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करती।"

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का मूल विचार यह है कि सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक समूहों को, जिनके अपने विशिष्ट हित होते हैं, राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। इस प्रणाली के प्रमुख समर्थक श्रेणी समाजवादी लेखक हैं जिन्हें मध्य युग में प्रचलित सामाजिक समूहों के स्वायत्त रूप से प्रेरणा मिली थी। इनका विश्वास है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। वह केवल व्यवसाय या व्यवसाय के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। उदाहरणतः एक अध्यापक, अध्यापक के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है; एक कृषक, कृषक के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है; एक जूता बनाने वाला जूते बनाने वाले के हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इन सब उदाहरणों में व्यक्ति के हितों के एक समुदाय में संगठित हित का

प्रतिनिधित्व करता है किन्तु जब एक वकील या इन्जीनियर, एक अध्यापक, कृषक या जूते बनाने वाले के हितों का प्रतिनिधित्व करता है तो वह प्रतिनिधित्व की प्रणाली का दुरुपयोग है। सच्चे अर्थों में वह किसी हित का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसीलिए श्रेणी समाजवादी क्षेत्रीय या प्रादेशिक प्रतिनिधित्व को धोखा कहते हैं। उनके लिए सच्चा प्रतिनिधित्व व्यावसायिक है। जोड ने लिखा है कि **"कोई भी व्यक्ति अपने पड़ोसियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह उनके उद्देश्यों के एक समूह का प्रतिनिधित्व कर सकता है।"** गिल्ड समाजवादी "एक आदमी, एक मत" के स्थान पर "एक आदमी उतने ही मत जितने कि हित" को स्थापित करना चाहते हैं।

बहुलवादी, साम्यवादी, फेबियन समाजवादी लेखकों ने भी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का समर्थन किया है। मिराबू, द्विग्वी, प्रिन्स डी. ग्रीफ, विलियम मेकडोनाल्ड, ग्राहम वालास, सिडनी एवं बिट्राइस वेब, जी. डी. एच. कोल इसके प्रमुख समर्थकों में से है। मिराबू का मत है कि "व्यवस्थापिका को एक प्रकार से छोटा दर्पण होना चाहिए जिसमें उसके विविध हितों एवं वर्गों को स्थान मिलना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसाकि एक मानचित्र में भूमि का सारा आकार दिखाई देता है।" द्विग्वी का मत है कि "राष्ट्रीय जीवन की समस्त महान् शक्तियों का—सम्पत्ति, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, विज्ञान तथा धर्म का—प्रतिनिधित्व होना चाहिये।" श्रेणी समाजवाद व्यावसायिक संघों के ऊपर उनके व्यावसायिक एवं आर्थिक सम्बन्धों के नियन्त्रण के लिए "व्यावसायिक न्याय की सर्वोच्च न्यायालय" की स्थापना करना चाहते थे। उनके सिद्धान्त में दो संसदों—राजनीतिक और आर्थिक—की धारणा विद्यमान है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का प्रयोग किसी न किसी रूप में अनेक राज्यों में किया गया है। उदाहरणतः सोवियत संघ में अखिल रूस कांग्रेस के प्रतिनिधियों का निर्वाचन व्यावसायिक सिद्धान्त के आधार पर होता है अर्थात् वहाँ खानों, कारखानों आदि में काम करने वाले मजदूर, किसान, व्यवसायी पुरुष तथा दूसरे वर्गों के व्यक्ति बिना प्रादेशिक आधार के अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। मुसोलिनी ने व्यवसायों को प्रतिनिधित्व देने के लिए इटली में **फासिस्ट कार्पोरेट राज्य** की स्थापना की थी। जर्मनी के वीमर संविधान में उत्पादकों, श्रमिकों और उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् की व्यवस्था की गयी थी।

मूल्यांकन (Evaluation)—यह सही है कि व्यवसाय, वर्ग या कार्य के आधार पर समाज के भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये, परन्तु इस प्रणाली को कार्यान्वित करने में जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं वे इससे उत्पन्न होने वाले लाभों से कहीं अधिक हैं। डनिंग एस्मीन, लास्की और मेरियट

जैसे लेखक इस प्रणाली के कटु आलोचक रहे हैं। दलीय प्रणाली और दबाव समूहों की व्यवस्था ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के महत्त्व को समाप्त कर दिया है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के मुख्य दोष निम्न हैं:—

1. सभी सामाजिक और आर्थिक समूहों को सुनिश्चित करना कठिन है। यदि उन्हें सुनिश्चित कर भी दिया जाय तो उनके लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व को निर्धारित करना एक कठिन समस्या है। उन्हें समान प्रतिनिधित्व देना प्रायः असम्भव है। **कोकर और रोडी** ने लिखा है कि **समूह अपनी रचना में अनिश्चित और अस्थिर होते हैं। अनेक आवश्यक व्यवसायों के मूल राजनीतिक प्रश्नों पर कोई सुनिश्चित हित नहीं होते।"**

2. आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् करना कठिन है। जो समस्यायें देखने में राजनीतिक नजर आती हैं उनके मूल में वस्तुतः आर्थिक कारण होते हैं।

3. इससे व्यवस्थापिका परस्पर विरोधी व्यावसायिक समूहों का अखाड़ा बन जायेगी जहाँ राष्ट्रीय या सामान्य हित तो गौण पड़ जायेंगे और वर्गीय या व्यावसायिक हित बलशाली हो जायेंगे।

4. यह राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता व्यवस्थापिका के सदस्यों से राष्ट्रीय या सामान्य हितों के प्रतिनिधित्व की माँग करती है वर्गों या विशेष हितों की नहीं।

5. इससे व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। व्यवस्थापिका कानून निर्मात्री संस्था बनने के स्थान पर केवल विवाद-समिति मात्र बनकर रह जायेगी। **ब्रेडफोर्ड** ने लिखा है कि **"ऐंग्लो सेक्शन देशों में शासन की शक्ति का एक कारण यह है कि उनकी व्यवस्थापिकायें पारस्परिक मतभेदों और विरोधी हितों से युक्त अस्थायी एवं संघर्षशील छोटे-छोटे समुदायों से मुक्त हैं।"**

6. वर्गीय प्रतिनिधित्व जहाँ वर्गीय भावनाओं को जन्म देता है वहाँ वह वर्गीय विरोध को प्रबल भी बनाता है। इससे लॉबीइंग और लॉग रोलिंग की प्रथाओं को बढ़ावा मिलेगा।

7. भिन्न-भिन्न व्यावसायिक समूह अनेक दलों को जन्म देंगे जिससे स्थायी सरकार को प्राप्त करना कठिन हो जायेगा।

8. इससे वर्गों या हितों का प्रतिनिधित्व तो हो सकता है, परन्तु अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता।

9. यह प्रणाली नागरिक हितों की तुलना में व्यावसायिक हितों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देती है जबकि नागरिक का महत्त्व, जैसाकि **मेरियट** ने कहा है, डॉक्टर, वकील अथवा लुहार से कहीं अधिक है।

समीक्षा प्रश्न

1. अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की प्रमुख पद्धतियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। (Raj. 1984, Suppl. 1984)
2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व से क्या तात्पर्य है? इस प्रणाली के गुण-दोषों का परीक्षण कीजिए। (Raj. 1982)
3. "आनुपातिक प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या का एक अच्छा समाधान है।" आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं और क्यों? (Raj. 1980)
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए;—
   (i) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Raj. Suppl. 1985)